CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

954.01

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत का प्राचीन इतिहास

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय
विभाग G
पुस्तक क्रम संख्या 203
State Museum Library, Lucknow

लेखक

प्रोफ़ेसर नगेन्द्रनाथ घोष, एम० ए०,

रीडर, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय;
'कौशाम्बी का प्राचीन इतिहास' (अँग्रेजी) के लेखक

हिन्दी संस्करण

(सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९५१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुद्रक
बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सजीवाकृति बुद्ध प्रतिमा——मथुरा से प्राप्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकल विद्या, कला एवं वाङ्मय की
अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को
श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक समर्पित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

954.0L

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वक्तव्य

द्वितीय संस्करण (अँगरेजी) की भूमिका से

पुस्तक सर्वांशत: संशोधित कर नई खोजों और अनुसन्धानों द्वारा उपलब्ध परिणामों के प्रकाश में जो निरन्तर ज्ञान की वृद्धि कर रहे हैं पुन: लिखी गई है। फलत: पुस्तक आकार में मूल प्रति से दुगुनी हो गई है। इसमें नवीनतम परिणामों का समावेश कर देने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। प्रकाशन में देरी होने से मैं इसमें नवीनतम अनुसन्धानों के परिणामों का समावेश कर सका जिनमें से कुछ तो १९४७ तक की खोजों के परिणाम हैं।

इस संस्करण की कुछ विशेषताएँ जिनकी ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है ये हैं—(१) राजनीतिक इतिहास के नवीन और ग्राह्य मतों के आधार पर कई अध्यायों में वस्तु-परिवर्तन किये गये हैं, (२) और उसके सांस्कृतिक अंगों पर प्रथम संस्करण की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया है। (३) विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से पाँच विशेष प्रकार से तैयार किये गये मानचित्र भी इसमें दिये गये हैं, (४) कुछ प्रमुख विषय जिन पर विवाद चल रहे हैं और जिनका कोई समुचित निर्णय नहीं हुआ है पुस्तक की प्रमुख पाठ्य सामग्री में न दिये जाकर परिशिष्टों में दे दिये गये हैं। इस तरह के चार परिशिष्ट हैं।

अनुसन्धानों के जिन नवीनतम परिणामों का समावेश मैंने पुस्तक में किया है उनमें महामहोपाध्याय प्रोफेसर मीराशी के वाकाटक इतिहास पर लिखे गये निबन्धों के प्रति मैं आभारी हूँ जिनका काफी उपयोग मैंने किया है और जिनके सम्बन्ध में पाद-टिप्पणियों में यथास्थान निर्देश भी कर दिया है। अन्य विद्वानों की कृतियों से जहाँ कोई मान्यताएँ उन्हें स्वीकार करने अथवा उनके खण्डन के लिए ही ली गई हैं उनका भी उल्लेख पाद-टिप्पणियों में मिलेगा।

'गंगा विला'
नया बैराना,
इलाहाबाद
३० जून, १९४८

—नगेन्द्रनाथ घोष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दी संस्करण के सम्बन्ध में

हिन्दी में इतिहास-विषयक साहित्य का अभाव-सा देखकर इस पुस्तक का प्रकाशन वाञ्छनीय समझा गया।

प्रस्तुत पुस्तक इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित अँगरेजी के द्वितीय (संशोधित एवं परिवर्द्धित) संस्करण का अनुवाद है। यों तो अनुवाद बहुत पहले प्रस्तुत था, किन्तु प्रकाशन-सम्बन्धी देरी जिसमें मूल ग्रन्थ के रचयिता की लम्बी एवं संक्रामक बीमारी भी एक विशेष कारण रहा है, पुस्तक अब प्रकाशित हो रही है। अत्यन्त दुःख की बात है कि जिस समय पुस्तक के अन्तिम कुछ अध्याय छपने को रह गये थे सहसा प्रोफेसर घोष का गत १ जून को निधन हो गया और इस प्रकार हमारे बीच से एक सम्भ्रान्त एवं संकोचशील भारतीय तत्त्व-मर्मज्ञ चला गया।

इस परिस्थिति में ग्रन्थकार के अपेक्षित अन्तिम सुझावों और परामर्श से भी पुस्तक वञ्चित रह गई जिससे वक्तव्य के निमित्त ग्रन्थकार के एक प्रमुख छात्र तथा पुस्तक का अनुवादक होने के कारण यह अंश मुझे लिखना पड़ रहा है। यहाँ बस इसका और निर्देश कर कि पृष्ठ ४२६, नवीं पंक्ति, तक का अनुवाद मेरा किया हुआ है और अनुवाद के शेष अंश, प्रूफ संशोधन तथा अनुक्रमणिका अन्य व्यक्तियों के कार्य हैं, इसका निर्णय मैं मीमांसकों पर छोड़ता हूँ कि पुस्तक अपने विषय के अनुशीलन में कितनी उपयोगी सिद्ध होती है।

—चन्द्रचूड़, एम० ए०

प्रयाग
९-९-१९५१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चित्र-निर्देश

गुप्त नरेश यद्यपि ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे बौद्धधर्म के प्रति सहिष्णु थे। बौद्ध कला उन दिनों विकास की चरम सीमा को पहुँची हुई थी। बौद्ध प्रतिमा जो उस समय विदेशी प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो चुकी थी, मानसिक सन्तुलन की विशुद्ध अभिव्यक्ति दिखाई देती थी जिसका होना शरीर पर आत्मा के विजयी होने का प्रतीक था। भगवान् बुद्ध की यह सजीवाकृति प्रतिमा जो पाँचवीं शती ई० में बौद्ध भिक्षु यशदिन्न द्वारा प्रदान की गई थी, मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह तत्कालीन कला की विशिष्टता-सूचक श्रेष्ठतम आध्यात्मिक परम्पराओं की एक प्रतिकृति है। अलंकरणयुक्त चीवर (Diaphanous garment) और सिर के पृष्ठभाग में प्रभा-मण्डल गान्धार शैली से कहीं उत्कृष्ट कला का दिग्दर्शन कराते हैं और एक परिष्कृत रुचि तथा सौन्दर्य-भावना का परिचय देते हैं। प्रभा-मण्डल जिस सजावट के साथ दिखाया गया है उसमें एक परिधि के भीतर कई अन्य परिधियों में लता-गुल्म एवं परम्परागत सुमन और 'हंस' की आकृतियाँ जड़ी हुई हैं। गुप्त काल को ठीक ही भारतीय कला का 'स्वर्ण युग' कहा गया है जिसकी यह सजीवाकृति प्रतिमा [मुखपृष्ठ के साथ संयुक्त, Frontispiece illustration] एक अन्यतम उदाहरण है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

		विषय	पृष्ठ संख्या
अध्याय		विषय-प्रवेश	१–२४
प्रथम	”	: भारतभूमि के निवासी	२५–२६
दूसरा	”	: आर्यों का प्राचीन सामाजिक संगठन	३०–४६
तीसरा	”	: जाति-व्यवस्था : उसकी उत्पत्ति एवं दुष्परिणाम	५०–५२
चौथा	”	: नवीन धार्मिक आन्दोलन : जैन तथा बौद्ध धर्म	५३–८२
पाँचवाँ	”	: उत्तर भारत : छठवीं शती ई० पू० से लेकर चौथी शती ई० पू० तक	८३–१३५
छठवाँ	”	: मौर्य-युग (४००–२०० ई० पू०)	१३६–१६६
सातवाँ	”	: शुङ्ग, कण्व तथा आन्ध्रवंशीय शासन (२०० ई० पू०—३०० ई०)	१६७–२४३
आठवाँ	”	: विदेशी आक्रमण तथा उनके राज्य-संस्थापन का युग	२४४–२८५
नवाँ	”	: नागों का राज्य	२८६–२८७
दसवाँ	”	: गुप्त-साम्राज्य (ल० ३००–५०० ई०)	२८८–३४४
ग्यारहवाँ	”	: वाकाटकों का राज्य	३४५–३६४
बारहवाँ	”	: गुप्त साम्राज्य के पतन से हर्षवर्द्धन के उत्थान तक का राजनीतिक इतिहास	३६५–३८५
तेरहवाँ	”	: हर्षवर्द्धन (६०६—६४७ ई०)	३८६–४०१
चौदहवाँ	”	: उत्तर भारत की राजनीतिक दशा—हर्ष के निधन से मुसलमानों के आक्रमण तक	४०२–४२१
पन्द्रहवाँ	”	: दक्षिण के राजवंश	४२२–४४०
सोलहवाँ	”	: पल्लव और दक्षिण के तामिल राज्य	४४१–४५७
सत्रहवाँ	”	: दक्षिण भारतीय संस्कृति पर एक विहंगम दृष्टि	४५८–४६४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

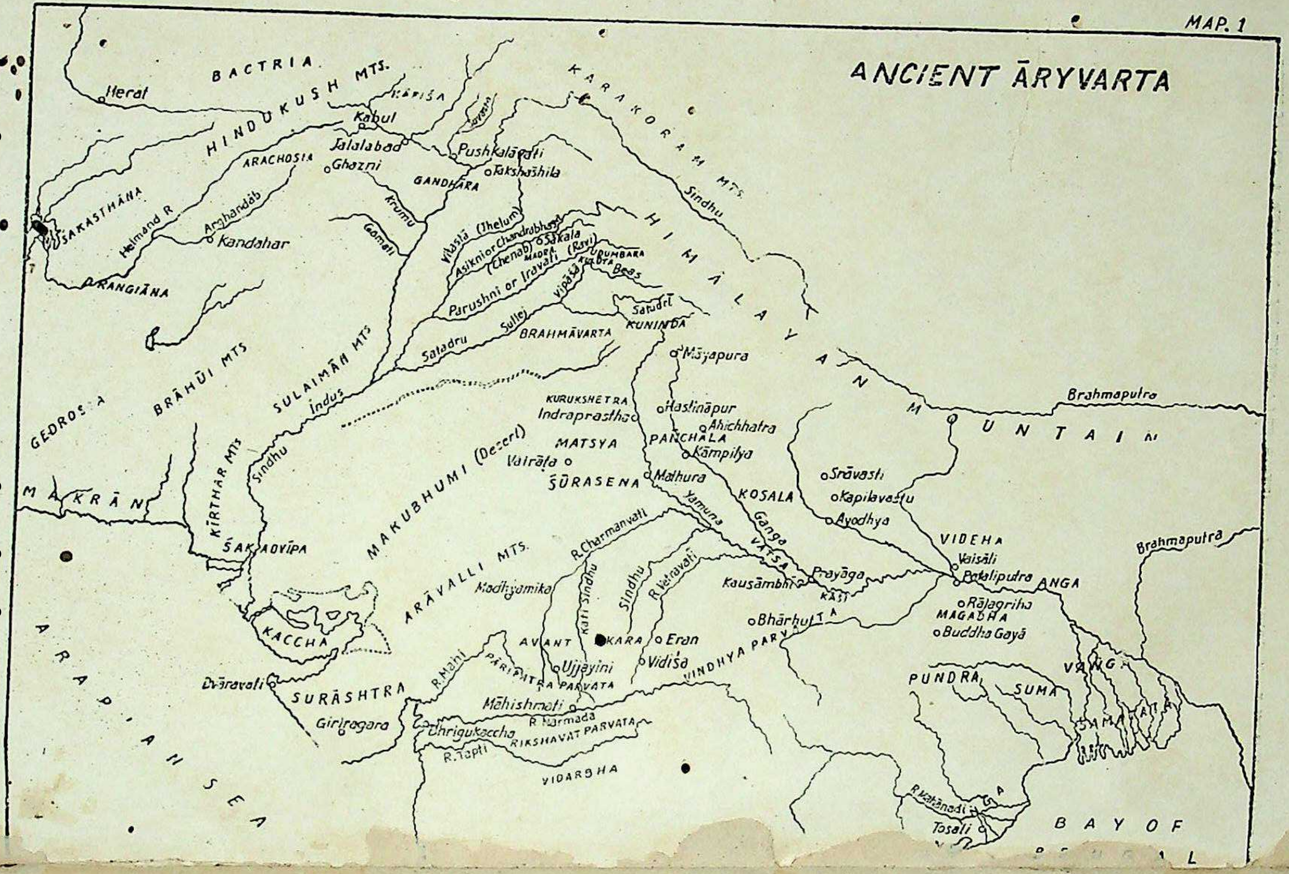

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत का प्राचीन इतिहास

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय विभाग G पुस्तक संख्या 203 State Museum Library

विषय-प्रवेश

(१)

भौगोलिक अवस्था

किसी देश के इतिहास में उसकी भौगोलिक अवस्था का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। अतः भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए, विशेषतः प्राचीन इतिहास को जानने की इच्छा रखनेवाले के लिए, जिस समय यहाँ का इतिहास अपनी प्रारम्भिक रचना की अवस्था में था यह नितान्त आवश्यक है कि उन कतिपय महत्त्वपूर्ण भौगोलिक तथ्यों को अच्छी तरह समझ लिया जाय जिनका प्रभाव हमारे इतिहास पर अमिट रूप से पड़ा है।

भारतवर्ष एक त्रिकोण के आकार का प्रायद्वीप है जो उत्तर में गगनचुम्बी हिमालय की चोटियों से आच्छादित तथा दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में उन्मुक्त सागर द्वारा घिरा हुआ है। इसकी उत्तर-पश्चिमी एवं उत्तर-पूर्वी सीमाएँ पर्वत-मालाओं से घिरी हुई हैं जो हिमालय की ही शाखाएँ हैं।

भारतवर्ष को इस प्रकार प्रकृति ने इतना सुरक्षित बना दिया है कि इस कारण उसकी चतुर्दिक् सीमाएँ तो सुरक्षित हैं ही, उसके द्वारा भारतवर्ष को भौगोलिक एकता की देन प्राप्त है जिसकी पृष्ठ-भूमि में एक संयुक्त सभ्यता एवं संयुक्त राष्ट्र का विकास हो सके। इन प्राकृतिक सीमाओं का एक और प्रभाव दिखाई देता है, उनके द्वारा इस देश की सभ्यता ही अद्वितीय और बिलकुल निराली रही है; उसमें एक प्रकार की मौलिकता है और यहाँ के अधिवासियों को एक विशिष्ट व्यक्तित्व में ढाल देने की क्षमता भी है।

भारतवर्ष (बर्मा के प्रान्त को छोड़कर जो १९३५ में भारत से पृथक् एक स्वतंत्र देश घोषित कर दिया गया) का क्षेत्रफल ब्रिटिश वर्ग मील में पन्द्रह लाख

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ऊपर है१। इस प्रकार यदि रूस को निकाल दिया जाय तो सम्पूर्ण योरप से भी विस्तार में यह बड़ा ही ठहरेगा। इसके समुद्र-तट विस्तार में तीन हजार मील से अधिक दूरी में फैले हुए हैं। इसकी जन-संख्या अन्तिम जन-गणना के अनुसार लगभग चालीस करोड़ है।

देश की विशालता के कारण यहाँ विविध नैसर्गिक विलक्षणताओं का आविर्भाव हुआ है—पृथ्वी की बनावट एवं जलवायु-सम्बन्धी विविधताएँ बिलकुल स्पष्ट दिखाई देती हैं। एक ओर तो दुर्लंघ्य पर्वत-चोटियाँ हैं जिनकी बराबरी भू-पृष्ठ पर वर्तमान कोई अन्य चोटियाँ नहीं कर सकतीं, दूसरी ओर निम्न स्तर के मैदान, उभरे पठार, घने जगल, एकान्त घाटियाँ एवं बीहड़ रेगिस्तान पाये जाते हैं। यहाँ अत्यधिक उष्ण मैदान तथा अत्यन्त ठंढे पर्वतीय स्थल हैं। प्राकृतिक रचना की विविधता के फलस्वरूप तथा इस विस्तृत देश में प्राचीन भारत में यातायात की असुविधाओं के कारण भारतीयों ने पृथक आचरण, रीति और भाषाओं के विकास को प्रश्रय दिया है और मूल निवासियों की विभिन्न शाखाओं में उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व आज भी अक्षुण्ण पाया जाता है। इस स्थिति से इसका कारण स्पष्ट हो जाता है कि क्यों एक आदर्श भौगोलिक इकाई होते हुए भी भारतवर्ष में जितनी जाति, धर्म एवं भाषाओं की विभिन्नता है उतनी सारे योरप में भी नहीं है। इन विविधताओं के कारण भारतवर्ष को फ्रान्स, जर्मनी आदि देशों की तरह एक देश न मानकर उपमहाद्वीप मानना ही अधिक संगत जान पड़ता है।

ऊपर निर्दिष्ट किये गये कारणों से उत्पन्न विभिन्नताओं के होते हुए भी मौलिक एकता के सूत्र विशृङ्खल नहीं हुए हैं। डा० विन्सेंट स्मिथ Dr. Vincent Smith का कथन है: "भारत की मौलिक एकता का पता हमें इस एक बात से ही लग जाता है कि भारत की विभिन्न जातियों में एक विलक्षण प्रकार की संस्कृति और सभ्यता का विकास हुआ है जिसकी संसार की किसी अन्य प्रकार की संस्कृति और सभ्यता से कोई समानता नहीं—ऐसी

---

१ के १८,०८, ६७६ वर्ग मील—यह क्षेत्रफल ब्रिटेन की अपेक्षाकृत बीस गुने से भी अधिक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सभ्यता को हम हिन्दू-सभ्यता के नाम से अभिहित कर सकते हैं। भारत मुख्यतः हिन्दुओं का देश है, अर्थात् उन ब्राह्मणों का प्रदेश है जिन्होंने तलवार के बल पर नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा भारत के कोने कोने में अपनी विचार-धारा का प्रसार किया है। इस सारे हिन्दू-राष्ट्र को नियंत्रित करनेवाली जाति-व्यवस्था है जो ब्राह्मणों की अपनी संस्था है और जिसका चिह्न भी हम बर्मा, तिब्बत तथा अन्य सीमावर्ती प्रदेशों में बिलकुल नहीं पाते। हिन्दू-मात्र में ब्राह्मणों का आदर, गाय के प्रति श्रद्धा और वेदों की प्रामाणिकता में आस्था वर्तमान है। संस्कृत को सर्वत्र देववाणी का सम्मान प्राप्त है। विष्णु और शिव जैसे प्रमुख देवों की उपासना किसी न किसी रूप में भारत के सभी भागों में प्रचलित है। श्रद्धालु यात्री जब तीर्थ-यात्रा के लिए निकलते हैं तो जैसी आत्मीयता उन्हें बदरीनाथ के तुषार-खण्डों से हो जाती है वैसी ही रामेश्वरम् के जलते हुए बालुका-कणों से भी। सात पवित्र नगरों में हिन्दुस्तान के और सुदूर दक्षिणवर्ती नगर भी सम्मिलित हैं। रामायण और महाभारत को सभी समान श्रद्धा और भक्ति के साथ देखते हैं।"

सांस्कृतिक एकता के इन सूत्रों के अतिरिक्त जो हिन्दुओं के विविध वर्गों, विभिन्न भाषा-भाषियों, आचार-रीतिवालों को संसार की अन्य जातियों से अलग परस्पर ग्रथित रखते हैं कुछ ऐसी ग्रन्थियाँ भी हैं जो विभिन्न समुदायों—हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और पारसी—को एकता के सूत्र में बाँधती हैं। ये ग्रन्थियाँ सामान्य राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थों में पाई जाती हैं जिनका होना उनके अस्तित्व के लिए कुछ कम महत्त्व नहीं रखता और इसी लिए धार्मिक तथा जाति-गत भेदों के स्तर से वे बहुत ऊपर उठी होती हैं। सर्वहित के राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों के आधार पर एकता की इस मौलिक ग्रन्थि का समुचित उद्धार विभिन्न समुदायों और जातियों को एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में बाँधने का दृढ़ साधन है।

देश की आन्तरिक स्थिति पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हमें पृथ्वी की विचित्र बनावट के आधार पर चार सर्वथा स्पष्ट प्रदेश दिखाई देते हैं—

[क] हिमालय का पर्वतीय प्रदेश, [ख] सिन्धु और गंगा के बीच के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उत्तरी मैदान, [ग] दक्षिणी पठार जो उत्तर में नर्मदा तथा दक्षिण में कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों से घिरे हुए हैं, [घ] सुदूर दक्षिण-वर्ती प्रदेश जो इन नदियों से आगे पड़ते हैं और जिनके अन्तर्गत तामिल राज्यों की गणना होती है।

उत्तर एवं पश्चिमोत्तर के पर्वतीय प्रदेश, हिमालय और सुलेमान पहाड़ियों द्वारा जो सिन्धु के पश्चिम में हैं और जिसकी घाटियों में रक्त-पिपासु भयंकर जातियाँ निवास करती हैं जिन्होंने अपनी आदि-अवस्था की परम्पराओं का निर्वाह किया है, विनिर्मित हैं। इसी प्रदेश में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त आता है जिसके निर्माता लार्ड कर्जन थे।

उत्तरी मैदान सिन्धु और गंगा की घाटियों तथा राजपूताना के बालुका-प्रदेश एवं कँकरीली पथरीली भूमि से, जो विंध्यशृङ्खला के साथ नर्मदा तक फैली हुई है, बने हैं। यहीं पर आर्यों ने अपनी आरम्भिक सभ्यता का विकास किया और इसे आर्यावर्त के नाम से पुकारने लगे।

दक्षिणी पठार और सुदूर दक्षिण मिलकर दक्षिण भारत कहलाते हैं और इन्हें हिन्दुस्तान के उत्तरी मैदानों से अलग करनेवाली पाँच प्राकृतिक दीवारें क्रमशः ये हैं : नर्मदा, ताप्ती, विन्ध्यपर्वत, सतपुड़ा की पहाड़ियाँ एवं महाकान्तार अर्थात् घने जंगलों की एक चौड़ी मेखला। इन्हीं दीवारों के कारण दीर्घ काल तक दक्षिण भारत में आर्यों का प्रवेश रुका रहा जिसका फल यह हुआ कि जब तक उत्तर भारत में आर्य शासन, संस्कृति और सभ्यता की जड़ें स्थायी रूप से जमीं, दक्षिण के मूल निवासियों ने अपनी एक अलग सभ्यता का विकास किया, जिस पर आर्यों का प्रभाव नहीं पड़ सका। इस सभ्यता के चिह्न, जिसे द्रविड़ सभ्यता कहते हैं, आज भी दक्षिण में पाये जाते हैं।

उत्तरी भारत की लम्बी-चौड़ी और जल-यात्रा के योग्य नदियों का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। सिंधु, गंगा और यमुना के विस्तृत मैदानों में ही भारतीय आर्यों को कृषकों के रूप में बस जाने का आरम्भिक सुअवसर प्राप्त हुआ जिससे वे अपनी निरन्तर फिरते रहनेवाली खानाबदोश आदतें छोड़-कर उस प्राचीन काल में एक सभ्यता का निर्माण कर सके जब कि संसार के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य प्रदेशों में रहनेवाली जातियाँ नृशंस बर्बरों के अतिरिक्त और कुछ न थीं। इन नदियों में नौकाओं द्वारा देश के विभिन्न भागों से घरेलू व्यापार होता था। इन नदियों और उनकी शाखाओं से जल पाकर मैदान इतने उर्वर हो गये कि कृषि का काम सरल हो गया और उपज अधिक होने लगी। कृषि की सरलता से लोगों के पास अवकाश ही अवकाश रहने लगा, क्योंकि कृषि ही उस समय प्रायः सभी लोगों का मुख्य उद्यम थी जैसा कि आज भी अधिकांश भारतीयों का वही एकमात्र आधार है।

कृषि की अत्यधिक उपज और हर प्रकार के खनिज पदार्थों के कारण देश बहुत समृद्ध रहा। एक ओर तो अवकाश के कारण यहाँ धार्मिक, दार्शनिक एवं आचार-सम्बन्धी साहित्य का विकास होता रहा, दूसरी ओर इसकी अतुल सम्पत्ति ने निर्धन किन्तु साहसी पड़ोसियों को अपनी ओर आकर्षित किया जो पहाड़ी दर्रों के उस पार से इसके विषय में सुनते थे और जो दर्रे प्रायः किसी सुव्यवस्थित रक्षा की प्रणाली के अभाव में प्रायः अरक्षित रहे। फलतः भारत को अनेक बाह्य आक्रमणों का भार झेलना पड़ा। इन विदेशी आक्रान्ताओं में कुछ तो विजेता के रूप में यहाँ स्थायी रूप से बस गये और कुछ लूट-पाट कर चलते बने।

इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। भारतीय आर्यों द्वारा इस देश में हिन्दू राजतंत्र तथा संस्कृति के विकास और स्थायीकरण के बाद से मुसलमानों के आक्रमणों और विजयों के समय तक जो भी जातियाँ बाहर से आकर यहाँ बस गईं वे सर्वतः यहाँ के निवासियों में घुल-मिल गईं और उन्होंने हिन्दुओं का आचार-विचार तथा धर्म भी ग्रहण कर लिया। परन्तु मुसलमानों ने भारत में अपनी एक विकसित संस्कृति और धर्म-प्रचार की प्रबल भावना से पुष्ट धर्म के साथ प्रवेश किया। इसी से वे अपनी जातीय मर्यादा और सांस्कृतिक विशेषता को हिन्दूधर्म में आत्मसात् होने से बचा सके। हिन्दूधर्म के प्रभाव से बचने का कारण विजेताओं का दर्प और उनका अपना मूर्त्ति-नाशकों का उत्साह था। यही कारण है कि वे उस प्रकार प्रभावित न हो सके जैसे अ-मुस्लिम पूर्ववर्ती जातियाँ हुई थीं। परिणामस्वरूप मुसलमानों के आगमन से लेकर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृति की दो विभिन्न प्रकार की धाराएँ साथ साथ बहती जा रही हैं। जैसे जैसे समय बीतता गया, एक को दूसरे में अच्छाई का भान होने लगा। एक संस्कृति से दूसरे का उपकार हुआ और मध्यकाल तथा उत्तर-मध्यकाल में भारतीय सभ्यता के प्रत्येक अंग में—वास्तुकला, कला, साहित्य और धर्म में—एक मिश्रित संस्कृति का आविर्भाव स्पष्ट व्यञ्जित है जिसे हम सहज हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का नाम दे सकते हैं।

अँगरेजों के विजेताओं और शासकों के रूप में इस देश में आगमन के साथ एक नवीन तत्त्व—आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का उदय हुआ। भारत की हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति पर पाश्चात्य शिक्षा और ईसाई आदर्शों का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा और हमारे आज के जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रायः सभी अंगों पर पाश्चात्य प्रभाव की मुहर साफ साफ दिखाई देती है।

(२)

इतिहास के साधन अथवा प्रामाणिक कृतियाँ

भारत के प्राचीन इतिहास के साधनों को हम निम्नलिखित शीर्षकों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

अ. साहित्य

दुर्भाग्यवश प्राचीन भारत के लिए हमें किसी समसामयिक ऐतिहासिक ग्रन्थ के प्रणेता का पता नहीं चलता जैसा कि यूनान के इतिहासों (Histories of Greece) के लिए हेरोडोटस (Herodotus) एवं रोम के विवरण (Annals of Rome) के लिए लिवी (Livy) की कृतियाँ उपलब्ध हैं; तथापि प्राचीन भारतीय साहित्य की सामग्री की कमी नहीं है जिसका सावधानी और विवेक से प्रयोग होने पर हमारे प्रारंभिक इतिहास के लिए एक अमूल्य साधन प्राप्त हो जाता है। इस साहित्य का हम दो भाग कर सकते हैं—(१) धार्मिक तथा (२) लौकिक।

(१) धार्मिक साहित्य— धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत चार वेद का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उल्लेख आवश्यक है जिनमें 'ऋग्वेद' प्राचीनतम है और भारतीय आर्यों के उस इतिहास तथा अनुशासन के लिए, जिसका विकास हम 'सप्तसिंधवः' अथवा सात नदियों के प्रदेश में पाते हैं एक अमूल्य उपाय है। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो वैदिक मंत्रों या संहिताओं की गद्य-टीकाएँ हैं, आर्यावर्त्त का उल्लेख हुआ है। उनसे पता चलता है कि उनके धर्म और जीवन की प्रणाली दोनों में उनकी आरंभिक सादगी की अपेक्षा काफी परिवर्तन हो चला था। 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद' जो वेद के अन्तिम भाग हैं, विद्वान् ऋषियों की आत्मा, परमात्मा और जगत्-सम्बधी दार्शनिक विचारधाराओं से ओत-प्रोत हैं। वे प्रारम्भिक हिन्दुओं की संस्कृति एवं धार्मिक तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में विकास की एक विशेष अवस्था का पता देते हैं जिसकी गंभीरता और महत्ता की तुलना नहीं हो सकती।

वैदिक अध्ययन के लिए आगे चलकर विशिष्ट विद्याओं की शाखाएँ फैल गईं। उन्हें हम 'वेदांग' कहते हैं जिनका तात्पर्य वेदों पूरक विद्याएँ है। उनकी संख्या छः है, अर्थात्, शिक्षा (Phonetics), कल्प (Ritual), व्याकरण (Grammar), निरुक्त (Etymology), छन्दःशास्त्र (Metrics) और ज्योतिष (Astronomy)१ इन विद्याओं का विकास वैदिक पाठों को सुगम बनाने के लिए हुआ। कालान्तर में ये विषय कुछ विशेष रीति से पढ़े जाने लगे और उनका वैदिक शाखाओं के अन्तर्गत ही अलग अलग वर्ग स्थापित हो गया। इन वर्गों के पाठ्य-ग्रन्थों के रूप में 'सूत्रों' की रचना हुई। जिनकी शैली की विशेषता यह है कि वे गद्य हैं और कंठस्थ करने के लिए ही बने हैं। सूत्र-शैली की संक्षिप्त रचना ही उसकी आत्मा है।

कल्प के क्षेत्र में, जो वेदांग का एक स्वरूप है कल्पसूत्रों की रचना पाई जाती है। कल्पसूत्रों के चार भाग हैं। महा-यज्ञों से सम्बधित सूत्रों को "श्रौत सूत्र" के नाम से संगृहीत किया गया है। गृह-संस्कारों को निर्दिष्ट करनेवाले सूत्र "गृह्यसूत्र" कहलाते हैं। धर्म अथवा कानून-सम्बन्धी

---

१ "शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्" (मुण्डक उप० १,१.५)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नियमों को "धर्मसूत्र" कहते हैं। "शुल्वसूत्रों" से तात्पर्य उन नियमों से है जिनका यज्ञ की वेदी और हवन-कुण्ड आदि की माप में ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार तो उनका श्रौतसूत्रों के ही साथ सीधा सम्पर्क है। विज्ञान की एक स्वतंत्र कोटि के रूप में भारतीय ज्योमिति एवं वास्तु-शास्त्र की वे प्राचीनतम कृतियाँ हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का क्षेत्र ऋग्वेद संहिताओं से लेकर सूत्रों तक भारतीय आर्यों के इतिहास में लगभग २५०० ई०पू० से ५०० ई० पू० तक ठहरता है।

'रामायण' और 'महाभारत' जैसे दो महाकाव्यों द्वारा आर्यों की सामाजिक तथा राजनीतिक अवस्था का उस समय का ठीक ठीक पता चलता है जब आर्य उत्तर भारत में दीर्घ काल तक निवास कर चुके थे। अभी इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका कि वर्तमान रूप में रचना कब हुई। महाकाव्यों के प्रारंभिक अंश तो सचमुच बड़े प्राचीन हैं। परन्तु आगामी पीढ़ियों में उनमें कुछ न कुछ बराबर जुड़ता गया है और वर्तमान रूप धारण करते करते संभवतः एक हजार वर्ष तो लग ही गया होगा। कुछ विद्वानों का कहना है कि महाकाव्यों का अन्तिम संस्करण दूसरी शती ईसवी में हुआ, परन्तु इसके पूर्व भी हो सकता है। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि अपने मूल रूप में महाकाव्य तीसरी या दूसरी शती ई० पू० के पहले के नहीं हो सकते। हाँ, महाकाव्यों का बीज गाथाओं या चारण-परम्पराओं (Ballads) के रूप में अवश्य प्राचीनतर है।

धर्मशास्त्रों के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि वे सूत्र साहित्य के अन्तर्गत धर्म अथवा कानून का निर्देश करते हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि गृह्यसूत्रों के विपरीत, जो केवल गृह के संस्कारों से सम्बन्ध रखते हैं, सामाजिक व्यवहार पर नियंत्रण रखना उन्हीं का काम है। धर्मशास्त्र - साहित्य का आविर्भाव धर्मसूत्रों के द्वारा ही हुआ है। उसकी निजी विशेषताएँ हैं कि धर्मसूत्रों के विपरीत वह पद्य-बद्ध मिलता है और कानून एवं व्यवहार की विधियों के विषय में प्राचीन व्यवहार की पुस्तकों—धर्मसूत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
सुव्यवस्थित तथा व्याख्यापूर्ण है। धर्मशास्त्र अथवा छन्दोबद्ध स्मृतियों की सबसे प्राचीन पुस्तक जो उपलब्ध है वह "मनुस्मृति" है साधारण हिन्दुओं का विचार है कि मनुस्मृति की ऐतिहासिकता बहुत अधिक है। क्योंकि वह हिन्दू समाज के आदर्श और चरित्र का प्रतिनिधित्व करती है। डा० ब्यूलर (Dr.-Bübler) के अनुसार उसकी रचना २०० ई० पू० से २०० ई० के बीच की है। डा० व्यूलर द्वारा निश्चित किये गये तिथि-क्रम में दूसरी तिथि की अपेक्षा मनुस्मृति पहली तिथि के अधिक समीप जान पड़ती है। बाद की स्मृतियाँ जैसे याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णुस्मृति, बृहस्पतिस्मृति किसी न किसी अंश में प्राचीनतम एव सबसे अधिक प्रामाणिक समझी जानेवाली मनुस्मृति के आधार पर बनी है।

प्राचीन भारत के धार्मिक साहित्य के किसी भी दूसरे अंश की अपेक्षा पुराण विशेष ऐतिहासिक प्रमाणित हुए हैं। पुराण संख्या में अठारह हैं और उनसे सम्बद्ध उपपुराण भी प्रायः उतने ही हैं। पुराण क पाँच अंश अथवा विषय होते हैं। पाँचवाँ तथा अन्तिम भाग 'वंशचरित' कहलाता है और उसमें राजवंशावलियों का इतिहास संवलित होता है। अधिकांश पुराणों में प्राचीन राजवंशावलियों के साथ ही आगामी सम्राटों की तालिकाएँ भविष्यवाणी के रूप में जुड़ी हुई होती हैं। भविष्यवाणी की शैली का प्रयोग पुराणों की प्राचीनता दिखलाने के लिए हुआ है। कलियुग के सम्राटों की सूचियों में अन्य वंशावलियों के साथ हमें शैशुनाग, नन्द, मौर्य, शुङ्ग, कण्व, आन्ध्र तथा गुप्त प्रभृति वंशावलियाँ मिलती हैं जो इतिहास में अच्छी तरह विदित हैं। शैशुनागों में बिम्बसार और अजातशत्रु का उल्लेख हुआ है जिन्हें हम जैन एवं बौद्ध लेखों द्वारा महावीर और गौतम बुद्ध का समकालीन (६ वीं से ५वीं श० ई० पू०) जानते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ, जिनका राज्याभिषेक लगभग ३२२, ई० पू० में हुआ, हम इतिहास के प्रकाशित क्षेत्र में आ जाते हैं। यद्यपि कलियुग के सम्राटों की सूचियाँ ऐतिहासिक सामग्री के लिए सतर्क होकर और विवेक के साथ प्रयुक्त हो सकती हैं, विद्वानों ने अनुशीलन द्वारा यह देखा है कि प्रायः विष्णुपुराण की प्रामाणिकता मौर्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंश के लिए तथा मत्स्यपुराण की आन्ध्र वंश के लिए अत्यधिक है। वायुपुराण में गुप्तों का शासन वर्णित है जैसा कि चन्द्रगुप्त के समय में (चौथी शतब्दी ई० के आरम्भ में) था। सम्राटों की सूचियों के अन्त में इन पुराणों में शूद्र और म्लेच्छ वशजों की वंशावलियाँ पाई जाती हैं और जैसे अभीर, गर्दभ, शक, यवन, तुषार, हूण आदि जो पूर्व वर्णित सम्राटों के समकालीन थे।

पुराणों की परम्पराएँ वास्तव में बड़ी पुरानी हैं जिनका सकेत हमें वैदिक साहित्य में भी मिलता है, परन्तु दीर्घ काल तक मौखिक जनश्रुतियों के रूप में ही वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को पार करती हुई आख्यायिकाओं और कहानियों के रूप में बन गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले के पुराण ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में ही बन गये थे, क्योंकि उस समय के बौद्धों के महायान ग्रन्थों के साथ पुराणों की आश्चर्यजनक समानता है। 'ललितविस्तर' नामक ग्रन्थ न केवल अपने को पुराण घोषित करता है, पुराणों के साथ उसकी समानता देखने योग्य है। 'महावस्तु' के कुछ अंश उन पुराण-अंशों के अनुरूप हैं जिनमें भक्ति-परम्परा का जोरों के साथ समर्थन किया गया है। संभवतः कुल पुराणों का अन्तिम स्वरूप ५वीं या ६वी शताब्दी में जाकर निश्चित हुआ; क्योंकि सम्राटों की सूचियों में न तो गुप्तों के बाद की वंशावलियों का समावेश हुआ है और न हर्ष जैसे प्रतापी शासकों का। बाण (७वीं शताब्दी ई० का आरम्भ) को पुराणों का अच्छा ज्ञान था और उसने अपनी ऐतिहासिक आख्यायिका 'हर्षचरित' में अपने गाँव में होनेवाले वायुपुराण के पाठ के समारोह में सम्मिलित होने का उल्लेख किया है।

बौद्धों के धार्मिक साहित्य को 'त्रिपिटक' कहते हैं। गया में बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने पैंतालीस वर्ष तक, जीवन पर्यन्त, उपदेश किया। उनके 'परिनिर्वाण' के बाद उनकी समस्त शिक्षाएँ संकलित और तीन भागों में विभाजित कर दी गईं। विहार-सम्बन्धी आचार की शिक्षाओं को 'विनयपिटक' का नाम दिया गया। धार्मिक सिद्धान्तों के उपदेश 'सुत्तपिटक' के अन्तर्गत आये और जिनमें दार्शनिक विचारों का निरूपण किया गया वे 'अभिधम्म पिटक' के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तर्गत मान लिये गये। बुद्ध के उपदेश और शिक्षाएँ प्रायः सभी स्थलों पर कहानियों और दृष्टान्तों के साथ सम्बद्ध हैं। अतः त्रिपिटक के ग्रन्थों में जानकारी की बहुत सी बातें हैं जिनसे राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों का तत्कालीन (लगभग ६०० ई० पू०) ज्ञान अर्जित किया जा सकता है।

त्रिपिटक द्वारा जानी गई बातों को जैनियों के धर्म-ग्रन्थ, जिन्हें 'बारह अङ्ग'' कहते हैं; पूरा करते हैं क्योंकि उनमें जैनधर्म के प्रवर्तक महावीर के समय के जो गौतम बुद्ध के समय में थे, बहुतेरे ऐतिहासिक निर्देश, वक्तव्य एवं अन्य ज्ञातव्य बातें पाई जाती हैं जिनका काफी मूल्य है। जैनों के आरम्भिक इतिहास के लिए संभवतः चौथी शताब्दी ई० पू० में लिखे गये भद्रबाहु-कृत 'जैनकल्पसूत्र' का विशेष मान है। ऐसा विश्वास है कि जैनियों के धर्मग्रन्थ अपने वर्त्तमान रूप में जैनों के वलभी में होनेवाले (लगभग ५०० ई०) सम्मेलन में लिखे गये।

त्रिपिटक के पालि धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्धधर्म पर अन्य पालि भाषा के ग्रन्थ हैं जिन्हें श्रद्धालु बौद्ध यद्यपि उतनी ही श्रद्धा से नहीं देखते जितनी कि पिटकों के ग्रन्थों को तथापि उन्हें काफी सम्मान देते हैं। उनमें सबसे पहले तो जातकों का ही उल्लेख होना चाहिए जो बुद्ध की पूर्व जन्मों की कहानियाँ हैं अथवा जिन्हें बोधिसत्व की कहानियाँ भी कहते हैं। बौद्ध परम्परा में बोधिसत्व उसे कहते हैं जिसे बोधि (ज्ञान) प्राप्त होना निश्चित है अर्थात् वह बुद्ध होकर रहेगा। ऐसा कहा जाता है कि गौतम बुद्ध को असंख्य योनियों में भ्रमण करना पड़ा—कभी मनुष्य, कभी पशु, अथवा कभी देव-योनि में—तब जाकर अन्तिम बार वे शाक्यकुमार हुए और गया में उन्हें ज्ञान हुआ। अभी तक इस तरह के कुल ५४६ जातकों का संकलन और प्रकाशन हुआ है। प्रत्येक जातक या जन्म-गाथा में प्रारम्भिक बौद्ध भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक अवस्था पर प्रकाश डाला गया है। कृतियों और अभिलेखों के आधार पर जातकों की रचना दूसरी या तीसरी शती ई० पू० में रखी जा सकती है। भर्हुत और साँची के स्तूपों के चारों ओर विनिर्मित पत्थर की दीवारों पर, जिनका निर्माण-काल वही है, जातक की कहानियाँ चित्रों में अंकित हैं। बौद्ध अनुश्रुतियाँ तो उनका काल और पीछे ले जाती हैं जैसा कि उनका कुछ अंश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निस्सन्देह है भी, और ये ७वीं या ८वीं शती ई० पू० के भारतीय जीवन का चित्रण करते हैं जब कि बुद्ध का जन्म भी नहीं हुआ था। जातकों का बड़े सरल और अत्यन्त रोचक शैली में वर्णन हुआ है। पूर्वी संस्कृति और वाङ्मय के जर्मन विद्वान् विन्टरनित्स (M. Winternitz) का मत है -'जातक केवल इसी लिए अमूल्य नहीं हैं कि उनका साहित्य और उनकी कला का प्रकाशन वैसा है, बल्कि तीसरी शती ई० पू० की सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से भी उनका वैसा ऊंचा मान है१।''

एक अन्य काफी प्रसिद्ध पालि की पुस्तक ''मिलिन्द पण्हो'' (मिलिन्द-प्रश्न) है जिसमें बौद्ध स्थविर नारासेन और सम्राट् मिलिन्द का, जिसे दूसरी शती ई० पू० शुङ्ग सम्राट् पुष्यमित्र का समकालीन इण्डो बैक्ट्रियन शासक मिनैण्डर (Menander) माना गया है, वर्णन हुआ है। पालि धर्मग्रन्थों की बुद्धघोष की, जिनका समय चौथी या पाँचवीं शती ई० है, टीकाएँ बहुत-से ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सन्दर्भों से भरी पड़ी हैं।

(२) लौकिक साहित्य—इस पुस्तक के परमित स्थान के कारण लौकिक साहित्य के अन्तर्गत सभी कृतियों का विस्तृत और पूर्ण सारांश भी देना असंभव है। हम केवल कुछ विशेष कृतियों का उल्लेख करेंगे जिनमें इतिहास की अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है। इनमें से शीर्ष स्थान निस्सन्देह ''अर्थशास्त्र'' को दिया जाता है जो राजनीति की एक पुस्तक है और जिसके लेखक का नाम कौटिल्य है जो चन्द्रगुप्त मौर्य (४०० ई० पू०) का बहुख्यात अमात्य था२। पाणिनि लगभग ७००–५०० ई० पू०) और कात्यायन (लगभग (४०० ई० पू०) के व्याकरणों से मौर्य-पूर्व इतिहास तथा मौर्यकालीन राजनीतिक अवस्था का

१ विन्टरनित्स, भाग २, पृ० १५५।

२ अर्थशास्त्र के तिथि-सम्बन्धी प्रमाणों की विस्तृत विवेचना के लिए देखिए मेरी पुस्तिका 'दी एज एण्ड ऑथेन्टिसिटी ऑव कौटिल्य अर्थशास्त्र' [इलाहाबाद यूनिवर्सिटी एनुअल स्टडीज, १९४२] तथा उसके प्रतिवाद के लिए डा० ए० बी० कीथ का लेख 'दि एज ऑव अर्थशास्त्र' [बी० सी० ला वाल्यूम १, १९४५, पृ० ४७७- ९५]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पता चलता है। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' तथा कालिदास के ऐतिहासिक नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से प्रारम्भिक शुङ्गों के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। संस्कृत भाषा के बौद्ध ग्रन्थ 'दिव्यावदान', 'ललितविस्तर' और 'महावस्तु' तथा सिंहल के पालि इतिहास 'दीपवंश' और 'महावंश' बहुत-सी प्राचीन भारतीय अनुश्रुतियों का पता देते हैं जिनका सम्बन्ध विशेषत: मौर्य और शाक्य वंशों से है। रचना-सौष्ठव पर विशेष ध्यान देकर लगभग ५०० ई० के लिखे गये विशाखदत्त के ऐतिहासिक नाटक 'मुद्राराक्षस' से नन्दों के इतिहास और मौर्यों के आरम्भकालीन शासन के सम्बन्ध की बहुतेरी बातें जानी जाती हैं। हर्ष-लिखित तीन नाटक की पुस्तकें नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका ७वीं शती के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। परन्तु उसी शती की अर्द्ध-ऐतिहासिक पुस्तक बाण-लिखित 'हर्षचरित' नामक जीवन-चरित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उससे काफी महत्त्व की और यथाथ ज्ञातव्य बातों का पता लगता है, यद्यपि कहीं कहीं पर अत्यधिक अलंकृत और अतिरंजित शैली का प्रयोग होने के कारण उसकी यथार्थता पर भी कभी कभी सन्देह होने लगता है। विंसेन्ट स्मिथ द्वारा इस पुस्तक की तुलना अबुलफजल-कृत 'अकबरनामा' ठीक ही से हुई है। वास्तविक इतिहास तक पहुँचने की क्षमता सुप्रसिद्ध संस्कृत कृति 'राजतरंगिणी' में है जिसकी रचना बारहवीं शती में कश्मीरी पण्डित कल्हण ने की थी। इसमें ग्रन्थकार ने प्राचीन काल से लेकर अपने समय तक के कश्मीर-नरेशों का इतिहास वर्णित किया है। उसके समकालीन एवं कुछ ही पूर्व की घटनाओं का लेख अत्यन्त संगत और प्रामाणिक है। यद्यपि यह ग्रन्थ कश्मीर के नरेशों का इतिहास प्रस्तुत करता है, भारत के अन्य प्रदेशों की घटनाओं के सन्दर्भ इसमें बहुलता से पाये जाते हैं।

आ. विदेशी प्रमाण

देशी साहित्य के प्रमाणों की आशातीत पूर्त्ति विदेशी लेखकों की कृतियों से होती है। सिकन्दर के पूर्ववर्त्ती यूनानी लेखकों ने अधिकांश सुनी-सुनाई बातों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और यात्रियों की कहानियों के आधार पर लिखा है। इस कोटि के लेखकों में स्काइलास (Skylax), हेकेटीयस (Hekataeus), हेरोडोटस (Herodotos) एवं क्टेसियस (Ctlsias) के नाम उल्लेखनीय हैं। स्काइलास एक यूनानी सैनिक था जिसने छठी शती ई० पू० में अपने स्वामी पारसीक सम्राट् दारा (Darius) की आज्ञा से सिंधु नदी का पता लगाया था। अतः उसके विवरण प्रत्यक्ष रूप से अरस्तू (Aristotle) को दो शताब्दी बाद विदित हुए जिसने उस विवरण से यह उद्धृत किया है कि भारतीयों में अपनी प्रजा की अपेक्षा राजा को उच्च कुल का मानने की प्रथा थी[१]। यात्रियों की ऐसी अद्भुत कहानियों से, जिनमें उनत रह-तरह के लोगों का वर्णन होता था जो अपने लम्बे पैरों की छाया से धूप से बचने का काम ले लेते थे अथवा जो अपने लम्बे कानों में सिमट जाते थे अथवा जो एकाक्ष थे, उसने अपने देशवासियों को आश्चर्यान्वित किया है[२]। उसके विवरण की इस तरह ऐतिहासिकता कुछ नहीं के बराबर है। माइलेटस का हेकेटियस स्काइलास का समकालीन था जिसके ज्ञान का आधार भी संभवतः स्काइलास ही का जैसा कि दीर्घ पैरवाले मनुष्यों आदि की आश्चर्यजनक कहानियाँ उसकी भौगोलिक कृति 'पीरॉइडॉस गेस' (Peroidos Gēs) में भी पाई जाती हैं। इन्डॉइ (सिंधु नदी) के अतिरिक्त उसे सिंधु के उपरले भाग के रहनेवाले गान्धार लोगों का ज्ञान था और उस प्रदेश के एक नगर का नाम भी, जिसे उसने कैस्पैपाइरॉस (Kaspapyros) लिखा है, ज्ञात था। हेरोडोटस (जन्म ४८४ ई० पू०) ने भी भारत के सम्बन्ध में लिखा है। अपने लेखों में उसने हेकेटियस से काफी सहायता ली है और इस कारण अधिकांशतः आश्चर्यजनक और अतिरंजित बातों से उसके लेख भरे हुए हैं। भारत के सम्बन्ध की कुछ स्थूल बातें उसे ठीक-ठीक ज्ञात थीं। वह लिखता है—

---

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३९३।
२ वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"समस्त ज्ञात जनों में संख्या में भारतीय सबसे अधिक हैं [१]।" जिन भारतीयों को वह जानता था वे प्रायः पारसीक सीमा की बर्बर जातियाँ थी। अतः उनके आचार और रीति-रस्म के सम्बन्ध में उसने जो कुछ लिखा है वह सभ्य भारत के विषय में नहीं कहा जा सकता। वह कैस्पैपाइरॉस नगर और पैक्टाईस (पश्तू) प्रदेश के निवासी भारतीयों का अर्थात् काबुल की घाटी में बसनेवाली पहाड़ी जातियों का वर्णन करता है। उसका कहना है कि वे अत्यन्त युद्धप्रिय जातियाँ थीं। ये ही गणतंत्र जातियाँ जरजेस (Xerxes) की सेना में प्रविष्ट होकर यूनान के आक्रमण में सम्मिलित हुई थीं। जरजेस की सेना में सम्मिलित हुए भारतीयों के वस्त्र एवं शस्त्र-अस्त्र से सज्जित होने के बारे में हेरोडोटस ने इस प्रकार लिखा है—"वे पौधों से विनिर्मित (अर्थात् सूती) कपड़े पहनते थे और बाँस की कमानीवाले धनुष रखते थे जिनके सिरे लोहे से मढ़े होते थे। पैदल और खच्चरों द्वारा खींचे जानेवाले रथों पर बैठकर दोनों तरह से लड़ने का प्रचलन था [२]।" उसने ऊन प्रदान करनेवाले वृक्षों का भी उल्लेख किया है जिनका ऊन सुन्दरता और स्थायित्व में भेंड़ के ऊन से कहीं अच्छा होता है और लिखा है कि भारतीय इन्हीं वृक्षों से प्राप्त कपड़े पहनते हैं।

केरिया के निडॉस प्रदेश का रहनेवाला क्टेसियस एक चिकित्सक था और इस पद पर वह अर्तजरजेस (Artaxerxes) के राज-दरबार में सत्रह वर्ष तक (४३६–१५ ई० पू०) रहा। परन्तु उसने भारत के विषय में ठीक तौर पर जानने की काफ़ी सुविधाओं की पर्याप्त अवहेलना की। उसकी "इण्डिका" यद्यपि आकर्षक शैली में लिखी गई है, उसमें गल्प अधिक हैं। मिस्टर बेवान (E. R. Bevan) ने उसे एक पक्का 'असत्यवादी' ठहराया है [३]।

---

१ वही, पृ० ३६५।

२ वही, पृ० ३६६।

३ वही, पृ० ३६७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सिकन्दर का आक्रमण सर्वथा सैनिक ही नहीं था, वह अंशतः वैज्ञानिक अथवा सांस्कृतिक भी थ और उससे मानव-ज्ञान की काफी वृद्धि हुई। महान् विजेता सिकन्दर स्वयं एक बड़े भारी ज्ञानी पुरुष का शिष्य था और उसके कर्मचारियों में, जिन्होंने भारत तक उसका साथ दिया, बहुत से तो ऐसे थे जो अपनी साहियिक अथावा वैज्ञानिक संस्कृति के लिए प्रसिद्ध थे। उनमें सबसे प्रमुख टालेमी (Ptolemy) जो मिस्र का सम्राट् बना; नियार्कस (Nearchus) जो सिकन्दर के जलपोत का अध्यक्ष था, ऑनेसिक्रिटस (Onesicritus) जो जल-पोत का संचालक था; और अरिस्टॉबुलस (Aristobilus) जिसने काफी आगे चलकर अत्यन्त वृद्धावस्था में अपनी पुस्तक लिखी। यूनानियों के भारतविषयक ज्ञान के क्षेत्र में सबसे मूल्यवान् और प्रामाणिक कृति स्काइलास की पुस्तक थी जिसमें उसने अपनी सिंधु नदी और फारस की खाड़ी के बीच की समुद्र यात्रा का सविस्तर वर्णन किया है। उसकी पुस्तक में भारत के सम्बन्ध में प्रसंगानुसार अनेक ज्ञातव्य बातें संकलित हुई हैं। ऑनेसिक्रिटस ने भी, जिसने नियार्कस की जल-यात्रा में भाग लिया था, उसके तथा भारत के विषय में एक पुस्तक लिखी है। परन्तु स्ट्रैबो के अनुसार वह अप्रामाणिक है।

इन लेखकों के बाद क्रम से तीन राजदूत यूनानी शासकों द्वारा पालिबोथ्र (पाटलिपुत्र) के भारतीय दरबार में भेजे गये जिनके नाम मेगस्थनीज (Megasthenes), डाइमेकस (Deimachus) जो सीरिया के दरबार से आया था, तथा डायोनिसियस (Dionysius) जो टॉलेमी के मिस्र के राजदरबार से भेजा गया था, थे। डाइमेकस अमित्रकेटिस (बिन्दुसार) के पास भेजा गया था। डाइमेकस और डायोनिसियस ने यदि कुछ लिखा था तो उनकी कृतियों का कोई पता नहीं है। अनुवर्त्ती लेखकों द्वारा उनसे उद्धृत वक्तव्य प्रायः नगण्य एवं असम्बद्ध हैं और उनके विषय कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। परन्तु मेगस्थनीज की लिखी हुई पुस्तक, जो चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में राजदूत बनकर आया था, यूनानियों द्वारा भारतविषयक प्राप्त ज्ञान-राशि में सबसे अमूल्य रत्न है जिसमें भारत की विस्तृत झलक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केवल एक और लेखक उल्लेखनीय है। मेगस्थनीज की भारतविषयक कृति की रचना के कुछ काल बाद पैट्राक्लीज (Patrocles) ने, जो सिंधु नदी और कैस्पियन सागर के बीच के प्रान्तों का सेल्यूकस निकेतोर (Seleucus Nikator) एवं अन्तियोक प्रथम (Antioclus I) के शासन-काल में अधिपति नियुक्त किया गया था, उन प्रदेशों का भारत-समेत विवरण लिखा है जिसे स्ट्रैबो ने अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है और जिसकी सचाई एवं प्रामाणिकता की प्रशंसा की है तथ जिसका उल्लेख हम एरैटॉस्थनीज़ (Eratosthenes) सिकन्दरिया के पुस्तकालय के अध्यक्ष (२६६-२४० ई० पू०) की कृति में पाते हैं जिसे भूगोल को एक विद्या का स्वरूप देने का श्रेय प्राप्त है।

चीनी यात्री फाहियान ने पाँचवीं शती में भारत की यात्रा की और इस सिलसिले में चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन-काल में गंगावर्ती प्रान्तों के शासन तथा सामाजिक दशा का अपने निरीक्षण के आधार पर एक मूल्यवान् विवरण प्रस्तुत किया है। उसके आने के दो सौ वर्ष बाद यात्रियों में अग्रगण्य युवान-च्वांग नामक चीनी यात्री यहाँ आया जिसने पन्द्रह वर्ष तक भारत में भ्रमण किया और देश का कोना-कोना छान डाला। उसकी पुस्तक में हर्षवर्धन के शासन काल (६०६-६४८ ई०) के भारतवर्ष की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अवस्थाओं के बहुमूल्य लेख उपलब्ध हैं। उसकी एक पीढ़ी के बाद एक तीसरे चीनी-यात्री इ-त्सिंग ने भारत-यात्रा की और उसने यहाँ जो कुछ देखा उसका एक लेख छोड़ गया।

अल्बरूनी नामक मुसलमान विद्वान् (१००० ई०) ने, जो महमूद गजनवी के साथ भारत आया और जिसने संस्कृत भाषा तथा हिन्दुओं के सामाजिक आचार और धर्मों का अध्ययन किया, भारतवर्ष की अपनी प्रसिद्ध रचना "तहकीक-ए-हिन्द" में एक रोचक एवं पाण्डित्यपूर्ण वृत्तान्त लिखा है।

इ. पुरातत्त्व

पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाण तीन तरह के हैं—(१) स्मारक-सम्बन्धी (Monumental), (२) अभिलेख-सम्बन्धी (Epigraphic) तथा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(३) मुद्रा-सम्बन्धी (Numisatic)। स्मारक-सम्बन्धी प्रमाणों के अन्तर्गत प्राचीन इमारतें, मूर्त्तियाँ तथा अन्य प्राचीनता द्योतक कृतियाँ आती हैं। भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की कृपा से, जिसकी स्थापना लार्ड कर्जन महोदय द्वारा हुई थी, अनेक स्थलों की खुदाई की जा चुकी है और ऐतिहासिक महत्त्व की बहुत काफी सामग्री उपलब्ध हुई है। खुदाइयों के प्रसिद्ध स्थलों में मोहेंजोदड़ो (सिंध); हड़प्पा, तक्षशिला (पंजाब); मथुरा, कोसम, सारनाथ, कसया और सहेत महेत (उत्तर प्रदेश), पाटलिपुत्र; नालन्द, राजगिर (बिहार); साँची और भहुत (मध्य भारत); अगदी, लक्ष्मणेश्वर, बनवासी, पत्तदकल, चितालद्रूग, तालकड, हेलेबिड, मास्की आदि दक्षिण में हैं। इनके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों तथा स्वतंत्र संस्थाओं द्वारा अन्य स्थानों में खुदाई का काम हुआ है। पुरानी इमारतों के प्राचीरों, द्वार भित्तियों की पाषाण-पट्टियों तथा मूर्त्तियों आदि पर प्रायः अभिलेख खुदे पाये जाते हैं जिनसे इतिहास का प्रत्यक्षीकरण होता है। इन इमारतों की रचना के अतिरिक्त उनमें प्राप्त प्रतिमाएँ अपने समय की सभ्यता का सम्यक् चित्रण करती हैं।

अभिलेख-सम्बन्धी प्रमाण पाषाण की पट्टियों पर खुदे हुए लेखों, स्तम्भों, शिलाओं, ताम्र-पत्रों, दीवारों, ईंटों, मृण्मूर्तियों, पाषाण-मुद्राओं एवं प्रतिमाओं पर पाये गये लेखों में मिलते हैं। यथार्थ इतिहास के साधन-स्वरूप अभिलेखों का सबसे अधिक मूल्य है। उदाहरणार्थ अशोक के स्तंभ और शिलालेख स्वयं एक वर्ग-विशेष हैं जिनसे उस प्रतापी सम्राट् के इतिहास का अत्यन्त प्रामाणिक हाल मिलता है। सारनाथ और प्राचीन कौशाम्बी के स्थल से प्राप्त बुद्ध अथवा बोधिसत्वों की प्रतिमाओं पर अंकित दान-अभिलेखों से उन दोनों स्थानों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। कन्नौज के त्रिलोचनपाल के भूँसी ताम्र-पत्र-लेख से उस नरेश के राज्य-विस्तार की पूर्वी सीमा का पता चलता है। कड़ा के प्राचीन नगर-द्वार के एक पत्थर के टुकड़े पर अंकित सुप्रसिद्ध कड़ा अभिलेख (यह भी एक दानाभिलेख है) से इलाहाबाद के समीपवर्ती कोसम गाँव को कौशाम्बी का प्राचीन नगर निश्चित करने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुद्राओं के वैज्ञानिक अध्ययन से प्राप्त प्रमाण मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाण कहलाता है। साधारणतः मुद्राओं के दोनों ओर उनके चलानेवालों के चित्र, नाम तथा तिथि दिये होते हैं। भारत में व्यवहृत मुद्राओं में प्राचीनतम पंच-मार्क के सिक्के हैं जिन पर नाम और तिथि तो नहीं बल्कि केवल प्रतीक और चिह्न दोनों तरफ अंकित हैं। विंसेन्ट स्मिथ और रैप्सन (E. J. Rapson) के अनुसार ये सिक्के प्राइवेट सिक्के हैं। स्मिथ का मत है कि वे निगमों (Guilds) एवं स्वर्णकारों द्वारा राजाज्ञा प्राप्त कर चलाये जाते थे जिनके मुखपृष्ठ (Obverse) के चिह्न उन श्रेणियों द्वारा अंकित होते जिनके हाथों में वे जाते थे तथा पृष्ठतल (Reverse) के चिह्न शासक की अनुमति के द्योतक होते थे। प्रो० रैप्सन का विचार है कि सामने के चिह्न श्रेष्ठियों के प्राइवेट चिह्न तथा पृष्ठ-चिह्न उन सिक्कों के संचालन-स्थान के सूचक हैं। पर अभी हाल के अनुसन्धानों के परिणाम-स्वरूप इसका निश्चय हो गया है कि पंचमार्क के सिक्के जनता के बीच साधारण रीति से प्रचलित थे। पाटलिपुत्र से प्राप्त कुछ पंचमार्क के सिक्कों को डा० जायसवाल ने चन्द्रगुप्त मौर्यकालीन बतलाया है।[1] तक्षशिला से इण्डो-बैक्ट्रियन सम्राटों के में सिक्के काफी संख्या पाये गये हैं जिन पर दोनों ओर लेख हैं और जिनके द्वारा विद्वानों को उनका तिथि-क्रम निश्चत करने में सहायता मिली है। अनेक स्थानों पर पाई गई निधियों और विविध सरकारी तथा म्यूनिसिपल संग्रहालयों एवं निजी तौर पर रक्षित संग्रहों में संगृहीत तथा सुरक्षित सिक्कों द्वारा विद्वानों को एक अतिशय अमूल्य एवं प्रचुर साधन भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिए सुलभ हो गया है।

— — —

१ जे० आर० ए० एस०, सेन्टेनरी सप्लीमेण्ट; जे० बी० ओ० आर० एस०, १६१६; १७, ४६३; प्रोसीडिंग्स ऑव दि एनुअल मीटिंग ऑव द न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑव इण्डिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३)

भारत की प्रागैतिहासिक सभ्यता

सिंधु घाटी की संस्कृति (लगभग २५०० ई० पू०)

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के विषय-प्रवेश के सम्बन्ध में कहे गये हमारे कथन अधूरे रह जायँगे यदि यहाँ प्रागैतिहासिक सिंधुघाटी की संस्कृति के सम्बन्ध में किये गये अभी हाल के पुरातत्त्व-विषयक अन्वेषणों का कुछ विवरण न दिया जाय। बलूचिस्तान के कलात राज्य के नाल नामक स्थान से १९२९ में मिले प्रागैतिहासिक संस्कृति के चिह्न भारतीय सीमा पर लगभग ३००० ई० पू० की एक विशिष्ट संस्कृति के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। इस संग्रह में ताँबे के औजारों का एक झोप्पा, दाने और चित्रित बर्तनों और जल-पात्र के कई सुन्दर समूह हैं। इन वस्तुओं द्वारा अभिव्यक्त संस्कृति सिंध के मोहेंजोदड़ो नामक स्थान से जानी गई संस्कृति से कुछ भिन्न है और उसकी समानता पारस तथा मेसोपोटामिया की चित्रित कला-कृतियों से अधिक है। संग्रह की ये प्राचीन वस्तुएँ क्वेटा के संग्रहालय में रखी हुई हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो नामक सुप्रसिद्ध स्थानों की खुदाई में अभी हाल में इतनी अधिक सामग्री मिली है जिससे प्रागैतिहासिक युग में सिंधु घाटी में रहनेवाले लोगों की सभ्यता और संस्कृति के एक उच्च स्तर का पता लगा है। दोनों स्थानों से प्राप्त सामग्रियों द्वारा सभ्यता की कोटि एवं समय का जो अनुमान होता है वह प्रायः एक-सा है और दोनों स्थान हैं भी सिंधु घाटी की एक मेखला में। हड़प्पा पंजाब के माण्टगोमरी जिले में है और मोहेंजोदड़ो सिंधु के निचले भाग के किनारे सिंध प्रान्त के लरखाना जिले में। पुरातत्त्व-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष सर जॉन मार्शल Sir John Marshall) द्वारा तीन खण्डों में चित्र-सहित प्रकाशित मोहेंजोदड़ो के शोध-सम्बन्धी विवरण पाँच हजार वर्ष से भी पूर्व के वैज्ञानिक ढंग पर बसे हुए एक भव्य नगर का पता देते हैं। काल का निर्णय वहाँ एक राजमुद्रा (Seal) के प्राप्त होने से हुआ है जो लगभग ३५०० ई० पू० की एक मेसोपोटामिया की मुद्रा के ठीक अनुरूप है। उन लोगों के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मकान पकी ईंटों और गारे से बनते थे। सड़कें सुव्यवस्थित ढंग से बनाई जाती थीं जिनकी तुलना एक आधुनिक नगर की सड़कों से सहज ही की जा सकती है। अधिकांश मकानों में घरेलू व्यवहार-सम्बन्धी कुएँ और स्नानागार होते थे। नगरों में कूड़ा-करकट फेंकने तथा नहरों का अच्छा प्रबन्ध था जैसा कि चित्रों से साफ पता चलता है कि प्रत्येक घर से नालियाँ पीछे की सड़कों तक जातीं और वहाँ से दूसरी नालियों को काटकर प्रधान सड़कों पर निकलती थीं जिनके किनारे किनारे मोटी नालियाँ नगर के बाहर तक चली जाती थीं। मकानों के ढाँचों, आकार-प्रकार तथा उनकी निर्माण-योजना को देखकर उनको रहन-सहन की ऊँची स्थिति का पता लगता है। कई सार्वजनिक इमारतें तथा एक उच्च स्तम्भों पर स्थिर आयत कमरे के, जिसका उपयोग संभवतः राज्य-कार्यों के चलाने के निमित्त सभा-भवन के रूप में होता था, अवशेषों के मिलने से यह प्रमाणित होता है कि उनका सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन बहुत ही उन्नत था।

लोगों के धर्म के विषय में ऐसा जाना जाता है कि वे मूर्त्ति-पूजक थे—शिव की प्रतिमा की विशेष उपासना होती थी। उत्पादक (Phallic) चिह्नों—लिङ्ग तथा योनि की पूजा भी प्रचलित थी। स्पष्ट शिरोवस्त्र एवं कंठहार तथा कुण्डल आदि अलंकारों से भूषित मृण्मय मूर्तियों के चित्रों से किसी देवी का अनुमान होता है। अनेक राजमुद्राओं, छोटी-मोटी मुद्राओं, मृण्मय मूर्त्तियों और प्रतिमाओं से पशु-पूजा के भी संकेत पाये जाते हैं। एक विचित्र प्रकार का अवशेष अर्द्ध-मानव तथा अर्द्ध-दैवी आकृति का पाया गया है जिससे सुमेर के 'एकडु' देवता का और नागों के अर्द्ध-मानव एवं अर्द्ध-पशु आकृति का अनुमान होता है। यह भी पशुपूजा की कोटि के अन्तर्गत है। मोहेंजोदड़ो में वृक्ष-पूजा तथा सूर्योपासना के भी प्रमाण मिलते हैं।

अनेक मुद्राओं पर पाये गये विविध पशुओं के चित्रों से यह प्रमाणित होता है कि लोग जानवर पालने, डंगर रखने और भैंस, ऊँट, हाथी तथा हिरन को दैनिक व्यवहार में काम में लाने की उपयोगिता से परिचित थे और उनका परिचय चीता तथा बन्दर आदि प्रकार के जानवरों से भी था। मिट्टी के बने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए भाण्डों की खोज से, जिनमें अन्न पाये गये हैं इसका प्रमाण मिल जाता है कि सिंधु घाटी के रहनेवाले गेहूँ तथा जौ की खेती करते थे। खुदाई के समय मिले तरह-तरह के आभूषण यह बतलाते हैं कि वे सोना, चाँदी, ताँबा एवं सीसा को व्यवहार में लाना जानते थे। वे कीमती पत्थर, हाथीदाँत, हड्डी और शंख के आभूषण भी पहनते थे और सूती तथा ऊनी वस्त्र धारण करते। इससे केवल यही नहीं पता चलता कि वे सभ्य थे बल्कि उनके समृद्ध और वैभवशाली होने का भी अनुमान होता है।

लोगों की अतिशय धार्मिक प्रवृत्तियों का पता अनेक रमणीक मन्दिरों के अनुसन्धान से चलता है जो आज तक अच्छी आकृति में सुरक्षित हैं और जिनका व्यवहार शक्ति तथा शिव के आराधन-स्वरूप होता था[1]।

युद्ध में काम आनेवाले अस्त्र-शस्त्रों में भालों, कुल्हाड़ियों, धनुष और चुन्दों का उपयोग होता था। इन्हीं प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख हम ऋग्वेद संहिताओं में ऋग्वेदकालीन आर्यों द्वारा व्यवहृत पाते हैं। परन्तु असि (तलवार) और रक्षा के निमित्त कवच एवं शिरस्त्राण, जिनका प्रयोग ऋग्वेदकालीन आर्य करते थे, सिंधु घाटी के निवासियों द्वारा नहीं व्यवहृत होता था क्योंकि इनमें से किसी का पता मोहेंजोदड़ो में नहीं लगा है। लोग अपने बाल-बच्चों के मनोरंजन तथा क्रीड़ा के महत्त्व को किस प्रकार समझते थे, इसका प्रमाण विविध प्रकार के खिलौने—गुड़िया, सीटी, खड़खड़िया गाड़ी, छोटी-छोटी गाड़ियाँ, छोटे-मोटे अनाज रखने के बर्तन तथा पानी के बर्तन आदि हैं। बहुत से पाँसों के पाये जाने से उनके जुआ में अभिरुचि रखने का पता चलता है।

खोज की महत्त्वपूर्ण सामग्री में चित्र-लिपियों से संयुक्त बहुत-सी मुद्राएँ मिली हैं जो प्रागैतिहासिक— इलाम तथा सुमेरिया में व्यवहृत होनेवाली

---

१. एक मुद्रा पर तीन मुखवाले एक नरदेव की आकृति बनी हुई है जिसके बैठने का ढंग योगियों का-सा है और जिसके पार्श्व में पशु दिखलाये गये हैं। विद्वानों ने इस देवता को ऐतिहासिक शिव का प्रतिरूप माना है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुद्राओं के अनरूप हैं। उन पर अंकित बैल, भैंस और बारहसिंघा जैसे जानवरों के सुरम्य चित्रों से इन लोगों के चित्रांकन की कला में अत्यन्त दक्षता प्राप्त कर लेने का पता मिलता है। ये मुद्राएँ अभी तक विद्वानों के लिए एक पहेली बनी हुई हैं जो उनका ठीक ठीक बोध नहीं कर पाये हैं। लैंग्डन (Langdon), स्मिथ (Smith) तथा गैड (Gadd) प्रभृति सुमेरियन विद्वान् यद्यपि काफी समय इसमें दे चुके हैं, वे उनके स्पष्टीकरण में बहुत कम सफलता पा सके हैं। भारतीय विद्वानों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डा० प्राणनाथ यह दावा रखते हैं कि अब तक वे अपनी उस तालिका के आधार पर, जिसे उन्होंने सिंधु घाटी, प्रागैतिहासिक[१] इलाम तथा क्रीटन लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा तैयार किया था, स्पष्टीकरण का काम पूरा कर चुके होते। उनका मत है कि सिंधु घाटी की लिपि संस्कृत से आई है और इलाहाबाद में १६३२ में आयोजित एक व्याख्यानमाला में, जिनमें से एक अवसर पर लेखक को अध्यक्ष होने का गौरव प्राप्त हुआ था इस विद्वान् आचार्य ने फलक-पट पर सिंधु घाटी के कुछ प्रतीकों का अपनी मनोरंजक एवं अत्यन्त निपुणता के साथ तैयार की गई निर्देशिका (Syllabury) की सहायता से अभिचित्रण किया था। परन्तु लोगों में अभी तक उनकी सिंधु घाटी की लिपि की संस्कृत-उत्पत्ति वाली धारणा प्रतिष्ठित नहीं हो पाई है और न उनके स्पष्टीकरण का ढंग ही ठीक समझा गया है। लिपि के सन्तोषजनक स्पष्टीकरण पर इस समस्या का हल निर्भर है कि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से जिस सिंधु घाटी की सभ्यता का पता चला है वह भारतीय सभ्यता है अथवा विदेशी। यदि वह विदेशी हो तो वह सुमेरियन[२] होगी और एक प्रकार से बाह्य आक्रमण और अभिनिवेश के एक अस्थायी रूप की ओर इंगित करती है जैसा कि उत्तर-पश्चिमी भारत में यूनानियों तथा सिंध में अरबों का आना था। परन्तु यदि वह भारतीय थी तो उसकी शृंखला द्रविड़ संस्कृति और इतिहास से जोड़नी पड़ेगी न कि आर्य

---

१ प्रागैतिहासिक इलाम अथवा पश्चिमी ईरान की लिपि।

२ सुमेरिया की अथवा मेसोपोटामिया के निम्न प्रदेश की।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कृति अथवा इतिहास से और भारतीय शास्त्रज्ञों को खोई हुई कड़ियों का पता लगाना होगा। फिर भी इसी के प्रमाण अधिक हैं कि उसका सम्बन्ध भारत में द्रविड़ सभ्यता से है आर्य-सभ्यता से नहीं।[१]

---

१ मोहेंजोदड़ो के अनुशीलन के साथ स्वर्गीय प्रोफेसर राखालदास बनर्जी का नाम विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। पश्चिमी क्षेत्र के पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष या सुपरिण्टेण्डेण्ट होने के नाते वे उस ढूह का पता लगानेवाले तथा वहाँ खुदाई का काम आरम्भ करनेवाले पहले व्यक्ति थे जिस काम को सर जॉन मार्शल ने आगे स्वयं अपने निरीक्षण में अक्रम रखा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रथम अध्याय

भारतभूमि के निवासी

संसार का कोई भी देश प्रायः एक-सी जाति द्वारा निर्मित होने का दम नहीं भर सकता। भारत ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है? स्थूल दृष्टि से विचार करने पर मानव-जाति के विभिन्न वर्गों की शारीरिक रचना-सम्बन्धी लक्षण विविधता भारत में भी दिखाई देती है यथा—यहाँ नीग्रो (काले), मंगोल (पीले) काकेशियन (श्वेत) आदि तरह के लोग पाये जाते हैं।

विविध जातीय तत्त्व

आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में ऐसी जातियों का प्राधान्य था जो मानव-सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था की विभिन्न दशाओं में से होकर निकल रही थीं यथा—पुरातन पाषाण युग (Palaeolithie), नवीन पाषाण युग (Neolithic), लौहएवंताम्र युग (Chalcolithic)। भारत की यही सर्वप्रथम जातियाँ हमें ज्ञात हैं। पुरातन पाषाण युग में लोग आखेट द्वारा अथवा जंगल से प्राप्त वस्तुओं के सहारे अपना जीवन निर्वाह करते थे और उनके अस्त्र-शस्त्र खुरदरे पत्थर, लकड़ी या हड्डियों के बनते थे। धातु का प्रयोग करना वे जानते ही नहीं थे।

पाषाण युग और लौह युग के काले-कलूटे मूल निवासी

सभ्यता के दूसरे स्तर में ये लोग अच्छी आकृति के तथा खूब मजे हुए पत्थर के तरह-तरह के उपकरण (औजार) बनाने लगे जिनका विभिन्न रूपों में उपयोग होता था। इस स्तर में, जिसे नवीन पाषाण युग कहा गया है, उन्हें अग्नि और बर्तनों के प्रयोग ज्ञात हुए और वे अपना भोजन पका-कर खाने लगे। यद्यपि नवीन पाषाण युग स्पष्टतः सभ्यता का गो-चारण

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(Pastoral) युग ही था। भारत के इस युग के निवासी कृषि करते, धातु के औजार प्रयोग में लाते और स्वर्ण के आभूषण भी पहनते थे। वे अपने मुर्दों को गाड़ते और कब्रें बनाते जिन्हें प्रायः पाषाण के गोलों में घेर देते थे जिनके उदाहरण श्री काकबर्न (Cockburn) महोदय को मिर्जापुर जिले में मिले हैं [१]। इस तरह की सैकड़ों क़ब्रें, जिनमें लोहे की वस्तुएँ पाई गई हैं, दक्षिण में मिली हैं। जो प्रारम्भिक लौह युग की हैं। मुर्दों को श्मशान में ले जाकर जलाने की प्रथा हिन्दुओं ने ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव से ग्रहण की है। नवीन पाषाण युग के निवासियों द्वारा व्यवहृत स्वर्ण का स्थान निजाम के क्षेत्र में मास्की बतलाया जाता है जहाँ की सोने की खानें संसार में सबसे बड़ी हैं।

लौहयुग इसके बाद की अवस्था में पत्थर के औजारों की जगह लोहे और ताँबे के औजार काम में लाये जाने लगे। परन्तु यहाँ पर दक्षिण और उत्तर के प्रदेशों में एक अन्तर दिखाई देता है। दक्षिण भारत में पत्थर के उपकरणों का स्थान लोहे ने बिना किसी मध्यवत अवस्था के ले लिया, किन्तु उत्तरी भारत में औजारों, बर्छों, तलवारों और भालों के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली धातु पहले ताँबा और फिर लोह थी भारत के पाषाण तथा लौह युग के निवासीयों ने आक्रान्ता आर्यों को सहज ही यहाँ बस जाने नहीं दिया परन्तु उनसे काफी लड़-भिड़कर अन्त में पराजित हुए। उनकी सन्तानें आज भी कोल, भील, सन्थाल, मुण्डा, ओरावँ तथा अन्य चिपटी नाक और काले वर्ण की असभ्य जंगली जातियों के रूप में वर्तमान हैं जो उत्तरी एवं दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में बाह्य रक्त के मिश्रण से कुछ ही युक्त अथवा बिलकुल असम्पृक्त हैं। उन्होंने अपनी पुरातन पूजा-पद्धति की रक्षा की है और ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो इण्डो आर्य भाषाओं से सर्वथा भिन्न होती है।

पहाड़ी कन्दराओं और घने जंगलों के बीच उनके निवास का ढंग और उनके आखेट एवं पशु-पालन तथा साधारण कृषि के उद्यम उनके पुरातन

---

१ विसेन्ट स्मिथः ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पाषाण अथवा नवीन पाषाण युग के पूर्वजों की अस्पष्ट स्मृतियाँ हैं, यद्यपि आखेट के अस्त्र-शस्त्रों में कुछ उन्नति दिखाई देती है। वे आज-कल धनुष तीर तथा लम्बे बर्छों का प्रयोग करते हैं जिन्हें उन्होंने आर्यों से ग्रहण किया है। ऐसा विश्वास है कि मानव-कुटुम्ब की 'नीग्रो' अथवा कृष्ण-शाखा के अन्तर्गत वे लोग आते हैं।

व्यापक रूप से फैली हुई द्रविड़ शाखा के सदस्य भी भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व निवास करते थे। उनके वंशज आजकल के तामिल, तेलेगु तथा तामिल नाडुकी कन्नड भाषा के बोलनेवाले दक्षिण द्रविड़ जातियाँ प्रायद्वीप के लोग हैं। यह अभी तक बिलकुल निश्चित नहीं हो पाया है कि द्रविड़ भारत के मूल निवासी थे अथवा आर्यों के आगमन के बहुत पहले बाहर से आकर यहाँ बस गये थे। कुछ विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि ब्राह्वी नामक बलूचिस्तान के पहाड़ी प्रदेश की रहनेवाली एक जाति ऊपर निर्दिष्ट तामिल भाषाओं से मिलती-जुलती भाषा का प्रयोग करती है। उनकी यह भी धारणा है कि इन द्रविड़ ब्राह्वी लोगों की निर्भ्रान्त समानता सुमेर के नृ-कुटुम्बियों (Ethnic Types) के साथ है। नृ-तत्त्व एवं भाषा-गत इन समानताओं के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि द्रविड़ पश्चिमी एशिया के मूल निवासी थे और उन लोगों ने प्रागैतिहासिक काल में बलूचिस्तान होकर भारत में प्रवेश किया। परन्तु इसके विपरीत दूसरे विद्वान् अब भी यही मानते हैं कि द्रविड़ भारत के मूल निवासी थे जो बलूचिस्तान होकर पश्चिमी एशिया में जा फैले[1]।

यद्यपि आज भी उनके मूल स्थान के सम्बन्ध में संशय बना हुआ है इस सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं है कि उन्होंने आर्यों के आने से पूर्व भारत में एक उच्च कोटि की सभ्यता का विकास किया था और उनका प्राधान्य उत्तरी एवं दक्षिण भारत दोनों में था। यहाँ तक कि वैदिक तथा लौकिक (अथवा

---

१ इम्पीरियल गजेटियर, भाग १, पृ० ३०२; परिच्छेद १४, पृ० ३०० हाल : दि एन्शेएट हिस्ट्री ऑव दि नीयर ईस्ट (चतुर्थ संस्करण)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

Classical) संस्कृत पर भी द्रविड़ प्रभाव पाया जाता है। वैदिक मंत्र द्रविड़ों द्वारा उत्तर भारत में आर्यों के प्रति हुई मुठभेड़ों के संकेतों से भरे पड़े हैं। दक्षिण में वे दीर्घ काल तक निर्बाध रूप से रहे जिससे उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति को निष्पन्न बनाने का अवसर प्राप्त हुआ जो आज भी वहाँ वर्त्तमान है।

मंगोल-तत्त्व

भारत में बाहर से आनेवाली प्रारम्भिक जातियों में चीन से आनेवाली मंगोल कुल की जाति थी। यद्यपि वे अंशतः तिब्बत से होते हुए ब्रह्मपुत्र की तलहटी को पार करते हुए भारत में प्रविष्ट हुए और अंशतः बर्मा होते हुए मीकांग एवं इरावदी की घाटियों से होकर आये, उनके वंशज आजकल नेपाल, भूटान, सिक्किम, मणिपुर तथा आसाम और बंगाल के जिलों में बसे हुए मिलते हैं। बर्मा की जनसंख्या प्रधानतः मंगोल कुल की है।

आर्य जातियाँ

भारत में आनेवाली जातियों की दूसरी लहर लम्बे कद के, साफ रंग के आर्यों की थी। वे मानव-जाति के प्रसिद्ध काकेशियन कुल के थे जिनसे आधुनिक योरपवासी तथा दक्षिण और पश्चिमी एशिया के लोग अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। उनके आदि देश के सम्बन्ध में केवल अटकल ही लगाये जाते रहे हैं। स्व० लोकमान्य तिलक के अनुसार आर्यों का आदि देश आर्कटिक प्रदेश में था और दूसरे विद्वानों के अनुसार पश्चिमी एशिया के किसी भाग में। एक तीसरा मत यह है कि आर्य मूलतः उन प्रदेशों के रहनेवाले थे जो आजकल आस्ट्रिया, हंगेरी और बोहीमिया के नामों से प्रसिद्ध हैं। दूसरे लोगों का मत है कि उनका प्राचीन निवासस्थान दक्षिण रूस के स्टेप्स प्रदेश में था जो योरप और एशिया की मध्यवर्ती सीमा है।

उनका आदि-स्थान चाहे जहाँ रहा हो, यह निश्चित है कि आर्यों का प्रसार काफी विस्तृत और विभिन्न दिशाओं में था। इस जाति की कुछ शाखाएँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पश्चिम की ओर योरप चली गईं जो वहाँ जाकर ग्रीक, लैटिन, कैल्ट तथा ट्यूटन जातियों की जनयित्री मानी जाती हैं जो अनेक आधुनिक योरपीय राष्ट्रों की जननी हैं। दूसरे पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़े।

आर्यों का प्रसार अपने प्रसार के क्रम में उनमें कुछ उस प्रदेश में जा बसे जिसे आजकल पारस कहते हैं और वहाँ एक सभ्यता का विकास किया जो आज भी उनकी संतानों—भारत के पारसियों[१]—में पाई जाती है। दूसरा समूह हिन्दुकुश पर्वत-मेखला को पार कर खैबर दर्रे से होकर भारत आया और उस प्रदेश में आकर बस गया जो उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त और पंजाब के अन्तर्गत पड़ता है। यहाँ वे दीर्घ काल तक रहे और कम से कम प्राचीनतम वेद की रचना वहीं पर की। इसके बाद वे और दक्षिण तथा पूर्व गंगा और यमुना की घाटियों की ओर बढ़े। उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त के मुसलमान वहाँ के आर्य निवासियों की सन्तानें हैं। शेष भारत की विशाल मुस्लिम जनसंख्या हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन के कारण निर्मित हुई है और उसमें आर्य रक्त प्रवाहित हो रहा है।

---

१ पारस के मूल आर्य अधिवासियों की सन्तानें अपने निवासस्थान से अरब आक्रान्ताओं द्वारा भगाई गई थीं जिनमें से कुछ ने भारत में आश्रय लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरा अध्याय

आर्यों का प्राचीन सामाजिक संगठन

आर्यों का प्रारम्भिक समाज : ऋग्वेद के प्रकाश में

भारत के प्राचीन आर्यों के सम्बन्ध में हमारा कुल ज्ञान उनके धार्मिक ग्रन्थोंवे-दों-से प्राप्त होता है। पंजाब में आकर बसे हुए भारतीयआर्यों के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवनके विषय में

ऋग्वेद का काल

चारों वेदों में प्राचीनतम ऋग्वेद ज्ञान का एक सञ्चित कोश है। ऋग्वेद की रचना कब हुई, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इस विषय के पहले लेखक मैक्स म्यूलर (Max Müller) ने ऋक्संहिताओं का काल १२०० और ०० ई० पू० के बीच निश्चित किया है और ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों की रचना ८०० और ६०० ई० पू० के बीच में बतलाई है। जैकोबी (Jacobi) नामक एक पाश्चात्य विद्वान् तथा लोकमान्य तिलक ने इसके विपरीत ज्योतिष-प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद की रचना और काफी पहले निर्धारित की है। जैकोबी के अनुसार उसकी रचना ५००० ई० पू० में आरम्भ हुई और तिलक के अनुसार तो उससे भी पहले ६००० ई० पू० में। इस विषय के आधुनिकतम विवेचक डा० विन्टरनित्स (Dr. M. Winternitz) का कथन है कि वैदिक काल संभवतः ३००० ई० पू० तक माना जा सकता है।[१] यद्यपि इस अवस्था में यह कह सकना कठिन है कि उसकी वास्तविक तिथि क्या है, ३००० ई० पू० से लेकर आगे का समय साधारणतया निर्विवाद रूप से ऋक् संहिताओं के आरम्भ का समय माना जा सकता है; यही सत्य के अधिक निकट भी जान पड़ता है।

---

[१] विन्टरनित्स, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग १ (कलकत्ता विश्वविद्यालय), १९२७, पृ० २५८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क. राजनीतिक दशा

ऋग्वेदकालीन आर्य गणों में विभक्त थे। प्रत्येक गण बहुत से कुटुम्बों से मिलकर बनता था। कुटुम्ब को ही समाज की इकाई या आधार माना जा सकता है। कुटुम्ब का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य कटुम्ब का स्वामी हुआ करता था। कुटुम्ब सम्मिलित और काफी बड़ा होता। इसका पता कुटुम्ब के अन्तर्गत बहुत से सम्बन्धों के निर्देश से चलता है जो ऋग्वेद संहिताओं में पड़े हैं; यथा--ज्ञाति, यमी, सजात, सबन्धु, आदि। वैदिक युग के आर्य-कुटुम्ब निश्चयपूर्वक पितृमूलक थे। पिता को ही 'पितृ' कहते थे। यह शब्द संस्कृत की 'पा'[1] धातु से निकला है जिसका अर्थ रक्षा करना होता है। कुटुम्ब का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य कुटुम्ब का पिता इसी लिए कहा गया है कि वह उसका स्वामी और रक्षक होता था। वही कौटुम्बिक उपासना का संचालक, सम्पत्ति का नियामक, विवाहों का प्रबन्धकर्त्ता तथा कुटुम्ब के झगड़ों का निर्णायक होता था।

पितृमूलक कुटुम्ब

एक गण के भीतर बहुत से कुटुम्ब होते थे। ऋक् संहिताओं में अनेक गणों के नाम पाये जाते हैं; यथा—भारत, मत्स्य, कृवि, त्रित्सु, यदु, पुरु, अणु आदि। प्रत्येक गण का नायक क्रमानुगत राजा अथवा निर्वाचित प्रमुख होता था। जहाँ प्रमुख के निर्वाचित होने की व्यवस्था थी, कुटुम्बों के मुखिया एक समिति में उसके निर्वाचन के लिए एकत्र होते थे। युद्ध में गण के नायकत्व की क्षमता ही निर्वाचन का प्रधान लक्ष्य होता था। गणों में परस्पर युद्ध होते ही रहते।

गण एवं गणों के युद्ध

द्रविड़ों के साथ शत्रुता के कारण आर्यों के विभिन्न गणों में प्रायः ही एकता और संघटन का आविर्भाव होता था जो शत्रु से लड़ने के समय आपस के छोटे-मोटे द्वन्द्वों को भूल जाते। ऋग्वेद की ऋचाओं में आर्यों के गणनायकों तथा अन्य सरदारों के अनवरत युद्धों के उल्लेख भरे पड़े हैं। परन्तु उनकी भाषा

द्रविड़ों के साथ युद्ध

---

१ पा + तृच्।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक थी और वे एक-सी सामाजिक तथा धार्मिक रीतियों के अनुसार चलते थे। उनके पारस्परिक अथवा अनार्यों के साथ होनेवाले युद्धों के वर्णन से भारतीय आर्यों के गणों के पारस्परिक सम्बन्धों, उनके संधि तथा विग्रह, नदियों के पार अभियान एवं उनकी उपासना, उत्सर्ग तथा युद्ध-क्षेत्र की पूजा आदि के विषय में जाना जाता है।

ऋग्वेद के तथा उत्तर वैदिक काल में भारतीय आर्यों और द्रविड़ों के सतत युद्ध छिड़े रहा करते थे जो उनके पंजाब तथा सिंधु और गंगा की घाटियों में आवास तथा प्रसार के परिचायक हैं। द्रविड़ों ने आर्य आक्रान्ताओं का खुलकर पीछा किया और जी तोड़ कर लड़े पर आगन्तुकों के श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों, सुसंगठन एवं नव-शक्ति के आगे उन्हें मुँह की खानी पड़ी। परन्तु पराजित होने पर भी वे सहसा ही पछे नहीं हटे। पीछे हटते-हटते भी वे दुर्गों और कान्तारों में छिपते रहे और आर्य बस्तियों पर धावा बोलकर उनके डंगरों को अवसर पाकर छीनते-झपटते रहे। इस प्रकार पीछे हटते हुए भी उन्होंने कई शतियों तक युद्ध को अक्रम रखा। विजेताओं के धार्मिक यज्ञों को विध्वंस करने का वे प्रयत्न करते तथा उनके उज्ज्वल देवों से घृणा करते और उनकी सम्पत्ति छीनने की युक्तियों में लगे रहते। परन्तु आर्य अन्त में विजयी हुए; उनकी सभ्यता का प्रसार भी काफी दूर तक हुआ; ऊसर भूमि और वन परिष्कृत किए जाकर लोगों के रहने के योग्य बनाये गये जहाँ चहल-पहल से युक्त हँसते हुए-से गाँव और नगर दिखाई दिए। बहुत से द्रविड़ों ने आत्म-समर्पण कर दिया और आर्यों के समाज में 'दास' या गुलाम की तरह रहने लगे। बहुत से दुर्गम स्थानों में जा बसे और वहाँ उन्होंने अपनी स्वाधीनता अक्षुण्ण रखी।

युद्ध की प्रणाली

आर्य पैदल अथवा घोड़े पर सवार होकर लड़ते थे। छोटे-छोटे रथ, जिनमें सारथी और योद्धा के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं आ सकता था, प्रयोग में लाये जाते। वैदिक मंत्रों में अस्त्र-शस्त्रों के बहुत से संकेत पाये जाते हैं; जैसे रक्षा के निमित्त ढाल-कवच और शिरस्त्राण आदि हथियार तथा वार करने के लिए भाले, तल-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वार, कुल्हाड़ियाँ, धनुष और तीर। युद्ध में सेना का नायकत्व राजा करते थे। राजा के साथ बहुधा पुरोहित क्षेम के लिए जाया करते जो यज्ञों में भी भाग लेते थे। राजा और सरदार रथों में बैठकर लड़ते थे। साधारण जन पैदल लड़ते थे। युद्धों में एक प्रकार के फेंकने के पत्थरों के भी संकेत मिलते हैं। योद्धा के शरीर पर एक सैनिक परिधान होता और वह शिरस्त्राण तथा ढाल और कवच से सुसज्जित होता था। धनुष की प्रत्यंचा कान तक खींची जा सकती थी; बाण नरकट के बनाये जाते, जिनका सिरा सींग अथवा धातु से मढ़ दिया जाता था। कभी-कभी विष से बुझे बाण भी प्रयोग में लाये जाते। युद्ध प्रायः नदियों के किनारे आयोजित होते थे। वह प्रसिद्ध युद्ध जिसमें भारत के राजा सुदास को दस गणों के प्रतिनिधियों के विरुद्ध, जिसे दस राजाओं का युद्ध भी कहते हैं, लड़ना पड़ा था। परुष्णी (वर्तमान रावी) के तट पर हुआ था। उसे विपाश (व्यास) एवं शुतुद्री (सतलज) के किनारे भी लड़ना पड़ा था।

ऐसा जान पड़ता है कि ऋग्वेदकालीन राजा लोग आगे चलकर साधारणतया क्रमानुगत रूप से राज्य करने लगे। ऐसा हम सहज ही जान जाते हैं कि राजा भरत दिवोदास नामक नरेश का पुत्र था। परन्तु

राज्याधिकारी, समिति और सभा

यह बात ध्यान रखने की है कि क्रमागत राजा की शक्ति भी अनियंत्रित नहीं हुआ करती थी। 'समिति' जिसका काम गणों के नायकों का निर्वाचन होता था, राजा की अपरिमित शक्ति पर नियंत्रण रखती थी। 'सभा' का काम राजा के न्यायालय के रूप में होता था। राजागण का प्रथम पुरोहित, युद्ध में प्रधान सेनापति, उसका स्वामी 'विशपति' अथवा 'विश' का स्वामी होता था। राजा के प्रधान कर्मचारी सेनानी (सेनापति) और पुरोहित थे। राजा के ऊपर पुरोहित का बड़ा जोर था, जैसा कि राजा सुदास के सम्बन्ध में विश्वामित्र और वसिष्ठ की कहानी से ज्ञात होता है। 'ग्रामणी' नाम के एक अन्य महत्त्वपूर्ण कर्मचारी का उल्लेख भी प्रायः पाया जाता है। समिति और सभा के द्वारा राजा वैधानिक ढंग का अनुसरण करने के लिए बाध्य था। इनमें से समिति सारे राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था थी और सभा में केवल वृद्ध और सम्मानित व्यक्ति इकट्ठे होते। समिति की बैठकें किसी क्रम विशेष से नहीं होती थीं जैसा कि वर्तमान

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पार्लियामिण्टों में होता है, बल्कि उनका आयोजन विशेषतया महत्त्वपूर्ण अवसरों पर होता था; यथा—राज्याभिषेक, युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर विचार, आदि। इस दृष्टि से वैदिक समिति और टैसिटस (Tacitus) द्वारा वर्णित गण-सम्मेलनों में कुछ समानता पाई जाती है। बाद के संस्कृत साहित्य में पाये गये अनेक सन्दर्भों से इसकी पुष्टि होती है कि वैदिक समिति कुछ थोड़े या विशेष परिवर्तित रूप में हिन्दू राजत्व प्रणाली में मंत्रि-परिषद् के द्वारा काम करती रही। उदाहरण-स्वरूप कौटिल्य ने ऐसी समितियां अथवा मंत्रिपरिषदों का उल्लेख किया है जिन्हें राजा कारणवश मन्त्रियों के साथ अथवा अमात्यों की अंतरंग गोष्ठी के साथ बुलाते थे। लुडविग (Ludwig) के अनुसार ऋग्वेदकालीन सभा एक स्थिर या स्थायी संस्था थी जिसमें गण के श्रेष्ठ व्यक्ति 'मघवन्' एकत्र होते थे[१]।

ख—सामाजिक दशा

भारतवर्ष के इतिहास में आर्यों का प्रवेश एक उल्लेखनीय घटना है। भारत के अधिकांश जन आर्य कुल के हैं। आर्यों ने आते ही अपनी भाषा, अपने धर्म तथा आचार-विचार का विस्तार किया जो हिन्दू संस्कृति के विकास का मूलाधार था। परन्तु आर्यों का काम वस्तुतः उतना कुछ सरल न था। देश में उनकी प्रगति निरन्तर द्रविड़ों द्वारा रोकी जाती रही। पर अपने श्रेष्ठ हथियारों और सगठन के कारण तथा संभवतः जलवायु-सम्बन्धी कारणों से भी वे अन्त में यहां के मूल निवासियों पर विजयी हुए, जो या तो विदेशियों को आत्मार्पण कर चुके थे अथवा पहाड़ी दुर्गों एवं घने जंगलों में जाकर अपनी स्वाधीनता की रक्षा की। क्रमशः आर्यों ने द्रविड़ों के साथ घनिष्ठतर सम्पर्क के फलस्वरूप उनकी सभ्यता और संस्कृति के कई तत्त्व अपना लिये। अन्त में जिस हिन्दू संस्कृति का विकास देखने में आया उस पर द्रविड़ प्रभाव स्पष्ट व्यञ्जित होता है। साथ ही तामिल या द्रविड़ प्रभाव, जो आज भी दक्षिण में वर्त्तमान है, संस्कृतिमूलक संस्कृति और सभ्यता द्वारा काफी परिवर्त्तित ढंग पर पाया जाता है।

---

१ लुडविग, ऋग्वेद, भाग २, पृ० २५३

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ऋग्वेद के समय के आर्य गाँव में रहते थे। गाँव का मुखिया (ग्रामणी) गाँव का प्रतिनिधि समझा जाता था जिसका सम्बन्ध सीधे तौर से समूचे राष्ट्र के जीवन अथवा जन के प्रदेश से होता था। वैदिक आर्यों का मुख्य उद्यम कृषि था जैसा कि उनके वंशजों का आज भी है। वे अपने खेतों की सिंचाई के लिए कुओं और नहरों से काम लेते थे। हल जोतने के लिए घोड़े काम में लाये जाते। गेहूँ और यव उस समय की मुख्य उपज थे, चावल की खेती तब तक नहीं आरम्भ हुई थी। प्रत्येक स्वतःपूर्ण आर्य ग्राम के अपने कारीगर उसी तरह हुआ करते थे जैसा कि आज भी होते हैं। ऋक् संहिताओं में प्रायः गाड़ियों एवं रथों के निर्माण, धातु के हथियारों, सोने-चाँदी के अलंकारों जैसे-कण्ठहार, जिरह-बख्तर, कंगन, कड़े तथा स्वर्ण-मुकुट आदि के बराबर उल्लेख मिलते हैं। घरेलू बर्तनों के बनाने में धातुओं का भी प्रचुर उपयोग होता था।

कृषि तथा व्यवसाय

उस समय तक जाति-भेद पनपने नहीं पाया था। ऋग्वेद के समय के आर्यों का एक ही संयुक्त सामाजिक परिवार था जिसे "विशः" अथवा जन की संज्ञा दी गई है। हाँ, उत्तर वैदिक काल में जाकर ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना के उपरान्त और उसके फलस्वरूप उपासना-पद्धति में व्यापक नियमों तथा रीतियों के संचार के कारण ब्राह्मणों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया जिसका काम ही ब्राह्मण-ग्रन्थों की सूक्ष्म विधियों के अनुसार यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान करना था। परन्तु ऋग्वेद के समय में प्रत्येक गृहपति ही अपने कुटुम्ब का पुरोहित होता, जिसे बलि देने, होम करने तथा पूत मंत्रों के उच्चारण का अधिकार सहज ही प्राप्त था। जीवन सरल था। लोग सादे कपड़े पहनते और सादा भोजन करते थे; जिसमें गेहूँ, मक्का, दाल, तरकारियाँ, दूध, घी, दही और मधु सम्मिलित थे। बलि का मांस तथा एक प्रकार का पेय द्रव्य जिसे 'सोम' कहते हैं भी कभी-कभी उनके भोजन में सम्मिलित कर लिये जाते थे। उनके आमोद-प्रमोद के साधनों में रथों की दौड़, जुए, संगीत तथा नृत्य की गणना की जा सकती है।

सरल जीवन

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समाज में नारी को श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। दूसरे पुरातन समाजों के विपरीत भारतीय आर्यों ने विवाह को एक पवित्र ग्रन्थि या बन्धन मान रक्खा था। साधारण वर्गों में बहुपत्नीत्व (Polygamy) की प्रथा नहीं थी, वह प्रायः राजकीय एवं धनीवर्गों तक ही सीमित थी। बाल-विवाह की कुरीति तथा स्त्रियों को परदे में रखने की प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ था। गृहपत्नी को 'सहधर्मिणी' की संज्ञा देने से ही समाज में उसका उच्च स्थान प्रमाणित होता है। हिन्दू पत्नी को आज भी वह संज्ञा मिली हुई है, परन्तु वह स्वाधीनता उसे प्राप्त नहीं है जो उसकी वैदिक काल की बहन को प्राप्त थी। इसका कारण एक तो पुरुषों का स्वार्थ है दूसरे वाह्य प्रभावों का जमघट। वैदिक काल की नारियाँ सोम नामक पेय पदार्थ तैयार करती थीं और घरेलू अथवा सार्वजनिक रूप से विहित यज्ञों में अपने पतिय के साथ भाग लेती थीं। कुटुम्ब में आज की तरह उस समय भी नारी को काफी अधिकार प्राप्त थे और वह धार्मिक कृत्यों एवं पूजा आदि में भाग लेती तथा गृह में एक मृदु प्रभाव स्थपित रखती थी। स्त्री-शिक्षा की अवहेलना नहीं की जाती थी। विश्ववारा, लोपामुद्रा और घोषा, सिकता निवावरी आदि विदुषी रमणी-रत्नों के नाम हमारे सामने हैं जो मंत्रों की रचयित्री तक हुआ करती थीं और जिन्हें ऋषियों की श्रेणी में सहज ही रखते हैं[१]। विवाह-संस्कार के एक लम्बे मंत्र में नवविवाहिता की पति के गृह में स्थिति कैसी होती है इस पर प्रकाश मिलता है :

समाज में नारी का स्थान

वर कहता है : "प्राणियों के स्वामी हमें सन्तान से कृतार्थ करें; अर्यमान् हमें वृद्धावस्था तक परिणय की ग्रन्थि में आबद्ध रखें। हे वधू! पति के घर में तुम्हारा प्रवेश मंगलकारी हो। हमारे कुल एवं डंगरों पर क्षेम की वर्षा करो।"

"हे वधू, अपनी सास और श्वसुर को अपना वशीभूत कर लो; अपनी ननदों तथा पति के भाइयों के बीच में रानी की तरह शोभा प्राप्त करो।" (ऋग्वेद १०-८५, ४३, ४६).

---

१ ऋग्वेद १, १७६, ५. २८, ८. ६१, ६. ८१, १०. ३६, ४०।

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ऋग्वेद में सती प्रथा का पता नहीं चलता। विधवाओं को अपने पतियों के मरने के उपरान्त पुनर्विवाह करने को स्वतंत्रता थी और अविवाहिता अवस्था में कन्याओं को पैतृक सम्पत्ति में अंश मिलता था।

ग—धार्मिक दशा

ऋग्वेद के प्रथम, द्वितोय, सप्तम मण्डलों के आधार पर ऋग्वेद कालीन आर्यों के धर्म के विषय में हमें कुछ आभास मिल जाता है। साधारण रूप से हम कह सकते हैं कि वह अपने नितान्त प्रभावशाली तथा भव्य रूप में प्रकृति की उपासना थी। प्रथम आर्य ने अपने बाल-स्वभाव की-सी सरलता के कारण प्रकृति के उज्ज्वल, शोभाशाली, महान् एवं भयंकर रूपों को विभिन्न देवताओं का स्वरूप माना जिनमें मनुष्य को उपकार या अपकार से दबा सकने की अलौकिक एवं अमानुसिक क्षमता थी ऐसा उसका विश्वास दृढ़ हो गया। इस प्रकार द्रष्टा-कवियों अथवा ऋषियों के मुख से प्रशंसात्मक एवं उपासनात्मक मंत्र सहज हो फूट पड़े और प्रारम्भिक आर्यों ने देवों की याज्ञिक उपासना के अवसरों पर जो प्रकृति के ही विभिन्न रूप थे उनका सस्वर पाठ करना आरम्भ कर दिया। प्रकृति-देवों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। आर्य देवों में जिनकी गणना को जा सकती है वे थे—द्यौस्, अर्थात् प्रकाशमान् आकाश जो सूर्य, चन्द्र, तारा तथा मेघ को धारण करता है; पृथिवी जो तरह-तरह की उपजों से सृष्टि का पालन-पोषण करती है; अग्नि जिसमें पड़कर सब कुछ भस्म हो जाता है; इन्द्र जो वर्षा और मेघ के स्वामी समझे जाते हैं; सुन्दरी उषा जो तम का नाश करती तथा सृष्टि में प्रकाश और नवजीवन का संचार करती है। वैदिक आर्यों में देवी उषा की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसे लक्ष्य कर कुछ बहुत ही सुन्दर ऋचाएँ बनी थीं, उन्हीं ऋचाओं में से हम कुछ का उद्धरण हिन्दी रूपान्तर के साथ देते हैं :

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती। (ऋ० १।४८।१)
वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेत्योदती।
वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति। (ऋ० १।४८।६)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी ।
अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदय स्निधः । (ऋ० १।४८।८)
उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः
आवहन्त भूर्यस्मभ्य सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु । (ऋ० १।४८।६)

"हे देवकन्यके उषा ! धन-सहित हमारे लिए प्रभात करो । विभावरी उषा-काल देवता, प्रभूत अन्न देकर प्रभात करो । देवी ! दानशीला होकर पशु-रूप-धन के साथ प्रभात करो ।" (१)

"सम्यक् प्रयत्नशील व्यक्ति को तुम कार्य में नियुक्त करती हो । भिक्षुओं तक को तुमसे प्रेरणा मिलती है । तुम नीहार-वर्षी हो और अधिक क्षण नहीं ठहरतीं । अन्नयुक्त यज्ञसम्पन्ना उषा, तुम्हारा आगमन जानकर उड़नेवाले पक्षी अपने घोंसलों में बैठे नहीं रह सकते ।" (६)

"उषा को प्रकाशित देखकर सारे प्राणी नमस्कार करते हैं, क्योंकि यही सुनेत्री प्रकाश करनेवाली है और यही धनवती स्वर्गधात्री उषा देवी द्वेषियों एवं शोषकों को दूर करती हैं ।" (८)

"स्वर्गकन्यके उषा ! आह्लादकर ज्योति के साथ प्रकाशित हो, हमें निरन्तर सं भाग्य प्रदान करो और तम का नाश करो ।" (६)

मेघ और गर्जन के देवता इन्द्र की उपासना अधिक विस्तृत रूप में पाई जाती है, क्योंकि वे अत्यन्त उपयोगी एवं सभी देवताओं में उग्रतम माने गये हैं । उनका कुलिश (वज्र) जो मेघों को भेदकर वर्षा उत्पन्न करता है दुर्वासना संसक्त एवं पापियों का विनाशकर्त्ता भी है । अपनी अच्छाइयों के कारण तथा क्रोध के उपशमन के लिए प्रशंसात्मक रूप से उनकी पूजा की जाती है । उनकी सहायता की आवश्यकता आर्यों को अपने शत्रुओं के विनाश के लिए पड़ती ही है । उदाहरणार्थ, इन्द्र-विषयक कुछ ऋचाएँ नीचे देते हैं—

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम् । (ऋ० १।७.५)
सनो वृषन्नमं चरुं सत्रादावन्नपावृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः । (ऋ० १।७।६)
इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि । जयेम सं युधि स्पृधः । (ऋ० १।८।३)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयं । सासह्याम पृतन्यतः । (ऋ० १ ८।४)

"इन्द्र हमारे मित्र और सहायक हैं जो शत्रुओं के लिए वज्र धारण करते हैं; इसलिए हम धन और प्रभूत धन के लिए इन्द्र का आह्वान करते हैं । (५)

"ईप्सित फल के देनेवाले तथा वृष्टिप्रद इन्द्र ! हमारे लिए तुम मेघ का भेदन करते हो । तुमने हमारी प्रार्थना कभी अस्वीकार नहीं की ।" (६)

"हे इन्द्र ! तुमसे रक्षित होकर हम कठिन अस्त्र धारण कर द्वेष रखनेवाले शत्रु को पराजित करेंगे ।" (३)

"हे इन्द्र ! तुम्हारी सहायता से हम शस्त्रास्त्र से सुसज्जित शत्रु-सेना को जीत सकेंगे ।" (४)

आकाश-स्थित वरुण न्याय के देवता माने गये हैं । उनकी विशेष प्रतिष्ठा है । उन्हें सम्बोधित मंत्र अत्यन्त भावप्रधान एवं कर्त्तव्य का निर्देश करनेवाले हैं—

"हे वरुणदेव ! मैं अपने अपराधों के सम्बन्ध में अत्यन्त व्यग्र होकर जानना चाहता हूँ । इस जिज्ञासा को लेकर मैं ऋषियों से मिला; उन सबने एक स्वर से बतलाया कि 'वरुण देवता तुमसे अप्रसन्न हैं ।"

"हे वरुणदेव ! मैंने कौन-सा ऐसा अपराध किया है जिसके कारण तुम अपने मित्र एवं उपासक का विनाश चाहते हो ? तुम्हारी शक्ति अपरिमित है; मुझे बताओ तो सही जिससे मैं इसी क्षण तुम्हारे स्तवन के लिए शीश झुका दूँ ।"

"हे वरुणदेव ! हमारे पूर्वजों द्वारा किये गये अपराधों को क्षमा करो । व्यक्तिगत रूप से किये गये हमारे अपराधों को भी क्षमा करो । हे वरुणराज, वसिष्ठ की तरह अपने खूँटे से गाय के बछड़े को मुक्त करो, अपहृत पशु का भोजन करनेवाले चोर को जो दण्ड मिलता है उससे मुक्त करो ।

"हे वरुणदेव ! यह सारा अपराध अनजाने ही हमसे बन पड़ा है । प्रमाद अथवा सुरा, क्रोध अथवा द्यूत, या अविवेक के कारण अपराध हुआ है । बड़ा भाई भी कभी कभी छोटे को पथ-भ्रष्ट कर देता है । अपराध तो हमसे स्वप्न में भी हो जाया करते हैं ।

"अपराधों से मुक्त होकर हम, हे वरुण देवता ! तुम्हारी सेवा दास की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तरह करेंगे क्योंकि तुम हमारी इच्छाएँ पूरी करते हो और हमारी रक्षा भी तुमसे होती है। हम अबोध हैं; आर्य देवता हमें ज्ञान से प्रतिष्ठित करें। हमारी प्रार्थना देवता को स्वीकार हो और हमें धन से प्रतिष्ठा मिले।" (ऋ० ७ ८६)

इसके बाद देवों में अदिति—आकाश के अपरिसीम ज्योतिपुञ्ज वायु तथा मरुत आदि की गणना हुई है।

परन्तु ऋग्वेदकालीन आर्य केवल प्रकृति की उपासना से सन्तुष्ट होनेवाले न थे। ऋग्वेद में पाई जानेवाली ईश्वर की भावना की उत्पत्ति इस दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। शक्तिशाली मेघ-गर्जन या सुप्रभात की शिशुवत् प्रशंसा से क्रमशः आर्य मस्तिष्क ने प्रकृति के गौण देवताओं और महान् सृष्टिकर्त्ता के बीच भेद करना सीखा। अपनी पाश्चात्य प्रतिकृति यूनानियों की अपेक्षा ऋग्वेदकालीन आर्यों ने कहीं पहले इस आर्य-सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया कि ईश्वर की सत्ता है जो सारी सृष्टि का पिता एवं कर्त्ता है। ऋग्वेद की कुछ अन्तिम ऋचाएँ इस महान् शक्ति की मंगल भावना का आभास देती हैं जिसकी अभिव्यक्ति उपनिसदों में और भी स्पष्ट रूप में पाई जाती है। नीचे हम ऋग्वेद के अन्तिम (१०वें) मण्डल से कुछ मंत्र उद्धृत करते हैं—

"सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा पिता ने प्रथम इन लोकों की उनके यथार्थ रूपों में रचना की। उनके छोर फिर दृढ़ता के साथ निबद्ध कर दिये गये और आकाश तथा पृथ्वी को अलग कर उनका विस्तार किया गया।

"सृष्टिकर्त्ता वास्तव में महान् है, वही सबका सृजन तथा पालन करता है; सबके ऊपर उसी का अनुशासन है। भाग्यशाली लोग अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति उस लोक में पाते हैं जहाँ पुरुष सप्तर्षियों के परे निवास करता है।

"जगत्पिता ने जिसने हमें जन्म दिया और जो समस्त जातियों तथा वस्तुओं का ज्ञाता है वस्तुतः एक है, विभिन्न देवताओं में उसी का रूप प्रतिष्ठित है। दूसरे लोग भी जो इस तत्त्व को नहीं जानते इसे जानने की इच्छा रखते हैं[१]।" (ऋ० १०. ८२)

---

१ इन वैदिक मंत्रों के भाषान्तर में लेखक ने श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त महोदय के अँगरेजी अनुवाद का अनुसरण किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(२)

उत्तर-वैदिक काल

उत्तर-वैदिक काल से अभिप्राय उस युग से है जिसमें बाद की तीन वैदिक सहिताओं, अर्थात् अथर्ववेद-संहिता, सामवेद-संहिता एवं यजुर्वेद-संहिता तथा चारों वेदों के ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों की रचना हुई, क्योंकि इसका निरन्तर ध्यान रहना चाहिए कि ऋग्वेद-संहिता और तीन अन्य वैदिक संहिताओं की रचना के बीच काफी समय का अन्तर पड़ता है। ऋग्वेद-संहिता के ब्राह्मण-ग्रन्थ भी प्रायः उसी समय बने जब अन्य तीन वेदों की संहिताएँ बनीं। उत्तर-वैदिक-संहिताओं की रचना और उनके ब्राह्मणों की रचना के बीच अधिक काल का अन्तर नहीं पाया जाता। इस युग में सभ्यता का केन्द्र पंजाब से हटकर पूर्व की ओर चला आया। उपर्युक्त साधनों से वैदिक समाज का जो चित्र हमें उपलब्ध होता है वह पिछले परिच्छेद में वर्णित ऋग्वेदकालीन समाज से भिन्न है।

राजनीतिक अवस्था

इस काल में आर्य पंजाब से आगे बढ़कर पूर्व दिशा की ओर मध्यदेश अथवा पालि साहित्य के 'मज्झिम-देस' में आ बसे। इस प्रदेश में आजकल के दिल्ली, उत्तर प्रदेश तथा बिहार प्रान्तों की गणना होती थी। उत्तर वैदिक एवं ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र कुरुक्षेत्र हुआ। आगे चलकर केन्द्र विदेह माना गया। नये युग में ऋग्वेदकालीन कुलों के स्थान में कुरु तथा पञ्चाल एवं वसु तथा उशीनर प्रभृति जातियाँ प्रतिष्ठित हुईं। उत्तर वैदिक साहित्य के अध्ययन से अनेक सुप्रसिद्ध नगरों के अस्तित्व का पता चलता है जिससे आर्यों की सभ्यता के विकास एवं आर्थिक समृद्धि का अनुमान होता है। इस युग में राजत्व के पैतृक क्रम का भी स्पष्ट स्वरूप दिखाई देता है। इसका प्रमाण सृञ्जयों का अभ्युदय है जिन्होंने दस पीढ़ी तक शासन किया। 'राजन्य' के साथ 'राजपुत्र' शब्द के भी प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। गणों के छोटे-छोटे संघों अथवा ऋग्वेदकालीन आर्यों के छोटे-छोटे राज्यों का स्थान धीरे-धीरे राजधानियों और वैभवसम्पन्न राजदर्बारों से युक्त बड़े साम्राज्यों ने ले लिया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कुरुओं की वंश-परम्परा में परीक्षित नामक महान् तथा न्यायी शासक की गणना हुई है जिसका राजत्वकाल अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार स्वर्णकाल ही था जिसमें लोगों के सुख का ठिकाना न था, अन्न-भाण्डार धान्य से परिपूर्ण थे और कृषकों तथा मजदूरों को खाने-पीने के अतिरिक्त सुरा-पान की भी सुविधा थी[1]। उसकी राजधानी आसन्दीवंत (महाकाव्यों में वर्णित हस्तिनापुर) थी। उसके ज्येष्ठ पुत्र जनमेजय का उल्लेख एक महान् विजेता के रूप में ऐतरेय ब्राह्मण में हुआ है जिसकी राजधानी एक बाद के संदर्भ के आधार पर तक्षशिला में थी और जहाँ वैशम्पायन द्वारा उसे कौरवों और पाण्डवों के महाभारत युद्ध का आख्यान विदित हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि जनमेजय ने मद्र-देश अथवा मध्य पंजाब पर अधिकार प्राप्त कर लिया था[2]। शतानीक-सत्राजित नामक एक दूसरे प्रतापी कुरु नरेश का भी उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में हुआ है जिसने काशी नरेश धृतराष्ट्र को पराजित कर उसके अश्वमेध का घोड़ा अपहृत कर लिया था। हस्तिनापुर में कुरुवंशी राजाओं ने दीर्घकाल तक राज्य किया और अपने वैभव तथा प्रताप का विस्तार किया, परन्तु बाद में उनकी राजधानी बाढ़ के कारण गंगा के गर्भ में विलीन हो गई। इस दैवी आपत्ति के अनन्तर निचक्षु नामक नरेश ने कौशाम्बी को कुरुओं की राजधानी घोषित की जहाँ कुरु राजाओं ने बहुत दिनों तक राज्य किया[3]।

कुरु राज-सत्ता के क्षय के बाद राजनीतिक प्रधानता तथा सांस्कृतिक चेतना का केन्द्र कुरुक्षेत्र से हटकर विदेह (उत्तर बिहार) में स्थापित हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण के एक अंश में जहाँ हमें कुरु-नरेशों की 'राजा' संज्ञा मिलती है, विदेह के जनक को 'सम्राट्' कहा गया है[4]। शतपथ ब्राह्मण एवं

---

१ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० १२०-२१; पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्येन्ट इण्डिया, पृ० १०।

२ वही, पृ० २३-२५; तुलना कीजिए, महाभारत, १८वाँ पर्व ५. ३४।

३ निचक्षु के वंशजों की सूची के लिए लेखक की "अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी", पृ० ३५. देखिए।

४ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्येन्ट इण्डिया, पृ० ३०।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वृहदारण्यक उपनिषद् में भी जनक को 'सम्राट्' कहा गया है[1]। इससे यही जान पड़ता है कि उत्तर-वैदिक काल में आर्यों के राजनीतिक जीवन में सहसा महान् परिवर्त्तन आ गया था और यह अवस्था काफी दिनों तक बल्कि शतियों तक रही। इस युग में राजा की शक्ति के अभ्युदय के साथ राजा के परिजनों की संख्या में भी वृद्धि हुई।

राजकर्मचारी : 'रत्निन'

तैत्तिरीय ग्रन्थों से 'रत्निन' नामक राजा के विशेष कर्मचारियों की तालिका प्राप्त होती है जिनका राज्याभिषेक के अवसर पर बड़ा काम पड़ता था। इनमें पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावात (प्रिय स्त्री), परिवृक्ती (परित्यक्ता स्त्री), सूत, सेनानी, ग्रामणी, क्षत्री (छत्रवाहक), संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), भागदुघ (राजकर लेनेवाले अधिकारी), अक्षवाप (द्यूताध्यक्ष[2]) की गणना होती थी। शतपथ-ब्राह्मण में 'अहेरिय' और 'संदेशवाहक' को भी इसी श्रेणी में रखा है और मैत्रायणी संहिता से तक्षण तथा रथकार का भी पता चलता है। पंचविंश-ब्राह्मण में आठ प्रकार के 'वीरों' का उल्लेख आता है जो तैत्तिरीय ग्रन्थों के रत्निन के ही प्रतिरूप थे। उनमें महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्री, संग्रहीतृ, भ्राता, पुत्र एवं पुरोहित ये आठ आते हैं। भ्राता और पुत्र की गणना तैत्तिरीय पाठों के अनुसार नहीं होती। इस तालिका में सूत का स्थान विशेष ऊँचा है। वह चारण तथा राजदूत दोनों हुआ करता था और संभवतः इसी कारण एक स्थल पर उसे अदण्य ठहराया गया है। ऋग्वेद के समय ग्रामणी एक सैनिक कर्मचारी होता था। इस युग में उसे सेना और दीवानी दोनों का कर्मचारी माना जाता था। वह नगर या गाँव के न्यायालय का अध्यक्ष होता था। वैश्यों की उच्चाकांक्षा की चरम सीमा इसी पद में थी। बाद में ग्रामणी द्वारा गाँव में राजकीय शक्ति का सन्निकर्ष होने लगा[3]।

---

१ पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्येन्ट इण्डिया, पृ० ३०।

२ द्यूत पर नियंत्रण रखनेवाले।

३ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० १३१।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सामाजिक और धार्मिक अवस्थाएँ

उत्तर-वैदिक साहित्य से आर्यों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में विशाल परिवर्तन का पता चलता है। समाज में काफी जटिलता आ गई। ऋग्वेद-काल की प्रकृति के देवताओं की उपासना तथा कुटुम्ब के प्रमुख सदस्य द्वारा यज्ञ के साधारण विधान का स्थान क्रमशः व्यापक अनुष्ठानों और संस्कारयुक्त उपासना ने ले लिया जिसके सञ्चालक ब्राह्मण थे जिनका एक अलग वर्ग ही स्थापित हो गया। इस तरह अनुष्ठानयुक्त उपासना ने जिसमें गृहपति दूसरों द्वारा अनुष्ठान करा लेने लगे ऋग्वेदकालीन आर्यों की उच्च एवं सरल उपासना-पद्धति पर कुठाराघात कर दिया। इस धार्मिक परिवर्त्तन का प्रभाव जाति-प्रथा की उत्पत्ति पर पड़ा जिसने उत्तर वैदिक काल में क्रमानुगत परम्परा अपना ली। समाज के आध्यात्मिक जीवन का अधिनायकत्व ब्राह्मणों के हाथ में होने के कारण उन्होंने समाज में अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए अपनी दैवी उत्पत्ति का सप्रमाण विवेचन किया और शास्त्रीय धाराएँ निकालीं जिससे शेष वर्णों से वे अपने को पृथक् रख सकें। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में आर्यों का जो समाज बना वह तीन वर्गों में विभक्त किया गया—

(१) ब्राह्मण अथवा पुरोहित;
(२) क्षत्रिय अथवा शासकों और योद्धाओं का वर्ग;
(३) वैश्य, जिनके अन्तर्गत दूसरे कार्यों में लगे हुए शेष आर्य थे।

इनके अतिरिक्त एक चौथा वर्ग भी था जिसमें अधिकांश अनार्यों की विजित जातियों के सदस्य सम्मिलित थे जिन्हें आर्यों ने 'शूद्र' की संज्ञा दे रखी थी। ऋग्वेद के समय में यही 'दास' कहलाते थे।

आरण्यक और उपनिषद

परन्तु एक ओर जहाँ ब्राह्मण लोग अपने शुष्क यज्ञ-यागादि के अनुष्ठानों में लगे हुए थे, दूसरे समाज उन गूढ़ प्रश्नों की मीमांसा में संलग्न थे। जिनका उपनिषदों में स्पष्टतर रूप से विचार हुआ है। जंगलों में रहनेवाले ऋषियों तथा साधु-संन्यासियों ने जो ब्राह्मण धर्म के प्रायः विरोधी थे ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार किया जिनका याज्ञिक उपासनाओं अथवा कर्मकाण्ड से प्रत्यक्ष विरोध है। इन ऋषियों के सिद्धान्त तथा दर्शन ही 'आरण्यक' कहलाते हैं। वे या तो कुछ अन्तिम ब्राह्मणों के साथ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जोड़ दिये गये हैं अथवा प्राचीनतम उपनिषदों के भाग हैं। उदाहरण के लिए हम शतपथ-ब्राह्मण को ले सकते हैं जिसके चतुर्दश काण्ड का प्राथमिक तृतीयांश आरण्यक है और उस काण्ड के अन्तिम भाग में एक सुप्रसिद्ध एवं महानतम उपनिषद—'बृहदारण्यक' पाया जाता है। आरण्यक और उपनिषद दोनों वेदों के अन्तिम भाग हैं और अपने विषय की प्रकृति के कारण एक ही कोटि में रखे जाते हैं। आश्रमवासी ऋषियों ने जिस तत्त्व की ओर लक्ष्य किया औपनिषदिक विचारकों ने उसकी स्पष्ट एवं पूर्ण व्याख्या की और इस प्रकार उनके यत्न से हिन्दुओं की धार्मिक विचारधारा का स्तर ब्राह्मणों के शुष्क यज्ञों और अनुष्ठानों से ऊपर उठ सका। उपनिषदों द्वारा ईश्वर-विषयक बौद्धिक भावना का विकास हुआ। "विश्व ही 'ब्रह्मन्' एवं ब्रह्मन् ही 'आत्मन्' है। विश्व की समस्त सत्ताओं में उस ब्रह्मन् शक्ति की परिव्याप्ति है। वही कारयित्री, धारयित्री, रक्षण करनेवाली तथा अपने में सारे लोकों को लय करनेवाली शक्ति है। इस अपरिसीम दैवी शक्ति की 'आत्मन्' के साथ एकरूपता है जिसमें वाह्यत्व का लेश नहीं तथा जो हमारे भीतर यथार्थ एवं अत्यन्त प्रयोजनीय रूप में वर्त्तमान है, वह हमारा 'स्व' अथवा 'आत्मा' है[१]।" ईश्वर-सम्बन्धिनी यह धारणा तथा ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध संसार के चिन्तन-साहित्य में हिन्दू उपनिषदों की एक अमूल्य देन है जो बाद के वेदान्त-दर्शन का आधार था। औपनिषदिक युग की दो विशेषताएँ देखी जाती हैं—(१) वह ब्राह्मण-धर्म के पृथकत्व एवं आडम्बर के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया-स्वरूप था, (२) उपनिषदों के सिद्धान्त पुरोहित वर्ग की श्रेष्ठता के विरोध में खड़े किये गये थे और उन्होंने क्षत्रियों को ब्राह्मणों का स्थान दिलाया। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों धार्मिक आन्दोलन जिनके आरम्भ करनेवाले क्षत्रिय थे उसी प्रतिक्रिया के फल थे। आधुनिक युग के ब्रह्म-समाज तथा कुछ अंश में आर्य-समाज आन्दोलन भी उपनिषदों और ऋग्वेद-संहिता से प्रेरणा लेकर

---

१ विन्टरनित्स (भाग १, पृ० २५०) ड्यूसन के 'फिलॉसफी ऑव दि उपनिषद्स' से उद्धृत जिसका गेडेन (A. S. Geden) द्वारा अनुवाद हुआ है, एडिनबरा, १९०६, पृ० ३९।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अवनत ब्राह्मण-धर्म से दूर-दूर रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस युग में स्मृति-काल में नारी के खोये हुए सम्मान उन्हें फिर प्राप्त हुए और उनकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुआ। उपनिषदों में हम गार्गी और मैत्रेयी जैसी महिलाओं के सम्बन्ध में पढ़ते हैं जो दाशनिक विवादों में पुरुषों को भी मात करती थीं।

महाकाव्यों की कथाएँ इतनी प्रचलित हैं कि उन्हें यहाँ देने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये दोनों महाकाव्य जिस रूप में हमें आजकल उपलब्ध हैं अपने कई संस्करणों में निरन्तर जुड़ते जाने के परिणाम हैं। वर्तमान रामायण का अन्तिम स्वरूप सम्भवत: २०० ई० के लगभग निश्चित हो चुका था और महाभारत का भी समय प्रायः वही अथवा उससे कुछ हटकर बाद का है। रामायण की रचना की सबसे पुरानी तिथि २०० या ३०० ई० पू० मानी जाती है और महाभारत की उससे भी पहले[१]। परन्तु दोनों महाकाव्य अपनी प्राचीनतम रचना-तिथियों से कहीं प्राचीनतर समय का विवरण देते हैं। महाकाव्यों की उत्पत्ति वस्तुतः वीरकाव्यों अथवा वीरगाथाओं से हुई है जो साहसिकों एव साहसिक घटनाओं के सम्बन्ध में चारणों द्वारा प्रायः धार्मिक अनुष्ठानों अथवा महाभोजों के अवसर पर राजदरबारों में जाकर सुनाये जाते रहे हैं। इन वीरकाव्यों में से कुछ तो अशतः हमारे इन दो महाकाव्यों में सुरक्षित पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए कुरुक्षेत्र में होनेवाली महाभारत की ऐतिहासिक घटना जिसके समय का अनुमान १००० से २००० शती ई० पू०[२] किया जाता है और जो महाभारत की कथा का मूल है निश्चय चारणों द्वारा वीर-गीतों के रूप में न जाने कितनी पीढ़ियों से गाई और दुहराई जाती रही होगी।

महाकाव्य

---

१ विन्टरनित्स के अनुसार अपने मूल रूप में महाभारत की रचना संभवतः चौथी शती ई० पू० में आरम्भ हुई और वर्तमान स्वरूप में उसकी परिणति निरन्तर प्रक्षिप्तों के कारण चौथी शती ई० तक होती रही। मूल रामायण की रचना शायद तीसरी शती ई० पू० में वाल्मीकि ने की। दोनों महाकाव्यों के आधार प्राचीन वीर-गाथाएँ हैं। (विन्टरनित्स, भाग १, पृ० ४५४ और ४७५ तथा ५००—५१७)।

२ पार्जिटर, ऐंश्येन्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन्स, पृ० १७९–८३; प्रधान, क्रोनोलॉजी ऑव एंन्येन्ट इण्डिया, पृ० २६८–६९।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महाकाव्यों से हिन्दुओं के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के विषय में जिन स्थितियों का पता चलता है वे वैदिक युग की दशाओं से सर्वथा भिन्न थीं। आर्यों का विस्तार और भी पूर्व में हो चुका था और मगध तथा अंग जैसे राज्य जिनका उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं पाया जाता महाकाव्यों से जाने जाते हैं। इस प्रकार राजनीतिक क्षितिज काफी उन्नत हो चला और सार्वभौम राज्य का आदर्श सामने आया। महाकाव्यों में 'सम्राट् एवं 'साम्राज्य के आदर्शों को जिनके संकेत ब्राह्मण-ग्रन्थों में हमें मिले हैं मूर्त रूप प्रदान किया गया। सम्राट् पदवी के अधिकारी वे शासक समझे जाने लगे जो अपने अधीन बहुत से छोटे-छोटे राज्यों पर अधिनायकत्व स्थापित कर सकें। राजनीतिक प्रधानता का प्रतीक 'दिग्विजय' अथवा दिशाओं पर विजय था; यद्यपि यह सदैव आवश्यक नहीं समझा जाता था कि देशों को विजित बना ही लिया जाय। इतना ही पर्याप्त था कि पराजित राजा लोग उसकी प्रधानता मान लें। सम्राट् पदवी धारण करने के लिए प्रायः राजसूय या अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करना पड़ता था। अधीन राजा को इन अनुष्ठानों में साधारण रूप से सामन्तों की श्रेणी में उपस्थित रहना पड़ता था और सम्राट् की उसके युद्धों में सहायता करनी पड़ती थी। इस तरह सामन्त-प्रथा को एक राजकीय संस्था का गौरव प्राप्त हुआ जो प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में भारतीय राजत्व का एक अविभाज्य अंग बनी रही। राज्य का उत्तराधिकारी पितृक्रमानुगत ही था और नियम के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को राजसिंहासन दिया जाता। इस नियम के अपवाद उस अवस्था में पाये जाते थे जब ज्येष्ठ पुत्र में कोई शारीरिक या मानसिक विकार हो। उदाहरण-स्वरूप धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण कनिष्ठ पुत्र पाण्डु को राजा बनाया गया था।

राजनीतिक स्थिति

जाति-प्रथा और भी निश्चित रूप से स्थापित हो चुकी थी। ब्राह्मणों को उपनिषद् युग में खोई हुई उनकी प्रधानता उन्हें फिर वापस मिल गई। एक सम्राट् अथवा राजा का मंत्री सदैव ब्राह्मण बनाया जाने लगा, जिसकी मंत्रणा और निर्देश से सम्राट् कार्य करता था। कभी-कभी ब्राह्मण मंत्री ही उसका आध्यात्मिक गुरु भी होता था। राजकुमार से लेकर साधारण स्थिति के किसान तक सभी

सामाजिक स्थिति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण को अप्रसन्न करने से डरते थे क्योंकि ब्राह्मण के कोप या शाप में आघात करनेवाले को जलाकर भस्म कर देने की क्षमता थी। शायद इस अग्नि की शक्ति मनुस्मृति की रचना के समय तक काफी कम हो चुकी थी, अन्यथा उसमें ब्राह्मण को त्रस्त करने के अपराध में अपराधी को जीवित जला देने के दण्ड का विधान क्यों पाया जाता; क्योंकि अब ब्राह्मण स्वयं अपनी अग्नि में जला सकने में असमर्थ होने लगा इसीलिए ऐसा विधान बनाना आवश्यक हुआ।

स्त्रियों की स्थिति में वैदिक काल से कुछ हीनता आ गई। बहुपत्नीत्व विवाह-प्रथा राजकीय एवं धनी वर्गों में एक साधारण-सी बात समझी जाने लगी। सती की प्रथा का भी जिसका वैदिक साहित्य में कहीं नामोल्लेख तक नहीं है प्रचलन अब आरम्भ हो गया। बहुपतित्व (Polyandry) की विचित्र प्रथा जो प्रत्यक्षतः एक मंगोल प्रथा है और जिसका प्रचार अब भी तिब्बत तथा हिमालय प्रदेश की भारतीय सीमावर्त्तिनी कुछ जातियों में पाया जाता है महाभारत के संकलन-कर्त्ताओं द्वारा उसकी मुख्य कथा-वस्तु से सम्बन्धित कुछ घटनाओं के स्पष्टीकरण के निमित्त सामने लाई गई अथवा जैसा कि डा० विन्टरनित्स (Dr. Winternitz) का कथन है[१] उसका प्रदर्शन गाथा के एक पुराने स्वरूप की प्रतिकृति का निदर्शन करने के लिए आवश्यक हुआ। महाकाव्यों में 'स्वयंवर' अथवा राजकुमारी द्वारा एकत्र हुए उसके पाणिग्रहण के इच्छुक राजकुमारों और नरेशों में से अपना पति निर्वाचित कर लेने की एक मनोरंजक विवाह-प्रथा का उल्लेख हुआ है। महाकाव्य-कालीन समाज में धनुर्वेद में निपुणता प्राप्त करना कितने गौरव की बात मानी जाती थी इसका अनुमान इसी से कर सकते हैं कि विवाह की कामना रखनेवाले व्यक्तियों में जयी होनेवाले के लिए इस कला में दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करना पड़ता था।

धार्मिक स्थिति

इस युग में नये देवताओं का आविर्भाव हुआ जिनके सामने वैदिक देवताओं का महत्त्व कम हो गया। वेदों के प्रकृति-देवों को नये देवताओं और देवियों—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश तथा पार्वती के बाद स्थान दिया

१ विन्टरनित्स, भाग १, पृ० ३३७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाने लगा। महाकाव्यकालीन समाज में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त या तपश्चर्या या ध्यान जिनके साथ शारीरिक यंत्रणा (उग्र तप-नियम आदि) का विधान था, सामान्य रूप से प्रचलित थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तीसरा अध्याय

जाति-व्यवस्था : उसकी उत्पत्ति एवं दुष्परिणाम[1]

आरम्भ में आर्यों का एक ही समुदाय था। यह हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद के समय में समाज का विभाजन केवल दो तरह के लोगों, आर्यों एवं अनार्यों, में हुआ था। फिर उत्तर-वैदिक युग में किस प्रकार ब्राह्मण कहे जानेवाले एक नये वर्ग के लोगों का आविर्भाव हुआ जिनका काम ब्राह्मण-ग्रन्थों की जटिल विधियों के अनुसार याज्ञिक उपासना अथवा कर्मकाण्ड का सम्पादन करना था इसका भी उल्लेख हो चुका है। ब्राह्मण और पुरोहित कोई अलग वर्ग नहीं थे। समाज के आध्यात्मिक विषय का अधिकारी होने के कारण उन्हें याज्ञिक उपासना के विस्तृत नियमों और संस्कारों का विशद् एवं गंभीर अध्ययन तथा विशुद्ध आचरण का पालन करना पड़ता था। स्वभावतः आर्यों के समाज में शेष सांसारिक बातों में लिप्त लोगों की अपेक्षा उन्हें एक पृथक् तथा उच्च स्थान प्राप्त हुआ। समाज के एक विशेष प्रकार के कार्य के सम्बन्ध में इस तरह भेद कर देने से अन्य प्रकार के कार्यों में भी भेद-भाव की उत्पत्ति हुई और कार्यों की प्रकृति एवं गुरुता के अनुसार उन्हें समाज में स्थान मिला।

(उत्पत्ति)

(ब्राह्मण)

आध्यात्मिक विषय के बाद युद्ध एवं राज-शासन का काम था। जिन लोगों के हाथ में यह काम था वे क्षत्रिय कहलाने लगे। शेष आर्य जो विविध कार्यों में लगे हुए थे जैसे वाणिज्य और कृषि आदि वैश्य कहलाए और उन्हें क्षत्रियों

(क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र)

---

१ इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए लेखक का 'ऑरिजिन ऐन्ड डेवलपमेण्ट ऑव दि कास्ट सिस्टम इन इण्डिया' (इण्डियन कल्चर, भाग १२, सं० ४, १९४६, पृ० १७७—१९१ में प्रकाशित) शीर्षक निबन्ध देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के बाद स्थान दिया गया। हिन्दू समाज के अन्तर्गत एक चौथा वर्ग भी था जो शूद्र कहलाता था जिसका काम अन्य तीन वर्गों की सेवा करना था। शूद्रों में देश के मूलनिवासियों का सञ्चार था जो हिन्दू समाज में आकर निम्नतम श्रेणी में रह गये।

जाति-व्यवस्था की यह ऐतिहासिक उत्पत्ति है जो आरम्भ में जैसा ऊपर दिखा चुके हैं श्रम के विभाजन के आधार पर बनाई गई थी। इस दृष्टि से तो उसमें कोई हानि नहीं थी; विभाजन वस्तुतः एक वैज्ञानिक एवं सही ढंग पर किया गया था। हानि का आरम्भ उस समय हुआ जब पुरोहितवर्ग की स्वार्थ-परता के कारण विभाजन क्रमानुगत एवं रूढ़ हो गया। उन लोगों ने अपनी उत्पत्ति की काल्पनिक एवं अलौकिक व्याख्या की और इस ढंग से शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित किये जिससे उनके वर्ग की क्रमानुगत मर्यादा स्थायी हो जाय। उत्तर-ब्राह्मण-साहित्य के अन्तर्गत सूत्रों में ऐसे नियम रख दिये गये कि कोई भी व्यक्ति जो जन्म से ब्राह्मण नहीं है, पुरोहित होने का अधिकारी नहीं हो सकता। क्रमानुगत जाति प्रथा की प्रारम्भिक अवस्थाओं में तो फिर भी ऊपर के तीन वर्णों अथवा द्विजातियों में अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन था। यहाँ तक कि उच्च वर्ण के लोगों का शूद्रों के साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध, यद्यपि हीन दृष्टि से देखा जाता था बिल्कुल निषिद्ध नहीं था। "स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि"१ का उद्धरण देकर इस तरह के विवाह-सम्बन्ध प्रायः होते ही रहते थे। परन्तु काल-क्रम से जाति-सम्बन्धी नियमों के सूत्र दृढ़ होते गये और जातियाँ एक दूसरे से बिलकुल ही असम्पृक्त हो गईं, यहाँ तक कि उन्होंने ऊपर के तीन वर्णों में भी अन्तर्जातीय विवाह तथा खान-पान उठा दिया।

जातियों की संख्या अब चार नहीं रह गई। सामाजिक संगठन की जटि-लता एवं श्रम के विभाजन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण के कारण जातियों की संख्या बढ़ गई और समाज के विविध कामों को लेकर उनकी शाखा-प्रशाखाएँ फूट निकलीं। प्रायः वही भेद-भाव और पारस्परिक संघर्ष की परम्परा इन नई

१ निम्न वर्ण की स्त्री भी रत्न ही है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातियों और गौण-जातियों के बीच बाद की अवस्थाओं में स्थापित हो गई जो पहले की मौलिक चार जातियों में विद्यमान थी।

जाति-व्यवस्था के दुष्परिणाम

इसी का परिणाम है कि आज हिन्दू समाज सैकड़ों क्रमानुगत जातियों एवं गौण-जातियों में जो सामाजिक पृथकत्व के सिद्धान्त पर चलनेवाली हैं बिलकुल विश्रृंखलित हो रहा है। हिन्दू-समाज में वैमनस्य और शिथिलता का यह एक प्रमुख कारण है। खेद की बात है कि यद्यपि वर्त्तमान अवस्था में काम के विभाजन का ठीक-ठीक अनुसरण नहीं हो रहा है, शायद हो भी नहीं सकता, जातियाँ रूढ़ि और क्रमानुगत परम्परा के फन्दे में जकड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए एक ब्राह्मण की जूते की दूकान हो सकती है और एक धोबी अध्यापक की वृत्ति ग्रहण कर सकता है, फिर भी ब्राह्मण धोबी के हाथ का पानी नहीं ग्रहण करेगा। उच्च वर्ण के लोगों की दृष्टि में निम्न जातियों और साधारण लोगों की एक बड़ी संख्या 'दलित' समझी जाती है। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज के अन्तर्गत मेहतरों और मुर्दा जानवरों का चमड़ा गाँठनेवालों को अस्पृश्य माना जाता है और उन्हें चाहे वे कितना भी स्वच्छ रह सकें स्वच्छ नहीं मानते; वे इस योग्य कभी भी नहीं हो सकते कि उनका उच्च वर्ण अथवा गौण-वर्ण के किसी भी सदस्य से स्पर्श तक हो सके। माता अपने बच्चों के लिए भंगी (मेहतर) का काम करती है और परिचारिका अपने रोगी के लिए भंगी का ही काम करती है, फिर भी क्रमानुगत जन्म के भंगी जो सारे समाज की गन्दगी दूर करते हैं हीन दृष्टि से देखे जाते हैं और इस तरह अस्पृश्य माने जाते रहने के कारण तथा यहाँ तक कि भगवान् के मन्दिर में भी प्रवेश पाने के अधिकारी न हो सकने के कारण वे बहुत कुछ स्वच्छता की प्रयोजनीय भावना को भी तिलांजलि दे चुके हैं। उनकी इस हीन अवस्था के उत्तरदायी सवर्ण हिन्दू हैं। यह एक ऐसा दुष्परिणाम है जो हिन्दू समाज को भीतर से जर्जर बना रहा है। राजनीतिक स्वाधीनता कोई अर्थ ही नहीं रखती जब तक सामाजिक अत्याचार का यह स्वरूप हमारे सामने वर्त्तमान है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चौथा अध्याय

नवीन धार्मिक आन्दोलन : जैन तथा बौद्ध धर्म

भारत में छठवीं शताब्दी ई० पू० में जैन धर्म और बौद्ध धर्म नामक दो महान् धार्मिक आन्दोलन उठ पड़े। ये दोनों ही वस्तुतः सुधार आन्दोलन थे जिनका लक्ष्य हिन्दू धर्म की कुरीतियों को जिनसे उसका भीषण पतन हो चुका था दूर करना था। लूथर (Luther) और काल्विन (Calvin) की तरह महावीर और गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म में आ गई कुरीतियों के विरुद्ध आवाजें उठाईं। इस प्रकार जैन धर्म और बौद्ध धर्म प्रोटेस्टैन्ट (प्रत्याख्यानात्मक) हिन्दू धर्म हैं जैसे लूथर और काल्विन के मत प्रोटेस्टैन्ट ईसाई मत माने जाते हैं।

इन दोनों धार्मिक आन्दोलनों की उत्पत्ति उपनिषदों के सिद्धांतों से हुई है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार उत्तर वैदिक काल में जब ब्राह्मण-धर्म अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो चुका था, पुरोहित-प्रथा का विशेष महत्त्व था, धर्म का स्थान जटिल संस्कारों और हिंसात्मक यज्ञ-यागादि ने ले रखा था, उनके विरुद्ध एक विद्रोह हुआ जिसके चिह्न सबसे पहले आरण्यकों और उपनिषदों में ही दिखलाई पड़े। महावीर और गौतम बुद्ध दोनों ने अपने सुधार आन्दोलन के चलाने में उपनिषदों की शिक्षाओं से प्रेरणा ग्रहण की और दोनों ही सम्भ्रान्त क्षत्रिय कुल के थे।

जैन-धर्म

जैन आंदोलन के प्रवर्त्तक महावीर का जन्म ५४० ई० पू० के लगभग वैशाली के अन्तर्गत कुंडग्राम नामक स्थान में हुआ था[१]। वह गाँव संभवतः आजकल का बसुकुंड है। वहाँ एक धनी और सम्भ्रांत व्यक्ति सिद्धार्थ नाम के

---

१ बसाढ़ (बिहार प्रान्त का वर्त्तमान मुजफ्फरपुर जिला।)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहा करते थे जो क्षत्रियों के पैतृक कुल के प्रधान थे। सिद्धार्थ का विवाह त्रिशला नामक राजकुमारी के साथ हुआ था जो वैशाली के राजाओं एवं शासकों में सबसे अधिक विख्यात् छेटक की बहन थी। उनके वर्द्धमान नामक पुत्र हुआ जो आगे चलकर महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मगध के राजा बिम्बिसार ने छेटक की राजपुत्री छेलना के साथ विवाह किया था। इस तरह अपने मातृकुल के शक्तिशाली लिच्छवियों द्वारा महावीर का सम्बन्ध मगध के प्रतापी राजवंश के साथ था।

महावीर का जीवन-वृत्त

महावीर को अध्ययन के हर एक अंग में शिक्षा मिली थी और उनका विवाह यशोदा नाम की कुमारी से हुआ था जिससे उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई जो महावीर के एक भावी शिष्य एवं जैन संघ के प्रथम संघ-भेद के प्रवर्तक जमालि से ब्याही गई। तीस वर्ष की अवस्था में अपने माता-पिता के स्वर्गवास होने पर वर्द्धमान ने अपना घर-द्वार छोड़ दिया और संन्यासी बन गये। उन्होंने अत्यन्त कठोर तपश्चर्या, शारीरिक यंत्रणा एवं आत्म-हनन का जीवन व्यतीत किया। आचाराङ्ग-सुत्त नामक एक संक्षिप्त धार्मिक काव्य से उद्धृत निम्नलिखित अवतरण में महावीर की कठिन साधना का बड़े मार्मिक ढंग से वर्णन हुआ है जिसके सहारे उन्होंने मुक्ति का लक्ष्य-पथ निर्धारित किया है और जिसका जैन-धर्म के सम्पूर्ण कर्त्तव्य शास्त्र से निकट सम्बन्ध है जिसे उन्होंने अपने अनुयायियों को पालन करने का आदेश दिया था :

"वे नंगे और गृहविहीन होकर भ्रमण करने लगे। लोग उन्हें मारते और चिढ़ाया करते—पर वे बिना किसी बात की परवाह किए अपनी साधनाओं में रत रहे। लाढ़ में वहाँ के निवासियों ने उन पर काफी अत्याचार किया और उन पर कुत्ते छोड़े। उन्हें वे डंडों से पीटते और उन पर लात बरसाते और फल, मिट्टी के लोंदे और टूटे-फूटे बरतनों के टुकड़े फेंकते। नाना अत्याचारों से वे उनकी तपस्या भंग करना चाहते। परन्तु रण-भूमि के सेना-नायक की तरह महावीर ने यह सब सहन किया। चोट लगने पर एवं यों भी वे कभी अपनी चिकित्सा नहीं कराते। वे किसी प्रकार औषधि नहीं लेते, न कभी हाथ-मुँह धोते, न स्नान करते और न कभी दाँत साफ करते। जाड़े की ऋतु में वे छाया के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नीचे ध्यान लगाते, ग्रीष्म की तपन में प्रचण्ड धूप में बैठते थे। बहुधा महीनों वे पानी ही नहीं पीते थे। कभी-कभी वे केवल छठें, आठवें, दसवें या बारहवें बार आहार कर लिया करते और बिना किसी तृष्णा के अपनी साधनाओं में लगे रहते।"[१]

अपनी नालन्द की यात्राओं में एक बार उनका मक्खलिपुत्त गोसाल नामक साधु से परिचय हुआ जो कुछ वर्ष तक महावीर के साथ रहा, पर ६ वर्ष के बाद ही एक धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना के उद्देश्य से वह उन्हें छोड़ कर चला गया और अपने को तीर्थङ्कर घोषित कर दिया। उसके अनुयायी 'आजीविक' कहलाए। यह घटना महावीर के सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने से दो वर्ष पूर्व घटी, पूर्ण ज्ञान उन्होंने अपनी तपस्या के तेरहवें वर्ष बयालीस वर्ष की अवस्था में प्राप्त किया। इस परम ज्ञान को प्राप्त कर तथा दुःख-सुख से सदा के लिए मुक्त होकर वे महावीर अथवा जिन (विजेता) की संज्ञा से अभिहित हुए और उनके अनुयायी 'निर्ग्रन्थ', अर्थात् बन्धन-मुक्त, कहे जाने लगे। निर्ग्रन्थ के स्थान पर अब उन्हें जैन कहते हैं।

महावीर ने अपने धर्म का तीस वर्ष तक उपदेश किया और बहत्तर वर्ष की अवस्था में राजगृह के निकट पावा नामक स्थान पर ४६७ या ४६८ ई० पू०[२] के लगभग शरीर त्याग किया। इस प्रकार वे गौतम बुद्ध के अल्पवयस्क समकालीन थे और उनके बाद कई वर्ष तक जीवित रहे। गौतम बुद्ध की तरह महावीर अपने धर्म का उपदेश करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमा करते थे। "कल्प सूत्र" से हमें उनके चम्पा, मिथिला, श्रावस्ती, वैशाली एवं राजगृह में वर्षा-वास करने का वृत्तान्त मिलता है। वे प्रायः बिम्बिसार और अजातशत्रु से मिलते रहते थे जिनके साथ उनका यों भी सम्बन्ध था। कहते हैं कि बुद्ध का प्रिय अनुचर उपालि पहले जैन था और राजगृह में रहा करता था।

---

१ जैकोबी के अँगरेजी अनुवाद के आधार पर [Sacred Books of the East Series, Vol. XXII, p. 70 ff]

२ जैकोबी : भद्रबाहु-कृत कल्पसूत्र, पृ० ६ तथा आगे, शार्पेंटियर Charpentier), कै० हि० इ०, भाग १, पृ० १५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महावीर के उपदेशों का सारांश यह है : आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्त कर लेने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए 'सम्यक् श्रद्धा', 'सम्यक् ज्ञान' एवं 'सम्यक् कर्म' जैन धर्म के 'त्रिरत्न' का अनुसरण करना चाहिए। हरएक मनष्य की द्विधा प्रकृति होती है—भौतिकी तथा आध्यात्मिक; पहली नश्वर है, दूसरी अक्षय और विकासोन्मुखी। अच्छे और बुरे कर्मों का मनुष्य के पुनर्जन्म एवं मोक्ष पर प्रभाव पड़ता है। व्यावहारिक नैतिकता का पहला सिद्धान्त अहिंसा अथवा प्राणि-हिंसा से उपरति है। चौबीस तीर्थंकरों[१] या जिनों की उपासना जिनमें वर्द्धमान महावीर अन्तिम थे जैन-धर्म का एक प्रधान अंग है। जैन-धर्म वेदों के अपौरुषेयत्व में अनास्था प्रकट करता है और ब्राह्मणों को हिंसात्मक बलि-प्रथा का तिरस्कार करता है।

उपदेश

जैन धर्म की इस प्रकार बौद्ध धर्म के साथ इतनी अधिक समानता है कि बहुत दिनों तक तो उसे बौद्ध धर्म का ही एक अंग मानते थे। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि दोनों धर्मों में मौलिक रूप से एक स्पष्ट वैविध्य वर्तमान है। बुद्ध ने पहले तो कर्म और पुनर्जन्म से छुटकारा पाने के लिए घोर आत्म-यंत्रणा को साधन बतलाया था, पर उन्हें शीघ्र मालूम हो गया, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कि यह शान्ति का मार्ग नहीं था और इसीलिए उन्होंने अपने अनुयायियों को आत्म-यंत्रणा का पाठ नहीं दिया, बल्कि उन्हें एक मध्यवर्ती मार्ग के अनुसरण की शिक्षा दी जिसका अभिप्राय एक ओर आत्म-यंत्रणा से मुक्त सरल जीवन का पालन करना था और दूसरी

जैन धर्म की बौद्ध धर्म से तुलना

---

१ जैनों की सन्त-परम्परा के अनुसार चौबीस तीर्थङ्कर अथवा 'मार्ग का निर्माण करने वाले' हो गये हैं जिन्हें विजयी या जिन भी कहते हैं और जिनमें ऋषभ सर्वप्रथम तथा महावीर अन्तिम थे। क्रमानुसार उनके नाम ये हैं—

ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभु, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभु, पुष्पधर, शीतल, श्रेयांस, बसुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, तण्डी, कुण्ड, अव, मल्ली, मणिसुव्रत, निमि, नेमि, पार्श्वनाथ, महावीर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और विलासिता एवं भोग से निवृत्ति थी।[1] इसके विपरीत महावीर को उनको अनन्य तपश्चर्या में ज्ञान मिला था, अतएव उन्हें नग्न रहने, आत्मा को प्रताड़ित करने तथा व्रत रहकर जीवन का त्याग करने का उपदेश करने में, जिन्हें उन्होंने अन्तिम समाहार की अवस्था का निःश्रेयस साधन माना, कोई आपत्ति नहीं हुई। दोनों धर्मों में तप या साधना पर महत्त्व दिया गया है, पर जैन धर्म में कहीं अधिक उस पर तथा साम्प्रदायिक व्यवहारों पर जोर दिया गया है। जैन धर्म में बौद्ध धर्म की तरह साधक का लक्ष्य वेदना का अन्त कर देना है और क्योंकि वेदना का आविर्भाव बुरे कर्म से होता है, जैन साधक सारे कर्म का ही क्षय चाहता है। बौद्ध धर्म का लक्ष्य कृत का विनाश नहीं, बल्कि दूषण की ओर ले जानेवाली प्रवृत्तियों (दुर्वासनाओं) का जिनसे बुरा कर्म करने की प्रवृत्ति होती है विनाश करना है। यह तो केवल बुद्ध ही जान सकता है कि कितना अपरिपक्व कर्म करने को शेष है, परन्तु यह प्रश्न व्यर्थ है, क्योंकि पुनर्जन्म के कारण, जन्म लाभ करने की तृष्णा के क्षय के साथ पुनर्जन्म का चक्र स्थिर हो जाता है। जैन अनुयायियों का यह दावा है कि उनके गुरु सर्वज्ञ थे और इस दावे को वे इस ढंग से रखते हैं जो स्वरूप बुद्ध को कभी मान्य न था। जैन-सूत्रों[2] की यह घोषणा है कि महावीर सर्वज्ञ थे, वे सब कुछ देख सकते थे, वे विश्व के सभी प्राणियों को सकल देवों, मनुष्यों एवं प्रतिस्पर्धी देवताओं के साथ जानते थे; उन्हें उनका आना-जाना, रहना, मृत्यु, पुनर्जन्म, आलाप-संलाप, एवं विचारादि तथा सभी वस्तुओं एवं जगत् के समग्र प्राणियों का हाल मालूम था। बुद्ध के विपरीत महावीर ने आत्मा में व्यापक विश्वास का प्रचार किया। अहिंसा के आदेश पर जैन मतावलम्बी बौद्ध धर्म की भी अपेक्षा विशेष जोर देते हैं। जैन धर्म सदैव एक राष्ट्रीय भारतीय धर्म बना रहा जब कि बौद्ध धर्म एक सक्रिय एवं प्रचारशील धर्म होने के कारण विश्वव्यापी धर्म बन गया।

महावीर को जैन संघ की सफलतापूर्वक स्थापना करने में अपने राजकीय

---

[1] तुलना के लिए, "धम्म-चक्क-पवत्तन-सुत्त" आगे पृ० ५३ पर देखिए।
[2] तुलना के लिए, "आचाराङ्ग-सूत्र", पृ० १५, २६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्बन्धियों—मगध के बिम्बिसार तथा अजातशत्रु से निश्चय सहायता मिली थी।

जैन संघ एवं धर्म-ग्रन्थ

उनके कठोर तप से जो सदा से भारतीय मस्तिष्क के लिए एक आकर्षण रहा है तथा सरल शिक्षाओं से उनके बहुत से अनुयायी बन गये। उनके ग्यारह प्रिय शिष्यों अथवा संदेशवाहकों में से जो 'गणधर' या विभिन्न शाखाओं के अधिनायक समझे जाते थे। केवल एक, आर्य सुधर्मन् उनकी मृत्यु के बाद जीवित बच रहा था जो उनके बाद जैन संघ का आचार्य बना। कोई डेढ़ सौ वर्षों तक जैन संघ के विषय में हमारा ज्ञान शून्यप्राय है। जैन अनुश्रुतियों में अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदायिन को धर्मशील जैन बतलाया गया है। नन्द लोग भी संभवतः जैन थे क्योंकि जैन ग्रन्थों में उनकी कहीं निन्दा नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त हाथीगुम्फा अभिलेख का भी प्रमाण है जिसके अनुसार कलिंग नरेश खारवेल प्रथम जिन की प्रतिमा जिसे कलिंग से नन्दराज उठा ले गया था पुनः वापस ले आया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने राजत्व काल में ब्राह्मण हिन्दूधर्म का पालन कर शायद अपने जीवन के अन्तिम भाग में जैन मत स्वीकार कर लिया था। एक जैन अनुश्रुति चन्द्रगुप्त को जैन आचार्य भद्रबाहु के साथ जोड़ती है जिसके साथ वे अपने राज्य का कार्य अपने पुत्र को सौंप कर जैनों के नियमानुसार तप करने के लिए दक्षिण चले गये थे। बाद के एक अभिलेख (लग० ६०० ई०) में चन्द्रगिरि (मैसूर) की चोटी पर भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त मुनिपति के चरण-चिन्हों के पाये जाने का उल्लेख हुआ है।[1]

कुछ तथ्यों के लिए अर्थात् जैन संघ के उसकी स्थापना से लेकर चौथी या तीसरी शती ई० पू० तक के इतिहास के लिए हमें भद्रबाहु कृत जैन कल्प-

जैन कल्प-सूत्र लग० चौथी शती ई० पू०

सूत्र का आभारी होना पड़ता है। भद्रबाहु महावीर के उपरान्त छठवें थेर (स्थविर) एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे। उनकी मृत्यु महावीर के निर्वाण के १७० वर्ष बाद बतलाई जाती है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ के तीन विभिन्न खण्ड हैं, परन्तु यह संशयात्मक

[1] लेविस राइस, एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग १, पृ० ३४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि भद्रबाहु तीनों के रचयिता हैं। प्रथम खण्ड में जिनचरित्र अथवा जिनों के जीवन-वृत्त का वर्णन हुआ है। इसमें महावीर के पूर्ववर्ती सभी तेईस जिनों या तीर्थंकरों का नामोल्लेख मिलता है जिनमें तेईसवें पार्श्वनाथ ने यह शिलान्यास किया था जिस पर महावीर ने ढाई सौ वर्ष बाद जैन संघ का निर्माण किया। इस खण्ड का प्रधान अंश वह है जिसमें महावीर के जीवन-चरित का विस्तार-पूर्वक वर्णन हुआ है। कल्पसूत्र का दूसरा खण्ड 'थेरावली', गणों और उनके अध्यक्षों (गणधरों) की तालिका, का है। इस तालिका में भद्रबाहु के आगे के भी नाम दिये गये हैं, अतः वह संभवतः भद्रबाहु-कृत नहीं हो सकता। तीसरे खण्ड में 'समाचरी' अथवा साधकों के नियम दिये गये हैं। सुधमन नामक प्रथम थेर का देहान्त अपने गुरु के बीस वर्ष बाद हुआ था। उनका उत्तराधिकारी जम्बू चौआलीस वर्ष तक अपने पद पर प्रतिष्ठित रहा है। उसके बाद आचार्यों की तीन पीढ़ियाँ बीतीं और अन्तिम नन्द के समय जैन संघ दो थेरों सम्भूतविजय एवं भद्रबाहु (कल्प-सूत्र के रचयिता) द्वारा शासित होता रहा।

ये उन थेरों में अन्तिम थे जिन्होंने स्वयं महावीर द्वारा अपने गणधरों को दिये गये चौदह 'पुव्वों' (संस्कृत, पूर्वों) अर्थात् पुरानी जैन धर्म ग्रन्थ की प्रतियों को परिष्कृत किया। सम्भूतविजय की मृत्यु ठीक उसी वर्ष बतलाई जाती है जब चन्द्रगुप्त ने शासन-भार ग्रहण किया। उस समय बंगाल प्रान्त में बारह वर्ष का एक भीषण अकाल पड़ा। भद्रबाहु ने यह सोचकर कि इस अनिष्ट से विहार के नियमों का काफी उल्लंघन होगा अपने साथियों सहित कर्णाट देश की राह पकड़ी। बहुत से जैन स्थूलभद्र के अधिनायकत्व में, जो सम्भूतविजय के शिष्य थे, मगध में ही रह गये। अकाल के बाद भद्रबाहु के शिष्य लौट आये, पर आचार्य स्वयं नेपाल चले गये जहाँ उन्होंने तप द्वारा शरीर त्याग दिया। मगध में जो साधु-सन्त रह गये थे उन्होंने इसी बीच ३०० ई० पू० के आसपास पाटलिपुत्र में एक महान् संगीति (सभा) की. जिसका

पाटलिपुत्र की प्रथम जैन संगीति : महान् संघ-भेद, लग० ३०० ई० पू०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उद्देश्य धर्म-शास्त्रों का संग्रह और परिष्करण करना था। परन्तु क्योंकि पूर्वों अथवा प्राचीन ग्रन्थों के विषय में पूर्ण ज्ञान भद्रबाहु को ही था और स्थूलभद्र को जो भद्रबाहु के पास नेपाल गये थे केवल दस पूर्वों की शिक्षा प्राप्त कर सके थे, पाटलिपुत्र में जो प्रामाणिक धर्म-शास्त्र माना गया उसका स्वरूप काफी विशृंखलित था और उसमें कुछ अंश तक नये धर्म-ग्रन्थों ने पुराने ग्रन्थों का स्थान ले लिया। आरम्भ के चौदह पूर्वों की जगह इस सभा में जैन धर्म-शास्त्र के बारह अंश सामने आये। भद्रबाहु के अनुचर जब मगध लौट कर आये तो उनके बीच जो प्रवास कर चुके थे और जिन्होंने अपना स्थान नहीं छोड़ा था एक बड़ी खाई बन कर तैयार हो गई थी। अपना स्थान न छोड़नेवाले श्वेत वस्त्र धारण करने लग गये थे, परन्तु प्रवासियों ने महावीर की शिक्षाओं का कठोर पालन करते हुये नंगा रहना ही पसन्द किया। इस प्रकार प्रथम संघ-भेद की नींव पड़ी जिससे जैन संघ दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में विभक्त हो गया। पहले के उल्लिखित (पृ० ५४) पूर्व संघ-भेद का स्वरूप जिसका नेता स्वयं महावीर का जामाता जमालि था अत्यन्त साधारण था। दिगम्बर सम्प्रदाय-वालों ने इस संगीति में निश्चित शास्त्र को प्रामाणिक नहीं माना; क्योंकि उनका कहना था कि चौदह पूर्व तो कबके लुप्त हो गए, अब शेष ही क्या है।

समय के व्यवधान से श्वेताम्बरों के धर्मशास्त्र में काफी असम्बद्धता आ गई और वह लुप्तप्राय हो चला। अतः महावीर के देहावसान के ९८०वें वर्ष (अर्थात्, छठवीं शती ई० के आरम्भ के समीप गुजरात प्रान्त के वलभी नामक स्थान में एक संगीति देवर्धि क्षमाश्रमण (गणधर) की अध्यक्षता में बुलाई गई जिसका अभिप्राय धार्मिक ग्रन्थों का संग्रह एवं लिपिकरण था। उस समय बारहवें अंग का कहीं पता न था। अतः उस संस्करण में जो आज तक चला आ रहा है केवल ग्यारह अंग ही पाये जाते हैं।

वलभी की दूसरी जैन संगीति लग० ५१२ ई०

बौद्ध धर्म के विपरीत जैन धर्म की जड़ें भारत भूमि में अच्छी तरह जम गईं; यद्यपि उसने कभी देश या विदेशों में अपनी शिक्षाओं के प्रसार के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध धर्म की तरह धर्मप्रचार की व्यापक क्रियाशीलता का आश्रय नहीं लिया।

भारत पर जैन-धर्म का प्रभाव

मौर्य शासन-काल में जैन धर्म को मागध सम्राटों के राजाश्रय से वञ्चित होना पड़ा जिसके वे आरम्भ से ही अभ्यस्त हो गये थे। उस काल में फिर भी जैनधर्म का प्रचार पश्चिमी एवं दक्षिण भारत की ओर हुआ। उज्जैन और मथुरा उस समय जैनधर्म के केन्द्र हो रहे थे। मथुरा से प्राप्त जैन अभिलेखों की बड़ी संख्या से यही प्रमाणित होता है कि वह जैनधर्म का एक बड़ा केन्द्र था। एक अनुश्रुति में उज्जैन को यहाँ तक कि प्रथम शती ई० पू० में उसी प्रकार इस मत का केन्द्र बतलाया गया है। इस अनुश्रुति के अनुसार जैन सन्त कालकाचार्य को उज्जैन के गर्दभिल्ल नामक सम्राट् ने अपमानित किया था। बहुत-सी किम्वदन्तियों के आधार पर यह सम्राट् विक्रम संवत् के संस्थापक जनश्रुति के विक्रमादित्य का पिता था। कहते हैं कि अपमानित होकर जैन सन्त कालक ने प्रतिशोध की भावना लेकर शकों के देश की ओर प्रस्थान किया जिनका सम्राट् 'शाहानुशाही' (सम्राटों का सम्राट्) उपाधि से विभूषित था। यह उपाधि प्रथम शती ई० पू० में यूनानी एवं भारतीय रूप में पंजाब के शक शासकों द्वारा तथा प्रायः उसी समय के कुषाण शासक द्वारा धारण की जाती थी। कुषाण सिक्कों पर 'शावनानो शाव'[१] यह उपाधि अंकित मिलती है। कालक ने कई शक क्षत्रपों को उज्जैन पर आक्रमण करने और गर्दभिल्ल के राजघराने को नष्ट करने के लिए प्रस्तुत कर लिया। परन्तु कुछ वर्षों के अनन्तर उसके पराक्रमी पुत्र विक्रमादित्य ने अपने पूर्वजों के राजसिंहासन को फिर प्राप्त किया। इस कथानक में पश्चिमी भारत में शकों के उपनिवेश की परम्परा का, जो एक ऐतिहासिक सत्य है, और साथ ही विक्रम संवत् (५८ ई० पू०) की स्थापना का जो संभवतः विक्रमादित्य द्वारा उनके शकों के ऊपर महान् विजय प्राप्त करने

---

१ तुलना में समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भाभिलेख के 'दैवपुत्र शाहि-'शाहानुशाही' को, जिसका प्रयोग कुषाण सम्राट् के लिए हुआ है, रख सकते हैं। इस उपाधि का वर्तमान रूप 'शाहन्शाह' होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के उत्तरार्द्ध में आरम्भ किया गया था, सन्निवेश हुआ है। मालवा प्रान्त में, जिसकी उज्जैन राजधानी थी, जैनों द्वारा विक्रम संवत् के व्यवहार से इस कथानक और संवत् की स्थापना के निकट सम्बन्ध का पता चलता है[१]। भारत से बौद्ध धर्म प्रायः लुप्त ही हो गया, परन्तु जैन धर्म का प्रचार देश के कई भाग में आज भी बाकी है। अपनी अक्रियात्मक धर्मप्रकार की भावना के कारण अपेक्षाकृत यह प्रतिस्पर्धी साम्प्रदायिक धर्मों की शत्रुता से युक्त रहा है। नष्ट होने से इसके बचने में अन्य कारणों के अतिरिक्त इसकी धर्मभीरुता एवं ब्राह्मण-धर्म से कुछ अंशों में समानता रही है। आजकल भारत के हरएक कोने में जैनधर्म के अनुयायी कुछ न कुछ संख्या में वर्तमान हैं, परन्तु इस धर्म के कुछ प्रसिद्धतर केन्द्र मथुरा, मालवा, गुजरात, राजपूताना और दक्षिण के कुछ जिले हैं। जैन लोग काफी धनी और समृद्ध हैं। उनके मन्दिरों में उनकी प्रचुर एवं बहुमूल्य सजावट से उनके जातीय वैभव का प्रदर्शन होता है। उनकी उदारता के भारत के सभी बड़े नगरों और तीर्थ स्थानों में पाई जानेवाली सैकड़ों बड़ी धर्मशालायें, स्कूल, कालेज, मनुष्यों एवं मवेशियों के अस्पताल तथा अन्य बहुतेरी दान-संस्थायें प्रतीक हैं।

बौद्ध धर्म

परन्तु जिस आन्दोलन से ब्राह्मण-धर्म को सबसे गहरा आघात पहुँचा वह गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित था। गौतम एक क्षत्रिय राजकुमार थे। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था जो कपिलवस्तु के शाक्य प्रजातन्त्र गण के प्रधान थे। उनकी माता निकटवर्त्ती कोलिय-गण की राजकुमारी मायादेवी थीं। उनका जन्म लगभग ५१७ ई० पू० में लुम्बिनी ग्राम में हुआ था जो उस समय संभवतः

बुद्ध की जीवनी

---

१ परन्तु प्रो० रैप्सन (E. J. Rapson) के अनुसार (कै० हि० इ०, भाग १ पृ० ५७१ एवं पृ० ५८१) संवत् का आशयकर्त्ता अय प्रथम (Azes I) था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कपिलवस्तु के शासकों का एक प्रमोद-उद्यान था। उनके जन्म की पुण्य स्मृति में सम्राट अशोक ने लगभग २४६ ई० पू०[1] में एक सुन्दर समूचे पत्थर का (Monolithic) स्तम्भ गड़वा दिया था जिस पर उसने अभिलेख भी अंकित कराये थे। उनके जन्म के कुछ ही दिन बाद उनकी माता के स्वर्गस्थ हो जाने के कारण उनका पालन उनकी विमाता महामाया ने किया था।

---

१ बुद्ध के निधन की तिथि के विषय में मतभेद है। विद्वानों का वर्ग परिनिर्वाण का समय लगभग ४८३ ई० पू० मानता है; परन्तु जैसा नीचे दिखलाया गया है मैं ४८७ ई० पू० को प्रामाणिक मानता हूँ—कैन्टन (चीन) में कुछ लेख सुरक्षित हैं जिनसे ४८९ ई० तक ९७५ विन्दुओं का पता चलता है, जब कि विन्दुओं का क्रम परिनिर्वाण के वर्ष से आरम्भ हुआ माना जाता है अथवा इस महान् घटना के अधिक से अधिक एक वर्ष बाद। यदि बाद का क्रम ठीक है तो ९७५ में एक और विंदु जोड़ा जा सकता है। दोनों अवस्था में परिनिर्वाण की तिथि (९७५ – ४८९) ४८६ या (९७५ + १ – ४८९) ४८७ ई० पू० में रखी जा सकती है। ५८७ ई० पू० तिथि अन्य स्वतंत्र प्रमाणों के ठीक अनुसार है। चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक सिकन्दर की मृत्यु एवं बैबीलोनिया की ३२३ ई० पू० में होने वाली विभाजन की प्रथम सन्धि तथा ३२१ ई० पू० की त्रिपरदिसस (Triparadisus) की दूसरी विभाजन-संधि, जिसमें सिंधु के पश्चिम शायद ही किन्हीं यूनानी अधिकृत क्षेत्रों का उल्लेख हुआ हो, के बाद किसी समय हुआ होगा। जस्टिन (Justin) सैन्ड्राकोट्टस (Sandracottus) को श्रेय देते हुए उसे वह प्रचण्ड शक्ति बतलाया है 'जिसके नेतृत्व में भारतीयों ने मैसीडन के जुये के अन्तिम भाग को उतारकर फेंक दिया था।' सिन्धु के उस पार इस तरह यूनानियों को भगाने में उसे साम्राज्य के सिंहासन पर अधिरूढ़ होने तथा नन्दों द्वारा विनिसृत ऐश्वर्य और विशाल सेना को अधिगत करने के बाद कम से कम एक वर्ष तो लग ही गया होगा। इसलिए उसके राज्याभिषेक को निश्चयपूर्वक लगभग ३२२ ई० पू० में रख सकते हैं। पुराणों के अनुसार उसने चौबीस वर्ष तक राज किया और उसके पुत्र बिन्दुसार ने पच्चीस वर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाल्यावस्था से ही कुमार सिद्धार्थ में जो उनका बचपन का नाम था, विचारशीलता और करुणामय प्रकृति के अंकुर दिखाई देने लगे थे। एक दिन की बात है कि उनके चचेरे भाई देवदत्त ने एक हंस को बाण से मार कर नीचे गिराया, कुमार ने झपटकर आहत पक्षी को उठा लिया और उसे अपना लिया। इस पर देवदत्त रोष में आकर चीख पड़ा—"किस तरह तुम इसे अपना सकते हो? आखेट के नियमों के अनुसार यह मेरा है।" भावी बुद्ध ने कितनी शान्ति के साथ, यद्यपि उस समय उनकी अवस्था बीस वर्ष से भी कम थी, उत्तर दिया—

"प्रेम और क्षमा के अधिकार से—जो समस्त अधिकारों में श्रेष्ठ है, यह मेरा है।"

सांसारिकता की ओर से इस प्रकार अपने पुत्र को उदासीन पाकर राजा ने उनका एक शाक्य सरदार की सुन्दरी और गुणवती पुत्री से विवाह कर दिया और तरुण कुमार तथा उनकी पत्नी यशोधरा को आमोद-प्रमोद के श्रेष्ठतम साधनों के बीच लाकर रख दिया। परन्तु किसी बात से वे सुखी न हो सके।

तक। अतः अशोक के राज्यारोहण का समय लगभग २७३ ई० पू० माना जा सकता है। सिंहली गाथाओं के एक स्थल से अशोक के राज्यारोहण तथा राज्याभिषेक के बीच चार वर्ष के व्यवधान का पता चलता है। इसलिए अशोक का राज्यारोहण लगभग २६९ ई० पू० में हुआ—यह समय गाथाओं के एक अन्य स्थल में निर्दिष्ट अशोक द्वारा 'परिनिर्वाण' के २१८ वर्ष बाद राजसिंहासन पर बैठने के कथन के भी अनुरूप है। इससे बुद्ध के परिनिर्वाण का समय लगभग (२६९+२१८) ४८७ ई० पू० स्थिर होता है। ४८६ ई० पू० के बाद तो वह किसी भी दशा में कैन्टन के लेख के आधार पर नहीं रखा जा सकता चाहे एक विन्दु की अनुपस्थित के बारे में प्रस्तावित सुझाव न भी माना जाय। विद्वानों ने इस परम्परागत मान्यता के सम्बन्ध में जो बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध है कि बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहे, कोई मतभेद नहीं है। इससे उनके जन्म का समय (४८६ या ४८७ +८०) लगभग ५६६ या ५६७ ई० पू० स्थिर होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उनके दुःख का कारण जरा, जीर्णता और मृत्यु के कारण उत्पन्न मानव-मात्र के कष्टों की प्रतीति था। अतः एक दिन उन्होंने घर-द्वार और सब कुछ छोड़कर संन्यासी का जीवन अपना लिया। उनका उद्देश्य—'दुखी मानवता के कष्टों का निराकरण किस तरह हो सकता है' इसका पता लगाना था। इस गृह-त्याग को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं। उन्होंने महाभिनिष्क्रमण उनतीस वर्ष की अवस्था में किया था। आरम्भ में उन्होंने एक विद्वान् ब्राह्मण का शिष्यत्व ग्रहण किया और शास्त्रों का तथा दर्शन का विधिपूर्वक अध्ययन कर स्वयं पण्डित हो गये परन्तु उन्हें इससे सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने घोर तपश्चर्या करते हुए तपस्वी का जीवन व्यतीत किया, परन्तु उससे ही क्या सन्तोष होता। इस प्रकार सत्य की खोज में ६ वर्ष वे व्यर्थ ही इधर उधर भटकते रहे। अन्त में वे गया के निकट एक पीपल के तले समाधिस्थ होकर बैठ गये और सत्य का, जिसके द्वारा मानव कष्टों से मुक्ति मिल सकती है, पता लगा ही लिया। उसी समय से वे पैंतीस वर्ष की अवस्था में 'बुद्धत्व" अथवा स्वयं प्रकाशित ध्यान प्राप्त कर उस संज्ञा से अभिहित हुए। वृक्ष का नाम तब से 'बोधि-वृक्ष' पड़ा। सबसे पहले उन्होंने बनारस के समीप सारनाथ के ऋषिपत्तन मृगदाव की ओर प्रस्थान किया जहाँ जाकर उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया अथवा अपना प्रथम धर्मोपदेश किया जिसके परिणामस्वरूप पंचवर्गीय भिक्षुओं ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इस छोटे से बीज से महान् बौद्ध संघ पल्लवित हुआ। पैंतालीस वर्ष तक बुद्ध ने भारत के महलों से लेकर झोपड़ियों तक निर्वाण का अपना सन्देश दिया और इस प्रकार उपदेश करते हुए उन्होंने कुशीनगर (यह देवरिया जिला में है) नामक स्थान में ४८७ ई० पू० अस्सी वर्ष की अवस्था में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।

बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त

बौद्ध-दर्शन अत्यन्त वैज्ञानिक एवं विचारात्मक है। बुद्ध का प्रथमोपदेश जो "धम्मचक्क पवत्तन सुत्त" में मिलता है स्पष्टतः बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों का उल्लेख करता है। चार आर्य सत्य ये हैं—(१) दुःखम्, (२) दुःख समुदयम्, (३) दुःख निरोध, एवं (४) दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा। जीवन दुःखमय है, क्योंकि इसमें जरा है, जीर्णता है और

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मृत्यु है। इस दुःख का कारण जन्म है जिसका भी कारण लौकिक वस्तुओं और भौतिक सुखों के प्रति स्पृहा या तृष्णा है जिनसे सन्तोष तो प्राप्त ही नहीं हो सकता; हाँ, एक जन्म से फिर दूसरे जन्म में आना पड़ता है। इस तृष्णा का क्षय जन्म-रूपी दुःख के कारण को दूर कर सकता है। तृष्णा के क्षय के लिए आर्य-अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। इसके अन्तर्गत ये हैं : (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् जीविका, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, तथा (८) सम्यक् समाधि। यह मध्यम मार्ग है, अर्थात् दो अन्तों के बीच का रास्ता—एक ओर तो भोग-वृत्ति और दूसरी ओर अत्यन्त तपस्या।

इस प्रकार हम बौद्ध दर्शन को अत्यन्त विचारात्मक अथवा विवेकपूर्ण पाते हैं। उसकी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में आस्था है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य पूर्वजन्म के अपने कर्मों के अनुसार फल भोगता ही है। मनुष्यों के दुःख का कारण जन्म है और यह मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात नहीं है वह पुनर्जन्म और उससे उत्पन्न दुःख से मुक्त हो सके। बौद्धों का 'निर्वाण' पुनर्जन्म से मुक्ति पा जाना है। वह ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता हो ऐसा मानने के लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, परन्तु 'निर्वाण' पाने के लिए उसे कोई आवश्यक साधन भी नहीं बतलाता। इस तरह यह आत्मोत्कर्ष के लिए व्यक्तिगत साधना पर जोर देता है और उसके लिए नैतिक कर्मों को साधनस्वरूप मानता है।

अहिंसा अथवा जीव-हत्या से दूर रहना, भूत मात्र पर दया, सचाई, गुरुजन का आदर, विविध प्रकार के दुःखों को दूर करने के लिए मानव जाति की सेवा, आदि बौद्ध धर्म के व्यावहारिक आचार के कुछ व्यावहारिक आचार सक्रिय रूप हैं। वर्तमान ब्राह्मण-धर्म की मान्यताओं के विपरीत वह वेदों को अपौरुषेय नहीं मानता, यज्ञों में पशु-बलि तथा पूजा के समय प्रचलित व्यर्थ के आडम्बरयुक्त संस्कारों की निन्दा करता है और ब्राह्मणों तथा जाति-व्यवस्था की प्रधानता मानने से अलग रहता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध धर्म शीघ्र ही एक लोक-धर्म बन गया, क्योंकि लोगों को उसके द्वारा पुरोहितशाही और जाति-व्यवस्था में जकड़े हुए ब्राह्मण धर्म से छुटकारा पाने का सा अनुभव हुआ। बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व

बौद्ध धर्म की प्रगति

से कोई भी व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आया प्रभावित हुए बिना न रहा। जिस सर्वग्राह्य तर्क के साथ वे ब्राह्मण पंडित के विवादों का मुँह तोड़ उत्तर दिया करते एवं करुणा, मैत्री, दया आदि जिन म नव भावनाओं से उनके उपदेश सप्राण हो जाते उनके कारण क्या पुरोहित क्या राजा और क्या प्रजा सभी सन्तुष्ट होते थे। इस तरह धर्म को अनेक प्रकार के आडम्बरयुक्त एवं व्ययसाध्य संस्कारों से मुक्त कर उन्होंने उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना दिया और व्यावहारिक आचार को महत्व देकर उन्होंने सारी जाति के जीवन को परिष्कृत एवं सुखमय बनाया। ब्राह्मण सम्प्रदाय में जो धर्म पुरोहितशाही के जाल में पड़ा हुआ था अब अतिशय व्यक्तिगत एवं दैनिक जीवन में प्रतिफलित होने लगा। जाति के विभेदों को नष्ट कर उन्होंने निम्न जातियों के स्तर को ऊँचा उठाया, जिन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपनी सामाजिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त की। इन सब कारणों से बौद्ध धर्म का शीघ्र उत्थान हुआ जो हिन्दू समाज के पतनप्राय,ब्राह्मण सम्प्रदाय के कारण उत्पन्न बुराइयों को दूर करने का समयानुकूल साधन था और बुद्ध को अपने महानिर्वाण के पहले ही यह देखकर सन्तोष था कि ऐसे शक्तिशाली राष्ट्रों के, जिनमें मगध, कोशल और कौशाम्बी तथा शाक्य, वज्जी मल्ल आदि प्रजातंत्रों की गणना थी, राजा एवं प्रजा सभी बौद्ध धर्म स्वीकार कर चुके थे और सम्पूर्ण मध्य भारत अथवा उस समय का "मज्झिमदेस" बौद्ध संघारामों और विहारों से भरा हुआ था। उनके निधन के पश्चात् अत्यन्त सुव्यवस्थित बौद्ध संघ द्वारा जिसमें उत्साही एवं निस्वार्थ-परायण भिक्षु, भिक्षुणियाँ थीं, प्रचार का काम योग्यता और सफलता के साथ होता रहा। इसके अनन्तर सम्राट् अशोक महान् का राजाश्रय पाकर यह राजधर्म बन गया और इस प्रकार भारत में इसे काफी सफलता मिली और इसकी शाखायें देश, विदेश में सर्वत्र फैल गईं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध-संघ

बौद्ध धर्म के महान् शिक्षक तथा उसकी शिक्षाओं के अतिरिक्त एक उतने ही महत्त्व की तीसरी योजना भी है। यह संघ अथवा बौद्ध विहार की योजना है। तीनों मिलकर बौद्धों के 'त्रिरत्न' कहे जाते हैं, जिनकी वे अपनी नैत्यिक प्रार्थनाओं में समान भाव से वन्दना करते हैं :

'बुद्धं सरणं गच्छामि'
'धम्मं सरणं गच्छामि'
'संघं सरणं गच्छामि'

बुद्ध ने संघ का बड़े सुन्दर ढंग से संगठन किया और उसके सदस्यों के व्यवहार के लिए विनय के नियम निर्धारित किये। संघ की सदस्यता सभी व्यक्तियों के लिए चाहे वे पुरुष हों या स्त्री पन्द्रह वर्ष के ऊपर समान रूप से खुली हुई थी। जाति का बन्धन वहाँ नहीं था। प्रवेश के नियम इस प्रकार थे—

संघ में प्रवेश पाने के इच्छुक या गतिक को किसी एक भिक्षु के साथ कुछ काल तक रहना पड़ता था जो उसे प्रारम्भिक शिक्षा देकर भिक्षु-संघ के सामने उपस्थित करता था और उसे संघ में प्रवेश कराने के लिए विधिवत् प्रस्ताव रखता था। स्वीकृत मिल जाने पर उसे भिक्षु की 'उपसम्पदा' दी जाती थी जो इसके बाद से निर्धन, ब्रह्मचर्य और उपासना का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होता था। बौद्ध धर्म के शीघ्र उत्थान अथवा प्रगति के मूल कारणों में भिक्षु संघ की अनवरत एवं निःस्वार्थ सेवा एक थी। उपासक बौद्ध निस्सन्देह गार्हस्थ जीवन व्यतीत करते थे और भिक्षु संघ के निर्वाह के लिए उसकी आर्थिक सहायता किया करते थे जैसा कि बर्मा में आज भी करते हैं। विहार का शासन साधारणतः स्थानीय संघों के हाथ में था; परन्तु पूर्ण अधिकार संघ संगीति या अपने विशेष अधिवेशनों के समय बुलाई गई सभा के हाथ में रखता था।

संगीति या सम्मेलन

बौद्ध संघ की चार संगीतियों का उल्लेख मिलता है। पहली महान् संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ सप्ताह बाद राजगृह के निकट सप्तपर्णी गुहा[1] में हुई थी जिसमें बुद्ध के उपदेश के संग्रह विश्लेषण एवं प्रामाणिक शास्त्र के रूप में

[1] विनय, चुल्लवग्ग ११, दीपवंश ४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन्हें प्रस्तुत करने का ५०० भिक्षुओं के सम्मेलन के बीच प्रयत्न किया गया था जो विभिन्न स्थानीय संघों के प्रतिनिधि बनकर उपस्थित हुए थे।

राजगृह की प्रथम संगीति लग० ४८७ ई० पू०

बुद्ध की शिक्षाओं का दो पिटक में विभाजन प्रथम संगीति में हुआ था। वे पिटक विनय एवं धर्म्म के थे जिनमें क्रमशः भिक्षुओं के आचार तथा सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे। संगीति के प्रधान का नाम महाकस्सप मिलता है। उपालि और आनन्द दोनों बुद्ध के परम शिष्य तथा अनुचर उसी क्रम से विनय और धर्म सूत्रों के विषय में प्रमाण माने गये।

वैशाली की द्वितीय संगीति लग० ३८७ ई० पू० : प्रथम संघ-भेद

परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली के भिक्षुओं में कुछ ऐसी बातें आ गईं जिनका अभ्यास विनय के नियमों के प्रतिकूल था। इसलिए संघ की द्वितीय संगीति बुलानी पड़ी जिसमें देश के हरएक कोने से भिक्षु आकर उपस्थित हुए थे।[1] वैशाली के भिक्षु अपने सिद्धान्तों पर उठे रहे और उन्होंने दूसरों की एक न सुनी जिससे संगीति में विवाद का निर्णय न हो सकने के कारण बौद्ध संघ में एक बड़ा संघ-भेद उठ खड़ा हुआ। जिन लोगों ने परम्परानुगत विनय में आस्था रखी वे स्थविर कहलाये और जिन्होंने कुछ परिवर्त्तन के साथ उसे माना उन्हें महासांघिक कहने लगे।

तृतीय संगीति लग० २५१ ई० पू० त्रिपिटक : एकता के प्रयत्न

तीसरी संगीति पाटलिपुत्र में सम्राट् अशोक के समय हुई। सिंहली अनुश्रुति के अनुसार वह बुद्ध के निधन के २३६ वर्ष बाद हुई थी जिसके अध्यक्ष पद पर विद्वान् आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स को बिठाया गया था। संगीति के द्वारा दो प्रधान कार्य सम्पादित हुए—प्रथम तो यह कि इसने बौद्ध धर्म-शास्त्र का नया वर्गीकरण अभिधम्म पिटक नामक एक तीसरा पिटक जोड़कर किया जिसमें दो वर्त्तमान पिटकों विशेषतः सुत्त एवं धम्म के सिद्धान्तों की दार्शनिक

---

१ विनय, चुल्लवग्ग १२, S. B. E. Vol XX. p. 409 ff.; दीपवंश, श्लो० ७२ तथा आगे, महावंश ४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्याख्या की गई थी।[1] इस प्रकार बुद्ध के वचन और उपदेश 'त्रिपिटक' के नाम से जाने लगे। दूसरा काय यह हुआ कि धर्मशास्त्र का साहित्य निश्चित एवं प्रामाणिक रूप से स्थिर हो गया जिससे विघटन की प्रवृत्तियों के लिए स्थान न रहा और संघाराम के भीतर संघ-भेद के विरुद्ध कड़े नियम बना दिये गये। धर्मशास्त्र का जो प्रामाणिक संस्करण संगीति में स्थिर हुआ उसी के आधार पर अशोक ने संघ-भेद के विरुद्ध राजाज्ञायें निकालीं।[2]

कश्मीर की चतुर्थ संगीति

बौद्ध संघ की चौथी एवं अन्तिम संगीति कश्मीर में कनिष्क के राजत्वकाल में हुई थी जिसके नायक थेर वसुमित्र तथा महा पण्डित अश्वघोष बनाये गये थे। इस संगीति ने कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय किया जो कश्मीर और गान्धार के सर्वास्तिवादियों के बीच कुछ मतभेद हो जाने के कारण उठ खड़े हुए थे तथा त्रिपिटक पर विभाषा शास्त्र अथवा तीन महाभाष्यों की रचना की।

महायान सम्प्रदाय

कनिष्क के समय में महायान नामक बौद्धधर्म के एक नवीन सम्प्रदाय का उदय हम पाते हैं जो बुद्ध द्वारा प्रवर्त्तित पुराने बौद्ध-मत अथवा हीनयान से बहुत कुछ बातों में असमानता रखता है। महायानियों के सिद्धान्त बीज रूप से स्वयं

---

१ अनुश्रुति में तिस्स द्वारा 'कथावत्थु' के संकलन की बात मिलती है जो एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें उस समय के प्रचलित सभी विद्वेषी मतों का खण्डन हुआ है और जिसे धर्मशास्त्र का एक अंग बना दिया गया। यह अभिधम्म पिटक के अन्तर्गत आता है। इससे न केवल विनयपिटक एवं सुत्तपिटक के सभी निकायों के वर्तमान होने का पता चलता है, बल्कि अभिधम्म के अन्य ग्रन्थों के विषय में भी ज्ञात होता है। इसलिए यह माना जाना संगत जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना धर्मशास्त्र के निर्धारण के बाद स्वयं तिस्स द्वारा हुई और संगीति में उपस्थित होनेवाले सदस्यों ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में इसे भी परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया।

२ इलाहाबाद के स्तम्भ पर कौशाम्बी अभिलेख तथा सारनाथ और साँची स्तम्भ लेखों से तुलना कीजिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्ध के उपदेशों में ही मिल जाते हैं, कनिष्क के समय में ही उसका प्रयोग मिलता है। बुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार वास्तविक ज्ञान अथवा निर्वाण प्राप्त करने के तीन मार्ग या यान हैं—

(१) जो लोग शीघ्र से शीघ्र स्वयं अपने लिए मोक्ष चाहते हैं और दूसरों का उन्हें कोई ध्यान नहीं वे ऐसा अर्हत पद प्राप्त कर सकते हैं। यह मार्ग 'अर्हत यान' अथवा अर्हतों का मार्ग कहलाता है।

(२) जो लोग स्वयं अपनी मुक्ति के साथ-साथ दूसरों के लिए कुछ और उपकार का काम करना चाहते हैं वे लक्ष्य तक पहुँचने के लिए 'प्रत्येक बुद्ध-यान' अथवा व्यक्तिगत बुद्ध का मार्ग अनुसरण करते हैं।

(३) जो परोपकार के लिए अपनी मुक्ति या निर्वाण का त्याग कर चुके हैं और पर-हित के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर बैठे हैं। यह 'बुद्धयान' या बुद्धों का मार्ग है।

पहले के अठारह सम्प्रदायों में जिनमें पुराना बौद्ध धर्म विभाजित था उपर्युक्त तीनों यानों की समान प्रतिष्ठा थी। ईस्वी सन् के आरम्भ में एक ऐसी विचार-परम्परा का विकास हुआ जिसमें अन्य दो यानों की निन्दा की गई और बुद्धयान को महत्त्वपूर्ण एवं केवल ठीक यान माना गया। बुद्धयान को शास्त्र-विहित बताने के लिए अथवा जिसे उन्होंने महादान अथवा प्रशस्त मार्ग इस-लिए कहा जिससे अन्य दो यानों से जिन्हें मिलाकर हीनयान माना गया विभेद किया जा सके, उन्होंने बहुत से सूत्रों की रचना कर डाली जैसे 'रत्नकूट' एवं 'वैपुल्य' जिनमें पुराने पिटकों के सूत्रों से बहुत ही आवश्यक बातों में आकाश-पाताल का अन्तर पाया गया। उदाहरण-स्वरूप नये धर्मशास्त्र, वैपुल्य सूत्रों के अनुयायी महायानियों ने बुद्ध और बोधिसत्वों को अवतार मानना आरम्भ कर दिया। बौद्ध अनुश्रुति के आधार पर बोधिसत्व वे हैं जो बोधि प्राप्त करने जा रहे हों, किन्तु जिन्हें सम्यक् ज्ञान न प्राप्त हुआ हो। इसके उदाहरण, बुद्ध स्वयं हैं जो गया में पूर्णत्व पाने के पहले अनेक बार बोधिसत्व के रूप में जन्म ग्रहण कर चुके थे।

बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमोपासना का आरम्भ महायान मत की एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशेषता है जिससे हीनयानियों का स्पष्ट वैषम्य है। असमानता का एक दूसरा विषय यह है कि जहाँ हीनयानियों ने मोक्ष के लिए सदाचार-विषयक व्यक्तिगत साधना पर अधिक ध्यान दिया महायानियों ने उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बुद्धोपासना एवं बुद्ध में अनुरक्ति पर जोर दिया है और फलतः मूर्त्ति-पूजा का आरम्भ किया जिसके साथ तरह-तरह के संस्कारों, रीतियों, यंत्र-तंत्र आदि का प्रचार हुआ। इस प्रकार बुद्धि का स्थान श्रद्धा ने ले लिया, आत्म-प्रयत्न के स्थान में भक्तिप्रधान उपासना आरम्भ हो गई। दोनों मतों के बीच वैषम्य दिखलाने के लिए एक तीसरी बात यह है कि हीनयानियों के सभी धर्म-ग्रन्थ पालि भाषा में लिखे गये थे जब कि महायान ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये।

महायान और हीनयान मतों की तुलना

महायान सिद्धान्त और दर्शन के विशिष्ट प्रतिपादकों में नागार्जुन, बसुबन्धु, असङ्ग, दिङ्नाग एवं धर्मकीर्त्ति के नाम लिये जा सकते हैं।

बौद्ध तथा जैन मत जिन बातों में ब्राह्मण अथवा सनातन हिन्दू धर्म से नहीं मिलते उन्हीं में वे एक दूसरे से समानता रखते हैं। बौद्ध एवं जैन मत दोनों ही ब्राह्मण धर्म की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने-वाले प्रतिक्रियावादी धार्मिक आन्दोलन हैं दोनों ने ब्राह्मण संस्कारों और याज्ञिक उपासनाओं का प्राधान्य नहीं माना और ब्राह्मणों की तथा जाति-प्रथा की अवज्ञा की। दोनों मतों के प्रवर्त्तक क्षत्रिय राजकुमार थे जिन्होंने औपनिषदिक विचारधारा से प्रेरणा लेकर अपने धर्मों का प्रचार किया—प्रचार की भाषा भी उन्होंने जन-साधारण की लोकभाषा रखी। दोनों ने नैतिक कर्मों, अहिंसा के अभ्यास एवं सांसारिक बन्धनों से मुक्त भिक्षु-चर्य्या को महत्त्व दिया।

बौद्ध तथा जैन मत

परन्तु अन्यान्य बातों में उनमें परस्पर मौलिक रूप से मतभेद पाये जाते हैं। बौद्धों के निर्वाण और जैनों की मुक्ति या मोक्ष में ऐसा ही अन्तर है। बौद्धों के अनुसार निर्वाण का अभिप्राय जन्म से निवृत्ति है जब कि जैन उसे शरीर से छूटना समझते हैं। जैनों का कठोर तप में विश्वास होता है, परन्तु बौद्ध इसे उचित नहीं मानते। अहिंसा के सिद्धान्त को दोनों ही ने अपनाया है, परन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जैनों की अहिंसा 'अति' की ऐसी सीमा लांघ चुकी है जिसका बौद्धों को कभी ध्यान तक नहीं हो सकता। जैनमत में बहुत से ब्राह्मण संस्कारों और प्रथाओं का तथा सरल जाति-व्यवस्था का समावेश हुआ है. परन्तु बौद्धों ने इन्हें आमूल अपने पास फटकने नहीं दिया। फिर हम देखते हैं कि जब कि बौद्धधर्म भारत में प्रायः लुप्तप्राय है, जैनमत का प्रचार यहाँ के लोगों में काफी है।

इतना होने पर भी बौद्ध एवं जैन मत अपने आदि हिन्दू धर्म से सर्वथा पृथक् नहीं हो सके। जैसा इस अध्याय के आरम्भ में कह आये हैं, बौद्ध तथा जैन मत हिन्दू धर्म की ही शाखायें हैं जो उसकी कुरीतियों के प्रतिवाद के लिए उसकी बुराइयों की निन्दा करते हुए परन्तु उसके मौलिक सिद्धान्तों को न छोड़ते हुए पल्लवित हुईं। इसका अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि कर्म और पुनर्जन्म का विधान, अहिंसा का सिद्धान्त, धार्मिक सहिष्णुता एवं जीवन की शुद्धता ये बातें तीनों धर्मों में समान महत्त्व रखती हैं।

भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण : विश्लेषण का एक प्रयत्न

भारत में बौद्ध धर्म के ह्रास के वास्तविक कारणों के सम्बन्ध में काफी भ्रान्ति फैली हुई है। कुछ विद्वानों ने भारत से उसके लुप्त होने में गुप्त सम्राटों के संरक्षण में होनेवाले ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान एवं बौद्धधर्म द्वारा राजाश्रय खो देने को कारण ठहराया है। परन्तु गुप्तों के समय में और उनके राजत्व के काफी समय बाद तक हम बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा पाते हैं जैसा कि फाहियान और युवान च्वाङ् के लेखों से प्रमाणित होता है। फिर एक सच्चे एवं शक्तिशाली धर्म के विलीन होने में राजाश्रय की क्षति ही कारण नहीं हो सकती। कुछ अन्य विद्वान् उसके ह्रास का कारण शङ्कराचार्य का बौद्ध-विरोधी धार्मिक आन्दोलन बतलाते हैं। यह भी ऐतिहासिक दृष्टि से सरासर गलत है, जिसकी मीमांसा आगे की जायगी। इन मतों के अतिरिक्त एक तीसरा मत उन लोगों का है जो भारत से उसके लुप्त होने का कारण मुसलमानों का आक्रमण और अत्याचार मानते हैं। यह मत गौण या सहायक कारण हो सकता है, किन्तु केवल इस एक कारण से ही भारत से बौद्धधर्म का लोप नहीं हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वास्तविक कारण बौद्ध संघ में उसके भारत में अस्तित्व की अन्तिम अवस्था में उत्पन्न हो गई क्षयशीलता एवं अत्यन्त शिथिलता थी। हाँ, यह भी एक संयोग की बात थी कि इसी समय इस देश में मुसलमानों का आक्रमण आरम्भ हो गया। पर इसीलिए यह कहना कि बौद्धधर्म के ह्रास का एकमात्र कारण मुसलमानों का अत्याचार था, ठीक नहीं—ब्राह्मण धर्म भी तो मुस्लिम विजेताओं के अत्याचार के वृत्त से बाहर न था; फिर वह कैसे बच गया और बौद्ध धर्म का ही विनाश हुआ। इसका कारण? वस्तुतः बात यह थी कि एक तो बौद्ध संघ की योजना में ही कुछ क्रमागत दोष था जैसा कि उसके भिक्षु-चर्या पर अत्यधिक जोर देने से ज्ञात होता है फिर ब्राह्मण धर्म की कुछ ऐसी बातों को ग्रहण कर जिनके विरोध में बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने आवाज उठाई थी बौद्ध धर्म में उत्तरोत्तर परिवर्तन होने लगा था। बौद्ध धर्म के इस निरन्तर क्षय को समझने के लिए जिसमें ऊपर निर्दिष्ट सहायक कारण सभी वर्तमान थे, यहाँ संक्षिप्त रूप में एक ऐतिहासिक समीक्षा कर डालना आवश्यक जान पड़ता है:

बौद्ध धर्म के परिवर्तन की पहली अवस्था वह थी जिसमें महायानियों की नवीन विचारधारा का उदय हुआ जिन्होंने बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा का आरम्भ किया और बोधिसत्वों को लेकर अनेक नये देवताओं की सृष्टि कर डाली जैसे अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि। सम्राट् कनिष्क के समय में बुद्ध की प्रतिमायें बनने लगीं और नये बोधिसत्वों की सृष्टि के पश्चात् उनकी मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित की जाने लगीं। उनकी पूजा का प्रचार बड़े जोरों से हुआ और उनके उपलक्ष में बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें अतुल धनराशि एवं आभूषण भर दिये गये। इसके बाद अन्य देवी, देवताओं का आविर्भाव हुआ। उनकी सृष्टि आरम्भ में बुद्ध तथा प्रधान बोधिसत्वों के विभिन्न लक्षणों या गुणों के प्रतीकों से हुई, परन्तु आगे चलकर प्रतीकात्मकता (Symbolism) विलीन हो गई और उसके स्थान में अलग-अलग देव, देवियाँ बन गईं। इस प्रकार महायान के आगमन से बौद्ध धर्म को एक नई धारा में बहना पड़ा जिसका लंगर मूर्त्ति-पूजा के किनारे लगा।

पाँचवीं शती ई० के बाद से उत्तरी भारत के विहारों में इन देवी-देवताओं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं जिनकी उपासना बौद्धों में प्रचलित थी। समय के साथ लोगों पर इन भव्य प्रतिमाओं और मन्दिरों का प्रभाव अधिकतर पड़ने लगा जिनके संरक्षक राजा एवं श्रेष्ठी लोग हुआ करते थे। परन्तु शीघ्र ही बहुत से लम्पट और निकम्मे व्यक्ति भिक्षु बनकर इन विहारों में घुस गये, क्योंकि जितनी सुविधा और प्रमोद का जीवन उन विहारों में बिताया जा रहा था वैसा बाहर दुर्लभ था। जब ऐसे अयोग्य आगन्तुकों की संख्या बढ़ गई और संघ के भीतर उनका बहुमत होने लगा वे विनय के नियमों में छूट देते जाने लगे और तरह-तरह के अनैतिक कर्मों में लिप्त रहने के लिए शास्त्रीय दृष्टांत ढूँढ़ने लगे। इसी अभिप्राय से उन्होंने कुछ तंत्र-विषयक पुस्तकें लिखीं जिनमें धीरे-धीरे ऐसी प्रथाओं का समावेश कर दिया जो बौद्ध आचार या कर्त्तव्यशास्त्र (Ethics) सर्वथा विपरीत थी। बौद्ध धर्म का वह स्वरूप जो महायान से उद्भूत हुआ था वज्रयान अथवा तन्त्र-यान कहलाया। वज्रयानियों के सामने महायानियों का उदाहरण वर्तमान था, उसके अनुसार उन्होंने अपने मत की पुष्टि में ग्रन्थ-रचना की। उनका प्रचार अपने अनुयायियों में वे गुप्त रूप से किया करते थे। उनका कहना था कि बुद्धदेव ने केवल एक धर्म की शिक्षा नहीं दी, बल्कि तीन धर्म उन्होंने दिये—सारनाथ में 'श्रावकयान', कुछ विशिष्ट साधकों के लिए राजगृह में 'महायान' तथा दक्षिण भारत में धान्यकटक नामक स्थान में अत्यन्त उच्च कोटि के साधकों के लिए 'वज्रयान'। वज्रयानियों की प्रगति को रोकना महायानियों के लिए वैसा ही कठिन था जैसा हीनयानियों के लिए महायान का प्रचार। इसके साथ ही यह भी बात थी कि वज्रयानी खुलकर अपने मत का प्रचार नहीं करते थे, उन्होंने बहुत-सी गुह्य-साधनाओं का समावेश अपने मत में किया था जिनमें रम्भा (रमणी) और वारुणी (मदिरा) का सेवन अत्यन्त आवश्यक था।

इधर बहुत-से लोग आकर्षित हुए। वज्रयानियों की यौगिक क्रियाओं के फल-स्वरूप प्राप्त सिद्धियों अथवा चमत्कारों का जादू लोगों पर चल जाना स्वाभाविक था। इन चमत्कारों की जो 'हिपनाटिज्म' (Hypnotism) के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसे थे गिनती 'अध्यात्मवाद' के रूप में की जाने लगी। इस प्रकार एक ओर तो बौद्ध धर्म के इस नए रंग ने जनता को अपने रंग में रंगना आरम्भ किया, किन्तु दूसरी ओर उसके द्वारा संघ का नैतिक विकास पतन की ओर जाने लगा।

नवीं शती ई० के आरम्भ होते-होते वज्रयान ने भारत में अपना सिक्का जमा लिया। उसका प्रचार इतना अधिक हुआ कि नालन्द के विहार जो अभी तक महायानियों के और विश्वविद्यालय की शिक्षा के केन्द्र माने जाते थे वज्रयान के सबसे बड़े अड्डे बन गये। उनके द्वारा गुह्य साधनाओं के प्रचार, सिद्धि-प्रदर्शन, झाड़-फूँक एवं मन्दिरों और विहारों में प्रतिष्ठित देव, देवियों की प्रतिमोपासना आदि ने शाक्यमुनि के द्वारा प्रवर्तित बौद्धधर्म को इस तरह एक नये साँचे में ढालने का प्रयत्न किया कि बारहवीं शती ई० के समाप्त होते होते प्राचीन धर्म का कुछ भी शेष नहीं रहा और उसके स्थान में रहस्यवाद (Mysticism) तथा तन्त्रयान का आवरण पड़ गया। इन रहस्यवादियों के जाल में पड़कर राजा और प्रजा ने मुक्त हस्त होकर विहारों को दान-स्वरूप नाना प्रकार की ऐश्वर्य-सामग्रियों, भूमि और सम्पति आदि से भरना आरम्भ किया। यह समझने लगे कि सिद्धों को प्रसन्न कर कोई भी कार्य करा लेना अत्यन्त सुगम है। राजाओं को सहसा उनके मंत्र-तंत्र में ऐसा दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया कि सेना पर रुपया न व्यय कर वे विहार को राजाश्रय प्रदान करने लगे और उनके तान्त्रिक स्थविरों से अपने राज्य की रक्षा के निमित्त यौगिक एवं सिद्धिसंपादिनी क्रियायें कराने लगे। इस प्रकार विहारों के पास इतना अधिक सोना, चाँदी रत्न आदि ऐश्वर्य एकत्र हो गया जितना कि राजकोषों में ढूँढ़ने से न मिलता। इसका कारण यही था कि शदियों से धनी गरीब प्रायः सभी उन्हें भरने के प्रयत्न में लगे हुए थे। ऐसी स्थिति में जब बौद्ध धर्म विलासिता के गर्त में जा पड़ा था तुर्कों ने देश पर आक्रमण कर दिया, और उन्हीं मन्दिरों और विहारों को ध्वस्त कर उनके चिह्न तक मिटा दिए जिनमें कहते हैं कि पवित्रता और सिद्धि बरसती रहती थी। देवी और देवताओं की मूर्तियाँ तोड़ डाली गईं, यद्यपि सिद्धि प्रदर्शन करनेवाले पुजारियों के यज्ञ, यागादि और मंत्र-तंत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चलते रहे; कुछ भी तो उनके काम न आया। इस तरह तेरहवीं श० ई० के आरम्भ में हम समस्त उत्तरी भारत को तुर्कों द्वारा पादाक्रान्त पाते हैं। पाल नरेश जिन्होंने विशेष रूप से सिद्ध भिक्षुओं की सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से उनके लिए ओदन्तपुरी का विहार बनवा दिया था जितना भरोसा उनकी सिद्धि एवं यौगिक क्रियाओं पर रखते थे उतना मुस्लिम आक्रमण से बचने के लिए अपनी वाहिनी पर नहीं। कोई आश्चर्य नहीं यदि इस स्थिति में मुहम्मद बिन बख्तियार के नेतृत्व में केवल दो सौ घुड़सवारों ने मिलकर एक साथ धावा बोलकर उनकी राजधानी पर अधिकार जमा लिया। बख्तियार ने नालन्द के सुप्रसिद्ध विहार को नष्ट किया। उसके भीतर अवस्थित तारा की प्रतिमा जो सिद्धि का भाण्डार समझी जाती थी खण्ड-खण्ड कर फेंक दी गई। नालन्द विश्वविद्यालय का विशाल पुस्तकालय जिसमें युवानच्वाङ् ने पाँच वर्ष तक अध्ययन किया था, जलाकर नष्ट कर दिया गया। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के महान् पुस्तकालय की भी यही दशा हुई। बहुत संभव था कि यदि विहारों और मन्दिरों के पास इतनी सम्पत्ति न रहती तो तुर्क कभी उन्हें नष्ट न करते, क्योंकि तुर्कों का प्रधान लक्ष्य उनकी सम्पत्ति पर अधिकार करना था। इस प्रकार यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरी भारत में जिस समय बौद्ध धर्म भीतर से बिलकुल खोखला हो रहा था, तुर्कों ने उस पर आक्रमण कर उसकी समूल सत्ता ही नष्ट कर दी।

यहाँ एक अन्य भ्रान्ति का जिसका प्रचार कम नहीं है निराकरण आवश्यक जान पड़ता है। इस भ्रान्ति के अनुसार भारतवर्ष में बौद्धधर्म श्रीमत्शङ्कराचार्य ने अपने देशव्यापी दिग्विजय द्वारा जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया। उन्होंने न केवल अपने व्यापक ज्ञान और तर्क के सहारे बौद्ध पण्डितों को शास्त्रार्थ में हराया बल्कि अपने अनुयायियों में बौद्धधर्म के प्रति ऐसी तीव्र घृणा उत्पन्न कर दी जिससे प्रेरित होकर उन्होंने उसे मिटाने के लिए हिंसा का प्रश्रय लिया। यह भी कितनी बेढंगी और ब्राह्मण धर्म के महान् पुनरुद्धार-कर्त्ता एवं अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक के ऊपर गहरा लाञ्छन लगानेवाली मिथ्या कल्पना है। ब्राह्मण और बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के अध्ययन से तथा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुरातत्त्व-विषयक खोजों से इस मिथ्या कल्पना का प्रतिवाद हो जाता है। शङ्कराचार्य का काल लगभग आठवीं श० ई० माना जाता है। उनके सुविख्यात समकालीन शान्तरक्षित ने जहाँ अपने सामयिक तथा पूर्ववर्ती विद्वानों की भी दार्शनिक धारणाओं की अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्व-संग्रह'' में आलोचना की है शङ्कराचार्य के विषय में कुछ भी नहीं कहा। इससे पता चलता है कि शङ्क उस समय तक प्रसिद्ध नहीं हो पाये थे और बौद्धधर्म के प्रति उनका धर्म युर इतना तुच्छ था कि उनके सामयिक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित न कर सका। ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय विचारकों में शङ्कर को इतना ऊँचा उठा देने में वाचस्पति का हाथ था जिन्होंने शङ्कर के सिद्धान्तों को विद्वत्तापूर्ण व्याख्याओं और दार्शनिक प्रतिपत्तियों द्वारा एक शताब्दी बाद फैलाना आरम्भ किया। फिर भी वाचस्पति की टीकाओं में ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती जो बौद्ध के लिए आक्षेपजनक हो। शंकर एक आदर्श हिन्दू थे जो बौद्धधर्म क्या किसी भी धर्म के विरुद्ध हिंसा या असहिष्णुता अथवा घृणा का उपदेश दे ही नहीं सकते थे। आनन्दगिरि और माधवाचार्य के ग्रन्थों में धार्मिक दिग्विजय के विस्तृत वर्णन यथार्थ इसलिए नहीं जान पड़ते कि बौद्धों के विरुद्ध किये गये शंकर के धार्मिक युद्धों का बौद्ध लेखों में, पालि, चीनी या तिब्बती भाषाओं में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। यदि वैसी कोई बातें हुई होतीं तो कहीं तो इन लेखों में उल्लेख होता। उनके दक्षिण भारत के दिग्विजय का कोई पता सिंहली गाथाओं से भी नहीं चलता; दीपवंश और महावंश में अनेक स्थलों में बौद्ध धर्म पर किये गये तामिल नरेशों के नृशंस काण्डों का वर्णन है परन्तु शङ्कर के दिग्विजय के बारे में प्रकाश की एक भी किरण नहीं है।

सच तो यह है जैसा कि युवानच्वाङ् और इत्सिङ्ग के लेखों से प्रमाणित होता है कि बौद्धधर्म के सातवीं शती ई० के अन्त तक अच्छे दिन थे। आगे चलकर बारहवीं शती तक हम बौद्धधर्म को कम से कम ऊपर से बंगाल और बिहार के पाल नरेशों के राजाश्रय में शक्ति सम्पन्न पाते हैं, यद्यपि उसकी जड़ें वज्रयान द्वारा खोखली होती जा रही थीं। दशवीं शती में बौद्धों ने बहुत से

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नये और बड़े विहार जैसे विक्रमशिला का (देवपाल द्वारा स्थापित) स्थापित किये। इसी पाल-युग में अनेक भारतीय शिक्षक तिब्बत गये। वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध धर्म का संगठन किया और सहस्रों बौद्ध कृतियों का तिब्बती भाषा में अनुवाद कर डाला जो आज भी सुरक्षित पाये जाते हैं। इस युग में अनेक तिब्बती बौद्ध भिक्षु विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भारतीय मठों में आकर रहने लगे। इन सब लेखों में कहीं भी शंकर के दिग्विजय का वर्णन नहीं पाया जाता।

पालवंशी नरेशों के राज्य के उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में कान्यकुब्ज के अधिपति जिनका अधिकार-क्षेत्र यमुना और गण्डक के बीच के विस्तृत मैदानों में फैला हुआ था बौद्ध धर्म का आदर करते थे, यद्यपि वे स्वयं ब्राह्मण धर्म के मतावलम्बी थे ऐसा मानने के लिए हमारे पास उनके बौद्ध विहारों को दिये गये बहुमूल्य दानों के लेख हैं। सम्राट् गोविन्दचन्द्र द्वारा जेतवन विहार को दिये गये पाँच गाँवों के दान का पता उसके ताम्र-पत्रों से चलता है। गोविन्दचन्द्र की राजमहिषी कुमार देवी के बनवाये हुए सारनाथ के विहार के चिह्न ध्वन्सावशेषों के बीच सहज ही ढूँढ़े जा सकते हैं। उसका प्रपौत्र जयचन्द्र भी बौद्धधर्म का प्रशंसक था। गया से प्राप्त एक प्राचीन लेख में यह राजा बारहवीं शती के एक प्रसिद्ध बौद्ध साधु मित्रयोगी का शिष्य कहा गया है। इस प्रकार हम बारहवीं शती तक बौद्धधर्म का उत्तरी भारत में प्रचार पाते हैं। बौद्धधर्म के दक्षिण भारत में अस्तित्व के पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाण भी मिलते हैं।

नवीं और दसवीं शतियों के बौद्ध चिह्नों का पता महोबा, इलौरा, नासिक तथा दक्षिण के दूसरे स्थानों से लगा है। निर्माणोन्मुख बौद्ध गुहा-मन्दिर औरङ्गाबाद तथा अन्य स्थानों में पाये गये हैं। शङ्कर के ही आदि-प्रान्त केरल से आगे चलकर "मञ्जुश्रीमूलकल्प" की पाण्डुलिपि मिली थी और इससे अनुमान होता है कि जब स्वयं शंकर के जन्म-स्थान में उनके कई शताब्दी बाद तक बौद्ध धर्म का अस्तित्व था तो दूसरे प्रदेशों में क्या दशा रही होगी। इन नकारात्मक या सकारात्मक प्रमाणों के आधार पर हम शंकर द्वारा भारत में बौद्ध धर्म के विनाश की कहानी को युक्तिसंगत मानने में असमर्थ हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सारांश यह है कि बौद्ध धर्म के लुप्त होने का प्रधान कारण वज्रयान का प्रचार था जिसने सारी नैतिक शक्ति को विच्छिन्न कर उसकी सार-सत्ता को ही नष्ट कर डालने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही एक गौण अथवा सहायक कारण तुर्कों का आक्रमण था जिसका प्रहार सह सकना नैतिक एवं आचार की दृष्टि से अत्यन्त शिथिल और जर्जर बौद्ध धर्म के विशाल प्राकार के लिए संभव न था। यह ठीक है कि तुर्कों ने ब्राह्मणों के मन्दिर भी ध्वस्त करने से न छोड़े और ब्राह्मण धर्म के कुछ अनुयायियों में तांत्रिक क्रियाओं का प्रचार था, परन्तु ब्राह्मण उपदेशकों ने अपनी शिक्षाओं को नैतिकता और आचार की शृंखला में जकड़कर और सदाचार को प्रधानता देकर जनता में विशेष आदर और श्रद्धा का अर्जन किया। यही कारण ब्राह्मण मन्दिरों के समय-समय पर पुनरुद्धार किये जाने का है जब कि एक बार ध्वस्त हो जाने पर बौद्ध मन्दिरों और बिहारों का पुनरुद्धार प्रायः असंभव था। उदाहरण के लिए बनारस का विश्वनाथ का सुप्रसिद्ध मन्दिर कई बार नष्ट किया गया पर हर बार उसका पुनरुद्धार होता गया। सर्वप्रथम उसे भग्न करनेवाले तुर्क थे जिन्होंने उसके स्थान में एक मस्जिद खड़ी की जो आज भी वहाँ वर्तमान है। शिवरात्रि के दिन तो यहाँ दर्शनार्थियों की भीड़ लग जाया करती है जो मस्जिद के प्रांगण में अवस्थित एक पत्थर के स्तम्भ को शिवलिंग मानकर श्रद्धा के फूल और जल देने के लिए इकट्ठे होते हैं। तुर्कों द्वारा भग्न किये जाने पर ब्राह्मणों ने आदिविश्वेश्वर (आदि विश्वनाथ) नामक स्थान पर एक दूसरा विश्वनाथ का मंदिर बनाया। पर वह भी ध्वस्त कर दिया गया। एक तीसरा मंदिर ज्ञानवापी में प्रतिष्ठित हुआ जिसे सत्रहवीं शती में औरङ्गजेब ने भग्न किया। फिर भी ब्राह्मणों ने एक दूसरा मंदिर, जो वर्तमान विश्वनाथ मंदिर है, खड़ा कर लिया। इस मंदिर को देखकर ब्राह्मणों के उत्साह और लगन का अनुमान होता है जिन्होंने धन इकट्ठा कर विशाल मन्दिरों का निर्माण किया। परन्तु यदि हम बौद्ध इमारतों से ध्वन्सावशेषों को देखें तो ग्यारहवीं शती में राजमहिषी कुमार देवी द्वारा बनवाये गये अन्तिम बिहार के बाद और किसी विहार का पता नहीं चलता और उसके भी ध्वस्त होने पर जीर्णोद्धार का कोई प्रयत्न किसी भी समय नहीं हुआ, अब जाकर उसे पुरा-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्त्व विभाग ने सुरक्षित किया है। यही बात हम नालन्द, जेतवन तथा अन्यान्य मज्झिम देस के बौद्ध स्थानों के विषय में पाते हैं। उनसे साफ़ पता चलता है कि एक बार बौद्ध विहारों के नष्ट होने पर बौद्ध भिक्षुकों में उन्हें फिर से खड़ा करने की क्षमता न थी। ऐसा क्यों? कहना न होगा कि बौद्ध भिक्षु जो सम्पूर्ण बौद्ध संगठन के स्तम्भ थे सदाचार तथा अन्य प्रशंसनीय गुणों से वञ्चित समझे जाने लगे थे। यदि उनका सम्मान होता था तो केवल इसलिए कि तांत्रिक क्रियाओं और मंत्र-तंत्र आदि से उनमें अलौकिक सिद्धियों का सञ्चार माना जाता था; परन्तु जब उनकी सिद्धियाँ तुर्कों के आक्रमण से छूमन्तर हो गईं उनके पैर तले सारी प्रतिष्ठा और शक्ति की भूमि खिसक गई और उनके पाप-कर्म लोगों के सामने नग्न रूप से दिखाई देने लगे। ऐसी दशा में जनता उनके मन्दिरों के जीर्णोद्धार में किस तरह योग-दान कर सकती थी। इसके अतिरिक्त अपनी विशिष्ट प्रकार की वेश-भूषा तथा नगरों और कस्बों के बाहर एकान्त आवास होने के कारण आक्रान्ताओं द्वारा वे सहज पहचाने जा सकते थे। इन दो कारणों से उन्हें भारत छोड़कर नेपाल और तिब्बत जैसे सुरक्षित सीमावर्ती देशों का आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार बौद्ध विहारों और मन्दिरों के ह्रास एवं शास्ता बौद्ध भिक्षुओं के अभाव के कारण बौद्ध अनाथ हो गये। वस्तुतः उनका संगठन ही एक ऐसे आधार पर हुआ था जिसमें सञ्चालकों के अभाव में उनका निराधार होना निश्चित था। दो ही एक शताब्दि के भीतर उनमें से कुछ जिनके सम्बन्धी और सजातीय ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे अपने धर्म में वापस चले आये, दूसरे जो नीच समझे जाते थे अथवा सामाजिक अत्याचार के लक्ष्य बन रहे थे इस्लाम की ओर लपके। इस तरह चौदहवीं शती में किसी समय मध्य देश से बौद्ध धर्म का लोप हुआ। कुछ अन्य स्थानों में कुछ ही वर्ष तक यह और चल सका; पर जब रीढ़ ही टूट गई तो उसके लिए खड़ा रह सकना असंभव हो गया और इस प्रकार बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से सर्वथा लुप्त हो गया।[१]

---

१ जर्नल ऑव दि महाबोधि सोसाइटी, दिसम्बर, १९३२, मार्च, १९३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान

इधर जाकर सिंहल के स्वर्गीय देवमित्र धर्मपाल द्वारा स्थापित भारत की महाबोधि सोसाइटी के निरन्तर अध्यवसायपूर्ण कार्यों द्वारा भारत में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान का सच्चा प्रयत्न हो सका है। सारनाथ के मूलगन्धकुटी विहार का पुनरुद्धार एक भव्य एवं कलापूर्ण मन्दिर के निर्माण से हुआ है। इसके साथ ही बौद्ध भिक्षुओं और यात्रियों के लिए धर्मशाला और विहार, एक अस्पताल, एक स्कूल और एक पुस्तकालय की इमारतें बनाई गई हैं। सारनाथ जहाँ भगवान् बुद्ध ने 'धर्म-चक्र' का प्रवर्त्तन किया था और जहाँ उसकी स्मृति में अशोक ने एक विहार तथा स्तम्भ-लेख आरोपित किये थे अनेक शताब्दियों के बाद आज फिर भारत में बौद्ध संगठन के केन्द्र के रूप में जागृति के चिन्हों से आन्दोलित हो रहा है। कुशीनगर, श्रावस्ती और कलकत्ता में नये विहार स्थापित किये गये हैं। बोध गया में महाबोध मन्दिर के निकट एक बौद्ध धर्मशाला बन गई है। महाबोधि सोसाइटी की शाखायें भारत के विभिन्न नगरों और स्थानों में स्थापित की गई हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाँचवा अध्याय

उत्तर भारत : छठवीं शती ई० पू० से लेकर चौथी शती ई० पू० तक

१

राजनीतिक अवस्था

मौर्य-पूर्व के जनपद

भारत के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में ईसा पूर्व छठवीं शती से विशद ज्ञान प्राप्त होने लगता है। बौद्ध और जैन कृतियों तथा ब्राह्मण साहित्य-पुराण आदि से इस इतिहास के विधान में काफी साम्ययुक्त और आधारसम्पन्न प्रमाण मिल जाते हैं।

षोडश महाजनपद

भारत की छठवीं शती ई० पू० की राजनीतिक दशा में सबसे अधिक ध्यान देने की बात केन्द्रीय शक्ति का अभाव है। उस समय गन्धार (वर्तमान कश्मीर एवं तक्षशिला) से लेकर बंगाल की सीमा तक सम्पूर्ण उत्तर भारत प्रायः सोलह प्रधान जनपदों में विभक्त था। बौद्ध त्रिपिटक के "अङ्गुत्तर निकाय" में ये षोडश महाजनपद इस प्रकार दिये गये हैं :—

(१) काशी
(२) कोशल[1]
(३) अङ्ग[2]
(४) मगध[3]
(५) वज्जि[4]

---

१ इसमें आजकल के अवध का अधिकांश आता है। २ मगध के अन्तर्गत यह एक छोटा-सा राज्य था जो वर्तमान भागलपुर हो सकता है। ३ इसमें आजकल के पटना और गया जिले आते हैं। ४ यह कई जातियों का एक राष्ट्र-संघ था जिन्होंने वैशाली अपनी राजधानी बनाई थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(६) मल्ल[५]
(७) चेदि[६]
(८) वंस (वंश या वत्स)[७]
(९) कुरु[८]
(१०) पञ्चाल[९]
(११) मच्छ (मत्स्य)[१०]
(१२) शूरसेन[११]
(१३) अस्सक[१२]
(१४) अवन्ती[१३]
(१५) गन्धार[१४]
(१६) कम्बोज[१५]

ईसा-पूर्व छठवीं शताब्दी में इन जनपदों में से अधिकांश ने अपना पहले का गौरव खो दिया था और कुछ तब तक उतने भी गौरवशाली नहीं बन पाये थे जितने कि वे बाद में हुए। इनमें पहली श्रेणी में कुरु और पञ्चाल

---

५ दो सजात प्रजातन्त्रों का प्रदेश जिनकी राजधानियाँ क्रमशः कुशीनारा (आधुनिक कसया जो देवरिया जिले में है) तथा पावा (आधुनिक पड़रौना, कसया से १२ मील उत्तर) थीं। ६ आधुनिक बुन्देलखण्ड। ७ वत्स या वंस राज्य की राज्यधानी कोसम, इलाहाबाद से ३८ मील की दूरी पर अवस्थित एक गाँव निर्धारित हुई है। इसके निर्णय के प्रमाणों के लिए ग्रन्थकार द्वारा लिखित 'अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी', पृ० ८३—९६ देखिए। ८ इसके अन्तर्गत वर्तमान दिल्ली के प्रान्त तथा मेरठ के जिले को ले सकते हैं। ९ इसमें आजकल का रुहेलखण्ड का प्रदेश सम्मिलित है। १० आधुनिक जयपुर रियासत। ११ इस प्रदेश की राजधानी मथुरा थी। १२ अवन्ती का एक समीपवर्ती राज्य। १३ आधुनिक मालवा प्रान्त इसके अन्तर्गत आता है। १४ इसके अन्तर्गत वर्तमान कश्मीर और तक्षशिला के प्रदेश रहे होंगे। १५ यह जनपद गन्धार के ठीक पास उत्तर में अवस्थित था जिसे युवानच्वाङ् द्वारा उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में वर्णित राजपुर माना गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जो उत्तर वैदिक युग में उत्तर भारत के प्रधान शक्ति के केन्द्र समझे जाते थे अब एक गौण स्थान रखने लगते हैं। विदेह के साम्राज्य की चर्चा जो अभी एक ही शताब्दी पहले राजनीतिक महानता और सांस्कृतिक व्यापारों का केन्द्र था, अब नहीं सुनाई देती। वह साम्राज्य अपने अन्तिम सम्राट् कराल जनक[1] के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध साम्राज्य के भीतर उठ खड़े हुए एक सशस्त्र जन-विद्रोह का लक्ष्य बनकर ढह गया और उसके ध्वंसावशेषों पर तीन प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हुए। काशी के राज्य को जिसने अपनी गरिमा उत्तर भारत में छठीं शती ई० पू० के आरम्भ तक अक्षुण्ण रखी थी क्रमशः कोशल और मगध की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्तियों के आगे झुकना पड़ा।

वज्जिय राष्ट्रसंघ के प्रजातंत्र राज्यों एवं पावा और कुशीनारा के मल्लों के सजात गणतंत्रों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों से अन्य कई छोटे-छोटे गण-राज्यों का पता चलता है, जैसे कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, सुम्सुमार गिरि के भग्ग, अल्लकप्प के बुली तथा पिप्पलिवन के मोरिय। ये सभी क्षत्रिय जातियाँ थीं और इन्होंने कुशीनारा में बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनकी अस्थि का मगध और वैशाली के प्रतिनिधियों के साथ समान भाग पाने का दावा कर अस्थि-विभाजन में अपने अंश लिये थे।[2]

परन्तु उपर्युक्त षोडश जनपदों में सबसे प्रसिद्ध कोशल, मगध, वज्जि, मल्ल, वंस एवं अवन्ती के राज्य थे। बौद्ध साहित्य में इन राज्यों का प्रायः उल्लेख पाया जाता है जहाँ उनके पारस्परिक संघर्षों अथवा बुद्ध के साथ प्रत्यक्ष एवं निकट सम्बन्धों का निर्देश मिलता है। बुद्ध इनके नगरों में अनेक बार गये थे और उनके राजा तथा प्रजा दोनों को नये धर्म में दीक्षित करने में सफल हुए थे।

---

१ मज्झिम निकाय, मखादेवसुत्त (२.८२); निमि जातक; बुद्धचरित (४, ८०); अर्थशास्त्र।

२ दीघ निकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोशल

कोशल जिसे स्थूल रूप से वर्त्तमान अवध का प्रदेश समझा जा सकता है अपने सम्राट् महाकोशल के समय में जिसका राजत्व काल ईसा पूर्व छठवीं शती का आरम्भ है एक प्रमुख स्थान रखता था। उसके समय में काशी की गिनती कोशल के सामन्त राज्यों में थी, क्योंकि स्पष्टतः काशी उसके पूर्ववर्ती राजाओं द्वारा जीत ली गई थी। महाकोशल ने मगध के सम्राट् बिम्बिसार को विवाह में अपनी पुत्री कोशल देवी को देते समय काशी का एक गाँव उसके लिए दहेज में दिया था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी प्रसेनजित् बुद्ध का समकालीन और अनन्य प्रशंसक था, यहाँ तक कि बुद्ध ने उसे प्रजा समेत अपने नये धर्म में दीक्षित कर लिया था। "संयुक्त निकाय" में प्रसेनजित् को पाँच राजाओं के एक मण्डल का प्रधान कहा गया है। इससे उत्तर भारत में मगध के उदय और प्रधानता के पूर्व कोशल की सर्वप्रधानता सिद्ध होती है।

वज्जि

डा० रीज़ डेविड (Dr. T. W. Rhys Davids) का कथन है कि वज्जियों में आठ संयुक्त राजवंशों का समावेश था जिनमें लिच्छवियों और वैदेहों की प्रधानता थी।[1] विदेह किसी समय एक साम्राज्य था जो अपने दार्शनिक सम्राट् राजर्षि जनक के समय अत्यन्त शक्तिशाली और सुप्रसिद्ध हो गया था। उसके समय में राजधानी मिथिला उत्तर भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र बन रही थी। विदेह का अन्तिम सम्राट् जो जनक की सीधी वंश परम्परा में भी था कलार[2] अपने राज्य और सम्बन्धियों के साथ अपने पाप-कर्म के कारण विनाश को प्राप्त हुआ। उसने एक ब्राह्मण कुमारी का सतीत्व नष्ट करना चाहा था जैसा कि रोम के अन्तिम शासक सुपर्बस तारक्वीनियस (Superbus Tarquinius) के बारे में हम पढ़ते हैं जो एक ऐसे ही अपराध के कारण अपने राज्य से निर्वासित कर दिया गया था। विदेह के राज्य के ध्वंस पर वैदेहों और लिच्छवियों के दो महान् प्रजा-

---

१ बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २५।

२ महाभारत के अनुसार इसे 'कराल' पढ़ना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तंत्रों और छः अन्य गण राज्यों का उदय हुआ। विदेह प्रजातंत्र की राजधानी मिथिला मानी गई जिसे विद्वानों ने आजकल का जनकपुर निश्चित किया है। डा० रिज़ डेविड के अनुसार 'इस नगर के नाम में ही अतीत के सुप्रसिद्ध राजपूत अध्येता और दार्शनिक राजर्षि जनक की स्मृति विद्यमान है।'

लिच्छवि

वैदेहों से अधिक शक्तिशाली और वस्तुतः वज्जिय राष्ट्र-संघ के सभी प्रजातंत्र राजवंशों में सर्वशक्तिमान लिच्छवियों का कुल था। वे यहाँ के मूल क्षत्रियों के वंशज[1] थे, कोई विदेशी जाति के नहीं जिसे हिन्दू बना लिया गया हो जैसा संभवतः डा० विन्सेण्ट स्मिथ मानते हैं।[2] वे एक युद्ध-प्रिय और स्वातन्त्र्य प्रेमी राष्ट्र थे। अतएव यह स्पष्ट है कि उनका विदेह राजतंत्र को समाप्त करनेवाले राजविद्रोह में प्रधान हाथ था जिसके स्थान में उन्होंने प्रजातंत्र राष्ट्र-संघ का निर्माण किया जैसा कि इस बात से ज्ञात होता है कि उनकी वैशाली नगरी केवल उन्हीं के राजकुल की राजधानी नहीं थी, बल्कि वह सम्पूर्ण वज्जिय राष्ट्र-संघ की राजधानी थी। बौद्ध ग्रन्थों में उनकी युद्धप्रियता के संकेत भरे पड़े हैं। यहाँ तक कि बिम्बिसार जैसे शासक के समय में वे गंगा को पारकर उसके साम्राज्य पर धावे बोलते थे। बिम्बिसार ने वैशाली की एक राजकुमारी छेलना के साथ विवाह कर उनके साथ मैत्री स्थापित की थी। सम्राट् अजातशत्रु भी जो अपने पड़ोसियों में साक्षात् काल समझा जाता था लिच्छवियों से आत्रस्त रहता था, यहाँ तक कि उनके धावे रोकने के लिए गंगा और सोन के संगम पर पाटलि नामक गाँव के स्थल पर उसने एक सुदृढ़ दुर्ग बनवाया। आगे चलकर यही स्थान पाटलिपुत्र के सुप्रसिद्ध नगर एवं प्रतापी मगध साम्राज्य की राजधानी के रूप में लगभग एक हजार वर्ष तक प्रतिष्ठित रहा। अपने उत्पाती पड़ोसी लिच्छवियों को उत्क्षिप्त करने का संकल्प कर अजातशत्रु ने एक वञ्चनामय युक्ति से काम लिया। उसने अपने प्रधान अमात्य वस्सकार को वैशाली इसलिए भेज दिया कि वह वहाँ जाकर लिच्छवियों

---

१ दीघ-निकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त।

२ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १९०३, पृ० २३३; १९०८, पृ० ७३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में परस्पर फूट और संघर्ष उत्पन्न कर ग्रह-युद्ध करा दे। वस्सकार को अपने उद्देश्य में इस तरह सफलता हुई कि अजातशत्रु के लिए उनकी स्वतंत्रता का अपहरण करना तथा उसके साथ अल्प विरोध के साथ वज्जिय राष्ट्र-संघ की शृंखला को तोड़ सकना अत्यन्त सुगम हो गया।[१]

लिच्छवियों का एक अत्यन्त सम्भ्रान्त कुल का प्रजातंत्र था जिसकी राज-शक्ति नागरिकों द्वारा निर्वाचित सभासदों के हाथ में थी। राज-कार्य चलाने वाले 'वृद्ध' हुआ करते थे जिनमें से प्रत्येक 'राजा' कहलाता था। इस कारण वैशाली अथवा अन्य सम्भ्रान्त प्रजातन्त्रों के जिनकी कुछ संख्या तो उस समय मध्य एवं उत्तर भारत में थी ही, 'राजा' से तात्पर्य एक निरंकुश शासक नहीं बल्कि राज्य का एक शासक अथवा सदस्य होता था। ये राजा निर्वाचित किए जाते थे अथवा कुल के भीतर विविध कुटुम्बों के पितृ-क्रमानुगत स्वामी या नायक राजा माने जाते थे इसे निश्चित करने के लिए हमारे पास साधन का अभाव है। एक जातक के अनुसार वैशाली में ७७०७ राजा थे जिनके द्वारा राज्य-शासन होता था।[२] यदि संख्या ठीक हो तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि लिच्छवि कुल उतने ही हजारों कुटुम्बों से मिलकर बना था। हम कल्पना कर सकते हैं कि सभा या परिषद् राज प्रतिनिधियों को सम्भ्रान्त कुटुम्बों के प्रमुख व्यक्तियों में से जिनमें से प्रत्येक की उपाधि 'राजा' थी निर्वाचित कर लिया करते थे। लिच्छवियों का कोशल और मल्लों दोनों के साथ मित्रता का सम्बन्ध था।[३]

उनके लोक-भवनों में नगर में एक अत्यन्त आयत कमरा होता था जिसे 'संथागार' या सभा-भवन का कमरा कहते थे जहाँ बैठकर लिच्छवि राजा राज-कार्य देखते थे। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली का जैन तथा बौद्ध दोनों धर्मों के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध था। जैन-धर्म के प्रवर्त्तक महावीर की माता त्रिशला देवी

वैशाली

---

१ दीघ-निकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त।

२ एकपण्ण जातक, ला, 'सम क्षत्रिय ट्राइब्स ऑव एंश्येण्ट इण्डिया', पृ० ९६।

३ वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिच्छवि राजकन्या थीं, उनके पिता छेटक वैशाली के राजा थे। महावीर का जन्म-स्थान कुण्डग्राम था जो वैशाली नगर का ही एक बाहरी उद्यान था। इसी प्रकार लिच्छवि भगवान् बुद्ध के भी परम अनुयायी थे जो बराबर इनकी आध्यात्मिक मर्यादा एवं पारस्परिक सद्भावना की प्रशंसा किया करते थे। बुद्ध का अनेक बार वैशाली में आगमन हुआ था और अपने महापरिनिर्वाण के पूर्व अन्तिम बार इस नगर में आने पर वैशाली तथा उसके बाहरी नगरों स्थानों में जैसे कुण्डग्राम, हस्तिग्राम इत्यादि उन्होंने काफी समय बिताया था। वैशाली से अन्तिम बार विदा लेते समय भगवान बुद्ध ने करुण स्वर में आनन्द से कहा था –"आनन्द, इसके अनन्तर तथागत को वैशाली के दर्शन न हो सकेंगे।"[1]

द्वितीय बौद्ध संगीति का स्थल

पालि ग्रन्थों में वैशाली का एक अत्यन्त समृद्ध एवं वैभवशाली नगर के रूप में वर्णन हुआ है जिसमें क्रेता-विक्रेता तथा दर्शकों की भीड़ लगी रहा करती थी, सामग्रियों का बाहुल्य था; हजारों सत-मंजिले भवनों और संख्यातीत विहार-स्थलों एवं पंकज-सरोवरों से नगर की शोभा बढ़ रही थी। पालि-ग्रन्थों में नगर के विस्तार का भी संकेत है। "एकपण्ण जातक" की प्रस्तावना में नगर के तीन ओर से प्राचीरों द्वारा घिरे होने का वर्णन है जिनमें से प्रत्येक प्राचीर एक दूसरे से एक लीग[2] के अन्तर पर अवस्थित था और नगर के तीन प्रवेश-द्वार प्रहरियों के लिए बुर्जों से संयुक्त बने हुए थे। वैशाली को बौद्ध भिक्षु-संघ का द्वितीय संगीति-स्थल होने का गौरव मिला था। यह नगर बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ निश्चित हुआ है।

मल्ल

मल्लों का प्रदेश छठवीं शती ई० पू० का दूसरा प्रजातंत्र राज्य था जिसके दो भाग थे। एक भाग की राजधानी कुशीनारा और दूसरे की पावा थी। मल्ल राज्य की प्रतिष्ठा इतनी इसीलिए है कि अपने महापरिनिर्वाण के ठीक पूर्व

---

१ दीघ-निकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त।

२ १ लीग लगभग ३½ मील के बराबर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भगवान बुद्ध ने जिन दो नगरों को अपने चरण-रज से पवित्र किया था वे पावा और कुशीनारा थे। इनमें से पहले स्थान में वे अपना अन्तिम आहार ग्रहण कर बीमार पड़े थे। दूसरे स्थान में उनका शरीर-पात हुआ। कुशीनारा के सम्बन्ध में यह ठीक तरह से निश्चित हो चुका है कि वह देवरिया जिले (युक्तप्रान्त) का वर्त्तमान कसया है और इसी प्रकार पावा कसया से बारह मील उत्तर पड़रौना नामक स्थान है। मल्ल प्रजातंत्र के सदस्य बुद्ध के बड़े भक्त एवं वीर तथा युद्ध-प्रिय थे। इस बात के साक्षी बौद्ध और जैन पुस्तकों के अनेक सन्दर्भ हैं।

वत्स

वंस अथवा वत्स देश में एक शक्तिशाली एकतंत्र शासन था। उसकी राजधानी कौशाम्बी थी जो निस्सन्देह इलाहाबाद से ३८ मील दक्षिण-पश्चिम में वर्तमान कोसम नामक गाँव को किसी समय अपने में परिवृत करती थी। उसकी गणना अपने समय के छः बड़े नगरों में की जाती थी और वह वाणिज्य-व्यापार का एक अच्छा केन्द्र था। यमुना के किनारे स्थित कौशाम्बी का समृद्ध एवं व्यापारिक नगरों में तक्षशिला, श्रावस्ती, वाराणसी, राजगृह और वैशाली से कम महत्त्व न था, उसमें लक्षाधिपति से लेकर साधारण कोटि के सेट्ठी और मध्यम श्रेणी के लोग निवास करते थे। 'सुत्तनिपात' में माल और दक्षिण पश्चिम से आदान-प्रदान रखनेवाले यात्रियों का सबसे प्रमुख केन्द्र कौशाम्बी को माना है।[१]

छठवीं शती ई० पू० में कौशाम्बी पर शासन करनेवाले राजा का नाम उदयन था। उदयन को बौद्ध कृतियों में एक युद्ध-प्रिय और शक्तिशाली सम्राट् कहा गया है। वस्तुतः अपने पड़ोसी राज्यों के साथ उसके सम्बन्ध किसी प्रकार शान्तिपूर्ण नहीं थे। दो शक्तिशाली पड़ोसी राष्ट्रों—पूर्व में मगध और पश्चिम में अवन्ती के बीच पिसे हुए से रहने के कारण तथा अपनी राजधानी कौशाम्बी द्वारा मध्य-देश के सभी स्थल और जल-मार्गों का नियंत्रण रखने के कारण उदयन के राज्य को अजातशत्रु और अवन्तीधिप पज्जोट दोनों सतृष्ण नेत्रों से देखते थे। मागध सम्राट् अजातशत्रु ने अपना राज्यविस्तार पश्चिम में काशी

---

१ विनय के ग्रन्थ, द्वितीय भाग, SBE, पृ० १७१।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तक कर रखा था जो उदयन के राज्य की पूर्वी सीमा से स्पर्श करता था। उदयन को यह सीमा मगध के नरेश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थपित करने के कारण प्राप्त हुई थी। सम्राट् पज्जोट (प्रद्योत) का भी उसके राज्य पर आक्रमण हुआ था, परन्तु असफल होने पर सन्धिस्वरूप वत्सराज उदयन के साथ अपनी राजकन्या का विवाह करना पड़ा था। वंस की राजनीतिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए जो अवन्ती और मगध के बीच मध्यस्थ राज्य था ये दोनों ही राजकीय विवाह अत्यन्त आवश्यक थे। डा० ला (Dr. B. C. Law) का कथन है कि 'यदि उदयन ने यह सम्बन्ध न स्थापित किये होते तो मगध और अवन्ती की बढ़ती हुई शक्ति के सम्मुख कौशाम्बी कभी कुचल दी गई होती [१]।' उदयन को अपनी संक्रामक परिस्थितियों का इतना अधिक ज्ञान था कि उसकी सेना अभियान के लिए बराबर प्रस्तुत रहा करती थी और उसकी सीमायें दुर्गों के द्वारा काफी सुरक्षित बना ली गई थीं। उसकी सशस्त्र सेना में हाथी काफी अधिक संख्या में थे! वह अत्यन्त आखेट-प्रिय था, उसने एक बड़े जंगल को रक्षकों के सिपुर्द किया था और बनैले पशुओं आदि के प्रति सतर्क रहने के लिए जंगल के रखवाले नियत किये थे[२]।

उदयन पहले तो बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था और उसने अपने राज्य के बौद्धों पर अत्याचार किए थे। पर आगे चलकर बुद्ध के कौशाम्बी आगमन तथा उनके उपदेशों के फल-स्वरूप जिसे सम्राट् ने सुना उदयन उनका शिष्य बन गया और उसने बौद्ध धर्म को अपना राजधर्म घोषित कर दिया। उदयन के बाद कई शताब्दियों तक कौशाम्बी बौद्ध धर्म के प्रचार का एक अच्छा केन्द्र रहा। वहाँ के सुप्रसिद्ध विहार के ध्वन्सावशेष और वसुबन्धु तथा असङ्ग के गृहों के चिह्न सातवीं शताब्दी में कौशाम्बी का निरीक्षण करनेवाले चीनी यात्री युवानच्वाङ् द्वारा देखे गये थे। अशोक ने वहाँ दो स्तम्भ खड़े किये थे जिनमें से एक तो उत्कीर्ण था, किन्तु दूसरा सादा। इनमें से पहला जिसका उपयोग समुद्रगुप्त ने भी अपने कौशाम्बी युद्ध में प्राप्त विजय की स्मृति

---

१ लाः जिओग्रफी आॅव अर्ली बुद्धिस्म, पृ० २३।

२ "अर्ली हिस्ट्री आॅव कौशाम्बी" (लेखक-कृत), पृ० १८-१९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को स्थायी बनाने के लिए अपने अभिलेख के लिए किया था बाद में अकबर द्वारा हटाकर इलाहाबाद के किले में लाया गया। वह वहाँ आज भी वर्तमान है।

दूसरा स्तम्भ अब भी अपने मूल स्थान में है और कोसम के खण्डहरों के बीच खड़ा हुआ वह अन्य पुरातत्त्व-चिह्नों से कम महत्त्व का नहीं है। यहाँ से सैकड़ों सिक्के जिनमें से कुछ तो अत्यन्त प्राचीन हैं तथा अनेक मृण्मूर्त्तियाँ, पाषाण की मूर्तियाँ आदि जिनसे कौशाम्बी के प्राचीन काल से लेकर मध्य काल तक के शृंखलाबद्ध इतिहास का पता चलता है, मिले हैं और इलाहाबाद म्यूजियम में लाकर सुरक्षित किये गये हैं। १९३४ ई० में मिली बुद्ध की एक पाषाण-प्रतिमा से जिसमें एक अभिलेख है बुद्ध द्वारा अनेक बार कौशाम्बी आने के पाली सन्दर्भों की पुरातत्त्व-प्रमाण द्वारा पुष्टि होती है। यह प्रतिमा प्रथम शती ईस्वी की है [१]।

अवन्ती

अवन्ती, जिसकी राजधानी उज्जैन थी, सम्राट् प्रद्योत के अधीन थी। प्रद्योत कौशाम्बी नरेश उदयन और बुद्ध का समकालीन था। अवन्ती के राज्य में जिस नाम से वह दूसरी शती ई० पू० तक प्रसिद्ध था साधारणतः आधुनिक मध्य मालवा, निमार तथा मध्य प्रान्त और बरार के पड़ोसी प्रदेश थे। मध्य युग के आरम्भ से लेकर उस राज्य का नाम मालवा ही प्रचलित हुआ। बौद्ध ग्रन्थों में सम्राट् प्रद्योत का वर्णन एक क्रूर, युद्ध-प्रिय एवं महत्त्वाकांक्षी नरेश के रूप में हुआ है। उसकी अभिलाषा उदयन के राज्य को आत्मसात् करने की थी। धम्मपद की अट्ठकथा में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि उदयन एक बार धोखे से प्रद्योत द्वारा बन्दी बना लिया गया था, परन्तु उससे भी बढ़कर धोखे से उदयन अवन्ती नरेश की राजकुमारी को साथ लेकर भाग निकला और उसके

---

१ अधिक विस्तार के लिए लेखक की पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी, पृ० ६९ तथा १०८-११० देखिए। आजकल प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा उसके इतिहास विभाग के तत्त्वावधान में कौशाम्बी में पुनः उत्खनन का कार्य आरम्भ किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साथ विवाह कर लिया।[१] यह कहानी संभवतः उन दो नरेशों के पारस्परिक झगड़ों की तह में वर्तमान है जिनकी समाप्ति आनन्दपूर्वक दोनों राज्यों के बीच वैवाहित सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर हुई ।

मगध साम्राज्य का उदय

बिम्बिसार लग० ५४७ ई० पू०

जिस काल की विवेचना हम यहाँ कर रहे हैं उसमें ऊपर वर्णित सभी राज्यों में मगध उत्तर भारत में सर्वशक्तिशाली और प्रधान राज्य हुआ। मगध की प्रतिष्ठा का शिलान्यास करनेवाले प्रथम प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार थे। जैन ग्रन्थों में उन्हें ही श्रेणिक कहा गया है । पालि गाथाओं के अनुसार बिम्बिसार ने ५२ वर्ष तक राज्य किये और बुद्ध के परिनिर्वाण से लगभग ४८७ ई० पू० निश्चित किया गया आठ वर्ष पहले शरीर-त्याग किया। इस प्रकार बिम्बिसार के राज्यारोहण की तिथि (४८७ + ८ + ५२) ५४७ ई० पू० तथा निधन की तिथि लगभग ४९५ ई० पू० हुई । बिम्बिसार ने युक्तिपूर्ण वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। उसने स्वयं कोशलाधिप महाकोशल की राजपुत्री कोशलदेवी से विवाह किया था जिसके फलस्वरूप काशी का एक गाँव महाकोशल को अपनी पुत्री के दहेज-स्वरूप देना पड़ा था। उसने लड़ाके लिच्छवियों को उनके साथ वैवाहिक नाता जोड़कर शान्त कर रखा था। राजमहिषी हेलनादेवी जिनके साथ उसने विवाह किया था वैशाली की राजकन्या थीं।[२] बिम्बिसार ने अंग के राज्य को भी जीता। उसकी राजधानी चम्पा में उसने अपने पुत्र कुणिक अजातशत्रु को अपना राजप्रतिनिधि नियुक्त किया। अङ्गराज का जिसे बिम्बिसार ने युद्ध में पराजित किया था नाम ब्रह्मदत्त था । इस प्रकार कूटनीति और युद्ध दोनों का ही आश्रय लेकर बिम्बिसार ने मगध के राज्य की सीमा का चतुर्दिक् विस्तार किया और 'मगध को युद्ध और अभियान से उस जीवन-क्षेत्र में आंदोलित किया

१ वही, पृ० १३-१६ ।
२ जैकोबी, 'जैन-सूत्र", प्रथम भाग (१२-१५) ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जिसकी समाप्ति अशोक के कलिंग-विजय के अनन्तर हथियार रख देने के बाद ही संभव हो सकी ।' बिम्बिसार के राज्य-विस्तार का अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि उसमें ८०,००० गाँव थे और उसका घेरा लगभग दो-तीन सौ मील में जाकर समाप्त होता था ।[१] मगध के प्राचीन साम्राज्य की राजधानी महाभारत के समय गिरिव्रज थी, जो एक प्राकृतिक पहाड़ी दुर्ग के रूप में अवस्थित थी । बिम्बिसार ने इस पहाड़ी की तलहटी में राजगृह नामक एक नई राजधानी बसाई । राजगृह के चिन्ह पटना से पचास मील पूर्व-राजगिर नामक आधुनिक गाँव में अभी वर्तमान हैं । बिम्बिसार, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बुद्ध के समकालीन थे और उनकी मृत्यु तथागत से आठ वर्ष पहले हुई थीं । सिंहली गाथायें उनका राजत्व-काल ५२ वर्ष देती हैं ।[२]

बिम्बिसार के बाद उसका पुत्र अजातशत्रु मगध के सिंहासन पर बैठा ।

अजातशत्रु लग० ४९५ इ० पू०

उसके समय में बिम्बिसार के राजघराने के गौरव और शक्ति की सीमा न थी । यद्यपि उसकी माता छेलना वैशाली की राजकन्या थीं इससे अजातशत्रु को मातृकुल से लिच्छवियों के साथ युद्ध करने में कोई रुकावट नहीं हुई । उसने पहले तो वज्जियों को भगाने के लिए गंगा और शोणभद्र के संगम पर पाटलिग्राम में एक दुर्ग का निर्माण किया, इसके पश्चात् लिच्छवियों की स्वतंत्रता का उन्हीं की भूमि पर युद्ध में अपहरण किया । दीर्घ-निकाय के महापरिनिब्बान सुत्तन्त में इसका वर्णन मिलता है कि किस प्रकार कूटनीति एवं वञ्चनामय युक्तियों द्वारा पहले उसने वज्जियों को उनमें फूट और भेद डालकर शिथिल बनाया और फिर उनके राज्य पर आक्रमण कर तथा उन्हें युद्ध में पराजित कर उनकी स्वतंत्रता नष्ट कर दी ।[३]

उसने कोशल पर भी चढ़ाई की । कोशल के साथ अजातशत्रु के युद्ध की कहानी संयुक्त निकाय में दी हुई है जिसमें ऐसा वर्णन मिलता है कि सम्राट्

---

१ रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० १३८ ।

२ दीपवंश, ३, ५६-६०; महावंश २, २६-३० ।

३ दीर्घ-निकाय, महापरिनिब्बान सुत्तन्त ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रसेनजित् ने अपने भाञ्जे को जो अपने पिता का हन्ता था काशी का राजकर देना बन्द कर दिया था। इससे मामा और भाञ्जे के बीच दीर्घकाल तक लड़ाई ठनी रही जिसमें कभी एक और कभी दूसरे की विजय होती। एक बार कोशल-नरेश को युद्ध में पराजित होकर भागना पड़ा तो दूसरे अवसर पर अजातशत्रु युद्ध में बन्दी बना लिया गया। अन्त में ऐसा जान पड़ता है कि विजयश्री अजातशत्रु को मिली; क्योंकि प्रसेनजित को सन्धि के लिए दो बड़ी शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। इनमें से पहली शर्त के अनुसार उसने अजातशत्रु को विवाह में अपनी राजपुत्री दी जिसका नाम वजिरा था। दूसरी शर्त के अनुसार काशी पर से उसे अपना राजदण्ड उठा लेना पड़ा जो मगध के साम्राज्य में मिला लिया गया।[१] इस प्रकार अजातशत्रु की 'विजिगीषु नीति' के परिणाम-स्वरूप मगध साम्राज्य का विस्तार वैशाली और काशी को भी मिला कर काफी दूर तक हो गया। अजातशत्रु के शासन-काल की तीन घटनायें कभी नहीं भुलाई जा सकतीं। इनमें से एक घटना तो ऐसी है जिससे उसका कुछ सीधा सम्बन्ध निकाला जा सकता है, शेष दो घटनाओं के साथ उसका परोक्ष सम्बन्ध था। पहली घटना कोशलाधिप प्रसेनजित का मार्मिक अन्त था। उसकी कहानी इस प्रकार है कि उसके ज्येष्ठ पुत्र विडूडभ ने उसके विरुद्ध राजद्रोह का झण्डा खड़ा किया और अपने पिता के राजसचिव दीघ चारायण की सहायता से अपने पिता प्रसेनजित की अनुपस्थिति में जो उस समय अपने राज्य का दौरा कर रहे थे सिंहासन् पर अधिकार कर लिया। भूतपूर्व सम्राट ने अपने विद्रोही पुत्र को दबाने के लिए भाञ्जे से सहायता लेने के उद्देश्य से अकेले राजगृह के लिये प्रस्थान किया पर राजगृह के प्रवेश-द्वार पर पहुँचकर अरक्षित अवस्था में मरना ही उसके भाग्य में था।

दूसरी घटना विडूडभ द्वारा कपिलवस्तु का ध्वन्स था। बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर यह कहानी डा० रिज़ डेविड ने इस प्रकार दी है : सम्राट प्रसेनजित् ने बुद्ध के वंश से अपना सम्बन्ध जोड़ने की इच्छा से शाक्य राजाओं की किसी राजकुमारी के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की। इस विषय

---

१ जातक, द्वितीय, ४०४; चतुर्थ, ३४३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर शाक्यों के संथागार में काफी विवाद हुआ और यह निश्चय हुआ कि यह प्रस्ताव इसलिए अमान्य है क्योंकि इससे उनके कुल की मर्यादा नष्ट होगी। पर उन्होंने वासभ खत्तिया नाम की किसी राजा की दासी-पुत्री सम्राट् के पास भेज दी। उससे प्रसेनजित् को एक पुत्र हुआ जो ऊपर वर्णित विडूडभ था। विडूडभ जब समझदार हुआ और उसे इस छल का पता चला तो उसके हृदय में क्रोध का आवेग उमड़ आया जिसके परिणाम-स्वरूप शाक्यों से इसका प्रतिशोध लेने का दृढ़ निश्चय कर सिंहासन पर आते ही उसने उनके देश पर आक्रमण कर दिया, उनकी राजधानी पर अधिकार कर लिया और उनके सजातियों में से कितनों को ही वय या लिङ्ग का भेद किये बिना मृत्यु के मुँह में डाल दिया। कहानी की प्रधान परिस्थिति डा० रिज़ डेविड के मतानुसार निस्सन्देह एक ऐतिहासिक तथ्य है।[१] बुद्ध के परिनिर्वाण के दो-एक वर्ष पहले ही यह घटना संभवतः घटी थी।

तीसरी घटना बुद्ध का परिनिर्वाण था जो अजातशत्रु के शासन के आठवें वर्ष में हुआ। बुद्ध पावा में बीमार पड़े थे और कुशीनारा में आकर उनका निधन हुआ। दोनों नगर सजातीय मल्ल प्रजातंत्रों की राजधानियाँ थे। बुद्ध के शरीर का दाह-संस्कार हो चुकने पर अजातशत्रु के प्रतिनिधि तथा छः प्रजातंत्र राज्यों के प्रतिनिधियों ने भगवान् के फूल अथवा अस्थि का अपना अपना अंश माँगा जो कुशीनारा के मल्ल देना नहीं चाहते थे। इस पर उनमें युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं कि सहसा द्रोण नामक एक ब्राह्मण के हस्तक्षेप करने पर जो उस समय वहाँ उपस्थित था मामला बढ़ने नहीं पाया और इसका निर्णय शान्तिमय उपायों द्वारा हो गया। अजातशत्रु को जो भाग मिला उस पर उसने राजगृह में एक स्तूप खड़ा किया। महापरिनिर्वाण के कुछ ही सप्ताह बाद राजगृह में बुद्ध के अनुयायी भिक्षुओं ने एकत्र होकर अजातशत्रु से संघ के लिए एक ऐसा स्थल निर्वाचित करने की विनती की जहाँ बुद्ध के उपदेशों का संकलन और समगायन हो सके। अजातशत्रु ने वैभार की पहाड़ी की सुप्रसिद्ध सप्तपर्णी गुहा के भीतर एक सुन्दर और आयत सभा-भवन बनवा दिया जहाँ बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगीति हुई जिसमें धम्म और विनय का

---

१ बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ११।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्रमशः आनन्द और उपालि ने सूत्र-पाठ किया जो त्रिपिटक के प्रथम और द्वितीय प्रामाणिक धर्म-संग्रह माने गये।[१]

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी

पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के बाद दर्शक और उसके बाद उदायी राजा हुए। बिम्बिसार के वंश के अन्तिम दो सम्राट नन्दिवर्द्धन और महानन्द थे जिनके पश्चात् मगध में नन्दों का शासन हुआ।

उदायी

पालि[२] और जैन[३] कृतियाँ दर्शक के विषय में मौन हैं, उनके अनुसार उदायी अथवा उदायीभद्र अजातशत्रु का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। पौराणिक अनुश्रुतियों की पुष्टि में भास के "स्वप्न-वासवदत्ता" को रखा जा सकता है जिसमें दर्शक को मगधेश्वर और उसकी बहन पद्मावती को वत्सराज उदयन की राज्ञी कहा गया है जैन परिशिष्टपर्वन् के अनुसार तो पद्मावती कुणिक (अजातशत्रु) की रानी का नाम है और उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी का नाम उदायी था। इस ग्रन्थ के अनुसार उदायी के अपने पिता के शासन-काल में चम्पा के राजप्रतिनिधि के रूप में शासन करने का भी संकेत मिलता है। उसने अजातशत्रु द्वारा बनवाये हुए पाटलिपुत्र के दुर्ग को एक विस्तृत नगर के रूप में बढ़ाया और राजगृह से शासन का केन्द्र हटाकर वहाँ स्थापित किया।[४] पटना से प्राप्त एक मूर्त्ति को डा० जायसवाल ने इसी उदायी की प्रतिमा निश्चित करने का प्रयत्न किया था। उसके अभिलेख में वे 'अच्छो छोनिदिशे" इस प्रकार पढ़ते हैं और अच्छो को अज मानकर उसे भागवत पुराण की शैशुनाग सम्राटों की तालिका का अज तथा मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड तालिकाओं

---

[१] सुमंगल विलासिनी।

[२] समञ्ञफल सुत्त, दीघ-निकाय, प्रथम, ४७।

[३] जैकोबी द्वारा सम्पादित "परिशिष्टपर्वन्", पृ० ४२।

[४] परिशिष्टपर्वन् तथा वायु-पुराण देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का उदायी बतलाते हैं।[१] परन्तु विद्वानों ने इस निर्धारण को नहीं स्वीकार किया है, उन्होंने प्रायः कनिंघम (Sir Alexander Cunningham) द्वारा पूर्व विनिश्चित इसे यक्ष-प्रतिमा माना है।

उदायी के उत्तराधिकारी

सिंहली गाथाओं और पुराणों में फिर उदायी के उत्तराधिकारियों को लेकर मत-विभिन्नता पाई जाती है। सिंहली कृतियों के अनुसार उनके नाम क्रमशः अनुरुद्ध, मुण्ड तथा नागदसक हैं और उन सब के पितृहन्ता होने के कारण प्रजा ने विद्रोह कर सुसुनाग (शिशुनाग) नामक अमात्य को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया।

शिशुनाग

यह शिशुनाग कौन था ? पुराणों के अनुसार वह जिस वंश का प्रवर्तक था उसके पाँचवें सम्राट् का नाम बिम्बिसार था, जब कि पालि गाथाओं के अनुसार हम बिम्बिसार को उस वंश का सर्वप्रथम सम्राट् मान आये हैं। सिंहल की सूची में बिम्बिसार को प्रथम और शिशुनाग को सातवाँ सम्राट् बतलाया गया है। शायद पौराणिक वंश-परम्परा में ही यह भूल हुई है। पुराणों का यह कथन कि शिशुनाग ने प्रद्योतकों का विनाश किया था बिना सिंहली क्रम को ध्यान में रखे नहीं समझा जा सकता। प्रद्योत (पालि: पज्जोट) अवन्ती के प्रद्योत-वंश का प्रवर्तक एवं पालि अनुश्रुतियों के अनुसार बिम्बिसार का सम-सामयिक था। पुराणों के अनुसार चार राजा पालक, गोपाल, आर्यक (अजक) और वर्तिवर्द्धन क्रमशः एक के बाद दूसरे प्रद्योत के अनन्तर राजसिंहासन पर अधिरूढ़ हुए, इसके पश्चात् यह कथन मिलता है कि 'शिशुनाग प्रद्योतों का विनाश करेगा'। इस प्रकार शिशुनाग के हाथों से प्रद्योतों के विनाश की घटना से जो बिम्बिसार के समकालीन प्रथम प्रद्योत की चार पीढ़ियों के बाद घटी यह कह सकना कुछ कठिन नहीं कि शिशुनाग बिम्बिसार के काफी बाद हुआ उसके पहले नहीं। आगे चलकर शिशुनाग के विषय में पुराणों में यह मिलता है कि उसने (१) अपने पुत्र को बनारस में

---

१ राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० १४५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजप्रतिनिधि नियुक्त किया था और (२) गिरिव्रज को अपना निवासस्थान बनाया था। उसे उदायी के पूर्व रखने के लिए दूसरे वक्तव्य के तर्क की सहायता ली जा सकती है जिसके सम्बन्ध में हम देख चुके हैं[१] कि सर्वप्रथम उसी ने राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र में स्थानान्तरित की थी। परन्तु जैसा डा० राय चौधरी स्वतंत्र प्रमाणों के सम्यक् विश्लेषण के आधार पर प्रमाणित कर चुके हैं[२] इस बात से कि शिशुनाग के पुत्र एवं उत्तराधिकारी कालाशोक को भी राजधानी राजगृह से हटाकर पाटलिपुत्र ले जानी पड़ी थी यही सिद्ध होता है कि उसके कोई पूर्वज पुरानी राजाधनी को लौट गये थे। इसके अतिरिक्त यह पूर्वज शिशुनाग था ऐसा डा० राय चौधरी ठीक ही मानते हैं। पहले वक्तव्य से बनारस के शिशुनाग के राज्य में सम्मिलित होने का निश्चय हो ही जाता है – इस ऐतिहासिक तथ्य से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वह बिम्बिसार और अजातशत्रु के बाद आया जो काशी में मगध का सिक्का जमानेवाले प्रथम सम्राट् थे[३]।

कालाशोक या काकवर्ण

पालि गाथाओं के अनुसार शिशुनाग का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कालाशोक था जो संभवतः पौराणिक वंशावली का काकवर्ण है जैसा कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है[४]। इस अनुमान की पुष्टि अशोकावदान से होती है जो काकवर्ण को मुण्ड के बाद बतलाता है और कालाशोक का कहीं नाम नहीं लेता। यह हम ऊपर बतला चुके हैं कि कालाशोक ने पुनः राजधानी पाटलिपुत्र में स्थानान्तरित की थी। उसके शासन-काल की एक अति महत्त्वपूर्ण घटना वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति का अधिवेशन था जिसमें बौद्ध संघ के भीतर एक महान् संघ-भेद उत्पन्न हो गया[५]। यदि कालाशोक

---

१ पूर्व, पृ० ६३।

२ सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट सिरीज, भाग ११, पृ० १६; टर्नर (R. L. Turnour) द्वारा सम्पादित "महावंस", परिच्छेद ३७।

३ पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० १४७।

४ गीगर (W. G. Geiger), जैकोबी तथा भण्डारकर।

५ देखिए, पहले, पृ०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही काकवर्ण था तो बाण के अनुसार वही अपनी राजधानी के पास गले में तलवार भोंककर मार डाला गया था[1]। इस घटना की पुष्टि जैन तथा यूनानी लेखों द्वारा होती है।

बोधि-वंश में कालाशोक के लड़कों की एक सूची दी हुई है जो संभवतः एक ही समय शासन कर रहे थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि राज्य का सञ्चालन उनके अमात्य प्रथम नन्द द्वारा होता था जो प्रत्यक्ष ही कालाशोक का वध करनेवाला था। इन राजकुमारों में से एक का नाम नन्दिवर्धन था जिसे प्रो० भण्डारकर ने पौराणिक सूची का इसी नाम का राजा नन्दिवर्धन ठहराया है।

नन्द वंश

नन्दों ने मगध के राजसिंहासन पर यों ही अधिकार जमा लिया था। प्रथम नन्द ने कालाशोक के साथ विश्वासघात कर उसकी हत्या कर डाली थी और फिर उसके पुत्रों का अभिभावक बनकर उन्हें भी समाप्त कर स्वयं राजछत्र और दण्ड लेकर राजा बन बैठा। पुराणानुसार वह राजा 'शूद्र गर्भोद्भव' था। प्रो० जैकोबी, गीगर तथा भण्डारकर ने कालाशोक और काकवर्ण को एक ठहराया है। बाण के "हर्षचरित" में शैशुनाग काकवर्ण के "गले में तलवार भोंक दिये जाने से" अत्यन्त कारुणिक अवस्था में मरने का वर्णन आता है। उसका हत्यारा निश्चय नन्द था। इस कथन के समर्थन में जैन और यूनानी लेख मिलते हैं। जैन "परिशिष्टपर्वन्" (पृ० ४६) के अनुसार वह 'एक नाई द्वारा उत्पन्न वेश्या-पुत्र' था। "महाबोधिवंश" में प्रथम नन्द को उग्रसेन कहा गया है। मगध के नन्द सम्राट् की उत्पत्ति के विषय में लिखते हुए यूनानी लेखक कर्टियस (Curtius) ने इस प्रकार लिखा है कि जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय मगध में "अग्रसेन" (Agrames जो संस्कृत औग्रसेन अथवा उग्रसेन-पुत्र का तद्भव रूप है)[2] का पिता वर्तमान था जो एक नाई था......राजमहिषी का कृपापात्र बनकर .....बाद में उसने

उत्पत्ति

---

१ हर्षचरित, पाठ, पृ० १६३।

२ इस सुझाव के लिए हम डा० राय चौधरी के ऋणी हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विश्वासघात द्वारा सम्राट् की हत्या कर डाली और उसकी सन्तानों का अभिभावक अपने को घोषित कर राजशक्ति अपनी मुट्ठी में कर ली, फिर अल्पवयस्क कुमारों को मारकर वर्तमान सम्राट् का पिता हुआ।"[1]

महापद्म नन्द

पुराणों के अनुसार महापद्म नन्द ने नन्द वंश की स्थापना की थी। पुराण उसे एक महान् योद्धा बतलाते हैं जो 'परशुराम की तरह इस पृथ्वी के समस्त क्षत्रियों का विनाश करेगा और उसका एकच्छत्र शासन करेगा।' इसमें तो सन्देह नहीं कि पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त (कश्मीर सहित) को छोड़कर जो अनेक स्वाधीन और प्रतिद्वन्दी राज्यों में विभक्त थे वह सारे उत्तर-भारत का स्वामी बन बैठा था। उन प्रदेशों की राजनीतिक स्थिति के कारण सिकन्दर को अपनी विजय-वाहिनी पंजाब की पूर्वी सीमा तक ले आने में काफी सुगमता रही। महापद्म नन्द ने उत्तर भारत के अपने सभी समकालीन राजघरानों को उत्खनित किया था जिनमें इक्ष्वाकु, कुरु, पञ्चाल, काशी, मैथिल, हैहय, कलिंग, अश्मक, शूरसेन इत्यादि आते हैं।[2] खारवेल के सुप्रसिद्ध हाथीगुम्फा के अभिलेख से, जिसमें कलिंग में नन्दराज द्वारा बनाई गई एक नहर तथा उसके द्वारा विजय-चिह्नस्वरूप प्रथम जिनकी मूर्ति और कलिंग राजाओं का छत्र-शृङ्गार छीन ले जाने का वर्णन मिलता है, यह प्रमाणित होता है कि नन्द-वंश के ही किसी राजा ने कलिंग देश को जीता था, अनुमानतः वह राजा महापद्म नन्द था जिसके युद्ध-पराक्रम और अनेक अभियानों का समर्थन पुराणों से होता है। डा० राय चौधरी यह सुझाव उपस्थित करते हैं कि नन्द साम्राज्य के अन्तर्गत कलिंग से आगे का दक्षिण का काफी बड़ा भाग सम्मिलित था क्योंकि उस प्रदेश में गोदावरी के किनारे 'नव नन्द देहरा' नगर की स्थिति यही सूचित करती है।[3] नन्द साम्राज्य की शक्ति और विशालता के सम्बन्ध में यूनानी लेखक कर्टियस और डिवोडोरस (Diodorus) भी लिखते हैं। उनके

---

१ मैक क्रिण्डल (Mc. Crindle), "इनवेजन ऑव अलेक्जण्डर" पृ० २२२।

२ पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० १५५।

३ वही, पृ० १५६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार सम्राट् नन्द (अन्तिम नन्द) के पास २०,००० घुड़सवार, २००,००० पैदल, २,००० रथ तथा ३,००० हाथी की एक सुविशाल सेना थी। नन्दों के अतुल ऐश्वर्य के बारे में चीनी यात्री युवान्च्वाङ् ने भी 'सम्राट् नन्द के सात प्रकार के अमूल्य रत्नों की पाँच निधियों' का संकेत किया है। कथा-सरित्सागर में एक स्थल पर सम्राट् नन्द के कोष में ६६ करोड़ सुवर्ण मुद्राओं के होने का उल्लेख पाया जाता है।[1]

महापद्म के उत्तराधिकारी

महापद्म नन्द के बाद उसके आठ पुत्रों ने एक साथ शासन किया। इस विषय में सभी आधार-ग्रन्थ समान मत रखते हैं। सिंहली गाथाएँ महापद्म और उसके पुत्रों को मिलाकर कुल नवों नन्दों के राजत्वकाल की अवधि बाईस वर्ष देती हैं। पर पुराणों में महापद्म को २८ वर्ष और १२ वर्ष उसके आठ पुत्रों को दिये गये हैं। यदि सम्पूर्ण राज्यकाल की अवधि के बारे में हम सिंहली गाथाओं को प्रामाणिक मानें, तो महापद्म नन्द दस वर्ष से अधिक शासन करता नहीं दीखता। पौराणिक वृत्तान्त साधारणतया संक्षिप्त और गाथाओं की अपेक्षा दुरूह हैं जिससे गाथाओं की सहायता विशेष प्रयोजनीय है। पुराणों में महापद्म के केवल एक पुत्र का नाम 'सुकल्प' मिलता है। 'महाबोधिवंश' में सभी आठ पुत्रों का नाम पाया जाता है जिनमें से धननन्द एक था। नन्द-वंश का वह अन्तिम सम्राट् था। महावंश में

धननन्द

उसका नाम धननन्द तथा यूनानी लेखकों द्वारा अग्रम्स दिया गया है। सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने के समय मगध के सिंहासन पर वह विराजमान था। सिकन्दर के भारत से लौट जाने पर वह चन्द्रगुप्त मौर्य के हाथों से मारा गया, जिसने नन्दों के विरुद्ध एक भीषण आन्दोलन चलाया था जिसका पूरा वृत्तान्त हम आगे के एक अध्याय में देंगे।

महापद्म नन्द तथा उसके वंश के राजत्वकाल को निर्धारित करना सरल

---

१ वही, पृ० १५७, तुलना के लिए "कथा-सरित्सागर" का टानी (Tawney) कृत अँगरेज़ी अनुवाद, भाग १, पृ० २१, देखिए।

CC-0, Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नहीं है। इसके लिए हमारे पास जो सामग्री है वह अत्यन्त अल्प एवं अनिश्चय-जनक है। ऐसी स्थिति में हम नन्द-वंश के शासन का

तिथि-क्रम

एक अनुमानित तिथि-क्रम निम्नांकित ढंग पर बनाने का उपक्रम कर सकते हैं: बौद्ध संघ की द्वितीय महान् संगीति महापरिनिर्वाण अर्थात् लग० ३८७ या ३८६ ई० पू० (पहले, पृ०, ६३ व ६४ टि० १ तथा पृ० ६६) के १०० वर्ष बाद एवं कालाशोक के शासन के दसवें वर्ष हुई थी।[१] सिंहली गाथाओं के अनुसार कालाशोक ने २८ वर्ष तक और उसके दस पुत्रों ने २१ वर्ष राज्य किये। इसलिए कालाशोक ने जो अपने शासन के ६ वर्ष ३८७ या ३८६ ई० पू० तक व्यतीत कर चुके थे और आगे १६ वर्ष अधिक शासन किये निश्चय ३६६ या ३६५ ई० पू० में ही शासन करना आरम्भ कर दिया होगा। उसने और उसके पुत्रों ने मिलकर ५० वर्ष राज्य किया। अतः महापद्म नन्द का (३६६ या ३६५—५०) लग० ३४६ या ३४५ ई० पू० के बाद ही राज्यारोहण संभव है। सिंहली गाथाओं के ही आधार पर नव नन्दों, अर्थात् महापद्म तथा उसके आठ पुत्रों, ने कुल २२ वर्ष राज्य किया। इस गणना से नन्द-वंश के ३२४ या ३२३ ई० पू० के लगभग समाप्त होने का परिणाम निकलता है जिसके बाद मगध में मौर्यों का शासन स्थापित हुआ।

परिशिष्ट १

मगध के नन्द-पूर्व सम्राटों की सूची

क—पुराणों के अनुसार

संख्या	नाम	राज्य-काल
१	शिशुनाग	४० वर्ष
२	काकवर्ण	२६ ,,
३	क्षेमधर्मन्	३६ ,,
४	क्षेमजित्	२४ ,,

१ विनय पिटक, चुल्लवग्ग, १२, सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट सिरीज़ भाग १, पृ० ४०६ तथा आगे; दीपवँस, ५, २७ तथा आगे; महावंस, ४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५	बिम्बिसार	२८ वर्ष
६	अजातशत्रु	२७ ,,
७	दर्शक	२४ ,,
८	उदायी	३३ ,,
९	नन्दिवर्द्धन	४० ,,
१०	महानन्द	४३ ,,

सम्पूर्ण = ३२१ वर्ष

ख—सिंहली गाथाओं के अनुसार

संख्या	नाम	राज्य-काल
१	बिम्बिसार	५२ वर्ष
२	अजातशत्रु	३२ ,,
३	उदायी या उदायिभद्र	१६ ,,
४	अनुरुद्ध }	८ ,,
५	मुण्ड }	
६	नागदसक	२४ ,,
७	सुसुनाग (शिशुनाग)	१८ ,,
८	कालाशोक	२८ ,,
९	उसके दस पुत्र (नन्दिवर्द्धन सहित)	२२ ,,

सम्पूर्ण = २०० वर्ष

(२)

शासन-सम्बन्धी, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाएँ

देश की तत्कालीन शासन-सम्बन्धी सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था का विशेषतः उसके उत्तरी-पूर्वी प्रदेश का व्यापक परिचय त्रिपिटक में तथा जातकों और जैनियों के धार्मिक ग्रन्थों में मिलता है।

शासन-व्यवस्था

बौद्धों की राजनीतिक तथा सामाजिक मान्यताएँ और व्यवहार ब्राह्मणों की मान्यताओं और व्यवहारों की अपेक्षा काफी कोमल थे, जैसा कि उनके राजनीतिक संस्थाओं तथा सामाजिक उच्चता के सम्बन्ध में उनकी विशिष्ट

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रकार की मनोवृत्ति से जान पड़ता है। जातकों में क्षत्रियों को शासकवर्ग का और सबसे श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु क्षत्रियों के अतिरिक्त वर्ग के शासक भी होते थे। जातक द्वितीय भाग सं० ३२६ में हम एक अत्याचारी राजा के राजसिंहासन से उतारे जाने और उस पर एक ब्राह्मण राजा के प्रतिष्ठित होने का वर्णन पढ़ते हैं। जातक तृतीय भाग सं० ५१३ में ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण मिलता है। बौद्ध-साहित्य से ज्ञात पूर्वी भारत के कुछ प्रजातंत्रों के अस्तित्व के विषय में हम पहले संकेत कर चुके हैं [देखिए, पहले पाँचवाँ अध्याय]। उस समय के उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के प्रमुख राज्यों के विषय में जानने के लिए यूनानी साधन हैं। ये राज्य अधिकांशतः पंजाब में पड़ते हैं और उनमें से कुछ के यूनानी नामों का भारतीय साहित्य तथा अभिलेखों के आधार पर सन्तोषप्रद निर्धारण हो सका है—जैसे, 'मल्लवाइ' (मालव), 'ऑक्सिड्रकाइ' (क्षुद्रक), 'अबैस्टनॉइ' (अम्बष्ठ)[१]।

बौद्ध, जैन और संस्कृत साहित्य से जिन प्रजातंत्रों का पता चलता है वे 'गण' अथवा कुल-संघ कहलाते थे। उनके यहाँ शासन का काम एक खुले हुए सभा-भवन में होता था जिसे 'संथागार' कहते थे। सभा या परिषद् में सारे कुल या गण के कुटुम्बों के मुखिया एकत्र होते थे। इसमें सन्देह है कि सभा भवन में प्रत्येक कुटुम्ब के मुखिया के लिए बैठने का स्थान निश्चित था। वैसी दशा में संख्या के अतिशय अनियंत्रित हो जाने का भय था। ऐसा मानना कहीं अधिक संयत और तर्कयुक्त जान पड़ता है कि परिषद् में कुटुम्बों के मुखियों के निर्वाचित प्रतिनिधि बैठते थे। परन्तु इसके लिए विधान क्या था इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता; संभव है कि कुछ प्रजातंत्रों में पितृक्रमानुगत अध्यक्ष अथवा राजा हुआ करते थे और अन्य निर्वाचन करते थे। बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त से यही अनुमान होता है कि राजा शुद्धोदन के बाद वही शाक्य कुल के अध्यक्ष पद के उत्तराधिकारी थे; यद्यपि संस्कृत भाषा की बौद्ध पुस्तक ललितविस्तर में जो बाद की रचना होते हुए भी पुरानी अनुश्रुतियाँ देती है वैशाली प्रजातंत्र के अध्यक्ष के संभवतः निर्वाचित होने का संकेत पाया जाता है। "उनमें (वैशाली के लोगों में) संघ के नियम

---

१ कर्टियस के 'अनुसार वे सैबरसाइ' थे जिनमें 'प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था का प्रचार था'। मैकक्रिण्डल, 'इनवेजन ऑव अलेक्जण्डर', पृ० २५२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का पालन नहीं होता; प्रत्येक अपने को राजा मानता है: 'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ', कोई दूसरे का अनुयायी बनकर रहना नहीं चाहता[१]।" इससे एक प्रकार के राजनीतिक समानाधिकार का पता चलता है जो ठीक ही एक प्रजातंत्र एवं गणतंत्र राज्य का सूचक है। वैशाली के लिच्छवि कुल के सभी गृहपति परिषद् में निर्वाचन पाने के लिए तथा अध्यक्ष अथवा राष्ट्रपति के पद तक पहुँच जाने की कामना रखते थे[२]। सम्यक विश्लेषण और विवाद के लिए परिषद् के अधिवेशन प्रायः होते रहते थे, इसका एक अत्यन्त स्पष्ट सन्दर्भ महापरिनिब्बान सुत्तन्त (दीघ निकाय) में है। यह संभव है, जैसा कि कुछ विद्वानों की धारणा है कि बौद्ध संघों का प्रजातंत्रात्मक विधान राजनीतिक संघों की व्यवस्था के आधार पर निर्मित हुआ था। बुद्ध का जन्म जो भिक्खुओं के संघ के प्रणेता थे एक प्रजातंत्र राष्ट्र में हुआ था। उनके पड़ोसी राज्यों के भी संघ थे और वे उन्हीं के बीच बड़े हुए[३]। जहाँ तक कार्यकारिणी (Executive) का सम्बन्ध है प्रजातंत्र और एकतंत्र राज्य के बीच केवल बहुत ही सूक्ष्म अन्तर है। वैशाली की प्रमुख कार्यकारिणी समिति के भीतर हम इन सदस्यों का नाम पाते हैं—राजा, उप-राजा (उपसभापति) तथा सेनापति[४]। एकतंत्र राज्य में, जैसे कोसल, मगध, वत्स तथा अवन्ती प्रभृति, राजा एवं उसके मन्त्रि-परिषद् के सदस्य जिनमें पुरोहित और सेनापति भी सम्मिलित थे प्रमुख कार्यकारिणी के भीतर आते थे। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रजातंत्र राज्यों को प्रायः ही परिषद् का अधिवेशन करते रहना पड़ता था। अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्ध प्रतिद्वन्दिता और युद्ध का समन्वय था, किन्तु प्राचीन भारत में युद्ध बहुधा वैवाहिक सम्बन्धों और मैत्रीपूर्ण व्यवहारों में परिणत हो जाया करते थे। बौद्ध साहित्य में इस तरह के अन्तर-राष्ट्रीय विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कोशल-नरेश महाकोशल ने अपनी बहिन कोशल देवी का विवाह बिम्बिसार से किया था जिसने एक लिच्छवि राजकुमारी का पाणिग्रहण किया था। कौशाम्बी

१ ललितविस्तर, तृतीय, पृ० २१।

२ तुलना कीजिए, जायसवाल: "हिन्दू पॉलिटी", प्रथम भाग, पृ० ४८।

३ जायसवाल, मॉडर्न रिव्यू, १९१३; "हिन्दू पॉलिटी", प्रथम भाग, पृ० ४३ आगे; भण्डारकर, "कारमाइकेल लेक्चर्स", १९१८, लेक्चर पाँचवाँ।

४ जे० ए० एस० बी०, सप्तम, १८३३, पृ० ९९४ आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के सम्राट् उदयन के राजनीतिक विवाहों के विषय में हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं [१]।

समाज

बौद्ध धर्मग्रन्थों से जाति के सम्बन्ध में सामयिक सूत्र साहित्य में प्रतिपादित कट्टर ब्राह्मण सिद्धान्तों से भिन्न एक नास्तिक दृष्टिकोण का पता चलता है। बौद्ध लेखकों ने वास्तव में जाति-प्रथा को हीन ठहराया है।

जाति

बुद्ध के अनेक उपदेश[२] सभी व्यक्तियों की पूर्ण समानता का आदर्श स्थापित करने और मनुष्य मनुष्य के बीच जन्म-गत विभेद को दूर करने के ही निमित्त हुए थे। फिर भी उस समय के लेखों से पता चलता है कि समाज में जाति-व्यवस्था का, हीन-जातियाँ, अथवा अस्पृश्य जातियाँ जिसका अंग थीं, काफी प्रचलन था। श्वेतकेतु जातक (तृतीय, २३६) में हम एक ब्राह्मण को एक चण्डाल के पास से स्पर्श-भय से अभिभूत होकर भागता हुआ पाते हैं। मातंग जातक (चतुर्थ, ३८८) में हम एक चण्डाल के आवास को नदी की धारा की ओर इसलिए स्थानान्तरित करता पाते हैं क्योंकि बहाव के ऊपर की ओर उसके द्वारा फेंकी हुई दाँतून स्नान करते समय एक ब्राह्मण की शिखा में उलझ गई थी। चित्त सम्भूत जातक (चतुर्थ, ३९१–२) में दो चण्डाल भाइयों के एक क्रोधान्ध भीड़ द्वारा अत्यन्त प्रताड़ित होने का वर्णन आता है; क्योंकि उन्हें सामने पाकर दो सम्भ्रान्त कुल की रमणियों ने अपना मन्दिर-गमन स्थगित कर दिया था जिससे जनता प्रत्याशित भोजन और पान के वितरण से वञ्चित रही। जातकों में इस तरह के अगणित दृष्टान्त हैं जो जाति के बन्धन में ग्रस्त समाज का निरूपण करते हैं; परन्तु साथ ही यह शिक्षा भी देते हैं कि जन्म और जाति अभिमान उत्पन्न करते हैं, 'देवों के लोक में तो सभी' खत्तिय, ब्रह्मण, वेस्स, सुद्द, चण्डाल और पुक्कस 'समान माने जायँगे, यदि वे इस लोक में सदाचार का पालन कर चुके हैं।' उन लेखों में ब्राह्मणों के जातीय मान के मर्दन का भी प्रयत्न हुआ है और

१ देखिए पहले, पृ० ८०।

२ तुलना कीजिए, अम्बट्ठ सुत्त (दीघ-निकाय); अस्सलायन सुत्त (मज्झिम निकाय) आदि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उनके स्थान में यदि जन्म पर ही विचार किया जाय तो सामाजिक विधान में क्षत्रियों को विशेष स्थान देना उचित समझा गया है।[1] रक्त का अभिमान स्वयं बौद्धों में भी खूब था। यह बौद्ध ग्रन्थों के इस बात से प्रमाणित है कि शाक्यों ने कोशलाधिप प्रसेनजित को शाक्य घराने की कुलीन राजपुत्री देना अस्वीकार कर दिया था और उसके बदले में एक शाक्य प्रमुख की दासी पुत्री कोशल नरेश को दे दी थी जो इस विषय में बिलकुल अनभिज्ञ था। इस छल का दुष्परिणाम जब बुद्ध को बतलाया गया तो उन्होंने भी इसकी भर्त्सना की।[2]

स्त्रियों का स्थान

प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में स्त्रियों का स्थान वैदिक युग की अपेक्षा हीन दिखलाई देता है। चुल्लवग्ग (दशम, [3]) में हम बुद्ध को स्त्रियों के संघ-प्रवेश के विरुद्ध पाते हैं जब स्वयं उनकी विमाता तथा शैशव में लालन-पालन करनेवाली महाप्रजापति देवी ने उनसे कपिलवस्तु में भिक्षुणी के रूप में संघ-प्रवेश करने की अनुमति माँगी थी। बाद में जब गौतम बुद्ध एक बार वैशाली में ठहरे हुए थे महाप्रजापति ने पुरुष-वेश में अपने साथ शाक्य स्त्रियों का एक बड़ा झुण्ड लेकर फिर आखों में आँसू भरकर और रुदन करती हुई संघ-प्रवेश की याचना की। इस बार बुद्ध के समीप रहनेवाले उनके प्रिय शिष्य आनन्द को हस्तक्षेप करना पड़ा और उन्होंने स्त्रियों के संघ में प्रवेश पाने के लिए काफी सफलता के साथ उनके पक्ष का समर्थन किया। बुद्ध ने संघ में उनका प्रवेश तो स्वीकार कर लिया, पर इसके साथ ही उनके लिए आठ कठोर नियम भी बना दिये जिससे संघ में भिक्षुणी को भिक्षु की अपेक्षा निम्नतर स्थान मिला और उसे अपना जीवन भी संघ में अपने भाई की अपेक्षा कहीं कठोर रूप से बिताने के लिए बाध्य होना पड़ा। इनमें से कुछ इस प्रकार के नियम थे जिनके अनुसार 'सौ वर्ष की भी भिक्षुणी' को ही पहले भिक्षु की अभ्यर्थना करनी पड़ती थी, उसके सामने आसन छोड़कर उठना पड़ता था और हाथ जोड़ कर वन्दना

---

१ देखिए, अस्सलायन सुत्त; अम्बष्ठ सुत्त सम्भव जातक (पञ्चम, २७) आदि।

२ देखिए, पहले, पृ० ७८।

३ विनय का पहला नियम (विनयपिटक, चुल्लवग्ग १०, १)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करनी पड़ती थी, फिर चाहे वह उसी दिन भिक्षु क्यों न हुआ हो।[1] और 'उस दिन से (संघ में प्रवेश करते ही) भिक्षुणियों को भिक्षुओं के साथ सहालाप करना निषिद्ध कर दिया जाता था, यद्यपि भिक्षुओं को भिक्षुणियों के पास जाकर वार्तालाप करने का निषेध नहीं था।[2]' इन नियमों से समाज में पुरुषवर्ग के सामने नारी का स्थान परिलक्षित होता है, उसका वही स्थान संघ में भी माना गया। संघ में स्त्रियों को प्रवेश का अधिकार देकर बुद्ध प्रसन्न नहीं हो सके थे; इसका स्पष्ट आभास आनन्द को दिये गये उनके तद्विषयक उपदेश के अन्तिम अंश में मिलता है, जिससे स्त्रियों के समाज में अपेक्षाकृत क्षुद्र स्थान का संकेत होता है। "पर अब जब कि स्त्रियों का प्रवेश हो गया है, आनन्द ! धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा ····जिस तरह ऐसे घरों में जिनमें अधिक स्त्रियाँ और कम पुरुष होते हैं चोरी विशेष होती है, कुछ इसी तरह की अवस्था उस सूत्र और विनय की समझनी चाहिए जिसमें स्त्रियाँ घर छोड़कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती हैं। धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा····जिस तरह धान के खेत पर पाला पड़ जाय तो वह अधिक नहीं टिक सकता····अथवा जिस तरह गन्ने की खेती लाल बीमारी से, जिसमें पौधों में कीड़े लग जाते हैं, मारी जाती है, उसी तरह आनन्द ! उस सूत्र और विनय की दशा होती है जिसमें स्त्रियों को घर छोड़कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाय। वह धर्म चिरस्थायी नहीं हो सकता। फिर भी आनन्द ! मनुष्य जैसे भविष्य को सोचकर बड़े जलाशय के लिए बाँध बनवा देता है जिससे जल बाहर न बहने लग जाय, उसी प्रकार आनन्द, भावी के लिए मैंने ये आठ कठोर नियम बना दिये हैं जिनका पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य है; जब तक धर्म है उन नियमों के पालन में प्रमाद नहीं होना चाहिए।"[2]

प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में स्त्री उपासिकाओं के महत्त्वपूर्ण स्थान रखने का पता धार्मिक ग्रन्थों के अन्तर्गत कुछ गीतों के एक संग्रह से चलता है जिसे

---

१ आठवाँ नियम (वही)। ओल्डेनबर्ग (Oldenberg) इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि भिक्षुणियाँ एक भिक्षु पर दोषारोपण नहीं कर सकतीं, पर भिक्षु को इसका अधिकार है।

२ विनय पिटक (चुल्ल-वग्ग, दशम, १)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'थेरीगाथा' कहते हैं। इसकी रचना में लगभग सौ भिक्षुणियों का हाथ है। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि स्त्रियों के संघ में प्रवेश पाने के बाद स्त्रियों की शिक्षा को काफी प्रोत्साहन मिल गया।

आर्थिक अवस्था

तत्कालीन आर्थिक अवस्था की जानकारी के लिए हम डा० एवं मिसेज रिज डेविड (Rhys Davids) के ऋणी हैं जिन्होंने मूल साधनों के वैज्ञानिक और विस्तृत निरूपण के आधार पर इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है—मूल साधनों में उन्होंने पिटकों और जातकों को छान डाला है[1] और बाद के सभी इस विषय के लेखक किसी न किसी रूप में वस्तुतः उनके आभारी हैं।

ग्राम सम्पत्ति और संगठन

अधिकांश जनता गाँवों में रहती थी और कृषि उस समय भी आज की ही तरह मुख्य उद्यम मानी जाती थी। गाँव में घरों का एक समूह-सा होता था जिसके चारों ओर कृषि के लिए ग्राम क्षेत्रों का विस्तार था। ग्रामक्षेत्र छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित थे जो सिंचाई के लिए नालियों द्वारा और रक्षा के लिए झाड़ या काँटे आदि से घेर दिये जाते थे। बड़ी जमींदारियाँ कम होती थीं और खेत कुटुम्ब भर की सम्पत्ति होते थे। कुटुम्ब सम्मिलित हुआ करते थे इन क्षेत्रों के अतिरिक्त जो व्यक्तिगत अथवा कुटुम्ब के सम्पत्ति हुआ करते थे। गाँव में चरागाह होते थे, जिन्हें वन या दाव कहा जाता था। चरवाहे को गोपालक कहते थे। कृषक भू-स्वामियों के अतिरिक्त भू-रहित मजदूर और दास होते थे जो सम्पन्न भू-स्वामियों द्वारा खेतों में काम करने के लिए नियुक्त किये जाते थे। कृषि का राजकीय अंश जो $\frac{1}{6}$ से लेकर $\frac{1}{12}$ तक हुआ करता था गाँव के मुखिया (गाय भोजक) द्वारा वसूल होता था जो या तो पितृक्रम से राजकर्मचारी नियुक्त किया जाता था अथवा गाँव की सभा उसका निर्वाचन करती थी। सभा ग्राम-संगठन का एक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण अंग थी जिसमें ग्राम-वृद्ध बैठते थे जो संभवतः कुटुम्ब के सबसे बड़े-बूढ़े हुआ करते थे। सभा द्वारा गाँव की भूमि का सभी तरह का न्याय, उदा-

---

१ तुलना के लिए, "बुद्धिस्ट इण्डिया," अ० ६; कै० हि० इ०, भाग १, अ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हरण के लिए विक्रय, बन्धकी, दान आदि, देखा जाता था और उससे मुखिया को स्थानीय शान्ति और सुरक्षा के तथा सार्वजनिक हित के कामों में—जैसे सड़क बनाना, सिंचाई के लिए नहरें काटना, पानी के लिए तालाब खुदवाना, संथागार और धर्मशालाएँ बनवाना आदि सहायता मिलती थी। गाँव का जीवन सरल और आत्म-सीमित था; क्योंकि कृषि के साथ-साथ उस पर आश्रित अनेक छोटे-मोटे रोजगार और व्यवसाय गाँव में होते थे। अपराधों की संख्या बहुत कम थी। लोग सुखमय और सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करते थे। उनमें उच्च नागरिकता की भावना और सहकारिता की जीवन-प्रणाली का विकास पाया जाता था। "नगर के शासन-प्रबन्ध में भाग लेने में स्त्रियों को भी एक विशेष प्रकार के नागरिक सम्मान का अनुभव होता था।"[१]

उद्योग-धन्धे

उस समय उद्योग-धन्धों का बहुत अधिक विकास हो गया था। जातकों में अठारह प्रकार के उद्यम कहे गये हैं, पर गणना में केवल निम्नांकित चार का ही उल्लेख हुआ है, यथा-बड्ढकी, लौहकार, चर्मकार तथा चित्रकार। काम के अनुसार इनमें से कुछ उद्यम उच्च श्रेणी के और कुछ हीन समझे जाते थे। उदाहरण के लिए, अहेरियों, जाल बिछानेवालों, मछुओं, बधिकों, चर्मकारों, सपेरों, नटों, नर्त्तकों, गायकों, कुविन्दों (जुलाहों) आदि को हाथीदाँत का काम करनेवालों, एक विशेष प्रकार के कुविन्दों, हलवाइयों, रत्नकारों, (जौहरियों), धातु का काम करनेवालों, धनुष-बाण बनानेवाले बाँसकारों, बर्तन बनानेवालों, मालाकारों, तथा नापितों आदि की अपेक्षा हीन समझा जाता था।

निगम या श्रेणी

उद्योगियों और व्यवसाइयों के निगम या श्रेणी हुआ करते थे। इनमें काम सीखनेवालों को भर्ती करते थे जो पुस्तकों में 'अन्तेवासिक' कहे गये हैं। अन्तेवासिक का शाब्दिक अर्थ है 'वहाँ के रहनेवाले।' निगम के प्रधान को 'जेट्ठक' कहते थे। जातक-ग्रन्थों (प्रथम : ३०८, तृतीय : ४०५, चतुर्थ : १३७) में नाविकों के, मालाकारों के, काफिलावाले व्यापारियों के, रक्षकों के और डाकुओं के जेट्ठकों का उल्लेख मिलता है।[२]

---

१ कै० हि० इ०, भाग १, अ० ८, पृ० २०३।

२ वही, पृ० २०७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धार्मिक ग्रन्थों में 'सेट्ठि' शब्द का प्रयोग मिलता है जो संभवतः प्रधान अथवा प्रमुख व्यापारी के लिए व्यवहृत होता था। सेट्ठि शब्द की व्याख्या सर्वश्रेष्ठ, प्रधान के अर्थ में की जा सकती है। ऐसा जान पड़ता है कि अनाथपिण्डिक और घोषक[1] जो क्रमशः श्रावस्ती और कौशाम्बी के धनवान् वणिक थे उन नगरों के व्यापारियों या वणिकों में शीर्ष स्थान रखते थे। वणिकों के छोटे-बड़े के अनुसार कई भेद थे इसका स्पष्ट संकेत जातकों में उल्लिखित 'महासेट्ठि' और 'अनुसेट्ठि' जैसे शब्दों में विहित है।

सेट्ठि

जातकों से व्यवसाय और वाणिज्य में साझे के सामान्य रूप से प्रचलित होने का भी पता मिलता है। उदाहरण के लिए 'कूटवाणिज्ज जातक' में दो व्यापारियों के साझा करने और व्यापार-द्रव्य (Stock-in-trade) में समान अंश के अधिकारी होने का वर्णन आता है, पर वहीं उनमें से एक की नीयत भ्रष्ट हो जाने से उनमें परस्पर विवाद होने लगता है। कपटी व्यापारी को अपना अर्थ सिद्ध करने में असफलता रहती है और दोनों अन्त में बराबर विभाजन कर अपना आधा अंश ले लेते हैं[2]। 'सुप्पारक जातक'[3] में इसका उल्लेख मिलता है कि कुछ वणिकों ने सामुद्रिक व्यापार के लिए एक नौका ठीक की और एक अन्धे नाविक के संरक्षण में उसे कर दिया जिसने सागर की अनेक आपत्तियों को झेलकर अत्यन्त बुद्धिमानी के साथ उस व्यापारिक नौका को वापस लाने में सफलता पाई। समुद्र-यात्रा से प्राप्त सुवर्ण, चाँदी, रत्न, मूँगे तथा हीरे-जवाहिरात आदि वणिकों ने आपस में बाँट लिये। इससे भी साझे का अनुमान होता है। हम प्रायः ५०० व्यापारियों या १०० व्यापारियों द्वारा नौकाओं के क्रय और माल के विक्रय का वर्णन पढ़ते हैं।[4] इस तरह जातकों में साझे की व्यापारिक नौकाओं

साझा
Partnership

---

१ लेखक की 'अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी', पृ० ७।

२ कॉवेल (Cowell) कृत अनुवाद, भाग १, पृ० २३६–४०।

३ वही, पृ० ८८।

४ चुल्ल सेट्ठि जातक, प्रथम, १२२, जातक, एकादश, १२८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

साझे के रक्षक एवं पारस्परिक समझौते के अनुसार छिप कर क्रय-विक्रय कर लेने के अवरोध के संकेत भरे पड़े हैं जिनसे सामूहिक (Corporate) साझे का पता चलता है।

व्यापार और व्यापार के मार्ग

स्वदेशी तथा वाह्य दोनों तरह के व्यापार काफी प्रगतिशील थे। निर्यात की प्रधान वस्तुओं में रेशम, मलमल, बहुमूल्य वस्त्र चाकू, अस्त्र-शस्त्र, पिन, काम किए हुए सामान, कालीनें, सुगन्धित द्रव्य, औषधि, हाथी दात, हाथी दाँत के काम, सोने-चांदी के आभूषण होते थे।[1] 'संख जातक' में हम देखते हैं कि एक ब्राह्मण व्यापारी ने एक नौका बना कर उसे अनेक व्यापारिक सामग्रियों से "सुवर्ण-भूमि"[2] (बर्मा तथा श्याम)[3] की यात्रा करने के उद्देश्य से बोझ कर ठीक किया था। आन्तरिक व्यापारिक मार्गों में से श्रावस्ती को पूर्व में राजगृह एवं उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत के गन्धार प्रदेश के तक्षशिला तक संयुक्त होने के संकेत जातकों में धनवान् वणिक् श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक के काफिलों के सम्बन्ध में मिलते हैं।[4]

'सुत्त-निपात'[5] में यह बतलाया गया है कि दक्षिण और पश्चिम के मार्ग आकर कौशाम्बी में माल तथा यात्रियों के कोशल और मगध जाने के लिए मिलते थे।[6] विनय के ग्रन्थों में गङ्गा के किनारे पूर्व से लेकर पश्चिम तक के नदी के प्रधान व्यापारिक मार्ग का अन्तिम स्थल या केन्द्र सहजाति बतलाया गया है जहाँ से यमुना के साथ ऊपर की ओर चल कर यह मार्ग कौशाम्बी पहुँचता था।[7]

---

१ बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ६८।

२ जातक, चतुर्थ, २१।

३ कॉवल-कृत अनुवाद, टि० १, पृ० १०।

४ जातक, प्रथम, ६२; वही, ३७७ तथा आगे।

५ श्लोक १०११—१३।

६ लेखक की 'अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी,' पृ० ७।

७ वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरुकच्छ नाम के एक समुद्री बन्दरगाह का स्पष्ट उल्लेख हम जातकों (चतुर्थ, १३७) में पाते हैं। इसे काठियावाड़ का वर्त्तमान भड़ोंच नामक नगर निर्धारित किया गया है। अपरान्त प्रदेश में अवस्थित सुपारक नाम का एक दूसरा बन्दरगाह धम्मपद की टीका[1] एवं दीपवंस (पृ० ५४) तथा महावंस (पृ० ६३) में मिलता है डा० बी० सी० ला इसके लिए बम्बई के थाना जिले का सुपारा या सोपारा नामक स्थान निर्धारित करते हैं [जी० इ० बी०, पृ० ५८] जहाँ से अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति मिली है। सुप्पारक जातक में तो यह नाम किसी बन्दरगाहवाले नगर के नाविकों के स्वामी के लिए प्रयुक्त हुआ है। नदियों के किनारे अवस्थित बन्दगाहों के अनेक संदर्भों में ये नाम गिनाये जा सकते हैं—कौशाम्बी, सहजाति, तथा सरयू के किनारे वर्त्तमान अयोध्या, राप्ती के किनारे श्रावस्ती (सावत्थी), गंगा के किनारे काशी, यमुना के किनारे कौशाम्बी एवं मधुरा अथवा मथुरा, तथा गोदावरी के किनारे पोतन (अस्सक प्रदेश की राजधानी)।[2] गहरी और व्यापार-योग्य नदियों के किनारे अवस्थित ये नगर माल और यात्रियों के बहुत बड़े केन्द्र थे। 'दीघ निकाय' के अनुसार उस समय के छः प्रधान नगरों में चम्पा, राजगृह, सावत्थी, साकेत, कौशाम्बी एवं वाराणसी की गणना होती थी।[3] जातक-ग्रन्थों से अन्य नगरों का भी पता चलता है जिनमें सब से पहले तो तक्षशिला का भी उल्लेख होना चाहिए। यह उस समय विद्या का प्रमुख केन्द्र था जहाँ से विद्या प्राप्त कर पाणिनि, जीवक, कौटिल्य जैसे निष्णात विद्वानों ने अपने विषयों में महान् प्रतिष्ठा पाई थी। तक्षशिला के बाद हम अङ्ग देश के अस्सपुर (मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० २७१), लिच्छवियों की राजधानी वेसाली (वैशाली), मल्लों की राजधानी कुसीनारा, अवन्ती की राजधानी

बन्दरगाह और नगर

---

१ 'धाम्मपद कमेण्टरी,' द्वितीय, पृ० २१०।

२ सुत्त-निपात, श्लोक ९७७।

३ महापरिनिब्बान-सुत्तन्त (दीघ- निकाय)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उज्जयिनी, शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु, वैदेहों की राजधानी मिथिला, मद्र देश की राजधानी सांगल या साकल (वर्तमान स्यालकोट)[1] का नाम ले सकते हैं जिनका प्रचीन बौद्ध-साहित्य में उल्लेख मिलता है ।

बाज़ार और विनिमय का माध्यम (Barter)

माल के क्रय-विक्रय के लिए स्थान-स्थान पर बाजारें लगती थीं। वस्तुओं के आदान-प्रदान की प्रणाली को छोड़ कर लोग अर्थ को विनिमय का माध्यम बना चुके थे। बाजार के काम में एक तरह का सिक्का जिसे पालि साहित्य में 'काहापण' तथा संस्कृत में 'कार्षापण' कहते हैं व्यवहृत होने लगा । प्राचीन भारत के प्रचलित सिक्कों के रूप में कार्षापण का प्रयोग पाणिनि (लग० ५०० ई० पू०) ने किया है। यह तांबा और चांदी दोनों का होता था और इसके दोनों ओर पञ्च मार्के के चिन्ह किये रहते थे । श्रीयुत दुर्गाप्रसाद ने, जिन्होंने मौर्य-पूर्व अनेक पञ्च मार्के के सिक्कों का विवरण उपस्थित किया है अपने गवेषणापूर्ण निबन्ध में [जे० आर० ए० एस० बी०, न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेण्ट, सैंतालीसवां भाग, पृ० ७७] इसका निदेश किया है कि ऊपरी चिन्ह प्राय: विविध प्रकार के मिश्रित चिन्ह होते हैं यथा सूर्य के चित्र, बाहुओं सहित गोले, तीर के नोक, बैल के प्रतीक, मोर, कुत्ते पेड़ या पहाड़ी, हाथी, बैल, बारहसिंगा, मेढक एवं 'वेष्टनी के भीतर वृक्ष चैत्य' आदि। सिक्कों के दूसरी ओर के चिन्ह केवल पञ्च करने वाले और मुद्रा की जाँच करने वाले शर्राफों के चिन्ह हैं। सिक्के पर जितने ही अधिक चिन्ह हों उतना ही उसे पुराना अथवा प्रचलित समझना चाहिए। एक तांबे का कार्षापण तौल में १४६ ग्रेन तथा मौर्य-पूर्व एक चांदी का कार्षापण तौल में १०० रत्ती (=१८० ग्रेन) के हिसाब से ढाला जाता था; जब कि मौर्य कालीन सिक्का तौल में ३२ रत्ती =५६ ग्रेन हुआ करता था [वही]।

---

१ कुस जातक, सं० ५३१ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(३)

विदेशी आक्रमण

क—पारसीकों की चढ़ाई

प्रस्तुत काल के विवेचन में हम यह देख चुके हैं कि उत्तर-पूर्व भारत के छोटे राज्य और प्रजातंत्र या गण-तंत्र रियासतें धीरे-धीरे विशाल मगध साम्राज्य में सभी आत्मसात् होते जा रहे थे जिसका विस्तार नन्दों के राजत्वकाल में मध्यदेश की पश्चिमी सीमाओं तक हो गया था। परन्तु उसके बाद उत्तर-पश्चिमी भारत (उत्तरापथ) छोटे-छोटे लड़ाकू राज्यों में खण्ड-खण्ड कर बँटा हुआ था जो समृद्ध किन्तु पारस्परिक वैमनस्य से जर्जर थे; उनकी अवस्था देखकर भारत की सीमा-वर्त्ती शक्ति-सम्पन्न विदेशी शक्तियों को उन पर आक्रमण करने का मोह संवरण करना ही कठिन था। फलतः दो प्रसिद्ध आक्रमण हुए। इनमें से प्रथम पारसीकों की चढ़ाई थी जिनका अभियान गन्धार और सिंधु घाटी में हुआ था, दूसरा आक्रमण पंजाब पर सिकन्दर महान् ने किया।

छठवीं शती ई० पू० के मध्याब्द के लगभग सुविशाल अखामनी (Achaemenian) साम्राज्य के संस्थापक कुरुश अथवा साइरस (५५१–५३० ई० पू०, ने जिड्रोसिया होकर भारत पर एक आक्रमण किया था परन्तु जैसा स्ट्रैबो का कथन है 'उसे इस आक्रमण का दुष्परिणाम भोगना पड़ा और केवल सात व्यक्तियों के साथ प्राण-रक्षा कर वापस लौटना पड़ा।'[१] ऐसा प्रतीत होता है कि साइरस काबुल की घाटी के बाद अपनी शक्ति जमाने में असफल रहा, इस घाटी में उसने अवश्य प्लिनी (Pliny) के अनुसार कापिशी के सुप्रसिद्ध नगर का ध्वन्स किया था।[२]

साइरस

१ रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० १६०।

२ वही।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

परन्तु दारायवुश अथवा देरियस (लग० ५२२-४८६ ई० पू०) जो अखामनी राजवंश का तीसरा सम्राट् था अपने भारत-विजय के प्रयत्न में कहीं अधिक सफल रहा जैसा कि उसके बेहिस्तून, पर्सीपॉलिस तथा नक्श-ए-रुस्तम अभिलेखों से विदित होता है। बेहिस्तून अभिलेख[1] में गन्दार या गन्धार का उल्लेख उसके विजित राष्ट्रों की सूची में हुआ है। उसके पार्सीपॉलिस तथा नक्श-ए-रुस्तम अभिलेखों में हम गन्धार के साथ सिंधु (सिंधु घाटी) का उल्लेख पातेहैं। विद्वानों ने बेहिस्तून शिला-लेख की तिथि कम से कम ५१८ ई० पू० एवं पार्सीपॉलिस और नक्श-ए-रुस्तम अभिलेखों की तिथि ५१८ और ५१५ ई० पू० के बीच रखी है।[2] सिंधु घाटी की चढ़ाई इसलिए इसी समय मानी जानी चाहिए। भारत पर पारसीकों की चढ़ाई के उपर्युक्त आभिलेखिक प्रमाण की पुष्टि हेरोडोटस (Herodotus) के वक्तव्यों से होता है जिसने देरियस द्वारा स्थापित बीस क्षत्रप-अधिष्ठानों (Satrapies) की एक तालिका देते हुए यह बतलाया है कि भारतीय राज्य को देरियस ने 'बीसवाँ राज-विषय' बनाया था। हेरोडोटस ने इस विषय में इतना और निर्देश किया है कि देरियस के पास जितना राज-कर भारतीयों से आता था उतना उसके अन्य विषयों से कुल मिलाकर भी पूरा नहीं होता था। भारत से उसे ३६० टेलेन्ट सुवर्ण के चूर मिलते थे जो १०, ००००० पौण्ड स्टर्लिंग के बराबर होते हैं।[3] एक दूसरे स्थल पर [हेरोडोटस, चतुर्थ, ४४] वह लिखता है कि ५१७ ई० पू० के लगभग देरियस ने स्काइलाक्स के अधीन सामुद्रिक खोजियों का एक दल सिंधु नदो के अनुसन्धान के लिए भेजा था। स्काइलाक्स देरियस के दर्बार का एक यूनानी साहसिक था जिसकी सेवाओं से भारतीय प्रान्त के अनुसन्धान और उसके विजय में पारसीक सम्राट् ने यथेष्ट लाभ उठाया।

दारा लग० ५२२-४८६ ई० पू०

करयाण्डा का स्काइलाक्स

---

१ डी० सी० सरकार, 'सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स,' पृ० ४।

२ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ३३४।

३ वही, पृ० ३३५, तुलनार्थ हेरोडोटस, तृतीय, ६४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज़रज़ेस लग० ४८६-४६५ ई० पू०

भारत के क्षत्रप-अधिष्ठान पर पारसीकों का प्रभुत्व क्षयार्शा (ज़रज़ेस) के के राज्य-काल में भी ज्यों का त्यों बना रहा, इसका पता उसके पर्सीपॉलिस[1] के अभिलेख से चलता है। उसमें उसके क्षत्रप-अधिष्ठानों की सूची में गन्धार और सिंधु का नाम मिलता है। इसका और भी एक प्रमाण उसकी सेवा में एक भारतीय टुकड़ी की उपस्थिति है जिसे लेकर उसने यूनान पर आक्रमण किया था। ज़रज़ेस की सेना में अवस्थित इन भारतीय सैनिकों के साज-बाज के सम्बन्ध में हेरोडोटस [सप्तम, ६५] लिखता है :

"भारतीयों की पोशाक सूती कपड़ों की बनी हुई थी, उनके कंधों पर धनुष, बाँस की कमानियाँ और तीर लटक रहे थे, तीर के नोंक लोहे से मढ़े हुए थे।"

ऐसा जान पड़ता है कि भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर पारसीकों का प्रभुत्व अन्तिम अखामनी सम्राट् देरियस या दारा तृतीय के समय तक बना रहा; क्योंकि यदि एरियन (Arrian) का प्रमाण लें तो यही पता चलता है कि देरियस तृतीय ने सिकन्दर के साथ अरबेला नामक स्थान में ३३० ई० पू० के लगभग अपना अन्तिम युद्ध करते समय भारतीय सैनिकों की सहायता ली थी।[2]

भारत-पारसीक सम्बन्ध : सम्पर्क के परिणाम

यद्यपि पारसीकों की राजनीतिक प्रभुता भारत के एक अंश को ही स्पर्श कर सकी थी, उसके द्वारा स्थापित सम्पर्क के परिणाम दोनों देशों के लिए कई दृष्टि से विशेष उपयोगी सिद्ध हुए। वस्तुतः भारत-पारसीक सम्बन्ध तो अत्यन्त प्राचीन काल का था, उसके समक्ष तो छठवीं शती ई० पू० का भारतीय सीमा का अखामनी आक्रमण बिलकुल आधुनिक प्रतीत होता है। किसी समय हिन्दुओं के पूर्वज आर्य लोग तथा पारसी इन्डो-योरोपीय (Indo-European) कुल की एक ही शाखा के अन्तर्गत थे। यह बात वेद और अवस्ता ग्रन्थों के पढ़ने वालों

---

१ सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० १४।

२ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ३४१।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से छिपी नहीं रह सकती। दोनों जातियों के ऐतिहासिक सम्बन्ध के अनेक प्रमाण हैं—"प्रायः एक ही आर्य रुधिर दोनों की नसों में वर्तमान है, उनकी भाषाओं और परम्पराओं में काफी समानता है और इसी प्रकार उनके धार्मिक विश्वासों, संस्कार-विधियों, व्यवहारों तथा रीतिओं में काफ़ी साम्य पाया जाता है।"[१] वैदिक देवता वरुण और अवस्ता के उपास्य एवं ज़रथुस्त्र धर्म (Zoroastrianism) के प्रधान देवता अहुर मज़्दा के बीच एक निश्चित प्रकार का सम्बन्ध बतलाया गया है। इसी प्रकार भारतीय 'मित्र' एवं ईरानी 'मिथ्र' तथा कुछ अंश में ऋग्वेद के विजेता इन्द्र 'वृत्रहन' और अवस्ता के यश्तों के सर्वविजेता 'वेरेथ्रघ्न' के बीच कुछ सम्बन्ध बतलाते हैं। कुछ समानतायें 'यम' और 'यिम' में तथा आर्यों और पारसीकों द्वारा उनके धार्मिक-अनुष्ठानों में प्रायः एक ही प्रकार के पवित्र पेय-द्रव्य 'सोम' या 'हउम' के व्यवहार करने में दिखाई देती हैं। ईरान और भारत के अधिवासियों के बीच अत्यन्त पुरानी सगोत्रता प्रमाणित करने के लिए बीसों इस तरह की समानतायें उद्धृत की जा सकती हैं।[२]

ऊपर दिये गये वक्तव्यों की पुष्टि में १६०७ ई० में उत्तर-पूर्वी एशिया माइनर के बोग़ाज़-काइ नामक स्थान से प्राप्त कुछ क्यूनिफॉर्म (Cuneiform) अभिलेखों के आभिलेखिक प्रमाण रखे जा सकते हैं। इन प्रमाणों में मितानी और हिटाइट सम्राटों की लगभग १४०० ई० पूर्व की सन्धियों के लेख सुरक्षित हैं। साक्ष्य के लिए मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्य (अश्विनी कुमार) आदि वैदिक देवों को स्मरण किया गया है जिनमें से अधिकतर तो अवस्ता में भी आते हैं।

सिंधु घाटी के अखामनी आक्रमण से उत्पन्न राजनीतिक सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप इस पुरातन सम्बन्ध को अन्य प्रकार से भी दृढ़मूल होने का अवसर मिला। इससे दोनों देशों के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की मात्रा बढ़ गई। पारसी लेखकों ने भारत में आकर अर्मेक (Aramaic) ढंग की लेखन-प्रणाली चलाई जो आगे चलकर भारत के पश्चिमी प्रदेश में पाई जानेवाली शिला-पट्टियों पर अंकित 'खरोष्ठी' लिपि में विशेष

---

१ वही, पृ० ३१६।
२ वही पृ० ३२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप से विकसित हुई। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि पाटलिपुत्र में अशोक का स्तम्भ-प्रधान विशाल भवन, उसके स्तम्भों और शिलाओं पर अंकित अभिलेख तथा उसके स्तम्भों के ऊपर घण्टे के आकार के शीर्ष की उत्पत्ति अखामनी युग के पारसीक प्रभाव से हुई है। वस्तुतः मौर्य कला पर जो अशोक के समय में अपनी चरम सीमा को पहुँच गई पारसी कला का निश्चित प्रभाव व्यञ्जित है जो स्वयं चौथी एवं तीसरी शती ई० पूर्व यूनानियों के सम्पर्क से कुछ अंश में प्रभावित दिखलाई देती है।

ख—सिकन्दर का भारत पर आक्रमण

यूनानियों को भारतवर्ष के विषय में सबसे पहले पता देनेवाले पारसी लोग थे। पारसिक सम्राट् दारा की प्रजा में यूनानियों और भारतीयों दोनों की गणना होती थी। ज़रजेस की सेना में भारतीय सैनिकों की एक मुख्य टुकड़ी थी। उन्होंने थर्मापिली की रक्तस्नात घाटियों में अभियान किया था और मार्डोनिमस (Mardonius) के प्लेटिया के पराजय में वे भी सम्मिलित थे। सिकन्दर के हमारे देश में आगमन के पूर्व यूनान और भारत के बीच एक सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। प्रो० रौलिन्सन (Rawlinson) ने एक भारतीय दार्शनिक और सुकरात (Socrates) के मिलन की कहानी यूसीबियस (Eusebeus) के आधार पर (लग० ३३० ई० पू०) उद्धृत की है जो उन्हें हाल में मिली। सिकन्दर के अनुचरों के लेखों से यह सिद्ध होता है कि सिकन्दर ने भारतीय दार्शनिकों और साधुओं के बारे में वहुत काफी सुन रखा था और उनमें से कुछ से मिलने की तो उसे अभिलाषा भी थी।

पारसीक साम्राज्य के अन्तिम युद्धावरोध को नष्ट कर चुकने के बाद उसके पूर्वतम प्रान्त बलख़ (बैक्ट्रिया) के रमणीक प्रदेश में सिकन्दर ने एक यूनानी अभिनिवेश की स्थापना की थी जिसे उसने भारत पर आक्रमण करने के लिए मोर्चे का एक आधार बनाया था। बैक्ट्रिया से वह फिर काबुल खिसक आया और वहीं से भारत पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा। यहाँ उसने अपनी सेना के दो भाग कर दिये। अधिकांश सेना को उसने खैबर के दर्रे से कूच करने का आदेश दे दिया। उस समय ख़ैबर का दर्रा पंजाब की किसी भारतीय शक्ति द्वारा सुरक्षित नहीं था, पंजाब विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ALEXANDER'S CAMPAIGNS
IN INDIA

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राज्यों में बँटा हुआ था। पंजाब के दो सुप्रसिद्ध शासक तक्षशिलाधिपति आम्भीक जो सिन्ध और झेलम के बीच के प्रदेश का स्वामी था तथा पोरस (पौरव) जिसका शासन झेलम और रावी नदियों के मध्य स्थापित था, थे। यदि इन दो नरेशों ने चाहा होता तो वे सिकन्दर की मुख्य सेना को ख़ैबर के दर्रे के किसी भी सिरे से• आगे बढ़ने से रोक सकते थे और अपनी सम्मिलित शक्ति से यूनानियों के दाँत खट्टे कर देते अथवा जब यूनानी सैनिक सिन्ध नद को पार करने की युक्ति ढूँढ़ रहे थे उसी समय ये नरेश मिलकर उनकी योजनाओं को असफल बना सकते थे। पर भावी की प्रबलता के कारण ये पंजाब के दो शक्तिशाली नरेश जो एक दूसरे के प्रति इतने ईर्षालु थे कभी एक दूसरे से मिलकर भारत के इस संक्रामण दर्रे की रक्षा न कर सके जिसका परिणाम यह हुआ जैसा कि इतिहास से सूचित होता है अनेक बार विदेशियों के सफल आक्रमण होते रहे, एक व्यवस्थित राष्ट्रीय सुरक्षा के अभाव में प्राचीन काल से लेकर मध्य-युग तक इन आक्रान्ताओं की विजयश्री को अपहृत करनेवाले नरेश की सदा कमी रही। निरन्तर साहसिक कार्यों की खोज में फिरने वाले सिकन्दर ने स्वयं पर्वतों और नदियों की तरैटियों में अपना सैन्य संचालन अक्रम रखा जहाँ उसे क्रूर और युद्ध प्रिय जातियों का घोर सामना करना पड़ा। उनके साथ उसने अनेक दारुण लड़ाइयाँ लड़ी और एक अवसरपर तो उसे अपनी प्राण-रक्षा की भी आशा नहीं रह गई थी। आधुनिक सभ्यता से प्रभावित उन नृशंस युद्धप्रिय एवं स्वातंत्र्याभिमानी जातियों की सन्ताने आज भी उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त की पर्वत-माला में निवास करती हुई अपने पूर्वजों के दिखलाये गये मार्ग पर बराबर चलती जा रही हैं।

पर्वती जातियों का अवरोध: अश्वक

काबुल नदी के उत्तरवर्ती मार्ग से अभियान करता हुआ कुनार एवं स्वात घाटियों के पहाड़ी इलाके में उसे पहली बार एक भारतीय जाति का सामना करना पड़ा जो अश्वक (ग्रीक>अस्सकेनॉइ) नाम से विख्यात् थे और जिनका आवास स्वात घाटी के बिलकुल मध्य में था। उन लोगों ने योरपीय आक्रान्ताओं के दांत खट्टे कर दिये और उनका दृढ़तापूर्वक सामना किया। यहाँ तक कि एक स्थान पर स्वयं सिकन्दर घायल हो गया जिससे उसने प्रतिकार-स्वरूप संकुल संहार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
की घोषणा कर दी। कई लड़ाइयों में अश्वकों की हार हुई और अन्त में उन्हें अपने सुदृढ़ दुर्ग मस्सग की शरण लेनी पड़ी।

मस्सग का पतन

मस्सग पर सिकन्दर का अधिकार सहज ही नहीं हो सका इसके लिए काफी रक्त-पात हुआ और जब तक अश्वकों का प्रधान सेनानायक योरपीय तोप का लक्ष्य बनकर मारा नहीं गया मस्सग का पतन रुका रहा।

नीसियन

अश्वकों के कुछ पश्चिम और कोह-ए-मुर की निम्न शृंखला में नीसियनों का सम्भ्रान्त गणतंत्र था जो अपने को डायोनिसस (Dionysus) का वंशज कहते थे[१] और आक्रान्ताओं को उन्होंने अपने नाम तथा अपने पूर्वज के नीसा[२] में जल-स्थान होने के बीच समानता तथा वहाँ कथित देवता के पूज्य-वृक्ष, अंगूर और इवी, की लताओं का निर्देश किया। सिकन्दर ने सहर्ष उनकी सगोत्रता स्वीकार कर ली और अपने थके हुए सैनिकों को विश्राम करने तथा अपने बन्धुओं के साथ आनन्दोत्सव मनाने का आदेश दिया जिसमें खूब वारुणी सेवन, नृत्य और विलास का आयोजन हुआ।

इसी बीच मैसीडोनियनों की दूसरी वाहिनी खैबर के दर्रे को पार कर पेशावर के मैदान में उतरती दिखाई पड़ी। यह घटना लगभग ३२७ ई० पू० के अन्त की है। पेशावर का प्रदेश अष्टकों (ग्रीक >अष्टकेनॉइ) के राज्य का अंश था जिनकी राजधानी स्वात नदी के निचले सिरे पर अवस्थित पुष्कलावती (चारसदा) थी। उनके राजा ने आत्म-समर्पण न कर अपने को राजधानी के दुर्ग में उसके अभेद्य दीवारों से सुरक्षित कर लिया। परन्तु आक्रान्ताओं की विशेष दक्ष-सेना के आगे कब तक वह ठहर सकता था। उसकी हार हुई और सिकन्दर ने पार्श्ववर्त्ती उत्तरी पहाड़ी जातियों को नष्टकर पुष्कलावती आकर वहाँ फिलिप (Philip) नामक एक राजकर्मचारी

पुष्कलावती पर अधिकार

---

१ यूनानी वीरगाथा-परम्परा में इसे 'वारुणी का देवता' मानते हैं। (अनु०)।

२ नीसा डायोनिसस की धाय अथवा उसके जन्म-स्थान का नाम हो सकता है कै० हि० इ० भाग १ पृ० ३५४)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के नायकत्व में एक यूनानी स्कन्धावार की स्थापना की। इसके बाद उसका ध्यान पुष्कलावती और सिंधु के बीच के अनेक छोटे नगरों की ओर गया और उसने सिंधु के किनारे उस स्थान से कुछ हटकर ऊपर की ओर, जहाँ उसकी सेना की दूसरी टुकड़ी पहुंच चुकी थी, अपना शिविर रखा। सिकन्दर ने अपनी सेना के एक भाग को नौका द्वारा नदी पार करने के अभिप्राय से जल में उतारकर स्वयं ओहिन्द नामक स्थान में अटक से १६ मील ऊपर अपनी प्रमुख वाहिनी से जा मिला जहाँ सिंधु को पार करने के लिए उसके सेनानायकों ने पहले से नौकाओं का एक सेतु बना रखा था। नदी पार करते समय कोई दुर्घटना नहीं हुई, क्योंकि तक्षशिला का शासक आम्भीक जिसका राज्य सिंधु के ठीक पूर्व पड़ता था पहले ही सिकन्दर का वशवर्ती हो चुका था और उसने नगर के द्वार आक्रान्ता के स्वागत के लिए खोल रखे थे। सिकन्दर ने एक संधि द्वारा आम्भीक को अपना सामन्त मानकर उसे उसके प्रदेश में अधिष्ठित कर दिया।

भारतीय साधु

तक्षशिला में लोगों ने सिकन्दर को कतिपय भारतीय साधुओं की तपस्या की सूचना दी जिनकी ओर आकर्षित होकर उसने अपने एक कर्मचारी ऑनेसिक्रिटस (Onesicritus) को जो डायोजिनीज़ (Diogenes) का शिष्य था उन्हें निमंत्रित करने के लिए भेजा। स्ट्रैबो (Strabo) ने ऑनेसिक्रिटस का वह लेख सुरक्षित कर रखा है जिसमें उसने स्वयं लिखा है कि नगर से कोई दस मील की दूरी पर उसे पन्द्रह साधु दिखाई पड़े थे जो जलती हुई धूप में, जिसमें चट्टानों पर नंगे पैर चलना भी असंभव था, जड़ की तरह निरा नग्न पड़े हुए थे। उसने साधुओं को यह संवाद सुना दिया कि यवन नरेश उनसे कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इस पर एक साधु ने लापरवाही के साथ इस प्रकार उत्तर दिया—'कोई भी विजेता का अभियान लेकर योरपीय वेष में—घोड़े पर चढ़कर, लबादा पहने हुए चौड़े सिरों की टोपी देकर और ऊँचे जूते पहने हुए जैसा कि मैसिडनवाले पहनते थे, उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी नहीं हो सकता। उसके लिए तो उसे नंगा ही उनके पास जलती हुई शिलाओं पर आकर बैठना पड़ेगा।'[१] एक अन्य साधु

१ वही, पृ० ३५८; तुलनार्थ स्ट्रैबो (Strabo XVI, c. 715)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
ने सिकन्दर की इस बात के लिए प्रशंसा की कि वह तत्त्व-चिन्तन की ओर भी जिज्ञासा रखता है पर उसने यह भी कहा कि केवल वैभाषिकों के माध्यम से न तो वे उसे वास्तविक ज्ञान ही करा सकते हैं और न वह स्वयं उनके ज्ञान को ग्रहण कर सकता है। साधु द्वारा यह पूछा जाने पर कि क्या यवनों में भी तत्त्व-चिन्तन पर विचार हुआ है, ऑनेसिक्रिटस ने उन्हें पाइथागोरस (Pythagoras), सुकरात (Socrates) तथा अपने वयोवृद्ध गुरु डायोजिनेज़ के विषय में बतलाया। अन्त में तक्षशिला के राजा के विशेष आग्रह करने पर एक साधु ने लौकिक वस्त्रों में सिकन्दर के साथ जाना स्वीकार किया जिसकी उसके साथियों ने कटु शब्दों में आलोचना की। यूनानियों ने उसका नाम कालानॉस रख दिया जो संभवतः इसलिए पड़ा कि उन्होंने उसे अपने देशवासियों से विदा लेते समय 'कल्याण' (मंगल शब्द का उच्चारण करते हुए सुना था।[1]

तक्षशिला में राजा आम्भीक का भली प्रकार आतिथ्य ग्रहण कर तथा उससे सेना और रसद लेकर सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़ा और वितस्ता (हाइडस्पीज़, आधुनिक झेलम) के किनारे जा पहुँचा।

वितस्ता का युद्ध

इस स्थान पर सिकन्दर को पहली बार और सबसे भीषण सामना एक भारतीय शक्ति के साथ करना पड़ा। झेलम और चिनाब[2] नदियों के बीच के इलाक़े के पौरव नरेश पुरु (पोरस) ने हाइडस्पीज़ (झेलम) के किनारे आक्रान्ता का सामना करने की तैयारियाँ कर लीं। उसने ऊपरी झेलम के पूर्वी प्रदेश अभिसार के, जो वर्तमान कश्मीर की सीमा पर था, राजा से सहायता माँगी। पर उस राजा ने ठीक युद्ध के अवसर पर सहायता देने से मुँह मोड़ लिया। फिर भी वीर भारतीय नरेश पुरु का उत्साह किसी प्रकार कम न हुआ, उसने शत्रुओं द्वारा नदी न पार होने देने के लिए अपनी सेना संगठित की। उस वीर सम्राट् की स्मृति का हमें गर्व के साथ स्तवन करना चाहिए, क्योंकि वह भारतीय इतिहास

१ एरियन, सप्तम, २-४; स्ट्रैबो (C. 174 f.)।

२ यूनानी=एससाइनीज़, संस्कृत साहित्य में यह चन्द्रभागा के नाम से विख्यात है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के नायकों में से है। सिकन्दर को भारतीय सेना इतनी अपराजेय जान पड़ी कि उसने नदी के दूसरी ओर के अपने स्कन्धावार को एकदम छोड़कर नदी पार कर भारत के वीर और दृढ़संकल्पवान् शत्रुओं से लोहा लेना स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार बिना लड़े-भिड़े दिन पर दिन बीतने लगे। एक दिन अँधेरी

नदी के पार

रात के समय जब चारों ओर घनघोर वर्षा हो रही थी और रह-रहकर बिजलियों के कड़कने की आवाज सुनाई देती थी सिकन्दर धीरे से अपनी सेना के साथ सामने के भारतीय आवास से लगभग सत्रह मील दूर नदी के किनारे खिसक गया। शत्रु को धोखे में डाल रखने के लिए उसने अपने स्कन्धावार को ज्यों का त्यों दीपकों और मशालों से प्रदीप्त रखा और कुछ व्यक्तियों को वहाँ गान आदि करते हुए भी छोड़ दिया। एक चक्कर से लाभ उठाते हुए और एक झाड़ीदार द्वीप की ओट में सिकन्दर ने अन्त में अपने लगभग ११,००० चुने हुए सैनिकों के साथ नदी पार कर लिया।[१] पुरु के लिए यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात थी जिसका उसे कभी अनुमान भी नहीं हो सकता था, फिर भी उसने आशा का त्याग न कर एक अपर्याप्त सेना के साथ जिसमें २,००० सैनिक एवं १२० रथ थे, अपने राजकुमार को युद्ध के लिए भेज दिया। इतनी छोटी सेना भेजकर पुरु ने बुद्धिमानी नहीं की। युवक राजकुमार उत्साहहीन नहीं था, पर उसकी सहज ही में पराजय हुई और वह मार डाला गया

पुरु को अब स्वयं युद्ध-भूमि में आना पड़ा। यूनानी लेखकों के अनुसार उसकी सेना में ५०,००० पदाति, ३,००० घुड़सवार, १३,००० रथ तथा

---

१ यूनानी वृत्तान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि सिकन्दर नदी के ऊपरी अथवा निचले भाग की ओर बढ़ा। धारा के तीव्र होने तथा मौन भंग न होने देने के कारण ऐसा संभव है कि नदी पार करने के लिए वह निचले भाग की ओर ही खिसक सकता था। नदी पार करने का ठीक स्थान निश्चयपूर्वक तभी स्थिर किया जा सकता है यदि नदी की मोड और झाड़ीदार द्वीप का स्थान, जिससे आवरण का काम लिया गया था हमें भली प्रकार विदित हो सकें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१३० हाथी थे। युद्ध का सामने का मोर्चा इस योजना के अनुसार रखा गया था : बीच में तो हाथी कर दिये गये थे; पदाति सैनिकों की क़तार पीछे और हाथियोंके अगल-बगल थी; दोनों सिरों की रक्षा के निमित्त घुड़सवार नियत थे। भारतीय सेना शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा में थी जिन्होंने अपने तीरन्दाज़ घुड़सवारों द्वारा भारतीय सेना की बाईं टुकड़ी पर तीर बरसा कर और उन तीरों से घुड़सवारों को भगाते हुए आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। यूनानी तीरन्दाज़ों का प्रत्युत्तर देने में भारतीय तीरन्दाज़ असमर्थ थे, क्योंकि जिस भूमि पर वे लड़ रहे थे वह वर्षा के कारण गीली और दलदल की तरह हो रही थी जिस पर वे अपने लम्बे धनुष ठीक से टिका नहीं सकते थे। इसी कारण रथों की भी उपयोगिता चली गई थी जैसा कि कर्टियस के इस वर्णन से पता चलता है कि '(पिछली रात की) वर्षा के कारण बन गये दलदल और कीचड़ में वे बराबर फँस जाया करते थे और आगे किसी प्रकार बढ़ नहीं पाते थे।'[1] आक्रमण के बाद स्वयं सिकन्दर अपने अश्वारोहियों के साथ सामने आया जिससे भारतीय टुकड़ियों में बड़ी अशान्ति और गड़बड़ी फैली। भारतीय सैनिक फिर भी बड़ी वीरता से लड़े और जैसा कि प्लूटार्क (Plutarch) का कथन है, 'दिन के आठ घण्टे तक युद्ध-भूमि में उन्होंने ही अपनी प्रधानता दिखलाई।' इस प्रकार कुछ तो सिकन्दर के श्रेष्ठ अधिनायकत्व के कारण और कुछ पिछली रात की अमंगलकारी वर्षा के कारण युद्ध में हम पराजित हुए। पौरव राज, जो एक विशाल हाथी पर सवार होकर युद्ध का सञ्चालन कर रहे थे, जो वस्तुतः उनके क़द के ही अनुरूप था, अपनी सेना में भगदड़ मच जाने पर भी युद्ध से विमुख होकर पलायन की ओर उन्मुख नहीं हुए, उनके शरीर में अनेक मूर्च्छाकारी गहरे घाव हो गये थे। वे अन्त तक युद्ध-भूमि में डटे रहे और अन्त में निःशक्त एवं चेतनाहीन अवस्था में, जो रक्त की कमी के कारण आ उपस्थित हुई थी, बन्दी बना लिये गये। सिकन्दर इस महान् स्वदेशाभिमानी नरेश की अद्भुत वीरता से, जो इस समय उसका बन्दी था, इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसके साथ शिष्टता और दयालुता का बर्त्ताव किया।

युद्ध

१ Curtius, VIII, P. 208.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसने न केवल उसे उसका राज्य लौटा दिया, बल्कि उसमें और भी पूर्व के अधिकृत प्रदेश सम्मिलित कर के उसे अपना सहायक मित्र बना लिया।

दो नगरों की स्थापना कर जिनमें से एक न्हुसा (Nicaea) उसकी विजय के उपलक्ष में युद्ध-भूमि में स्थापित की गई थी और दूसरा बूसेफला (Bucephala) जिसका नाम उसके स्वामिभक्त घोड़े बूसेफलस के नाम पर पड़ा था, सिकन्दर झेलम (हाइडस्पीज़) और चिनाब (असिन्की) नदियों के बिचले भूभाग से घुस आया। चिनाब के पूर्वी किनारे पर यूनानियों द्वारा कथित ग्लौचुकायन (Glauganikai) लोग रहते थे जिन्होंने अपना स्वातंत्र्य पौरवों के विरोध में अक्षुण्ण रखा था। यूनानियों के ग्लोगनिक्रॉय डा० जायसवाल के अनुसार पाणिनि पर की गई काशिका नामक टीका में उल्लिखित ग्लौचुकायन ही थे। पर डा० रायचौधुरी को इसमें सन्देह, है, वे यह सुझाव उपस्थित करते हैं कि इसके साथ 'गुप्तकालीन सनकानीकों' की समानता पाई जाती है।[१] जाति के अर्थ में सनकानीकों का दो बार गुप्त अभिलेखों में नाम आया है। प्रथम, समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तम्भाभिलेख में जिसमें वे मालवों, आर्जुनायनों, यौधेयों, मद्रकों आदि के साथ परिगणित हुए हैं जो पड़ोसी थे और किसी समय उनका आवास पंजाब में था जहाँ से अपने मातृप्रदेश की स्वतन्त्रता अपहृत हो जाने के कारण छोड़ कर वे पूर्व और दक्षिण की ओर आये थे। सनकानीक लोग जिनका उल्लेख फिर चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के समय के उदयगिरि शिलालेख में हुआ है उस समय आधुनिक ग्वालियर (मध्य भारत) के प्रदेश में रहते थे। ऐसा संभव है कि गुप्तकालीन सनकानीक ही चौथी शती ई० पू० में पंजाब में ग्लौचुकायन नाम से विख्यात् रहे हों जब कि यूनानियों का प्रवेश हुआ और वे इन्हें ग्लौगनिकॉय कहने लगे। एरियन (Arrian) के अनुसार इनके पास सैंतीस चहारदीवारियों से घिरे हुए नगर थे जिनमें हरएक की जनसंख्या

पंजाब की राजनीतिक अवस्था

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० १६७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
५,००० से लेकर १०,००० मनुष्यों की थी।[1] मैसिडोनियनों की सुसंगठित सेना के आगे उन्हें झुकना पड़ा और उनका राज्य पोरस के सुपुर्द कर दिया गया।

इसी समय सिकन्दर को सिन्धु की पश्चिमवर्त्ती पादाक्रान्त जातियों के उसके क्षत्रपों निकेनॉर एवं शशिगुप्त के विरुद्ध विद्रोह तथा निकेनौर की हत्या के संवाद मिले। सिकन्दर ने उसी क्षण स्थिति सँभालने के लिए फिलिप (Philip) को भेजा। फिलिप द्वारा जो उस समय तक्षशिला का यूनानी शासक था विद्रोह शान्त कर दिए गए। पर इस प्रकार उन विघटन शक्तियों के प्रादुर्भाव की सूचना मिल गई जिन्होंने कुछ ही वर्षों में यूनानियों की सार-सत्ता ही मिटा दी।

विद्रोह और दमन

वर्तमान कश्मीर की पूर्वी पहाड़ियों में अभिसार के राजा ने जिस पर सुरक्षा का उत्तरदायित्व था पोरस के साथ युद्ध छिड़ने के पहले ही सिकन्दर को विद्रोहों के शान्त होने के साथ जिसमें अवश्य ही उसका गुप्त सम्बन्ध था झटपट सिकन्दर को आत्मार्पण कर दिया। सिकन्दर के पास उसके भेजे हुए उपहारों में चालीस हाथी भी थे।

अभिसार के राजा का आत्मार्पण

पौरव कुल का एक छोटा वंशज जो पोरस महान् का भतीजा था और चिनाब के पूर्वी इलाके का स्वामी सिकन्दर का वशवर्ती हो गया और उसका इलाक़ा ग्लौगनिकायों की तरह महान् पोरस के राज्य में मिला दिया गया।

छोटा पोरस

इसके बाद विजेता आगे बढ़ा और ३२६ ई० पू० के अगस्त मास में उसने रावी (प्राचीन परुष्णी अथवा इरावती) को पार किया जिसे यूनानी हाइड्राआटीज़ (Hydraotes) कहते थे। इस नदी के पार यूनानियों द्वारा अभिहित अद्रैस्टाय (Adraistai) नामक लोग रहते थे जो संभवतः

---

[1] एरियन, पञ्चम, पृ० २०; मैकक्रिण्डल का 'इनवेज़न औव अलेक्ज़ण्डर', पृ० ११२।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पाणिनि के अरिष्ट एवं महाभारत के अद्रिज रहे होंगे।[१] उनकी राजधानी पिम्प्रम सिकन्दर द्वारा रौंद डाली गई।

कथेवॉय

रावी और व्यास के बीच के प्रदेश की दूसरी जाति जिसे सिकन्दर ने पराजित किया कथेवॉय थी जो शायद संस्कृत के कठ लोग हैं।

संगल का घेरा

उनका प्रधान दुर्ग संगल जो गुरुदासपुर जिले में किसी जगह अवस्थित था, भग्न कर दिया गया। किले की रक्षा उन लोगों ने प्राणापण से की थी। रक्षा करनेवालों में से १७,००० तलवार के घाट उतारे गये थे।

सौभूति

सौभूति (ग्रीक सोफाइट्स) का राज्य झेलम नदी के पूर्व में कहीं अवस्थित था। उसने बिना किसी आनाकानी के यूनानियों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और उनके साथ मैत्री स्थापित कर ली। यूनानी लेखक लोगों की सत्प्रथाओं, उनके दर्शनीय रूप एवं शासन की व्यवस्था की प्रशंसा करते हैं। ग्रीक अक्षरों में सोफाइट्स नामांकित सिक्के जो बहुत से उपलब्ध हैं उसी के हैं।

व्यास के किनारे अन्तिम पड़ाव तथा प्रत्यागमन

सम्राट् विजयी सिकन्दर सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों की शृंखला में पाँचवीं एवं अन्तिम नदी हाइफैसिस (वर्तमान व्यास) तक पहुँच गया जो सतलज से उसके उद्गम से काफी हटकर ऊपर की ओर निकलती थी। यहाँ वह स्थिति का विश्लेषण करने के हेतु उतर गया। इस नदी के पूर्व नन्दों का विशाल साम्राज्य था जिनकी शक्ति, सम्पत्ति तथा समृद्धि के बारे में उसने बहुत कुछ सुन रखा था। उसके सैनिक थके-माँदे थे और उसे एक छोटी किन्तु अबाध भारतीय शक्ति का सामना कर झेलम के युद्ध में भारतीयों की पर्याप्त वीरता का पता चल गया था। वह एक ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य की शक्तिसम्पन्न और सुव्यवस्थित सेना के साथ मोर्चा लेकर अपनी शक्ति व्यर्थ गँवाना

१ महाभारत, सप्तम पर्व, १५९. ५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं चाहता था जिसमें यूनानी लेखों के अनुसार उसकी सेना से कहीं अधिक सैनिक थे। उसने इसी स्थान से लौटने का निश्चय किया जिसमें वह अपनी कीर्त्ति पर बिना किसी प्रकार का धब्बा लगे वापस जा सके, हार कर तो वह कहीं का भी नहीं रह जा सकता था। अपनी भारत-विजय को सूचित करने के लिए बारह विशाल प्रस्तर-वेदियाँ गड़वाकर वह लौट पड़ा और जिस मार्ग से चला था उसी से होता हुआ ३२६ ई० पू० के जुलाई मास के अन्त में झेलम के तट पर जा पहुँचा।

शिवि जन

यहाँ उसने नावों का एक बेड़ा तैयार किया और नदी के मार्ग से चल पड़ा। जब तक वह व्यास और एससाइनीज (चिनाब) के संगम तक नहीं पहुँच गया दोनों ओर उसका रक्षक-दल साथ-साथ प्रयाण कर रहा था। इस प्रदेश के आस-पास रहनेवाली दो जातियाँ सिबॉय (संस्कृत) शिवि[1] एवं अगलस्सियन (सं० > अग्रश्रेणी) थी।

अग्रश्रेणी

उन्होंने क्रमशः ४०,००० पदाति एवं ४०,००० पदाति तथा ३,००० घोड़ों की सेना लेकर खुलकर सामना किया, परन्तु सिकन्दर के आगे उनकी एक न चली, यद्यपि स्वयं सिकन्दर को कुछ कम क्षति नहीं उठानी पड़ी। कर्टियस ने लिखा है कि अगलस्सियन जब जय की आशा छोड़ चुके और उन्होंने अपना विनाश समीप देखा तो "अपने घरों में आग लगाकर स्त्रियों और बाल-बच्चों समेत आग की लपटों में जल मरे।"[2] इसी प्रणाली का अनुसरण आगे चलकर राजपूतों ने किया जिसे मध्यकालीन इतिहास में 'जौहर' कहते हैं।

---

१ ऋग्वेद, सप्तम, १८.७; महाभारत, १३० – ३१ ; 'वेदिक इन्डेक्स,' भाग द्वितीय, पृ० ३८१ – ८२।

२ Curtius, IX. 4.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु अपने प्रत्याभियान के समय सिकन्दर को जब वह झेलम में उस स्थान तक आ पहुँचा जहाँ रावी आकर उससे मिलती थी सबसे प्रचण्ड सामना मल्लाय (सं०> मालव) तथा आक्सीड्रकॉय (सं०>क्षुद्रक) लोगों के साथ करना पड़ा। ये दोनों वीर, स्वाधीन जातियाँ इसी प्रदेश में निवास करती थीं और उनके अपने गण (Republics) थे। इनमें से मालवों का आवास चिनाब और रावी के दोआब में तथा क्षुद्रकों का रावी के पूर्व में था। पहले तो इन जातियों में काफी शत्रुता थी, पर इस अवसर पर वे एक दूसरे से मिल गईं और उन्होंने ९०,००० पदातियों, १०,००० घोड़ों तथा ९०० रथों की एक विशाल सेना लेकर शत्रु पर आक्रमण कर दिया। भारतीय गणों के एक सुनिश्चित लक्ष्य के लिए संघ बना लेने का यह एक प्राचीन उदाहरण है। उनका यह प्रतिरोध विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध किये गये भारतीय प्रतिरोध के इतिहास में दूसरा उज्ज्वल और महान् उदाहरण है। सिकन्दर को मालवों के दुर्ग पर आक्रमण करते समय एक संक्रामक घाव लगा। दुर्ग पर काफी रक्त-पात के अनन्तर यूनानियों का अधिकार हो सका जिसके बाद कितने ही निरपराध पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की निर्मम हत्या की गई। मालवों के पतन के बाद क्षुद्रकों के लिए आत्म-समर्पण के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं रहा। सिकन्दर ने फिलिप के विषय (Satrapy) को इतना और बढ़ा दिया कि उसमें इन दोनों प्रजातंत्रों के प्रदेश भी सम्मिलित कर लिये गये। इसके बाद सिकन्दर को नदी के निम्न-भाग में अन्य जातियों के प्रदेश से होकर जाना पड़ा जिनके नाम यूनानी विवरणों में अबेस्टनॉय (Abastanoi सं०> अम्बष्ठ), क्जथ्रॉय (Xa-throi, सं०> क्षत्री) एवं ओस्सडिवॉय—महाभारत के वसाति[1]—मिलते हैं। इन्होंने या तो आत्मार्पण किया अथवा बलपूर्वक दबा दिये गये। जब वह अन्तिम संगम पर पहुँचा जहाँ असिक्नी अपने साथ दूसरी नदियों का जल लेकर बहती हुई सिन्धु से मिलती थी सिकन्दर रुककर एक दूसरा यूनानी

मालव और क्षुद्रक गण

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० १७३, महाभारत, सप्तम, १९. ११, ८९. ३७; अष्टम, ४४. ४९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

औपनिवेशिक (Hellenistic) नगर बसाया जो फिलिप के प्रान्त की दक्षिणी सीमा का बोध कराता था।

इसके बाद सिन्धु की निचली तरेटी पर जो उसके अन्तिम संगम के बाद पड़ती थी, अधिकार किया गया। इस प्रदेश में यूनानी लेखकों के अनुसार ब्राह्मणों की प्रधानता थी। यहाँ की राजनीतिक व्यवस्था गणतंत्रात्मक न होकर राजसत्तात्मक थी। यूनानियों को राजाओं द्वारा शासित कई रियासतें इस प्रदेश में मिलीं। इनमें से सिकन्दर को सर्वप्रथम सोग्डवॉय (Sogdoi) अथवा सोद्राय (Sodrai) के राजा ने आत्मर्पण किया। डा० रायचौधुरी के मतानुसार वे संस्कृत साहित्य के शूद्र हो सकते हैं जिनका अमीरों के साथ बराबर उल्लेख हुआ है जो सरस्वती के काँठे में अब लुप्त हो गई है, निवास करते थे।[१]

सिन्धु घाटी के निचले देश पर अधिकार

शूद्र

इस प्रदेश की सबसे बड़ी रियासत मूषिकों के राजा मौसिकेनॉस (Mousikanos) की थी जिसने वीरतापूर्वक लड़कर आत्म-समर्पण किया। उसकी राजधानी आलोर थी (मान-चित्र सं० २)।

मूषिक

एक दूसरा सरदार जिसे यूनानियों ने सम्बॉस (सं० > शम्भु ?) के नाम से अभिहित किया है मूषिकों का पड़ोसी था। वह शीघ्र सिकन्दर के सामने झुक गया। उसकी राजधामी का नाम सिन्दिमान था जिसे सिन्धु के किनारे स्थित सेहवान निश्चित किया गया।

शम्भु

सिन्धु घाटी के निचले भाग में सिकन्दर द्वारा अधिकृत 'अन्तिम नगर

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० १७३; पातञ्जल महाभाष्य भी देखिए, प्रथम. २. ३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पटल

पटल था जो दियोदोर (Diodorus) के अनुसार[१] स्पार्टा की तरह के राजकीय विधान के लिए प्रसिद्ध था जहाँ दो रूढ़िक्रमागत सम्राटों का शासन स्थापित था।[२] सिन्धु घाटी के इस निचले भू-भाग को सिकन्दर ने एक नये विषय के अन्तर्गत रखा जिसका शासक पिथॉन (Pithon) नियुक्त किया गया।

अन्तिम विदा

सिकन्दर की भारत में यह अन्तिम विजय थी जबकि वह इस देश में दो वर्ष के लगभग ३२६ ई० पू० से लेकर आगामी शरद तक रहा। अगले वर्ष सितम्बर के महीने में सिकन्दर ने भारतभूमि से विदा ले ली। पटल में उसने अपनी सेना के कई भाग कर दिये जिनमें से एक को नियार्कस (Nearchus) के संरक्षण में जल-मार्ग से प्रस्थित कर दूसरे को क्रेटेरस (Craterus) के अधिनायकत्व में बोलन के दर्रे से होकर जाने का आदेश दिया। वह स्वयं तीसरे भाग के साथ मकरान की मरुभूमि के संकटमय जलरहित प्रदेश से होकर चला। अनेक कठिनाइयों के बाद वह अपने साथियों से ईरान की भूमि पर मिल सका।

सिकन्दर के आक्रमण का परिणाम

सिकन्दर के भारतीय अभियान का प्रभाव यहाँ के इतिहास पर पड़े बिना नहीं रहा। पंजाब और सिन्ध की अनेक गणप्रधान रियासतों की स्वाधीनता छीनकर सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त के लिए उत्तर-पश्चिमी भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में ग्रथित करने का मार्ग प्रशस्त किया जिसका अभी तक सर्वथा अभाव था और इस प्रकार इस प्रदेश को पूर्ववर्ती संयुक्त नन्द साम्राज्य में जिसे वह एक सफल क्रान्ति द्वारा अधिगत कर सका था, मिला देने का अवसर प्रदान किया। डा० रायचौधुरी का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि 'यदि उग्रसेन महापद्म (महापद्म नन्द) चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्वी साम्राज्य का पिछला शासक

---

१ Diodorus, XVII, 104.

२ मैक क्रिण्डल : 'इनवेजन ऑव अलेक्जण्डर', पृ० २९६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था तो उस साम्राज्य की नींव उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में दृढ़ करनेवाला सिकन्दर था'।[१] सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप स्थल और जल के चार स्पष्ट मार्ग खुल गये जिससे भारत और पश्चिम के देशों में पहले की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया, क्योंकि अब व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की सुविधायें बढ़ गईं।

स्ट्रेबो[२] का कहना है कि कैस्पियन (Caspian) एवं कृष्ण सागर (Black Sea) के मार्ग से योरप को भारतीय माल भेजने की एक महत्त्वपूर्ण शृंखला में आमू दरिया (Oxus) एक कड़ी के समान था। यह मार्ग तीसरी शती ई० पू० में कितना अधिक चलता था इसके लिए वह पैट्रॉक्लीज (Patrocles) को उद्धृत करता है जो सेल्यूकस निकेतोर (Seleucus Nikator) के पुत्र एवं उत्तराधिकारी अन्तियोक प्रथम (Antiochus I) की नौ-सेना का एक अध्यक्ष था। उस युग में मध्य एशिया की समृद्धि और भारत के साथ प्रचुर व्यापार के प्रमाण बैब्रीलोनिया के ढले हुए यूनानी सिक्के हैं जिनकी अनेक निधियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत म मिली हैं।[३]

सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के विषय में उसके साथियों द्वारा रख छोड़े गये लेखों से जिनमें स्पष्ट तिथियाँ दी हुई हैं अनुवर्ती राजनीतिक घटनाओं के लिए निश्चित आधार पर भारतीय तिथि-क्रम का निर्माण हो सका है।

इसके अतिरिक्त उसके आक्रमण के दो अन्य गौण सांस्कृतिक परिणामों को भी देखना चाहिए।

१—सिकन्दर के विश्वव्यापी अभियान के उद्देश्यों में एक विजित देशों में यूनानी संस्कृति और सभ्यता का प्रसार करना था। इसलिए उसने एशिया में कई यूनानी उपनिवेश स्थापित किये। इनमें से एक उपनिवेश बैक्ट्रिया

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० १७५।
२ XI. 509.
३ देखिए, कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ४३३-३४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(Bactria) में स्थापित था। अशोक के निर्बल उत्तराधिकारियों के शासन-काल में बैक्ट्रिया के यूनानी सम्राटों ने भारत पर आक्रमण कर सिकन्दर की विजयों का पुनरावर्तन किया और पंजाब एवं भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा का काफी प्रवेश अधिकृत कर लिया। इन इण्डो-ग्रीक अथवा इण्डो-बैक्ट्रियन सम्राटों द्वारा भारतीय मुद्रा का परिष्कार हुआ जो भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में एक महत्त्वशाली योग-दान था। तक्षशिला से इण्डोग्रीक शासकों के जो सिक्के मिले हैं वे इतने सुन्दर हैं कि उनके प्रचार में आने के बाद पुराने भारतीय पंच मार्क के तथा दूसरे भद्दे सिक्के को लोगों ने पूछना छोड़ दिया और भारत में सर्वत्र यूनानी ढंग के अच्छी आकृतिवाले सिक्के ढलने लगे।

२—सम्राट् कनिष्क महान् के राजत्व काल में बैक्ट्रिया का प्रदेश भारतीय शासन के अन्तर्गत था। उसने बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों के निर्माण के लिए गन्धार में अनेक यूनानी एवं बैक्ट्रियन शिल्पी एकत्र कर रखे थे। ये मूर्तियाँ मूर्ति-निर्माण-कला की दृष्टि से यूनानी और भारतीय कला के मिश्रण की प्रतीक हैं। शिल्प का यह नवीन आदर्श जो 'गन्धार शैली' के नाम से विख्यात् है, भारत और उनके सीमा-प्रदेश में सिकन्दर के आक्रमण का दूसरा गौण परिणाम था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छठवाँ अध्याय

मौर्य-युग (४००-२०० ई० पू०)

१. राजनीतिक इतिहास

मौर्य-युग के इतिहास पर एक दृष्टि :

मौर्य-युग के साथ देश के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ होता है। पहली बार इसी युग में जाकर भारत को राजनीतिक दृष्टि से एक छत्र के अंतर्गत अखण्ड एकता प्राप्त हुई। यही नहीं उसका आधिपत्य सीमा से परले देशों में भी माना गया। शासन की जो पद्धति इस समय चलाई गई वह अपनी व्यावहारिकता एवं सरलता के कारण आधुनिक लेखकों को भी आश्चर्य में डाल देती है। भारत को न केवल आन्तरिक तथा बहिर्जगत् में एक महान् राजनीतिक शक्ति होने का गौरव प्राप्त हुआ, बल्कि झेलम के युद्ध में अपनी पराजय के धब्बे को एक दूसरे युद्ध-क्षेत्र में यूनानी सेनाओं को प्रतिशोध-स्वरूप नतमस्तक कर मिटा देना पड़ा। इस युग में वह जगत् का सांस्कृतिक दूत अथवा गुरु बन गया। भारतीय सभ्यता और धर्म के प्रचार के लिए ससार के सभी भागों में प्रचारक भेजे गये। विदेशों में अशोक के धर्मप्रचारकों ने पीड़ित मानवता के कष्ट-निवारण के लिए तरह-तरह के मानुषिक सेवा के उपायों का आश्रय लेकर अपने उद्देश्य की पूर्त्ति की। इसका श्रेय वास्तव में उसकी धार्मिक नीति को है जो सहिष्णुता और विश्व-बन्धुत्व के आदर्श पर अवस्थित थी जिनके सामने प्राकृतिक अथवा भौगोलिक सीमायें कोई चीज ही नहीं। इस प्रकार मौर्यकालीन भारत ने अपने एक महान् शासक के द्वारा शान्ति, बन्धुत्व और सांस्कृतिक एकता के आधार पर एक नये विश्व के निर्माण की कल्पना की और उसके लिए निरन्तर प्रयत्न में लगा रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

चन्द्रगुप्त मौर्य (लग० ३२२-२९८ ई० पू०)

इस युग का प्रवर्तक जिसके कारण मौर्य का समय अतुल ऐश्वर्य और श्री से सम्पन्न गिना जाता है, चन्द्रगुप्त मौर्य था। (इस विलक्षण पुरुष के माता-पिता कौन थे, यह अब भी रहस्य का विषय बना हुआ है।) डा० विन्सेण्ट स्मिथ प्रभृत अनेक विद्वानों द्वारा मान्य उसका कुल (ब्राह्मण साहित्य के आधार पर निर्णीत हुआ उसके अनुसार वह नन्द राजवंश का अवैध कुलोद्भव था और उसके राजवंश का नाम उसकी माता मुरा के नाम पर पड़ा था जो शूद्रा थी, परन्तु पाणिनि के अनुसार यह सिद्ध नहीं होता। पाणिनि (चतुर्थ, १. ११३ सिद्धान्त कौमुदी, १११६) ने मुरा के पुत्र के लिए जो मातृमूलक (Metronymic) रूप रखा है वह 'मौरः' होगा, 'मौर्यः' नहीं जो मुरा-पुत्र का पितृमूलक (Patronymic) रूप है (चतुर्थ, १. १५१ एवं सि० कौ०, ११७५)।[१] (बौद्ध साहित्य में उसका जो उल्लेख मिलता है उसमें उसे मोरिय राजकुल का एवं क्षत्रिय माना गया है।[२]) दीघ निकाय के महापरिनिब्बान सुत्त में एक स्थल पर मोरिय पिप्फलिवन के क्षत्रिय शासक कहे गये हैं।[३] बौद्ध संस्करण ही अधिक ठीक जान पड़ता है।

वंश और प्रारम्भिक जीवन

मुद्राराक्षस में दिये हुए वृत्तान्तों तथा प्लूटार्क (Plutarch) और जस्टिन (Justin)[४] जैसे यूनानी लेखकों की कृतियों के आधार पर और

---

१ विशेष अध्ययन के लिए श्री सी. डी. चटर्जी का 'अर्ली लाइफ आव चन्द्रगुप्त मौर्य फ्रौम जैन सोर्सेज' (बी० सी० लॉ, स्मृतिग्रन्थ, खण्ड १, पृ० ५९०-६१०) शीर्षक गवेषणापूर्ण निबन्ध पढ़िए।

२ महावंस (गीगर-द्वारा सम्पादित), पृ० ३०; दिव्यावदान (कॉवेल और नील का संस्करण), पृ० ३७० ।

३ दीघ निकाय (महापरिनिब्बान सुत्तन्त)।

४ Life of Alexander, LXII.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके जन्म-विषयक बौद्ध वृत्तान्त के साथ सामञ्जस्य स्थिर कर हम उसके प्रारम्भिक जीवन का एक विश्वस्त वृत्तान्त प्रस्तुत कर सकते हैं : पिप्फलिवन जो अपनी स्वाधीनता खो चुका था और नन्द साम्राज्य में मिला लिया गया था जो सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दक्षिण में कलिङ्ग एवं पश्चिम में व्यास तक फैला हुआ था। प्रायः सभी विवरण इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि एक विशाल एवं समृद्धशाली साम्राज्य का शक्तिशाली शासक होते हुए भी महापद्म नन्द अपने शोषण और ब्राह्मण-द्वेषी प्रवृत्ति के कारण जनता में अप्रिय हो रहा था। इस फैले हुए असन्तोष का सञ्चालन कभी स्वाधीन रहे मोरियों अथवा मौर्यों के कुल के महत्त्वाकांक्षी तरुण कुमार के हाथों में आ पड़ा। इससे राज-दरबार में उसका रहना असंभव हो गया। वह भागकर पंजाब आया जो नन्द शासन के आवर्त्त से बाहर था। यहाँ उसकी भेंट सिकन्दर से हुई और उसने यथेष्ट युद्ध का अनुभव प्राप्त किया। उसके जीवन की यह अवस्था ठीक शेरशाह के निर्वासन की अवस्था से मिलती-जुलती है जिसने पानीपत की लड़ाई में बाबर के स्कन्धावार में एक अतिथि के रूप में रहकर इसी तरह के अनुभव प्राप्त किये थे।

पंजाब की राजनीतिक स्थिति ने चन्द्रगुप्त के लिए एक अच्छा अवसर ला उपस्थित किया। सिकन्दर के भारत-भूमि से विदा लेते ही यूनानियों के भाग्य ने पलटा खाया। सिकन्दर द्वारा ईरानी आदर्श पर प्रचलित क्षत्रप प्रणाली में अनेक दोष आ गये। सिकन्दर के प्रधान क्षत्रप फिलिप की हत्या की गई (३२५ ई० पू०) जिसका कारण एरियन के अनुसार 'यूनानियों और मैसिडनवालों का द्वेष' था।[१] परन्तु यह जनता के विदेशी शासन के प्रति असन्तोष का भी परिणाम हो सकता है।[२] सिकन्दर ने उसके स्थान में दूसरा क्षत्रप नियुक्त करने के बदले उस क्षत्रप-विषय का शासन तक्षशिला के राजा को सिपुर्द कर दिया। यह वास्तव

चन्द्रगुप्त द्वारा यूनानियों के हाथ से पंजाब का स्वाधीन होना

१ Arrian VI. 27. 2.

२ डा० राधाकुमुद मुकर्जी, 'चन्द्रगुप्त मौर्य ऐण्ड हिज टाइम्पृस', पृ० ४६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में भारतीय विजित प्रदेशों पर से यूनानियों के अधिकार के छिनने का उपक्रम था। इसके बाद ही ३२३ ई० पू० बैबीलोनिया से सिकन्दर की मृत्यु की अप्रत्याशित घटना का संवाद आ गया जिससे उसके सेनानायकों में कुहराम मच गया और वे शक्ति के लिए परस्पर झगड़ने लगे। गृह-युद्ध का परिणाम दो विभाजन-सन्धियाँ थीं जिनके द्वारा उन्होंने साम्राज्य के कई टुकड़े कर डाले। इनमें से पहली सन्धि ३२३ ई० पू० में बैबीलोनिया में हुई थी और दूसरी ३२१ ई० पू० में त्रिपरदिसस (Triparadisus) नामक स्थान पर।

दूसरी विभाजन-सन्धि में 'सिन्धु के पूर्व भारत का कोई प्रदेश' साम्राज्य में नहीं सम्मिलित किया गया था। सिन्ध के यूनानी शासक पिथॉन (Pithon) को अपने प्रान्त से हटाकर सिन्धु और पैरोपैनिसस (Paropanisus) के बीच के प्रान्त का संरक्षक नियुक्त किया गया। भारत में केवल एक यूनानी दूत इवुदिम (Eudemos) बच रहा, किन्तु साम्राज्य में उसकी स्थिति नगण्य थी और विभाजनों में उसका कहीं उल्लेख तक नहीं हुआ है।[1] इस स्थिति के विश्लेषण से यही प्रतीत होता है कि पंजाब की स्वातंत्र्याभिमानी जातियों का नेतृत्व एक ऐसे विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथों में आ गया था जिसने ३२१ ई० पू० के त्रिपरदिसस के दूसरे विभाजन के पहले यूनानियों को सिन्धु से पार खदेड़ रखा था। इस स्वातंत्र्य-संग्राम का नेता और सञ्चालक चन्द्रगुप्त था। यूनानी लेखकों में केवल जस्टिन इस घटना का उल्लेख करता है। उसके अनुसार: 'सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारत ने अपने कन्धे से दासता के जुवें को इकबारगी उठाकर अलग कर दिया और उसके प्रान्तीय शासकों को मृत्यु के मुँह में भेज दिया। इस स्वाधीनता का श्रेय सैण्ड्रॉकोट्टस को है।'[2]

नन्द वंश का उन्मूलन

पंजाब को स्वाधीन कर चन्द्रगुप्त ने अपना ध्यान मगध के राजसिंहासन पर से नन्दों को हटाने की ओर लगाया। उसके जीवन की इस सनसनीदार घटना के विषय में भारतीय साहित्य से यथेष्ट जानकारी होती है जिसमें इस महत्त्वपूर्ण घटना की अनुश्रुति चली आ रही है। ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थ सभी इसका संकेत करते हैं और उनमें इस मूल तथ्य पर कोई

---

१ वही, पृ० ५०—५१; तुलनार्थ डियोडोर (Diodorus)।

२ Justin XV. 4. एन्श्येण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, मैक क्रिण्डल का अनुवाद, पृ० ७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विवाद नहीं पाया जाता कि चन्द्रगुप्त ने मगध के राजसिंहासन से नन्दों को उखाड़कर उस पर अपने राजवंश को अधिष्ठित किया। पहले की रचनाओं में सुरक्षित अनुश्रुति को अधिक स्पष्ट ढंग और विस्तार के साथ प्रस्तुत करने का विशाखदत्त ने अपने कलापूर्ण एवं रोचक नाटक 'मुद्राराक्षस' द्वारा किया है जिनकी रचना लगभग पाँचवीं या छठवीं शती की है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त का प्रधान सहायक पर्वतक बतलाया गया है। पर्वतक ही पोरस था यह डा० थामस (Dr. F.W. Thomas) का निर्धारण सर्वथा युक्तिसंगत जान पड़ता है।[१] कारण स्पष्ट हैं। सिकन्दर का विश्वास-पात्र बनकर पोरस पंजाब में सबसे शक्तिशाली हो गया था और उसके अन्तर्गत ऊपरी पंजाब से लेकर नन्द साम्राज्य के कुछ भाग तक का सारा प्रदेश आ गया था। इसलिए उसका उस संघ में एक मुख्य सामन्त के रूप में सम्मिलित किया जाना आवश्यक था जिसके अध्यक्ष चन्द्रगुप्त का उद्देश्य मगध साम्राज्य पर आक्रमण कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना था। नाटककार ने चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य द्वारा पर्वतक की हत्या का षड्यंत्र रचवाया है। पर भारत-स्थित यूनानीहितों के प्रतिनिधि इबुदिम को पोरस के सहसा फूट जाने के कारण जो धक्का पहुँचा उसकी यथार्थता पर ध्यान देते हुए इस यूनानी वृत्तान्त की प्रामाणिकता बढ़ जाती है कि इस हत्या में वस्तुतः इबुदिम का हाथ था और इसके लिए चाणक्य उत्तरदायी नहीं हो सकता। यह घटना ३१७ ई० पू० की है जब चन्द्रगुप्त को मगध के राजसिंहासन पर बैठे काफी समय हो गया था। पोरस के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उसमें स्वदेशाभिमान इस प्रकार कूट-कूटकर भरा हुआ था कि विदेशी प्रभुता उसने केवल विवशता की दशा में स्वीकार की थी। अतः उसके लिए चन्द्रगुप्त से मिल जाना बिलकुल स्वाभाविक था जबकि चन्द्रगुप्त ऊपरी पंजाब और सिन्ध से विदेशी सत्ता को हटाने के लिए नियुक्त स्वातंत्र्यवाहिनी के सफल सञ्चालक के रूप में अपना परिचय दे चुका था। इसमें संदेह नहीं कि इस महत्त्वपूर्ण मैत्री-सम्बन्ध के स्थापित करने में चन्द्रगुप्त के मार्ग-दर्शक,

---

१ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ४७१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सलाहकार और मित्र चाणक्य की, जो एक अत्यन्त मेधावान्, कूटनीतिज्ञ ब्राह्मण था, एक राजनीतिक चाल थी; अथवा यों भी कह सकते हैं कि सम्पूर्ण क्रान्ति का सञ्चालन उसी के संकेत पर हो रहा था। ऐसी अनुश्रुति है कि इस क्रोधी ब्राह्मण का तत्कालीन नन्दराज के प्रति व्यक्तिगत रोष था। नाटक में इस सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया है। पर स्वतंत्र प्रमाणों के आधार पर यही पता चलता है कि चन्द्रगुप्त को नन्दों का उन्मूलन कर राजसिंहासन प्राप्त करने में अनेक दुर्द्धर्ष लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। नन्द-साम्राज्य की सैन्य-शक्ति का परिचय हमें पहले मिल चुका है। 'मिलिन्द पह्नो'[1] में एक स्थल पर "१०० कोटि सैनिकों, १०,००० हाथियों, १ लाख घोड़ों और ५,००० रथों" के युद्ध में संक्षय का एवं नन्द-सेना के सेनापति भद्दसाल का निर्देश पाया जाता है। युद्ध के हताहतों की संख्या यद्यपि अतिरञ्जित है, इससे उसकी गरिमा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

हम चन्द्रगुप्त मौर्य के मगध के सिंहासन पर आरोहण एवं मौर्य राजत्व के आरम्भिक काल का समय लग० ३२२ ई० पू० मान सकते हैं। तिथि के इस प्रश्न की परीक्षा प्राप्य सामग्री के आधार पर इस प्रकार करेंगे।

राज्यारोहण का काल : लग० ३२२ ई० पू०

यूनानी प्रमाणों के आधार पर उपलब्ध कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ जिनके विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता, वास्तव में बहुत सहायक हैं। ३२५ ई० पू० में फिलिप की हत्या की गई जो यूनानी शासन के प्रति खड़े किये अश्वकों के विद्रोह का परिणाम था। इसके बाद ही ३२३ ई० पू० में सहसा सिकन्दर की मृत्यु हो गई। उसी वर्ष उसके सेनानायकों में साम्राज्य के बँटवारे के प्रश्न को लेकर झगड़ा हुआ जिसके परिणाम-स्वरूप बैबिलोनिया में साम्राज्य का विभाजन किया गया। ३२१ ई० पू० में त्रिपरदिसस नामक स्थान पर साम्राज्य के पुनः बँटवारे की नौबत आई। इस विभाजन-सन्धि में सिन्धु के पूर्व किसी यूनानी क्षत्रप-विषय का उल्लेख नहीं हुआ। इससे साफ जान पड़ता है कि ३२१ ई० पू० तक

---

१ पालि पाठ, पृ० २९२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यूनानी सिन्धु के पार खदेड़ दिये गये थे और सारा पंजाब एवं सिन्ध का निचला भू-भाग चन्द्रगुप्त के अधीन एक नवोत्थित भारतीय साम्राज्य में आत्मसात् कर लिया गया। यह परिणाम जिन घटनाओं, पंजाब की स्वाधीनता, नन्दों के उन्मूलन, मगध के सार्वभौम राजसिंहासन पर आरोहण तथा पंजाब और सिन्धु के प्रदेश के आत्मीकरण, का फल था वे सभी ३२३ ई० पू०, जब कि सिकन्दर का देहावसान हुआ, और ३२१ ई० पू०, जब त्रिपरदिसस में दूसरे विभाजन के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए, के बीच के दो वर्षों में घटीं। [स्वतंत्रता के युद्ध की तैयारी सिकन्दर के भारत छोड़ चुकने के पहले ही ३२५ ई० पू० में फिलिप की हत्या के साथ आरम्भ हो चुकी थी।] अतः ३२२ ई० पू० ही चन्द्रगुप्त के मगध के सिंहासन पर आरूढ़ होने की सबसे अधिक संभावित तिथि हो सकती है जिसके बाद और ३२१ ई० पू० के समाप्त होते-होते उसने मुक्त किये गये पंजाब तथा सिन्धु के पूर्ववर्ती अन्य यूनानी प्रदेशों को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का यह काल (३२२ ई० पू०) अन्य प्रमाणों की समीक्षा से भी पुष्ट होता है। कैण्टन में रखे हुए एक प्रसिद्ध चीनी लेख में जिसे "विन्दुओं का लेख" (Dotted Record)[१] कहते हैं, भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तिथि-क्रम वार्षिक विन्दु-सरणी दी हुई है। विन्दुओं का क्रम वस्तुतः बुद्ध के निधन से आरम्भ होकर ४८९ ई० तक जाता है जब विन्दुओं का पूर्ण योग ९७५ होता है। यदि विन्दुओं के आरम्भ होने में एक वर्ष का व्यवधान मान लिया जाय तो उपर्युक्त सरणी के अनुसार परिनिर्वाण का समय (९७५+१—४८९) ४८७ ई० पू० मानना होगा। फिर पालि लेखों में 'परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अशोक के राज्याभिषेक' का निर्देश (महावंस, गीगर की टि०) मिलता है। वहीं 'उसके राज्यारोहण एवं पाटलिपुत्र में विहित राज्याभिषेक के बीच चार वर्ष का व्यवधान' (वही, चतुर्थ, २२) बतलाया गया है। इस प्रकार के राज्यारोहण का समय २७३ ई० पू० तथा राज्याभिषेक का २६९ ई० पू० रखा जा सकता है।

---

१ जे० तकाकुसु, जे० आर० ए० एस०, १८९६, पृ० ४३६ तथा आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यों यदि हम इन दो तिथियों ३२२ ई० पू० को चन्द्रगुप्त के तथा २७३ ई० पू० को अशोक के राज्यारोहण का समय मान लें जैसा कि दो स्वतंत्र स्रोतों से ज्ञात होता है जिनकी विवेचना ऊपर की गई है और उन्हें देशज आधार पर पौराणिक लेखों से मिलायें तो आश्चर्यजनक समानता पाई जायगी।

पौराणिक आधार

पुराणों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष एवं उसके पुत्र बिन्दुसार ने २५ वर्ष शासन किये जिससे अशोक का राज्यारोहण (३२२—२४ + २५) २७३ ई० पू० निकलता है।

राजगद्दी पर बैठते ही चन्द्रगुप्त की सैनिक-शक्ति की परीक्षा आरम्भ हो गई। इस समय सिकन्दर के पूर्वी युद्ध का एक सेनानायक सेल्यूकस निकेतोर पश्चिमी एवं मध्य एशिया में प्रबल हो रहा था और उसने सिकन्दर के दूसरे सेनानायक ऐण्टिगोनस (Antigonus) को जो उसका प्रतिस्पर्धी था, कई लड़ाइयों के बाद पराजित कर (३१२ ई० पू०) उन प्रदेशों में अपनी धाक जमा लिया था। उसके राज्य के पूर्वी प्रान्त भारतीय सीमा से लगे हुए थे और उसमें भी सिकन्दर के समान भारत विजय की लालसा जग रही थी। अन्त में ३०५ ई० पू० में उसने भारतवर्ष पर आक्रमण कर दिया। पर चन्द्रगुप्त द्वारा युद्ध में वह बुरी तरह पराजित हुआ। जिस स्थान पर यह युद्ध हुआ उसका उल्लेख यूनानी लेखों में नहीं पाया जाता। पर यूनानियों के पराजय के विषय में स्ट्रैबो के वृत्तान्तों से सहज ही जाना जा सकता है जो विस्तार-पूर्वक उस दयनीय सन्धि की शर्तों का उल्लेख करता है जिन्हें मानने के सिवाय सेल्यूकस के पास और कोई चारा न था। इस सन्धि के अनुसार सेल्यूकस को कन्दहार (अराखोसिया), काबुल (पैरोपैनिसडा, बलूचिस्तान (जेड्रोसिया) और हेरात (एरिया) के प्रदेश चन्द्रगुप्त को समर्पित करने पड़े। चन्द्रगुप्त ने अपने पराजित शत्रु के साथ शिष्टता और दया का बर्ताव किया। उसने पाँच-सौ हाथी तो उसे उपहार-स्वरूप भेंट किये और इस एशिया-स्थित यूनानी शासक के साथ एक वैवाहिक सम्बन्ध

सेल्यूकस निकेतोर की पराजय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापित कर उसे सदा के लिए अपना मित्र बना लिया। विवाह की बात एपियन (Appian) ने लिखी है।[1]

सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज नामक एक राजदूत भी भेजा था जो यहाँ आकर पाटलिपुत्र में रहा। मेगस्थनीज की पर्यवेक्षण-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी और उसे वस्तुतः एक इतिहासकार का मस्तिष्क प्राप्त था। उसने यहाँ के राजदरबार, देशवासियों की स्थिति एवं सम्राट् की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने जो निरीक्षण सामने रखे हैं, वे मौर्यकालीन इतिहास के जानने के एक बहुमूल्य एवं उपयोगी साधन हैं।

मेगस्थनीज

चन्द्रगुप्त के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के पश्चात् उसके युद्धों और विजय के सम्बन्ध में कोई स्वदेशी अथवा यूनानी स्पष्ट और प्रत्यक्ष समकालिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल सीरिया के यूनानी सम्राट् सेल्यूकस निकेतोर के साथ युद्ध का संकेत मिलता है जिसका वर्णन पहले कर आये हैं। इस बात से कि अशोक जब राजसिंहासन पर बैठा तो उसके साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में मैसूर तक था। साफ पता चलता है कि तामिल रियासतों को छोड़कर अधिकांश दक्षिण भारत मौर्य साम्राज्य के अधीन हो चुका था। अशोक के मैसूर जिले में सिद्धपुर, ब्रह्मगिरि तथा जतिङ्ग-रामेश्वर नामक स्थानों में पाये गये अभिलेखों, कोपबल तालुक के गोवीमठ और पालकिगुण्डु अभिलेखों, दक्षिण में निजाम की रियासत के मास्की शिलालेख एवं कर्नाल जिले के गूटी अभिलेख से सुदूर दक्षिण की चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र एवं केरलपुत्र रियासतों के अतिरिक्त प्रायः समस्त दक्षिण पर अशोक के राज्याधिकार का निर्देश होता है। उसके द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेखों के अनुसार ये रियासतें उसकी सीमाओं के आवर्त्त के बाहर पड़ती थीं। त्रयोदश शिलालेख से ही यह भी ज्ञात होता है कि अशोक ने केवल एक ही प्रादेशिक विजय की थी जिसके अनुसार उसने कलिङ्ग पर अधिकार किया था। अतएव

दक्षिणी और पश्चिमी प्रदेशों की विजय

१ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ४३१।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि यदि अशोक ने दक्षिण विजय नहीं की थी तो किसने की ? बहुत संभव है कि बिन्दुसार की ही यह विजय रही हो। उसकी 'अमित्रघात' (शत्रुओं का नाश करनेवाला) उपाधि से यह व्यक्त होता है कि अशोक की भाँति वह शान्तिप्रिय नहीं था और यह उपाधि उसे संभवतः अपनी विजयों के उपलक्ष में प्राप्त हुई थी। लगभग आठवीं या नवीं शती के महायान ग्रन्थ "आर्य-मञ्जुश्री-मूलकल्प", सुप्रसिद्ध जैन ग्रन्थकार हेमचन्द्र (१२०० ई०) तथा तिब्बती इतिहासकार तारानाथ (लग० १४०० ई०) का कथन है कि हिंसा का अग्रदूत चाणक्य चन्द्रगुप्त के बाद तक जीवित रहकर बिन्दुसार के भी समय में मंत्रित्व के पद पर प्रतिष्ठित रहा। तारानाथ के अनुसार 'चाणक्य ने सोलह नगरों के राजाओं और सामन्तों का विनाश कर बिन्दुसार को पूर्वी और पश्चिमी सागर के बीच के समस्त प्रदेश का स्वामी बना दिया।' दक्षिणी और पश्चिमी प्रदेशों के बिन्दुसार द्वारा विजित होने के पक्ष में कुल इतने ही प्रमाण का आश्रय लिया जा सकता है जैसा कि कुछ विद्वानों ने किया भी है।

पर तारानाथ का प्रमाण अधिक विश्वस्त और ऐतिहासिक लेखों के प्रकाश में बिलकुल ही उड़ा देने योग्य है। रुद्रदामन के गिरनार के शिलालेख में 'पश्चिमी सागर' के तटवर्ती प्रदेश सौराष्ट्र का वर्णन चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के एक विषय (प्रान्त) के रूप में हुआ है और त्रयोदश शिलालेख में स्वयं अशोक द्वारा अपने राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद 'पूर्वी सागर' के किनारे अवस्थित कलिङ्ग के प्रदेश को जीतने का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक दक्षिण का सम्बन्ध है इसका कहीं आभास भी नहीं पाया जाता कि बिन्दुसार कभी दक्षिण को गया था। फिर बिन्दुसार में विजेता होने की क्षमता कहाँ तक थी इसमें भी सन्देह है। तक्षशिला के विद्रोह के दमन के लिए एक सेनानायक के रूप में स्वयं न जाकर उसने अशोक को भेजा था। फिर यूनानी विवरणों से इसका पता चलता है कि उसके जीवन का एक बड़ा भारी आनन्द 'अञ्जीर और मधुमय सुरा' के सेवन तथा 'दार्शनिकों' के साथ वाद-विवाद करने में निहित था। इससे तो यही जान पड़ता है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि वह स्वभावतः विलासी था और इतना ही उसके लिए बहुत था कि वह बिना नये प्रदेश जीते अपने विशाल साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा। अतः यदि यह सत्य है कि बिन्दुसार ने दक्षिण की विजय नहीं की और अशोक को यह पैतृक अधिकार के रूप में मिला तो इससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि दक्षिण पर अधिकार चन्द्रगुप्त का जमाया हुआ था। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध दक्षिण से बतलानेवाले कुछ साहित्यिक और आभिलेखिक संकेत मिलते हैं जो बिन्दुसार के विषय में नहीं पाये जाते।

एक पुरानी जैन अनुश्रुति के अनुसार जो बाद में पुस्तकों[१] और अभिलेखों में लिपिबद्ध हुई जैन आचार्य भद्रबाहु ने बिहार प्रान्त में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ जाने के कारण कुछ जैनों के साथ दक्षिण को प्रवास किया था। यह प्रवास ही आगे चलकर जैन-धर्म के उस महान् संघभेद का कारण बना जिसने जैनियों को दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त कर दिया। 'राजावलिकथा' में पाटलिपुत्राधीश्वर चन्द्रगुप्त के राजकार्य का भार अपने पुत्र को सौंपकर भद्रबाहु का शिष्य होकर उनका अनुगमन करने का उल्लेख पाया जाता है। उसके अनुसार वे भद्रबाहु के प्रमुख शिष्य हो गये थे और उस समय भी अपने गुरु के पास उपस्थित थे जिस समय भद्रबाहु का शरीरपात हो रहा था। यह घटना श्रवण (श्रमण) बेलगोला की है जहाँ चन्द्रगुप्त ने कुछ वर्ष साधक के रूप में व्यतीत कर जैन रीति के अनुसार उपवास द्वारा प्राण त्याग किया।[२]

इस अनुश्रुति की प्रामाणिकता दिखलाने के लिए सबसे पहले ६०० ई० के दक्षिण से पाये गये एक अभिलेख का निर्देश आवश्यक है जिसमें भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त 'मुनि' का उल्लेख मिलता है। कावेरी के किनारे श्रीरंगपट्टम के समीप मिले ६०० ई० के लगभग के दो शिलालेखों में चन्द्रगिरि नामक पहाड़ी की चोटी का वर्णन आया है जो भद्रबाहु और

---

१ बृहत्-कथा-कोश, हरिषेण कृत (लग० ९३१ ई०); भद्रबाहु-चरित, रत्नानन्द कृत (लग० १४५० ई०; राजा वलि कथा)।

२ राधाकुमुद मुकर्जी, "सर विलियम मेयर लेक्चर्स", १९४०-४१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चन्द्रगुप्त 'मुनिपति' के चरण-चिन्हों से पवित्रांकित बतलाई गई है। श्रवण बेलगोला के ११२६ ई० के एक अन्य अभिलेख में भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त को साथ रखा गया है [१]।

इस उल्लेखनीय आभिलेखिक प्रमाण के अलावा एक महत्त्वशाली स्मारक का भी प्रमाण हमारे सामने है। श्रवण बेलगोला को एक छोटी पहाड़ी के नामकरण का मूल कारण यही बतलाया जाता है कि यहाँ चन्द्रगुप्त ने आकर निवास तथा तप-साधन किया था। पहाड़ी के ऊपर भद्रबाहु नाम की गुहा और एक प्राचीन मन्दिर है जो चन्द्रगुप्त-बस्ती के नाम से विख्यात है, क्योंकि उसका निर्माण चन्द्रगुप्त द्वारा हुआ था। मन्दिर के बहिर्भाग में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के जीवन-सम्बन्धी ९० दृश्य पाषाण में छेनी द्वारा उत्कीर्ण किये गये हैं [२]।

ऊपर जिन प्रमाणों का विवेचन हुआ है उनकी समीक्षा से इसमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि दक्षिण का विजेता वास्तव में चन्द्रगुप्त था, बिन्दुसार नहीं। प्लूटार्क का एक वक्तव्य भी इसी ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि करता है जिसके अनुसार 'ऐण्ड्रॉकोट्टस (चन्द्रगुप्त) ने ६,००,००० सेना लेकर सम्पूर्ण भारत की विजय-यात्रा के लिए निकलकर उसे अपने अधीन कर लिया था [३]।' यद्यपि इस तथा दूसरे आनुश्रौतिक एवं आभिलेखिक वृत्तान्तों से, जिनकी विवेचना हम ऊपर कर आये हैं, चन्द्रगुप्त के दक्षिण के विजयों का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, पर इस ऐतिहासिक घटना का निर्देश करनेवाले केवल यही प्रमाण उपलब्ध हैं जो अप्रत्यक्ष तथा अस्पष्ट होते हुए भी अपने विशिष्ट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण और उसके विरोधी सक्रिय प्रमाणों के अभाव में सहज ही मान्य हो सकते हैं। अब देखना यह है कि वह कौन-सी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिसमें चन्द्रगुप्त के दक्षिण विजय की ऐतिहासिकता निश्चित होती है: हम देख चुके हैं कि चन्द्रगुप्त के

१ वही, पृ० ६५।

२ वही, पृ० ६६।

३ प्लूटार्क, 'लाइव्स', अ० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्यारोहण का समय ३२२ ई० पू० तथा यूनानी सम्राट् सेल्यूकस निकेतोर के साथ उसके युद्ध और विजय का ३०५ ई० पू० था। ३२२ और ३०५ ई० पू० के लम्बे व्यवधान को उसने किस तरह व्यतीत किया होगा। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि वह एक साम्राज्यकामी चक्रवर्ती शासक था। और उन दिनों भारत की राजनीतिक अवस्था ही कुछ ऐसी थी कि विशेष कर राज्य-क्रान्ति के अनन्तर उससे उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियों के असाधारण उथल-पुथल के बीच शान्त रहना एक नवप्रतिष्ठित राजकीय शक्ति के लिए अत्यन्त भयप्रद एवं पतन का कारण हो सकता था। अतः चन्द्रगुप्त के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक जान पड़ता है कि उसे अपनी शक्ति का प्रसार और स्थायीकरण विन्ध्य-शृंखला के परवर्ती देशों में करने की आवश्यकता अवश्य प्रतीत हुई होगी। इसके लिए न तो उसकी प्रवृत्ति में और न शक्ति में ही कमी हो सकती थी। अतएव यह एक प्रकार से निश्चय है कि वह यूनानी वृत्तान्त जिसमें चन्द्रगुप्त के ६,००,००० सेना के साथ सम्पूर्ण भारत-विजय करने का उल्लेख हुआ है; दक्षिण में मौर्यों के युद्ध का एक तामिल सन्दर्भ[१] तथा चन्द्रगुप्त के अपने दक्षिणी विषय (प्रान्त) के साथ दीर्घकालीन एवं घनिष्ठ सम्पर्क की जैन अनुश्रुति और अभिलेखों में पाये गये वर्णन सभी एक ऐतिहासिक आधार पर उल्लिखित हुए हैं जिससे उसके युद्धों और विजयों में दक्षिणी युद्ध और विजय का समावेश होना चाहिए।

यहाँ पर एक और प्रश्न विचारणीय है। यदि कहीं ऐसा रहा हो कि चन्द्रगुप्त को दक्षिण की विजय नहीं करनी पड़ी, बल्कि वह प्रदेश उसे नन्दों के उत्तराधिकार में साम्राज्य के ही एक अंश के रूप में मिल गया हो। डा० रायचौधुरी ने इधर हमारा ध्यान भी आकर्षित किया है कि 'गोदावरी के किनारे अवस्थित नव-नन्द देहरा नामक नगर से इसका अनुमान होता है कि

---

१ एस० के० आयंगर, 'बिगिनिंग्स ऑव साउथ इण्डियन हिस्ट्री', पृ० ६६, ८१, १०३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नन्द साम्राज्य का विस्तार दक्खिन में काफी दूर तक था।[१] इसके अतिरिक्त प्राचीन तामिल साहित्य से नन्दों और उनके अद्भुत ऐश्वर्य का पता चलता है। मैसूर के कुछ अभिलेखों में ठीक उसके उत्तर कुन्तल प्रदेश तक नन्दों का शासन बतलाया गया है [राइस, 'मैसूर ऐण्ड कुर्ग इन इन्सक्रप्शन्स', पृ० ३]। इन सब बातों से मैसूर तक नन्दों के दक्षिण-विजय का विश्वास होता है। पर क्या इससे यह संभावना बिलकुल ही नष्ट हो जाती है कि मान भी लें कि प्रथम नन्द ने जो एक शक्तिशाली शासक था दक्षिण को विजय किया हो पर बाद में वह मगध के साम्राज्य के बाहर हो गया हो और चन्द्रगुप्त को उसे फिर जीतकर अपने अधिकार में लाना पड़ा हो ? खारवेल के शिलालेख में नन्द सम्राट् द्वारा कलिङ्ग-विजय की बात आई है। पर यह हमें निश्चय-पूर्वक ज्ञात है कि नन्दों के हाथ से कलिङ्ग निकल चुका था और अशोक ने उसे फिर जीता। नन्द सम्राट् अपने अत्याचारों के कारण जनता में कितने अप्रिय हो रहे थे जब हम इस पर विचार करते हैं तब तो निःसन्देह ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण पर नन्द लोग अधिक दिनों तक शासन नहीं कर सके।

चन्द्रगुप्त का साम्राज्य-विस्तार

यूनानी नरेश द्वारा प्रदत्त पहाड़ी इलाकों को मिला लेने से मौर्य साम्राज्य की उत्तरी एवं उत्तरी-पश्चिमी सीमाएँ हिन्दूकुश और वर्त्तमान पारस की सरहद तक पहुँच गईं। दक्षिण में साम्राज्य का विस्तार नर्मदा विन्ध्यश्रेणी को लाँघकर प्रायद्वीप के भीतर दक्षिण में मैसूर तक था [देखिए ऊपर]। इस प्रकार कश्मीर और कलिङ्ग को छोड़कर समस्त भारत एवं समस्त आधुनिक अफगानिस्तान और बलूचिस्तान उसके वृहत् साम्राज्य में सम्मिलित थे।

जैनों के एक आनुश्रौतिक ग्रन्थ[२] के अनुसार जिसकी पुष्टि भी लगभग ९०० ई० के दो अभिलेखों द्वारा हुई है[३] चन्द्रगुप्त ने जो

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० १५६।

२ इ० ऐ०, १८९२, १५७।

३ रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० १९७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कि जैन-धर्मावलम्बी था दक्षिण जाने के लिए अपना राजसिंहासन छोड़ दिया। वहाँ जाकर चौबीस वर्ष तक राजसुख भोगने के पश्चात् लगभग २६८ ई० पू० में वह निधन को प्राप्त हुआ।

निधन

चरित्र का विश्लेषण

चन्द्रगुप्त एक उच्च कोटि का सैनिक, दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ तथा शासक था। उसकी शासन-पद्धति के विषय में हम आगे चलकर 'मौर्य राजकीय व्यवस्था, इस शीर्षक के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक लिखेंगे। एक सैनिक के रूप में उसने अपनी योग्यता का यथेष्ट परिचय सेल्यूकस द्वारा नियंत्रित यूनानी सेनाओं को हराकर दिया था। वह कितना बड़ा राजनीतिज्ञ था इसका अनुमान उसकी दूरदर्शिता से होता है जिसके अनुसार उसने अनेक प्रतिद्वन्द्वी राज्यों को एक राजनीतिक प्रणाली के भीतर संगठित कर भारत को इतिहास में पहली बार एक सच्ची राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधा। यद्यपि देश के विधान के अनुसार वह राज्य का निरंकुश स्वामी था, वह अत्याचारी बिलकुल नहीं था और न कभी उसने अपनी प्रभुता का दुरुपयोग ही होने दिया। डा० विन्सेण्ट स्मिथ का यह कथन, जो निश्चय जस्टिन के लेखों से प्रभावित है, कि सम्राट् वास्तव में एक 'निरंकुश शासक था जो मनमाने ढंग से अपनी प्रजा पर शासन करता था और उनके साथ दासों जैसा दुर्व्यवहार करता था' अतिशय अतिरञ्जित होने के कारण ऐतिहासिक सत्य के रूप में किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस कथन से चन्द्रगुप्त के दण्ड-विधान की कठोरता और कुछ अधिक कर आदि का ही ग्रहण होता है। पर उस समय की विषम परिस्थितियों, उसके अनवरत युद्धों तथा शासन की एक कुशल व्यवहार-पद्धति की स्थापना के लिए वस्तुतः कठोरता और धन दोनों वाञ्छनीय थे।

चन्द्रगुप्त ईरान के दारा की तरह निरंकुश नहीं था, उसने कभी ईरानी ढंग के एकतंत्र शासन को व्यवहार में लाने की चेष्टा भी नहीं की—उसकी नीति तो वास्तव में आर्यावर्त्त को शक्तिशाली बनाना था, इसलिए कई आर्यकुलों में प्रचलित शासन के प्रजातंत्र स्वरूप को उसने समूल नष्ट नहीं होने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया और ग्राम-पंचायतों के परम्परागत अधिकारों और उनके स्थानीय स्वायत्त शासन की एक उच्च कोटि के कर्मचारि-तंत्र की स्थापना करने के बाद भी अवहेलना नहीं होने दी। आर्यावर्त्त के प्रचलित विधान के अनुसार वह सदा एक वैधानिक शासक के रूप में व्यवहार करता था। इन सब बातों के लिए महान् इतिहासकार हैवेल (E. B. Havell) ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सम्राट् के हृदय में लोक-रंजन की कितनी तीव्र आकांक्षा थी यह तो उसकी शासन-व्यवस्था की व्यावहारिकता तथा कुशलता से ही प्रमाणित है जिसके कारण देश में शान्ति स्थापित रह सकी। इसके अतिरिक्त राज-कार्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों की भी वह व्यक्तिगत देख-रेख करता था। न्याय के विषय में वह इतना पाबन्द था कि नियमित रूप से दरबार करता और जनता की माँग को बड़े ध्यान से सुनता। इसके लिए कभी-कभी तो उसे सारा दिन बैठा रह जाना पड़ता था और किसी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं होता, यद्यपि अपने निजी कामों के करने का भी समय हो जाता।[१] इसी तरह अस्पतालों, स्वास्थ्य रक्षा, दुर्भिक्ष एवं गरीबों के कष्ट निवारण तथा अन्य असंख्य सार्वजनिक और जनहित के कार्यों की ओर वह बराबर ध्यान देता था।[२] उसकी प्रजा को धार्मिक और वैधानिक मामलों में पूरी स्वतंत्रता थी। प्रतिद्वन्द्वी मतों की पुस्तकों में कहीं भी चन्द्रगुप्त की धार्मिक असहिष्णुता या अत्याचार का उल्लेख नहीं मिलता। एक विदेशी राजकुमारी के साथ उसका विवाह हिन्दू-समाज में बिलकुल नई और अत्यन्त साहस की बात थी जो उसके मस्तिष्क की महानता और विचार-सहिष्णुता का दूसरा विश्वस्त प्रमाण है।

बिन्दुसार (२९८--२७३ ई० पू०)

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार २९८ ई० पू० में राजगद्दी पर बैठा। बिन्दुसार की एक उपाधि 'अमित्रघात' (शत्रु-हन्ता) से ऐसा अनुमान होता है कि वह एक युद्धप्रिय शासक था। बहुत संभव है कि जिस बृहत्

---

१ मेगस्थनीज का 'इण्डिका', खण्ड २७वाँ।

२ कौटलीय 'अर्थशास्त्र', शामशास्त्री का अनुवाद, पृ० ४३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

साम्राज्य का उत्तराधिकार उसे प्राप्त हुआ था उसकी रक्षा के लिए उसे कई लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी हों।

वैदेशिक सम्बन्ध

उसने एशिया की यूनानी शक्तियों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार बनाये रखा। सीरिया नरेश अन्तियोक प्रथम (Antiochus I) ने उसके राजदरबार में डायमेकस (Deimachus) नामक एक राजदूत भेजा था। इसी प्रकार मिश्र के टॉलेमी (Ptolemy) सम्राट् ने भी अपना एक राजदूत भेजा था जिसका नाम डायोनीसियस (Dionysius) था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि बिन्दुसार ने अन्तियोक के पास एक सन्देश भेजकर अपने दरबार के लिए मीठी अंगूरी शराब, कुछ अञ्जीर तथा एक विद्वान् (सॉफिस्ट) मँगवाये थे जिसके उत्तर में सीरिया के यवन नरेश ने शराब और अञ्जीर भेजकर यह कहलवा भेजा था कि अपने देश के विधान के अनुसार किसी भी मूल्य पर विद्वान् का विक्रय कर उसे भेजने में वह असमर्थ है।

तक्षशिला का विद्रोह

बिन्दुसार के शासन-काल की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना उसके राजकर्मचारियों के अत्याचारों और अन्यायपूर्ण शासन से पीड़ित होकर तक्षशिला प्रान्त के अधिवासियों का विद्रोह कर देना था। विद्रोह को दबाने और प्रजा में शान्ति स्थापित करने के लिए बिन्दुसार ने अशोक को भेजा जिस काम में उसे इतनी अधिक सफलता मिली कि उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेशों पर शासन करने के लिए उसे वहाँ का कुमारामात्य नियुक्त किया गया। बाद में वहाँ से उसे स्थानान्तरित कर उज्जैन का शासक बनाकर भेजा गया।

अशोक (२७३-२३६ ई० पू०)

अशोक उस समय उज्जैन का कुमारामात्य था जब उसे अपने पिता के देहावसान का दुःसंवाद मिला। सिंहली परम्पराओं के अनुसार पिता की मृत्यु के चार वर्ष बाद उसका राज्याभिषेक हुआ, बीच के व्यवधान में अशोक और

CC-0. Agammnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके भाइयों में एक अत्यन्त भयानक एवं अनवरत उत्तराधिकार का झगड़ा हुआ जिसमें उसके बड़े भाई तथा प्रतिस्पर्धी सुसीम की पराजय और हत्या हुई। सिंहली बौद्ध लेखों के अनुसार अशोक ने राज्य के लोभ से अपने ९९ भाइयों को मरवा डाला था और केवल एक सबसे छोटे भाई तिष्य को जीवित रहने दिया। पर इस वृत्तान्त की प्रमाणिकता में उसके अभिलेख सन्देह उपस्थित करते हैं [पञ्चम शिलालेख]।[1] पञ्चम शिलालेख में एक नहीं कई भाइयों, बहनों तथा अन्य सम्बन्धी जनों में उसके राजत्वकाल के तेरहवें वर्ष में पाटलिपुत्र और साम्राज्य के दूसरे नगरों में रहने का उल्लेख मिलता है। यद्यपि अशोक के अभिलेखों से मूलतः धर्म तथा बौद्ध होने के उपरान्त उसके जीवन और चरित्र पर प्रकाश पड़ता है, फिर भी उनसे उसकी निजी एवं सार्वजनिक जीवन विषयक आरम्भिक वर्षों की अन्यान्य बातें जानी जा सकती हैं।

अशोक के आरम्भिक वर्ष

अशोक के 'अवरोधनों' (अन्तःपुरों) के विषय में हम उसके उपर्युक्त शिलालेख से जानते हैं। उसके कितनी रानियाँ थीं यह तो हम नहीं कह सकते, परन्तु इलाहाबाद स्तम्भ पर 'राज्ञी के अभिलेख' से कम से कम दो का निर्देश तो अवश्य होता है। इस लेख में अशोक की 'दूसरी रानी' कारुवाकी एवं उसके पुत्र तीवर का नामोल्लेख मिलता है। उसके अभिलेखों से उसके कम से कम चार कुमार होने का पता चलता है जिनमें से प्रत्येक तक्षशिला (टैक्सिला), उज्जयिनी, सुवर्णगिरि तथा तोसली के कुमारामात्य-विषयों का अधिनायक था। राज-कार्य से अवकाश मिलने पर सम्राट् की क्या दिनचर्या होती थी इसका स्पष्ट उल्लेख छठवें शिलालेख में पाया जाता है। इस समय या तो वह अपने भोजगृह से सुस्वादु व्यञ्जनों का रस लेता होता अथवा अन्तःपुर में रानियों के साथ वार्त्तालाप और विलास में लिप्त होता, या घुड़सवारी के

---

१ डा० रायचौधुरी का मत है कि पञ्चम शिलालेख केवल अशोक के भाइयों के अन्तःपुरों का संकेत करता है; इससे किसी प्रकार सिंहली लेखों की प्रमाणिकता या अप्रमाणिकता नहीं सिद्ध होती (पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० २०४)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिए निकल जाता, अस्तबलों के निरीक्षण कर आता या प्रमोदोद्यानों में विहार करता। बौद्ध होने और प्राणि-वध एवं मांसाहार के निषेध के पूर्व आखेट उसे अत्यन्त प्रिय था और वह मोर का मांस विशेष चाव से खाता था। मध्य देश (मज्झिम देस) के लोग जहाँ का अशोक रहनेवाला था मोर का मांस विशेष पसन्द करते थे, इसका निर्देश तो बुद्धघोष ने संयुक्त निकाय की अपनी टीका में भी किया है।[1] अष्टम शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने 'विहार यात्राएँ' बन्द कर दी थीं जिनमें आखेट के आनन्द प्रमुख होते थे और उनके स्थान में 'धर्म-यात्राएँ', अर्थात् तीर्थ-स्थानों का भ्रमण, आरम्भ कर दी थीं। प्रथम शिलालेख से यह सूचित होता है कि पूर्ववर्ती सम्राटों के समय में प्रचलित और स्वयं उसके अग्रजों द्वारा आयोजित 'समाज' प्रथा को भी उसने समाप्त कर दिया। समाज का आयोजन तत्कालीन नरेश सार्वजनिक आमोद के लिए करते थे। समाज दो प्रकार का होता था। एक में लोग सुस्वादु भोजन के लिए निमंत्रित किये जाते थे जिसमें खूब मांस का व्यवहार होता था। दूसरे उनके लिए नृत्य, वाद्य, गीत, मल्ल-कला तथा अन्य क्रीड़ाओं का आयोजन किया जाता था। अशोक इन समाजों के विरुद्ध था और उनके स्थान में उसने स्वर्गीय दृश्यों के प्रदर्शन की व्यवस्था कर रखी थी [चतुर्थ शि० ले०]।

कलिंग-विजय २६१ ई० पू०

अपने राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद अशोक ने कलिंग-विजय किया। (यह प्रदेश बंगाल की खाड़ी के तट पर वैतरणी और लांगुलीय नदियों के बीच उसके साम्राज्य के बंगाल से लेकर कृष्णा तथा गोदावरी तक के पूर्वी अधिकार क्षेत्र में एक महत्त्व-पूर्ण अंश माना जाता था।)

राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् अशोक ने केवल यही एक विजय किया। इस युद्ध में होनेवाले संक्षय और अनर्थ का मार्मिक चित्र उसने अपने अभिलेख में उपस्थित किया है [त्रयोदश शि० ले०] जिसके अनुसार १००,००० व्यक्ति तो उपहत हुए थे और १,५०,००० बन्दी बनाये गये थे। इस रौद्र संहार का ऐसा गहरा प्रभाव उसके मस्तिष्क पर पड़ा कि उसी

---

१ डी० आर० भण्डारकर, 'अशोक', पृ० १६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

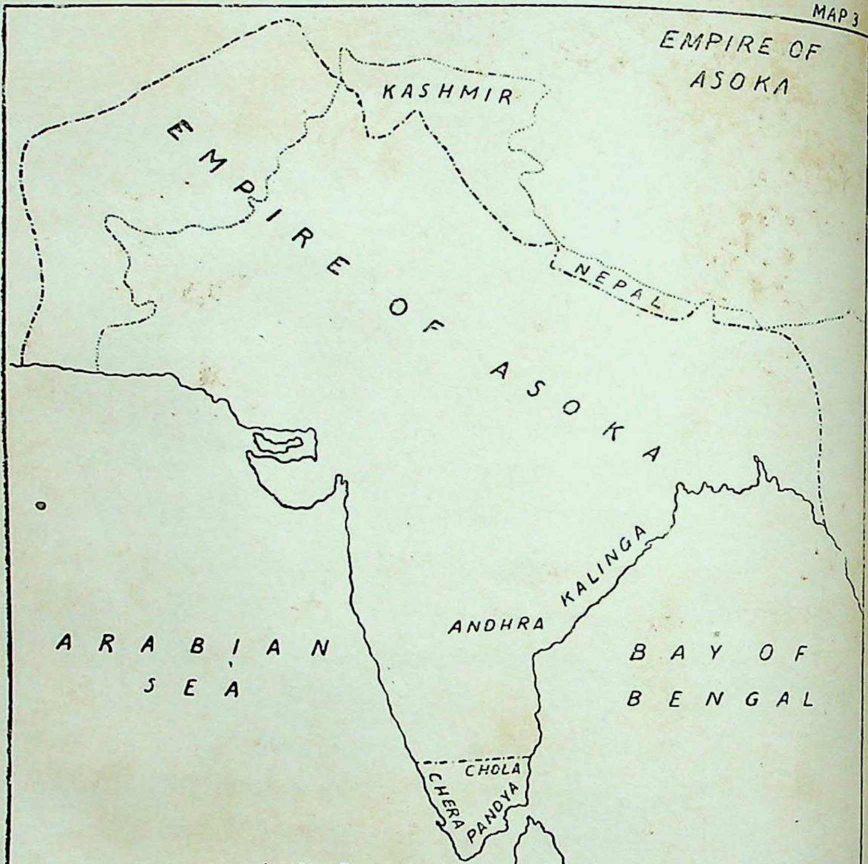

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षण उसने अपना हथियार डाल दिया और धर्म-चक्र को अपनाया। इस प्रदेश को जीत लेने के उपरान्त उसे एक कुमारामात्य विषय बना दिया गया जिसका शासक स्वयं उसका एक पुत्र तोसली को अपना केन्द्र मान-कर शासन करने लगा। तोसली संभवतः आधुनिक धौली है जो पुरी जिले में है। "मगध के इतिहास में कलिंग-विजय वास्तव में एक महान् घटना है। इसके साथ ही प्रादेशिक विजय और बलपूर्वक राज्य-विस्तार का युग जो बिम्बिसार द्वारा अङ्ग पर अधिकार करने के साथ आरम्भ हुआ था समाप्त हो जाता है। उसके स्थान में एक ऐसे नये युग का पदार्पण होता है जिसमें शान्ति, सामाजिक उन्नति, धर्म-प्रचार का व्यापक रूप से प्रसार होता है, किन्तु उसके साथ ही राजनीतिक अचेतनता और शायद सैनिक दुर्बलता भी छा जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि मगध साम्राज्य की सैनिक वृत्ति धीरे-धीरे नष्टप्राय हो जाती है। इस प्रकार सैनिक विजय अथवा दिग्विजय का युग समाप्त होता है और हम आध्यात्मिक विजय या 'धर्मविजय' के युग में प्रवेश करते हैं [१]।"

अशोक के साम्राज्य-विस्तार का आभिलेखिक प्रमाण

अशोक के उन लेखों से जो शिलाओं और स्तम्भों पर खुदे हुए हैं तथा उनके प्राप्ति-स्थानों से हमें उसके साम्राज्य की सीमाओं के सम्बन्ध में अन्तः तथा बाह्य दोनों प्रकार के प्रमाण मिल जाते हैं। उसके राज्य के दक्षिणी भाग में अवस्थित मद्रास प्रेसिडेन्सी के कर्नाल जिले के येरागुड़ी नामक स्थान से प्राप्त उसके चतुर्दश शि० ले० की एक प्रति तथा पुरी जिले में धौली और गञ्जाम जिले में जौगड़ा नामक स्थानों से प्राप्त उसके चतुर्दश शि० ले० की दो प्रतियों से उसके राज्य की दक्षिणी एवं दक्षिण-पश्चिमी सीमायें निर्धारित होती हैं। १९०३ ई० में राइस (Mr. Lewis Rice) महोदय को लघु शिलालेखों की तीन प्रतियाँ मैसूर के चितालद्रुग जिले से प्राप्त हुई थीं जिनसे यह सिद्ध होता है कि उत्तरी मैसूर अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के अन्तर्गत था। उसके राज्य के उत्तरी, उत्तर-पूर्वी एवं उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में नेपाल, टेहरी-

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० २०७–८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गढ़वाल, पंजाब तथा सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त का समावेश होता था जैसा कि लुम्बिनी से पाये गये स्तम्भ लेख और कालसी, शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा के शिलालेखों से प्रमाणित होता है। चतुर्दश शि० ले० की एक प्रति से जो जूनागढ़ (काठियावाड़) में पाई गई थी और एक अन्य प्रति से जो थाना जिले में बम्बई से लगभग तीस मील उत्तर सोपारा में मिली थी उसके साम्राज्य की अरब सागर को स्पर्श करनेवाली पश्चिमी सीमा ज्ञात होती है।

त्रयोदश शि० ले० अशोक के 'अन्तों' (सीमाप्रान्तों) का एक मानचित्र उपस्थित करता है। उसके अनुसार ये अन्त योनकों, कम्बोजों, गन्धारों, भोजकों, पितिनिकों, अन्ध्रों, नाभकों, नाभापंक्तियों तथा पारिन्दकों के थे। योनक अथवा यवनों, कम्बोजों और गन्धारों का प्रदेश उसके उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त का सूचक है जिसे डा० भण्डारकर ने कुभा और सिन्धु नदियों के बीच माना है[1]। महावंश में योन देश के प्रमुख नगर का नाम अलसन्द दिया हुआ है जिसे गीगर (W. Geiger) काबुल का समीपवर्त्ती सिकन्दरिया या अलेक्जण्ड्रिया निश्चित करते हैं[2]।

गन्धारों के राज्य में ईरान-सिन्धु प्रदेश भी सम्मिलित था जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी। कुमारस्वामी ने पुष्कलावती को स्वात एवं काबुल नदियों के संगम पर बाला हिसार माना है[3]। भोजक और राष्ट्रिक कहाँ रहते थे, इस विषय में यह बिलकुल स्पष्ट-सा है कि भोजक बरार और कोंकण में तथा राष्ट्रिक महाराष्ट्र में बसे हुए थे[4]।

डा० भण्डारकर के अनुसार भोजकों का आवास बम्बई प्रेसीडेन्सी के

---

१ अशोक' पृ० ३०।

२ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० २०८; गीगर-द्वारा सम्पादित महावंश, पृ० १९४।

३ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० २०८।

४ वही, पृ० २१३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

थाना और कोलाबा जिलों में था[1]। पितिनिक लोग संभवतः प्रतिष्ठान (पैठन) में रहते थे जो गोदावरी के मुहाने पर था। नाभक के नाभापंक्तियों के विषय में डा० भण्डारकर का कहना है कि उनकी खोज उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा पश्चिमी घाट के बीच होनी चाहिए[2]। परन्तु डा० ब्यूलर (Dr. George Bühler) का अनुमान है कि अशोक के अभिलेख में नाभक का जो उल्लेख पाया जाता है वह वस्तुतः नाभिकपुर है जो ब्रह्म-वैवर्त पुराण के अनुसार उत्तरकुरु अथवा किसी हिमालयोत्तर प्रदेश में था। डा० भण्डारकर को यह निर्धारण मान्य नहीं[3]।

अन्ध्रों का राज्य और आन्ध्रदेश कृष्णा एवं गोदावरी जिलों के बीच का प्रदेश है। 'पारिन्दकों' के विषय में विवाद है। कुछ विद्वान् इसका पाठ 'पालिद' करते हैं [देखिए, चतुर्दश शि० ले० की शाहबाजगढ़ी और कालसी की प्रतियाँ] और इसे ऐतरेय ब्राह्मण (सप्तम, १८) में उल्लिखित पुलिन्द निश्चित करते हैं। इन्हीं विद्वानों में डा० रायचौधरी एक हैं जो ऐसा मानते हुए पुलिन्दकों का स्थान विन्ध्यप्रदेश में और उनकी राजधानी भिलसा के आस-पास निश्चित करते हैं। उनके मतानुसार यह राजधानी बहुत संभव है कि रूपनाथ रही हो जहाँ से लघु शि० ले० का एक संस्करण पाया गया है[4]। पर डा० भण्डारकर गिरनार की प्रति का पाठ शुद्ध मानते हैं और उसके अनुसार इस शब्द का उच्चारण 'पारिन्द' करते हैं। अपने बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क के आधार पर वे पारिन्दकों को आधुनिक बंगाल के उत्तरी एवं पूर्वी भागों में वर्तमान बारेन्द्रों के देश में रखते हैं।

इनके अतिरिक्त कश्मीर भी एक सीमावर्ती प्रान्त है, किन्तु उसके अभि-लेखों में इस नाम से उसका उल्लेख नहीं हुआ है। शायद तक्षशिला

---

१ 'अशोक', पृ० ३५।

२ वही, पृ० ३३।

३ वही।

४ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० २१२; एवं कॉ० इ० इ०, भाग १, पृ० ४८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में कुमारामात्य के पद पर रहने के समय इसे अशोक ने जीतकर उस विषय में सम्मिलित किया हो, क्योंकि राजतरंगिणी में जो इस तथ्य के ज्ञान के लिए एकमात्र साधन है चन्द्रगुप्त का नाम तक नहीं मिलता, जब कि अशोक के कश्मीर का शासक होने का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है [१]। इसी प्रकार कुमायूँ और नेपाल में अशोक का राज्य होने के आभिलेखिक प्रमाण कालसी के शिलाभिलेख, लुम्बिनी के स्तम्भ लेख तथा ललितापाटन के ऐतिहासिक अवशेषों में मिलते हैं। सुदूर दक्षिण, दक्षिण-पूर्व तथा कई आटविक या वन्य प्रदेशों [२] की कुछ सामन्त जातियों को भी मिला लेने पर अशोक के साम्राज्य का पूरा चित्र खिंच जाता है।

अशोक का बृहत् साम्राज्य जो आकार में किसी भी दूसरे अनुवर्ती भारतीय साम्राज्य से बढ़कर था चार बड़े कुमारामात्य-विषयों में बँटा हुआ था जिनमें से प्रत्येक का शासक एक कुमार होता था।

चार कुमारामात्यों के विषय :

तक्षशिला का कुमारामात्य विषय उसके साम्राज्य के उत्तरी एवं तोसली का दक्षिणी भाग के शासन के लिए था। इसी तरह उज्जैन का कुमारामात्य विषय पश्चिमी प्रान्त और पाटलिपुत्र जो साम्राज्य की राजधानी भी था पूर्वी प्रान्त अथवा गृह-प्रदेश के अनुशासन की सुविधा के लिए बनाये गये थे।

त्रयोदश शि० ले० से अशोक के भारत के भीतरी एवं भारत से बाहर के पड़ोसी राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों का पता चलता है। सुदूर

वैदेशिक सम्बन्ध

दक्षिण की चार स्वाधीन रियासतें थीं जिनके साथ अशोक ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रखा था और जिनमें उसके धर्म-प्रचारक बौद्ध-धर्म का उपदेश करने जाया करते

---

१ 'राजतरंगिणी', आर० एस० पण्डित द्वारा अनूदित, पृ० २०।

२ संभवतः मध्य-भारत के प्रदेश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। ये रियासतें चोल[1] पाण्य[2] सत्यपुत्र[3] और केरलपुत्र[4] के नाम से विख्यात् थीं। अभिलेख में वर्णित विदेशी सम्राटों में सीरिया, मिश्र, मकदूनिया तथा एपिरस के यूनानी शासक थे। जिनमें से प्रत्येक के राज्य-काल की तिथि ज्ञात है। इस तरह यह अभिलेख उन शासकों के समकालीन सम्राट् अशोक के राजत्व के इतिहास का महत्वपूर्ण तिथि-क्रम प्रस्तुत करता है। अपने पूर्व नरेशों के समान अशोक ने उन सबके साथ मित्रता का सम्बन्ध बनाये रखा। इन राज्यों में उसने बौद्ध-धर्म के प्रचारक भेजे और यही नहीं उनके देशों में अपनी ओर से अनेक उदार-संस्थाएँ खोलीं। लंका द्वीप और सुवर्ण भूमि (बर्मा) के राज्यों के साथ भी उसकी मैत्री थी, इसका प्रमाण उन दोनों स्थानों को भेजे गये उसके धर्म-प्रचारकों से सूचित होता है। लङ्का धर्म-प्रचारक मण्डल के नेता कुमार महेन्द्र थे। भारत के स्वाधीन राज्यों को भेजे गये बौद्ध धर्माचार्यों के नाम सिंहली अनुश्रुतियों से जाने जा सकते हैं।

सम्राट अशोक और बौद्ध-धर्म

इतिहास में अशोक की ख्याति एक महान् बौद्ध शासक एवं बौद्ध-धर्म के संरक्षक के रूप में है। उसने अपना सारा समय, शक्ति तथा राज्य के साधन भारत तथा भारत के बाहर बौद्ध-धर्म के प्रचार में लगा दिये। बौद्ध-धर्म में अधिक जोर व्यवहारिक, शील, नैतिक एवं सत्कर्म तथा शुद्ध आचरण पर दिया जाता था। उपदेश तथा तदनुरूप आदर्श, शासन-सम्बन्धी उपायों, नैतिक अभिलेखों तथा राज्य से आर्थिक सहायता दिलवाकर धर्म-प्रचारकों के उत्साहपूर्ण प्रयत्नों द्वारा अशोक बौद्ध-धर्म को भारत का सर्वप्रिय धर्म बनाने तथा उसका प्रचार विदेशों में भी करने में कृतकार्य हुआ। शील-सम्बन्धी

---

१ त्रिचिनापल्ली एवं तंजोर के जिले।

२ मदुरा इसकी राजधानी थी।

३ काञ्चीपुर।

४ चेर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवहारों की शिक्षा देकर अपनी प्रजा के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-स्तर को ऊपर उठाने में भी उसे अपार सफलता मिली।

स्वयं सम्राट् ने अपना जीवन बौद्ध धर्म की सेवाओं के लिए उत्सर्ग कर रखा था। उसने आखेट बन्द कर दिये और मांस खाना छोड़ दिया। राजकीय भोजशाला के लिए प्राणियों के वध के विरुद्ध उसने एक राजाज्ञा निकाल दी (प्रथम शिलालेख)। अष्टम शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने आखेट और अन्य क्रीड़ाओं के लिए विहार-यात्राएँ करनी भी बन्द कर दीं और उनके स्थान पर धम्म-यात्रा अथवा तीर्थ-यात्रा का विधान किया। अपने शासन के दसवें वर्ष बोध गया[1] एवं बारहवें वर्ष लुम्बिनी तथा निग्लीव[2] की उसकी तीर्थयात्राओं के अभिलेखिक प्रमाण वर्तमान हैं। अशोक ढाई वर्ष तो बौद्ध उपासक रहा, इसके बाद सम्भवतः उसने संघ की शरण ली और उसके अनुसार चीवर और विनय के नियम को ग्रहण किया[3] यद्यपि उसने राजसिंहासन छोड़ा नहीं, राज्य-कार्य के सञ्चालन में उसने उसी प्रकार उत्साह और तत्परता दिखलाई जैसा कि एक बौद्ध भिक्षु के लिए स्वाभाविक था।

व्यक्तिगत आदर्श

समय के अनुसार एवं यथाशक्ति अशोक ने बौद्ध-धर्म की नैतिकता के प्रचार में कोई कसर रख नहीं छोड़ी। उसने अपने विशाल साम्राज्य के कोने

---

१ अष्टम शिलालेख।

२ रुम्मिनदेई और निग्लीव के स्तम्भ लेख।

३ दो लघु शिलालेखों एवं ब्रह्मगिरि तथा भाब्रू के अभिलेखों से तो ऐसा जान पड़ता है कि अपने धर्म-परिवर्त्तन के ढाई वर्ष बाद अशोक ने पूर्ण भिक्षु की उपसम्पदा लेकर संघ में प्रवेश किया था। कई शताब्दियों के बाद चीनी यात्री इ-त्सिंग को भिक्षु के वस्त्रों में दर्शाई गई अशोक की एक पाषाण प्रतिमा भी देख पड़ी थी। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि उसने कभी राजसिंहासन का त्याग नहीं किया, बल्कि आजीवन राजकार्य देखता रहा, यद्यपि हो सकता है कि उसने चीवर भी धारण कर रखा हो।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कोने में शिलाओं और स्तम्भों पर राजाज्ञाए खुदवा दीं। इन राजाज्ञाओं का मुख्य उद्देश्य बौद्धधर्म के शील का शिक्षण अर्थात् बौद्धधर्म में निहित आचरण की शिक्षा था। उदाहरण-स्वरूप द्वितीय लघु शिलालेख माता-पिता के आज्ञापालन, भूतमात्र पर दया, सत्य वचन, गुरु के प्रति श्रद्धा पर जोर देता है। त्रयोदश शिलालेख में जो कुछ द्वितीय शिलालेख में मिलता है उसके अतिरिक्त उचित व्यवहार तथा मित्रों, परिचितजनों, परिजनों, सम्बन्धियों, भृत्यों और दासों पर सच्ची अनुरक्ति रखने का आदेश दिया गया है। सप्तम शिलालेख के अनुसार मनुष्य को आत्म-नियंत्रण, चित्त-शुद्धि और ज्ञान सम्पादन करना चाहिए।

बौद्धधर्म-सम्बन्धी राजाज्ञाएँ

विनय अथवा धम्म के प्रचार के लिए अशोक ने अनेक राज-व्यवस्थाएँ कर रखी थीं। जीवों पर दया की शिक्षा देने और उसे कानून घोषित करने के लिए उसने कई राजाज्ञाएँ निकाली थीं। सबसे पहले तो उसने राजकीय भोजगृह के लिए, समाजों के लिए अथवा राज्य की ओर से दिये जानेवाले भोजों के लिए होनेवाले प्राणि-वध को बन्द किया (प्रथम शिलालेख)। इसके बाद पञ्चम स्त० ले० द्वारा प्रजा में होनेवाले पशु-वध को काफी कम कर दिया। उसने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा का समान रूप से सुप्रबन्ध किया। मनुष्य और पशुओं के लिए जहाँ कहीं औषधियों की कमी पाई गई वहाँ वे दूसरे स्थानों से ला-ला कर रोपी गईं (द्वितीय शिलालेख)। सम्राट् की विज्ञप्तियों से पता चलता है कि उसने मनुष्यों और पशुओं के लिए छाया और फल देनेवाले बट तथा आम के पेड़ लगवाये थे (वही)। सप्तम स्त० ले० का निर्देश है :—"मैं धर्म की घोषणा करूँगा। धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार करूँगा। जो लोग उसे सुनेंगे उसके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित होंगे, उनका आध्यात्मिक विकास होगा और धर्म की वृद्धि के साथ उनकी अभिवृद्धि होगी।"

धर्म-प्रचार की राज व्यवस्था

• CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह न केवल स्वयं बहुत बड़ा दानी था, बल्कि उसने राजघराने के सभी सदस्यों और सर्वसाधारण को भी बौद्ध विनय के प्रतिष्ठित नियमों के अनुसार दान देने के लिए उत्साहित किया। उसकी इसी उदार-वृत्ति के कारण सारा का सारा भिक्षु संघ राज्य के धन और जनता के दान या भिक्षा पर जीवन-यापन कर रहा था जिसके कारण ही संभवतः बौद्ध साधुओं की भिक्षु संज्ञा हुई। सप्तम स्त० ले० से ज्ञात होता है कि उसने मुख्याधिकारी नामक बड़े कर्मचारियों की नियुक्ति तक दान-विभाग की देखरेख के लिए की थी जो उसके तथा रानियों और राजकुमारों के दान का विवरण रखते थे। इलाहाबाद स्तम्भ पर उत्कीर्ण रानी के अभिलेख में इसी प्रकार के उसकी दूसरी रानी कारुवाकी के दान का उल्लेख है जिसके दान में आम्र वाटिकाएँ प्रमोदोद्यान, दान-गृह तथा दूसरी वस्तुएँ सम्मिलित थीं। इन दानों का जिनमें 'आम्रवाटिकाएँ', राजमार्गों पर सुविधानुसार अन्तर पर कुवें, 'प्याऊ' आदि सम्मिलित थे उद्देश्य धर्म के व्यावहारिक रूप को सामने रखना था। अपने सप्तम स्त० ले० में अशोक कहता है: "मैंने यह इस उद्देश्य से किया है कि लोग धम्म का यथानुसार पालन करें।"

धम्म महामात्रों की नियुक्ति

अपनी धर्म विषयक राजाज्ञाओं की पूर्ति के लिए उसने धम्म महामात्र नियुक्त किये थे। पञ्चम शि० ले० से सूचित होता है कि अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष उसने धम्म महामात्रों की नियुक्ति की जिसका आशय "धम्म की प्रतिष्ठा, धम्म की उन्नति एवं धम्म के अनुयायिओं की रक्षा और आनन्द के लिए राजकीय प्रयत्न करना था।" डा० विन्सेण्ट स्मिथ ने धम्म महामात्रों को 'विनय के निरीक्षक' की संज्ञा दी है जो उपयुक्त नहीं, उससे उनके कार्यों का यथार्थ बोध नहीं होता। उनका काम उतना नैतिक अथवा धार्मिक नियमों की अवहेलनाओं का गुप्त रीति से पता लगाना और जैसी विज्ञप्ति तैयार करना नहीं था जैसा कि डा० स्मिथ इन कर्मचारियों के विषय में समझते हैं, बल्कि उनका काम तो लोगों को अभिलेखों में निर्दिष्ट विनय के आचरण की शिक्षा देना और उन्हें अच्छे मार्ग पर ले चलना था। इस प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति अशोक की सर्वथा मौलिक सूझ थी जिससे बौद्ध-धर्म की अभिवृद्धि संभावित थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिंहली अनुश्रुतियों में लिपिबद्ध बौद्ध परम्परा के अनुसार बौद्ध पण्डित
मोग्गलिपुत्त तिस्स के नायकत्व में पाटलिपुत्र नगर में एक बौद्ध संगीति का
आयोजन किया गया था। यह संगीति अशोक के
पाटलिपुत्र की महान् राज्यारोहण के अठारह वर्ष तथा भगवान् बुद्ध के
संगीति तथा संघ-भेद परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद हुई। संगीति की ऐति-
के विरुद्ध राजाज्ञा हासिकता के विषय में सन्देह करना भूल है जैसा कि
लग० २५१ ई० पू० कुछ विद्वानों ने किया है। भाब्रू के अभिलेख में हम
उसे भिक्षु-संघ को एक सन्देश भेजते समय अपने को
भिक्षुओं के समीप मागध (मगध नरेश) के नाम से अभिहित करता पाते हैं।
डा० भण्डारकर का यह अनुमान बिलकुल ठीक है क्योंकि एकत्र हुए
भिक्षुओं में बहुत से उसके साम्राज्य के बाहर से आये हुए थे अशोक ने मागध
के सम्राट् के रूप में अपना परिचय देना आवश्यक समझा।[1]

अभिलेख में इस प्रकार आता है—"मगध के प्रियदर्शी सम्राट् संघ को अभिवादन कर संघवासियों के स्वास्थ्य तथा निष्कण्टक रूप से विचरण करने की कामना करते हैं।" ये शब्द वस्तुतः संघ के आचार्यों के प्रति स्वागत के शब्द हैं जिनके कुशल और राज्य-आतिथ्य के लिए सम्राट् विशेष ध्यान देता था। इसके बाद अभिलेख में ये पंक्तियाँ मिलती हैं—"पूज्य भन्ते, यह तो आपको विदित ही है कि बुद्ध, धम्म और संघ[2] में हमारी कितनी महती श्रद्धा है। जो कुछ भगवान् बुद्ध ने उपदेश किये हैं, हे भन्ते, वे कितने अच्छे ढंग से व्यक्त किये गये हैं। परन्तु, भन्ते, यदि हम इस मंगलमय धर्म की दीर्घकालीन स्थिति के निमित्त कुछ निर्देश करें तो उसे व्यक्त करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। भन्ते, ये धम्म-विषयक ग्रन्थ हैं।" वह उनका नाम गिना जाता है जो प्रायः सभी बौद्ध धर्म-ग्रन्थों, सुत्त पिटक और विनय पिटक, के ग्रन्थ हैं। इसके बाद वह यह इच्छा प्रकट करता है कि "इन सभी ग्रन्थों का जितने भी भिक्षु या भिक्षुणियाँ हैं उनमें से अधिक से अधिक बराबर पाठ सुनते रहें और

---

१ अशोक, पृ० १०२।

२ बौद्ध धर्म में ये 'त्रिरत्न' कहे जाते हैं। (अनुवादक)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उन्हें सुनकर उन पर मनन किया करें।"[१] उद्धृत शब्दों से ऐसा अनुमान होता है कि कुछ भिक्षु और भिक्षुणियों के मिथ्या-प्रचार के कारण संघ में भेद उत्पन्न होने लगा था जिससे अशोक सुगत धर्म के स्थायित्व और भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों द्वारा धर्म की केवल यथार्थताओं के ग्रहण करने के विषय में चिन्तित हो गया।

अशोक के सारनाथ, कौशाम्बी तथा साँची से प्राप्त लघु स्तम्भ लेखों में बौद्ध संघ में उठ खड़े हुए संघ-भेद को दबाने के लिए अनुशासन दिये हुए हैं। संभवतः ये अभिलेख पाटलिपुत्र में होनेवाले बौद्ध संघ के अधिवेशन के बाद उत्कीर्ण कराये गये थे।

अशोक के धर्म-प्रचार के कार्य केवल साम्राज्य तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि भारत के प्रायः सभी स्वतंत्र राज्यों और विदेशों में भी उनका क्षेत्र था।

विदेशों में बौद्ध-धर्म के प्रचारक

उसके भेजे हुए बौद्ध-प्रचारक दक्षिण की तामिल रियासतों, सिंहल, बर्मा, सीरिया, मिश्र, साइरीन, मकदूनिया एवं एपिरस के यवन राज्यों आदि में फैले हुए थे। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार सिंहल जानेवाले धर्म-प्रचार-मण्डल का अभिनेतृत्व महेन्द्र एवं संघमित्रा के हाथों में था। महेन्द्र अशोक का पुत्र और संघमित्रा पुत्री थी। सिंहलद्वीप के राजा तिस्स ने मण्डल का स्वागत किया और उसे अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिली। पर सुवर्णभूमि (निचले बर्मा) को भेजे गये मण्डल के विषय में भी हम ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि हम जानते हैं कि वहाँवाले कनिष्क द्वारा

---

१ भाब्रू शि० लें० (भण्डारकर का रूपान्तर)। इस अभिलेख में संघ के भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए अशोक ने निम्नलिखित सात चुने हुए पाठों को स्वीकृत किया है—

(१) विनय-समुकस सुत्त (२) अलिय वंस (३) अनागत भय (४) मुनिगाथा (५) मोनेय सुत्त (६) उपतिस्सपसिना एवं (७) राहुलोवाद। इनमें प्रथम और छठवें को छोड़कर शेष पाठ त्रिपिटक के ही हैं ऐसा सम्यक रूप से प्रतिपादित हो चुका है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संरक्षित बौद्ध-धर्म की महायान शाखा के अनुयायी हैं जो अशोक के बौद्धमत अर्थात् हीनयान से भिन्न है।[१]

यद्यपि अशोक कट्टर बौद्ध था और बौद्ध धर्म के प्रचार में सदा रत रहता था, अन्य सभी धर्मों के प्रति उसके हृदय में असाधारण सहिष्णुता थी।

अशोक की सहिष्णुता

द्वादश शि० ले० में अशोक ने यह घोषित कर रखा था कि "वह सभी धर्मों के अनुयायियों को पूजा करता है।" उसी लेख में आगे वह कहता है—"केवल अपने धर्म का आदर और परधर्म का अनादर अनुचित है...... जिस-तिस अवसर पर दूसरे धर्मों का विशेष आदर होना चाहिए। ऐसा करने से अपने धर्म की वृद्धि तथा दूसरे के धर्म का उपकार होता है।" कैसे आदर्शयुक्त शब्द हैं, आज के भारत के साम्प्रदायिकता के नशे में चूर अनेक व्यक्तियों को इनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भारत के ही एक अन्य महान् सम्राट् अकबर ने अशोक के पदचिन्हों पर चलकर हिन्दू और मुसलमान जैसी दो बड़ी धार्मिक साम्प्रदायिक जातियों को एक दूसरे के कितने समीप कर दिया था कि उन दिनों हम इस तरह के वीभत्स साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक झगड़ों का लेशमात्र चिह्न नहीं पाते जैसा कि आज भारत और भारतवासियों के उज्ज्वल नाम पर नैराश्य और लज्जा की कलंक-रेखाएँ फेर रहे हैं। अशोक का मन्तव्य वास्तव में कितना सचाई से पूर्ण था यह तो इसी बात से प्रमाणित है कि उसने 'आजीविकों के सन्त-सम्प्रदाय' के निमित्त गया के पास बराबर की पहाड़ियों में कई गुहाएँ बनवा कर उन्हें दान कर दी थीं।[२] आजीविकों का सम्प्रदाय ब्राह्मण साधुओं का सम्प्रदाय था।

अशोक के अभिलेख

अशोक के अभिलेखों से उसके राजत्वकाल के विषय में अनेक ज्ञातव्य एवं प्रामाणिक बातों का पता चलता है। यद्यपि इन अभिलेखों का मूल अभिप्राय कर्त्तव्य और धर्म की शिक्षा देना था, उनसे उसके राजत्वकाल

---

१ दोनों मतों की विषमता के लिए, देखिए पहले, पृ० ५६।
२ बराबर पहाड़ी के गुहा-लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में काफी सन्तोषजनक रूप से जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उन दिनों सरकारी सूचनाओं और विज्ञप्तियों के प्रकाशन के लिए सरकार के पास आज-कल की तरह छपाई के साधन, प्रेस इत्यादि तो थे नहीं, अतः अशोक ने अपनी राजाज्ञाएँ या घोषणाएँ शिलाओं, स्तम्भों तथा गुहाओं के भीतर अंकित कराईं। इस दृष्टि से इन अभिलेखों को हम मुख्यतः तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—

क—शिला लेख

ख—स्तम्भ लेख, और

ग—गुहा-लेख।

क—शिला लेख

चतुर्दश शिलालेख

शिलालेखों की संख्या चौदह है और वे आठ स्थानों में पाये गये हैं। वे स्थान इस प्रकार हैं :—(१) पेशावर जिले में शाहबाजगढ़ी, (२) हजारा जिले में मानसेहरा [शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा दोनों ही उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में अवस्थित हैं।], (३) कालसी, उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले में एक गाँव, (४) काठियावाड़ में जूनागढ़ के पास गिरनार की पहाड़ी, (५) उड़ीसा में पुरी जिले में स्थित भुवनेश्वर से सात मील दक्षिण धौली नामक एक गाँव, इस लेख में स्थान का नाम तोसली दिया गया है जो दक्षिणी प्रान्त की राजधानी थी, (६) गञ्जाम से लगभग अठारह मील उत्तर-पश्चिम जौगड़ा नामक स्थान, (७) येरागुड़ी, मद्रास प्रेसीडेन्सी के कर्नाल जिले में गूटी से लगभग आठ मील उत्तर-पश्चिम, (८) बम्बई से उत्तर थाना जिले में सोपारा नामक स्थान जहाँ आठवें अभिलेख का एक अंश मात्र पाया गया।

पृथक् कलिंग के लेख

धौली और जौगड़ा की शिलाओं पर एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश शिलालेखों का अंकन नहीं हुआ है। उनके स्थान में दो पृथक् अभिलेख वर्तमान हैं जिनमें नव विजित प्रान्त एवं उसकी सीमान्त जातियों के शासन-सम्बन्धी सिद्धान्तों की घोषणा की गई है। ये अभिलेख कलिंग के लेख कहे जाते हैं, क्योंकि धौली और जौगड़ा दोनों स्थान नये जीते हुए कलिंग

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

प्रान्तान्तर्गत ही थे। उनमें उज्जैन और तक्षशिला के प्रादेशिक शासकों को अपने-अपने शासन-क्षेत्रों में अभिलेखों के सिद्धान्तों पर चलने के आदेश भी दिये गये हैं।

लघु शिला लेख

अशोक के लघु शिला लेख जिन स्थानों में पाये गये हैं उनके नाम ये हैं :-(१) रूपनाथ, मध्यप्रान्त के जबलपुर ज़िले में एक निर्जन तीर्थ-स्थान जो जबलपुर और कटनी रेलवे लाइन पर स्लीमानाबाद स्टेशन से चौदह मील पश्चिम स्थित है; (२) सहसराम, बिहार के शाहाबाद जिले में, ई० आई० आर० के ग्रैण्ड कॉर्ड लाइन पर स्थित एक रेलवे स्टेशन। शिलालेख नगर से लगभग दो मील पूर्व चन्दनपीह नामक पहाड़ी की एक कृत्रिम गुहा के भीतर मिला था; (३) बैराट[१], राजपूताने के जयपुर राज्य में स्थित एक गाँव; (४) मास्की, निज़ाम की रियासत के रायचूर जिले में स्थित एक गाँव जो रायचूर से लगभग छियालीस मील की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। मास्की के अभिलेख का अपना एक विशेष महत्व है, क्योंकि यही एक ऐसा लेख मिलता है जिसमें उसके अंकित करानेवाले का नाम 'अशोक' दिया हुआ है। उसके अन्य अभिलेखों में जहाँ आरम्भ में 'देवानंपिय पियदसिन' अथवा केवल 'देवानंपिय' मिलता है। इस लेख में 'देवानंपियस असोकस' का प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त अभिलेखों के तीन दक्षिणी संस्करण जिनमें से प्रत्येक के साथ एक परिशिष्ट-लेख जुड़ा हुआ है १८९२ ई० में मैसूर राज्य के चितालद्रुग ज़िले से लेविस राइस (Lewis Rice) महोदय को मिले थे। उनके प्राप्ति-स्थान (५) सिद्धपुर, (६) ब्रह्मगिरि एवं (७) जतिंग-रामेश्वर एक दूसरे के बिलकुल पास-पास हैं।

ख—स्तम्भ-लेख

सप्त स्तम्भ-लेख

सप्त स्तम्भ-लेख नामक अशोक की घोषणाएँ छः स्तम्भों पर खुदी हुई पाई गई हैं। ये सभी स्तम्भ उत्तर भारत में गड़े हुए मिले हैं। (१) इनमें से सबसे प्रख्यात् दिल्ली तोपड़ा स्तम्भ है। यह स्तम्भ खिज्राबाद जिले में दिल्ली से

१ यहाँ के लोग इसे 'बैराठ' कहते हैं। (अनुवादक)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लगभग १८० मील की दूरी पर तोपड़ा गाँव में गड़ा हुआ था। दिल्ली के सुलतान फ़ीरोजशाह द्वारा यह दिल्ली लाया गया। इस स्तम्भ पर सभी सातों लेख उत्कीर्ण हैं, शेष स्तम्भों पर छः ही मिलते हैं। (२) दिल्ली-मेरठ स्तम्भ अपने मूल रूप में मेरठ में था और वह भी उसी सुलतान द्वारा दिल्ली पहुँचा। (३) तीसरा स्तम्भ अब इलाहाबाद में है। अपने मूल रूप में वह कौशाम्बी में था और इलाहाबाद अकबर द्वारा लाया गया।[1] इस इलाहाबाद-कोसम स्तम्भ पर अशोक के दो लघु शिलालेख, कौशाम्बी का लेख एवं राज्ञी का लेख भी खुदे हुए हैं। इस स्तम्भ का उपयोग समुद्रगुप्त और जहाँगीर ने भी अपने अभिलेखों के लिए किये थे। जहाँगीर के लेख से अशोक के तृतीय और चतुर्थ लेख तो बिलकुल ही नष्ट हो गये हैं। (४) यह 'लौरिया-अराराज स्तम्भ' के नाम से प्रसिद्ध है। (५) पाँचवाँ स्तम्भ लौरिया-नन्दनगढ़ स्तम्भ और (६) छठवाँ रामपुरवा स्तम्भ कहलाता है और बिहार के चम्पारन जिले में पास-पास स्थित है।

अशोक की घोषणाएँ जो सामान्यतः लघु स्तम्भ लेखों के नाम से प्रसिद्ध हैं इन स्थानों में पाई गई हैं—(१) इलाहाबाद स्तम्भ एवं साँची (भोपाल राज्य), सारनाथ (बनारस) तथा रुम्मिनदेई और निग्लीव (नैपाल की तराई) के स्तम्भ। इस माला के अभिलेखों में (१) राज्ञी का अभिलेख केवल इलाहाबाद स्तम्भ पर, (२) संघ-भेद के विरुद्ध लेख इलाहाबाद, साँची और सारनाथ के स्तम्भों पर पाया जाता है। (३) रुम्मिनदेई और निग्लीव के स्तम्भ-लेख स्मृति एवं दानसूचक हैं।

लघु स्तम्भ-लेख

ग—गुहा-लेख

गया से लगभग उन्नीस मील उत्तर 'बराबर' नामक पहाड़ी में चार गुहाएँ हैं। इन गुहाओं में से तीन की दीवारों पर अशोक के अभिलेख अंकित हैं जिनसे इन गुहाओं के आजीविकों को दान में दे दिये जाने की सूचना मिलती है।

---

१ लेखक की 'अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी,' पृ० १०७ देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन अभिलेखों की भाषा प्राकृत तथा लिपि ब्राह्मी है। केवल दो अभिलेखों में अर्थात् मानसेहरा और शाहबाजगढ़ी की शिलाओं पर अंकित लेखों में खरोष्ठी लिपि का व्यवहार हुआ है। खरोष्ठी का नामकरण ब्यूलर ने उन उत्तर-पश्चिमी टेढ़ी-मेढ़ी लिखावटों के लिए किया है जो उर्दू-फारसी तथा दूसरी सामी (Semitic) भाषाओं के लिए प्रयुक्त होती हैं और दाहिनी ओर से बाईं ओर को चलती हैं।

भाषा एवं लिपि

सम्राट् अशोक ने इकतालीस वर्ष तक राज्य किया। उसका राजत्व-काल अत्यन्त घटनाप्रधान था। २३२ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई और उसके साथ ही मौर्य-शासन की महानता जाती रही। उसके उत्तराधिकारी इतने कमजोर थे कि उनसे इस विशाल साम्राज्य का भार नहीं सँभल सका जो आन्तरिक षड्यन्त्रों और बाहरी आक्रमणों का शिकार होकर जर्जर हो चुका था। इस अवस्था का विवरण हम अगले अध्याय में देंगे।

अशोककालीन भारतीय समाज

अशोक के समय में समाज की क्या अवस्था थी यह जानने के लिए उसके अभिलेखों और चौथी से लेकर दूसरी शती ई० पू० के यूनानी एवं भारतीय साहित्यों का परिशीलन आवश्यक है। जाति-व्यवस्था से यदि हम आरम्भ करें तो उस समय भी उसका प्रचलन पाते हैं, यद्यपि तब उसमें काफी ढीलापन था। समाज में अन्तर्जातीय विवाह जो 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' विवाह कहलाते थे शास्त्रीय दृष्टि से विहित थे। जब किसी उच्च-वर्ण का पुरुष जैसे ब्राह्मण किसी निम्नतर वर्ण की स्त्री के साथ जैसे क्षत्रिय या वैश्य विवाह करता था तो उसे अनुलोम' विवाह कहते थे और जब निम्नतर वर्ण का पुरुष अपने से उच्च वर्ण की स्त्री को ग्रहण करता था तो वह 'प्रतिलोम' विवाह कहलाता था। उस समय विभिन्न जातियाँ और धार्मिक सम्प्रदाय विद्यमान थे जो ब्राह्मण, बौद्ध अथवा जैन मतावलम्बी थे। निवृत्त मार्गियों के पन्थ अलग थे, जिनमें साधु, श्रमण तथा आजीविकों की गणना की जा सकती है। अशोक ने एक सहिष्णु नीति का अनुसरण किया जिसके अनुसार वह सब पन्थों और धर्मों

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का आदर करता और बिना किसी भेद-भाव के दान देता। यही कारण है कि विभिन्न पन्थों और जातियों के लोग शान्तिपूर्वक रहते थे और उनमें एकता तथा सद्व्यवहार की भावना की कमी नहीं होने पाती थी।

लोगों के दैनिक जीवन का सार्वजनिक पक्ष अत्यन्त मधुर था। लोग भोजन के विषय में काफी ध्यान देते थे—उनका आहार परिमित और स्वच्छ होता था, शराब से वे कुछ विशेष त्यौहारों को छोड़कर प्रायः दूर रहते थे। विलासिता की गन्ध मुख्यतः उनकी वेश-भूषा से आती थी। मेगस्थनीज सुन्दर एवं बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों का वर्णन करता है जो अभिजात कुल के तथा धनी लोग पहनते थे (मेगस्थनीज, सत्ताईसवाँ, ८–९)। राज्य में यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ, सार्वजनिक आवास, भोज-गृह, सरायें एवं द्यूत-गृह बने हुए थे जिनमें अनेक वर्ग और व्यवसायों के लोग मिलते रहते थे और व्यवसाइयों या उद्योगपतियों के सार्वजनिक भोज आदि भी इन्हीं स्थानों में होते थे (अर्थशास्त्र, पृ० ५६)[१]। आमोद-प्रमोद द्वारा सत्कार करना स्वयं एक ऐसा उद्यम बन गया था जिसके द्वारा अनेक प्रकार के नर्त्तकों और नर्त्तकियों, गायकों और गायिकाओं तथा कुशीलवों (अभिनेता और अभिनेत्रियों) का जीवन-यापन होता था [हॉपकिन्स, ज० अ० ओ० सो०, त्रयोदश, पृष्ठ-संख्याएँ ७६-८०, ८२-३]। यह नर्त्तक आदि गाँवों तक से पहुँच जाया करते थे और उनका प्रदर्शन गाँव की सार्वजनिक शालाओं में होता था (अर्थशास्त्र, पृ० ४८)। जनता के आनन्दोत्सवों के संगठन में सहायता न देनेवाले अर्थदण्ड के भागी होते थे। सम्राट् ने इन उत्सवों के लिए प्रेक्षागार बनवा दिये थे जहाँ बैठकर लोग नाटक, संगीत आदि तथा मल्लयुद्ध एवं मनुष्यों और पशुओं की मुठभेड़ से मनोरञ्जन कर सकें। अशोक ने मनुष्यों और पशुओं की मुठभेड़ तो प्रायः बन्द ही कर दी, उसके स्थान में उसने आकाश में तरह-तरह के दृश्यों के चित्रण की व्यवस्था की जिससे लोगों का

---

१ यहाँ अर्थशास्त्र के शामशास्त्री के १६१६ के परिवर्त्तित संस्करण की सहायता ली गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनोरञ्जन तो हो ही तथा उससे उन्हें यथेष्ट नैतिक शिक्षा भी मिले (चतुर्थ शि० ले०)।

पारिवारिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता थी संयुक्त-परिवार; यद्यपि वह कभी-कभी भंग भी कर दिया जाता था। लड़के और लड़कियाँ क्रमशः सोलह तथा बारह वर्ष की अवस्था में युवक और युवतियाँ बन जाया करती थीं (अर्थ-शास्त्र पृ० १५४)। विवाह की चार स्वीकृत और चार निंद्य प्रणालियाँ प्रचलित थीं। वैवाहिक बन्धन का परित्याग भी स्त्री और पुरुष की सहमति से संभव था और कुछ शर्तों के अनुसार स्त्री को 'मोक्ष' या तलाक की भी सुविधा प्राप्त थी। वे शर्तें ये थीं--यदि पति बहुत दिनों से विदेश से न आया हो और स्त्री की व्यवस्था न कर गया हो, अथवा उसमें कोई शारीरिक या मानसिक विकार हो, इत्यादि (अर्थ-शा० पृ० ५६; मनुस्मृति, नवम ७६)। स्त्री के दुराचारिणी होने पर पति को यह अधिकार था कि वह उसका परित्याग कर सकता था। बालक सन्तान न होने पर पति को कुछ समय ठहर कर किसी भी जाति की स्त्री से विवाह कर लेने की स्वतंत्रता थी; पर हर दशा में उसे सबके प्रति न्यायोचित बर्त्ताव करना पड़ता था। विधवा-विवाह विधवाओं की इच्छा पर अवलम्बित था, पर इसके लिए यदि उसे गर्भ हो तो कम से कम एक वर्ष तो अवश्य ही प्रतीक्षा करनी पड़ती थी (अर्थशास्त्र, पृ० १५८)। स्त्री की उसके दहेज तथा आभूषण और विवाह के समय दिये गये उपहार आदि पर पूरा अधिकार होता था जो उसकी निजी-सम्पत्ति होने के कारण उसकी स्वेच्छा पर निर्भर थे। स्त्रियों के प्रति किसी भी प्रकार का अनौचित्य कठोर से कठोर दण्ड का विषय था। इस सम्बन्ध में कारखानों और बन्दीगृहों के कर्मचारियों के कृत्यों पर भी नियंत्रण था। स्त्री-हत्या का अपराध उतना ही गुरुतर माना जाता था जितना कि ब्रह्म-हत्या का (अर्थ० पृ० १४६)।

कुटुम्ब का जीवन एवं नारी का स्थान

लोगों का मुख्य उद्यम कृषि था। खेतों की सिंचाई एवं अनाज के विक्रय का सरकार की ओर से अच्छा प्रबन्ध किया गया था। वाणिज्य काफी प्रगतिशील तथा सुचारु रूप से चल रहा था। व्यापारियों और व्यवसाइयों के नियम हुआ करते थे जो 'श्रेणी' भी कहलाते थे (अर्थशास्त्र, पृ० ३७८)। इन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाणिज्य तथा व्यवसाय

श्रेणियों के मालगृहों में कई तरह के सोने, चाँदी, मसाले, प्रसाधन-सामग्रियाँ आदि भारत के कोने-कोने से मँगाकर एकत्र किये रहते थे; इसी प्रकार उनमें रत्नों और मोतियों की ढेर-सी लगी रहती थी जो दक्षिण भारत, लंका तथा अन्य द्वीपों से लाये जाते थे; उनमें मध्य एशिया और चीन देश से प्राप्त जानवरों के खाल, चीन तथा भारतीय उपनिवेशों (इण्डोनेशिया, हिन्द-चीन आदि) के मलमल, कपास और रेशम आदि भी संगृहीत थे। बाजारों में सबसे अच्छे घोड़े बिकने के लिए आजकल की तरह सिन्धु प्रदेश एवं उसके पारवर्त्ती देशों से आते थे। राज्य-सीमाओं पर सौदागरों को कुछ चुंगी तथा नगरों में प्रवेश करते समय राजमार्ग-सम्बन्धी कर और चुंगी देनी पड़ती थी। इन स्थानों में चुंगी-घर बने होते थे जिनमें चुंगी वसूल करने के लिए राजकर्मचारी नियुक्त थे (अर्थ० पृ० १४०)। गाँवों की उपज का विक्रय पहली बार नीलाम होता था। मूल्य को कम-अधिक करनेवाले को दण्ड दिया जाता था (वही)। देश के भीतरी वाणिज्य एवं यात्रा की सुविधा के लिए राजपथ और वणिक्पथ बने हुए थे जिनकी मरम्मत राज्य की ओर से होती थी। यात्रा और माल की नौकाओं के लिए नहरें और नदियों के मार्ग काम में लाये जाते थे। मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए अस्पताल और मवेशी अस्पताल बने हुए थे; औषधियाँ बनाने के लिए औषधियों के कारखाने होते थे, जहाँ सरकारी वनस्पति-उद्यानों में से जड़ी-बूटियाँ लाई जाती थीं अथवा उनका बाहर से आयात होता था (द्वितीय शि० ले०)।

साक्षरता और साहित्य

स्कूल एवं शिक्षण की उच्चतर संस्थाओं का प्रबन्ध राज्य की ओर से तथा जनता के चन्दे पर होता था। तक्षशिला और पञ्चाल (उत्तर प्रदेश) उच्च शिक्षा के महान् केन्द्र थे। तक्षशिला की तुलना एक आधुनिक विश्वविद्यालय से की जा सकती है जहाँ कला और विज्ञान के सभी विषयों की युद्ध-विज्ञान सहित तथा आयुर्वेद-शास्त्र की शिक्षायें मिलती थीं। पञ्चाल परिषद् की विशेषता उच्च दर्शन की शिक्षा देने में थी। लिखने की प्रणाली का सर्वसाधारण में प्रचार था, केवल साहित्यिक रचनाओं आदि के लिए नहीं, बल्कि सार्वजनिक उद्योग-धन्धों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और नित्य-प्रति के व्यवहारों के लिए भी अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियाँ हम जिन्हें कहते हैं उनका कितना अधिक प्रचार था और वे कितने पहले से व्यवहृत होती आ रही थीं। ये लिपियाँ भारत की वर्त्तमान प्रचलित भाषाओं के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली संस्कृत और फ़ारसी लिपियों की जननी हैं। अभिलेखों की भाषा मागधी प्राकृत है जिसमें स्थानीय प्रयोगों और व्यवहारों का पुट पाया जाता है। इससे एक बड़ा लाभ तो यह हुआ कि सर्वसाधारण उसे पढ़ और समझ सकते थे। इससे यह भी पता चलता है कि साक्षरता का कितना अधिक प्रचार था और वह केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं थी। लिखने के प्रयोग पत्र-व्यवहारों में लोग प्रायः नियमित रूप से करते थे और लिखित पत्र आदि सुरक्षित रखे जाते थे।

२. मौर्य राज्यसंस्था : अनुशासन की विभिन्न इकाइयाँ

अ. व्यवस्थित अनुशासन

शासन-प्रणाली

चन्द्रगुप्त और अशोक के राज्यकाल में राजकीय अनुशासन इतना व्यवस्थित और सुन्दर था कि उसकी जो प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

मौर्यों की शासन-प्रणाली एकतंत्रात्मक थी जिसका ध्येय प्रजा का अनुरंजन था। तत्कालीन लेखों से कहीं भी किसी स्थानीय स्वायत्त संस्था का पता नहीं चलता। सम्पूर्ण शक्ति पाटलिपुत्र में सम्राट् के हाथों में केन्द्रित थी जो हृदय से अपनी प्रजा के हित और भलाई के लिए दत्तचित्त रहकर नित्य-प्रति शासन-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों पर यथेष्ट ध्यान देता था। इस प्रकार सम्राट् प्रजा का पुत्रवत् पालन करना अपना कर्त्तव्य समझता था और उनकी आवश्यकताओं पर ध्यान देता था। वह न्याय, विधान और सेना का प्रधान अध्यक्ष माना जाता था। वह एक बार जो फ़ैसला कर देता वह कानून बन जाया करता, क्योंकि साम्राज्य भर में न्याय का सबसे बड़ा अधिकारी वही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। परन्तु विधान और न्याय दोनों ही देश की प्रचलित रीतियों और शास्त्रीय मान्यताओं पर आश्रित थे। इतने बड़े साम्राज्य के कष्टसाध्य अनुशासन-कार्य में सम्राट् की सहायता के लिए पाटलिपुत्र में मंत्रियों का एक मंत्रि-परिषद् तथा साम्राज्य के विभिन्न शासन-केन्द्रों में अत्यन्त सुव्यवस्थित कर्मचारी-तंत्र (Bureaucracy) की व्यवस्था थी। शासन की प्रणाली तो चन्द्रगुप्त ने ही चलाई थी किन्तु कुछ हेर-फेर के साथ उसे परिष्कृत कर चमका देने का श्रेय अशोक को प्राप्त है।

कुमारामात्य और प्रान्तीय शासक

साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्तीय शासक दो प्रकार के थे। राजनीतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखनेवाले प्रान्तों का शासन, जिनके लिए स्वामिभक्त और व्यवहार-कुशल शासक अपेक्षित थे, राजकुल के किसी कुमार के सिपुर्द होता था जो कुमार-महामात्र कहलाते थे। अशोक के अभिलेखों में इस तरह के चार कुमार-महामात्रों का उल्लेख मिलता है। एक कुमारामात्य का अधिष्ठान तक्षशिला में था जो उसके उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की राजधानी थी; एक दूसरा कुमार उज्जैन में रहता था जो अवन्ती विषय का शासक नियुक्त हुआ था; कलिंग के नये जीते हुए देश को एक अलग विषय (प्रान्त) बनाकर उसकी राजधानी तोसली में एक तीसरे कुमार को शासन के लिए रखा गया था, और इसी प्रकार दक्षिण विषय का शासक एक चौथा कुमारामात्य था जिसके राजकार्यालय सुवर्णगिरि में स्थापित थे।[१]

इन कुमार-महामात्रों या राजप्रतिनिधियों के अतिरिक्त प्रान्तीय शासक अथवा महामात्र होते थे जैसा कि अशोक के शिला एवं स्तम्भलेखों से विदित होता है जिनमें उन्हें उसके आदेश दिये गये हैं। उदाहरण-स्वरूप कौशाम्बी का अभिलेख कौशाम्बी के महामात्रों के लिए एक आदेश के रूप में है जिसमें संघ-भेद के अपराधियों को विशेष प्रकार से दण्ड देने का निर्देश किया गया

---

१ सुदूर-दक्षिण विषय की राजधानी में इसिल का जिला भी सम्मिलित था जो चोलों और पाण्ड्यों के स्वाधीन राष्ट्रों की सीमा पर पड़ता था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख को छोड़कर अशोक के किसी भी लेख में इन महामात्रों का नाम नहीं मिलता। जूनागढ़ के लेख से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र (काठियावाड़) का विषयपति चन्द्रगुप्त के समय में वैश्य पुष्यगुप्त तथा अशोक के राजत्व काल में यवन तुषास्प था। विषयपति के पद पर एक यवन की नियुक्ति प्रायः वही अर्थ रखता है जो कि अकबर द्वारा बंगाल के प्रान्तीय शासन के लिए अम्बर-नरेश राजा मानसिंह की नियुक्ति। भारत के ये दो सम्राट् अपने पीछे शासन की एक सच्ची उदार भावना की अनेक सुखद स्मृतियाँ छोड़ गये हैं।

राजप्रतिनिधियों और प्रान्तीय शासकों के बाद तीन अन्य प्रकार के राजकर्मचारियों का उल्लेख अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों में पाया जाता है। अर्थशास्त्र के अनुसार मुख्य अधिकारी मन्त्रिन् (प्रधान मंत्री), पुरोहित (प्रमुख धर्माधिकारी), सेनापति, तथा युवराज थे। अठारह 'तीर्थों' (अधिकारियों) में ये प्रधान माने गये थे और अन्य विशिष्ट राजकर्मचारी सम्राट् के अन्तरंग परिषद् (Cabinet) में रहकर उसे प्रत्येक कार्य में सम्मति प्रदान करते थे। अर्थशास्त्र में उल्लिखित दूसरे चौदह राजकर्मचारी या 'तीर्थ' ये थे—

दौवारिक	,	अन्तर्वेशिक
प्रशास्तृ	,	समाहर्त्ता
सन्निधाता	,	प्रदेष्ट्री
नायक	,	पौर
व्यावहारिक	,	कर्मान्तिक
मन्त्रिपरिषद्ध्यक्ष	,	दण्डपाल
द्वारपाल	,	अन्तपाल

इनके नीचे द्वितीय श्रेणी के अनेक कर्मचारी थे जो 'अध्यक्ष' कहलाते थे और जिनका उल्लेख कौटिल्य और मेगस्थनीज दोनों ने किया है। वे प्रायः इन विषयों के अधिकारी होते थे, यथा—

कोष,	आयुधागार (शास्त्रागार),
आकर (खान),	मान (माप, तौल),

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुवर्ण, मुद्रा (Pass-Port),
कोष्ठागार, पत्तन (Port),
पण्य (राजकीय व्यापार), गणिका,
कुप्य (वनिज द्रव्य), संस्था (व्यापार),

(देवता धार्मिक विषय)

एवं चतुरंगिणी सेना के नायक आदि । अशोक के तृतीत शि० ले० में हमें कर्मचारियों के कुछ नये नाम मिलते हैं जिनका अर्थशास्त्र में उल्लेख नहीं हुआ है । ये कर्मचारी प्रादेशिक, राजुक तथा युक्त थे । डा० टॉमस का कहना है कि 'प्रादेशिक का काम मालगुजारी वसूल करना और पुलिस पर नियंत्रण रखना' था । उसके बाद और शायद उसकी सहायता के लिए राजुक नियुक्त किये गये थे जिनके बदले में आजकल मालगुजारी और न्याय के अलग अधिकारी होते हैं । युक्त 'प्रत्येक जिले के कोषाधिकारी होते थे जो राज्य-सम्पत्ति की देख-रेख रखते, मालगुजारी लेकर उसका विवरण रखते और जहाँ राजकीय आय की वृद्धि की संभावना होती वहाँ तदनुसार व्यय करने का अधिकार रखते थे ।'[१] प्रथम पृथक् कलिंग लेख में नगल-वियोहालक (नगर-व्यवहारक) नामक एक अन्य कर्मचारी का उल्लेख आता है जो ठीक अर्थशास्त्र का पौर-व्यावहारिक जान पड़ता है जिसका काम पुर के न्याय को सँभालना था । अन्त-महामात्र नामक एक अन्य कर्मचारि-वर्ग का भी पता चलता है जो कुछ विद्वानों द्वारा सीमान्तों के उच्च पदाधिकारी (Wardens of the Marches) माने गये हैं । अशोक ने अपने प्रथम स्तम्भ लेख में उनका उल्लेख किया है और इस प्रकार स्पष्ट ढंग से अपने अन्य 'पुरुषों' या अधिकारियों से चाहे वे उच्च, हीन या मध्य वर्ग के हों, भिन्न बतलाया है जो इसलिए जान पड़ता है कि उन्हें विशेष उत्तरदायित्व का काम सौंपा गया था। विशिष्ट मौर्य पदाधिकारियों को राजकीय आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए न्याय के भी अधिकार प्राप्त थे ।

---

१ अशोक, पृ० ५८ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट अशोक ने 'धर्म महामात्र' नामक नये पदाधिकारी नियुक्त किये। चन्द्रगुप्त के समय में धर्म महामात्रों का पद नहीं था। स्मिथ ने उन्हें 'निरीक्षक' (Censor) की संज्ञा दी है। किन्तु इस शब्द का अँग्रेजी अनुवाद न करना ही ठीक है। धर्म महामात्रों का काम केवल 'निरीक्षण' नहीं था जैसा स्मिथ ने समझा है, उनके कर्त्तव्य पंचम शिला लेख में अच्छी तरह समझाये गये हैं। लेख में आता है कि—'आज से पहले निकट अतीत में कभी धर्म महामात्र नहीं रहे। यह तो अपने राज्याभिषेक के तेरह वर्ष के बाद मैंने ही उन्हें नियुक्त किया है। वे सभी सम्प्रदायों के बीच नियुक्त किये गये हैं और उनका काम धर्म की स्थापना करना, धर्म की घोषणा करना तथा धर्मानुरागियों की सतत् रक्षा एवं आनन्द के लिए यत्न करना है (पंचम शि० ले०)। सभी वर्ग के मनुष्यों के बीच अवस्थित रहकर क्या ब्राह्मण क्या गृहपति, क्या अनाथ और क्या वृद्ध अथवा सन्तानों के भार से दबे हुए या शोषित जन अथवा धर्म की टेक ग्रहण कर मधुकरी या भिक्षान्न पर रहनेवाले सभी व्यक्तियों को उनकी आवश्यकतानुसार उचित सहायता पहुँचाना इन्हीं धर्म्म महामात्रों का कर्त्तव्य था (वही)।

धर्म महामात्र

सम्राट् अपने सभी दूरवर्त्ती या निकट के कर्मचारियों के शासन की व्यक्तिगत देख-भाल रखता था। इसके लिए उसने अपने कर्मचारि-तंत्र के कार्यों की यथार्थ जानकारी प्राप्त करने की उचित व्यवस्था कर रखी थी। उसका गुप्तचर विभाग जिसमें चर, जासूस, प्रान्तीय शासन के राजकार्यालयों के समीप स्थित संवाद-दाता आदि तथा सिखाये हुए संदेश-वाहक यक्षी रखे जाते थे बड़ा ही जटिल और पूर्ण था।

गुप्तचर विभाग

चन्द्रगुप्त के पास एक विशाल और सुसंगठित सेना थी जिसे नियमित रूप से वेतन मिलता था। यह अवश्य था कि सम्राट् सेना का प्रधान माना जाता था; किन्तु उसका नियंत्रण और शासन तीस व्यक्तियों की एक समिति के हाथों में था जो एक प्रकार से सुविदित युद्ध-विभाग (War Office) बन गया था। इस युद्ध-विभाग के छः अंग थे—

सेना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(१) नौ-सेना,
(२) यातायात, रसद एवं सैनिक सेवा,
(३) पैदल,
(४) घुड़सवार,
(५) लड़ाई के रथ,
(६) हाथी।

इस चतुरंगिनी सेना में ६,००,००० पैदल, ३०,००० घुड़सवार, ६,००० हाथी एवं ८,००० रथ थे। चन्द्रगुप्त के सैनिक संगठन और युद्धक्षमता की प्रशंसा यूनानी लेखकों तक ने की है जिसके कारण 'वह सारे भारत को पादाक्रान्त कर उसे अधीन बनाने में और साथ ही सेल्यूकस के आक्रमण को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ हो सका।'

साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र (वर्त्तमान पटना) थी। यह नगर गंगा और सोन के संगम पर बसा हुआ था। इस नगर का विस्तार अत्यधिक था, क्योंकि उसकी लम्बाई लगभग ९ मील तथा चौड़ाई डेढ़ मील के बराबर थी। नगर की रक्षा के लिए उसके चारों ओर लकड़ी की दीवारें थीं जिनमें ६४ द्वार एवं ५७४ बुर्ज बने हुए थे। नगर की दीवारों के किनारे एक सड़क तथा बाहरी खाई बनी हुई थी जिसमें सोन नदी का पानी भरा रहता था।

पाटलिपुत्र

चन्द्रगुप्त के सुव्यवस्थित नगर के म्यूनिसिपल (Municipal) प्रबन्ध को देखकर विदेशी भी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते थे। निश्चित रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता कि म्यूनिसिपल कमीशन एक निर्वाचित संस्था थी अथवा उसके सदस्य सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे, शायद सरकार ही उन्हें नियुक्त करती रही हो; परन्तु शासन-प्रबन्ध की सारी योजना और बोर्ड के कार्य बहुत कुछ एक आधुनिक म्यूनिसिपल बोर्ड के समान थे, केवल तत्कालीन समस्या और परिस्थिति का अन्तर था। म्यूनिसिपल कमीशन में तीस सदस्य थे जिन पर नगर के शासन का भार था। ये सदस्य

नगर का म्यूनिसिपल प्रबन्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाँच-पाँच की संख्या में छः समितियों में बँटे हुए थे। प्रत्येक समिति को विभिन्न कार्य सौंपा गया था। यथा, पहली समिति नगर के उद्योग धन्धों पर ध्यान देती थी; दूसरी समिति विदेशियों की देखभाल रखती और उन्हें यथायोग्य सहायता पहुँचातीं; तीसरी समिति का कार्य जन्म और मृत्यु का विवरण रखना था; चौथी समिति वाणिज्य-व्यवसाय का संचालन करती थी; पाँचवीं समिति चीजों के उत्पादन और विक्रय का देखरेख रखती तथा छठवीं समिति बिके माल पर कर वसूल करती थी। इन कार्यों के अतिरिक्त जो विभिन्न समितियों के सुपुर्द थे, कमीशन के सदस्यों के ऊपर समाहित रूप से जनता की रक्षा और भलाई के सभी मामलों का भार रखा गया था, जैसे, सार्वजनिक इमारतों की मरम्मत, बाजार लगवाना और उनका निरीक्षण करना, बन्दरगाहों एवं मन्दिरों की सुरक्षा तथा बाजार का भाव नियत करना, आदि। इसमें सन्देह नहीं कि पाटलिपुत्र की यह म्यूनिसिपल-शासन की व्यवस्था साम्राज्य के अन्य नगरों में भी वर्तमान थी।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि सम्राट् के मंत्रि-मण्डल के अतिरिक्त परामर्शदाताओं की 'मन्त्रि-परिषद्' नामक एक विशेष संस्था भी थी जिसका प्रधान संभवतः कौटिल्य स्वयं था। प्रान्तीय

परिषद्

शासकों को भी परामर्श देने के लिए इसी प्रकार के परिषदों का होना संभाव्य है जो प्रत्येक राजकीय मामले पर विचार कर उन शासकों को शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता देती थीं। ऐसा जान पड़ता है कि इन समितियों का विधान भी ठीक उन्हीं सिद्धान्तों पर हुआ था जो पूर्व-वर्णित समितियों के आधार थे। अशोक के छठवें शिला-लेख से यह स्पष्ट है कि परिषद् को विवाद की काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी और वह सम्राट् की इच्छाओं के विरुद्ध भी अपना मत दे सकती थी। इस लेख की घोषणा है—"यदि परिषद् में (महामात्रों के) कोई दान-सम्बन्धी अथवा मेरे द्वारा की गई किसी मौखिक घोषणा के सम्बन्ध में अथवा महामात्रों के सिपुर्द कर दिये गये किसी आवश्यकीय कार्य के विषय में विवाद या सुधार का प्रस्ताव उपस्थित किया जाय तो उसकी सूचना मुझे उसी क्षण मिलनी चाहिए, चाहे मैं कहीं भी रहूँ और कोई भी समय हो।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्राट् धम (न्याय) का प्रधान माना गया था, पर उसके ही लिए तो संभव न था कि राजधानी तक के ही मामले निबटा सकता। मेगस्थनीज के विवरण से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने व्यवहार (कानून) के अनुसार मुकदमों की जाँच और फैसले के लिए न्यायाधिकारी नियुक्त कर रखे थे। मेगस्थनीज ने मौर्यों के फौजदारी कानून को अत्यधिक कठोर और अपराधों की संख्या को प्रायः नगण्य बतलाया है। अशोक के न्याय में हम दया का सम्मिश्रण पाते हैं। कलिंग के अभिलेख में उसने महामात्रों या नगर-प्रबन्धकों को आदेश दे रखा है कि 'व्यवहार के सनातन नियमों का पालन वाञ्छनीय है और निराधार हिरासत या नगरवासियों को त्रास देना ठीक नहीं।' चतुर्थ स्त० ले० में उसने मृत्यु-दण्ड के भागियों को तीन दिन की छूट देने का विधान घोषित किया है जिससे इस बीच स्थानीय पार्षदों के पास उसके सम्बन्धी पहुँचकर क्षमा-याचना कर सकें अथवा अपराधी के आध्यात्मिक अन्त के लिए उसके द्वारा 'दान और व्रत आदि करा सकें।' न्याय-सम्बन्धी स्वच्छता और निष्पक्ष-प्रियता के लिए अपनी आज्ञाओं को न्याय के अधिकारियों द्वारा कार्यान्वित होता देखने के लिए उसने एक विशेष वर्ग के कर्मचारी नियुक्त किये जिनका नाम न्यायालय की देखरेख हुआ और जिन्हें पञ्च-वार्षिक अथवा किसी-किसी प्रान्त में त्रैवार्षिक यात्रा-सम्बन्धी न्यायालयों की जाँच-पड़ताल भी सौंपी गई। एक अभिलेख में आता है—"प्रत्येक महामात्र को मेरा आदेश है कि वह हर पाँचवें वर्ष भ्रमण के लिए निकलेगा और जिसका व्यवहार न तो कठोर होगा और न उग्र, बल्कि मृदु; मेरा विचार है कि इस प्रकार मेरे उद्देश्य से परिचित होकर नगर के अधिकारी भी मेरे ही आदेशों के अनुसार चलेंगे। पर उज्जैन से राजकुमार लोग प्रति तीसरे वर्ष ही इस वर्ग के कर्मचारियों को भेजा करेंगे। इनका एक काम यह भी होगा कि जब ये भ्रमण के लिए निकलें तो अपने विशेष कार्यों को देखते हुए इसका भी सतत् ध्यान रखें कि नगर के अधिकारी कहाँ तक सम्राट् के आदेशों का पालन करते हैं।"[१]

धर्माधिकरण

---

१ पृथक् कलिङ्ग-लेख (प्रथम)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज-कर के मूल्य और वस्तु दोनों में वसूल करने का नियम था और इन्हें वसूल करने के लिए स्थानीय कर्मचारी होते थे। आजकल की भाँति उस समय भी राजकीय आय का मुख्य साधन भूमि-कर अथवा भूमि का लगान था। सरकार भूमि-कर के रूप में उपज का साधारणतः चतुर्थांश लेती थी। आय का दूसरा मुख्य साधन विक्रय-सम्बन्धी कर था। इसके लिए यह नियम बना दिया गया था कि दुर्गवाले नगरों में विक्रय की सभी वस्तुएँ (अन्न, पशु तथा कुछ विषयों को छोड़कर) द्वार के पास अवस्थित चुंगी-घर में लाई जाया करें जहाँ उन पर राजकीय मुहर लगाई जाय और विक्रय के बाद मूल्यानुसार उन पर कर लिया जाय। वस्तुओं के मूल्य के अनुसार कर बदलता रहता था। इस कर के अन्तर्गत वे सभी वस्तु आतीं जो चाहे नगर में बनाई गई हों अथवा बाहर से लाई गई हों। यह स्थानीय व्यवसाय पर आबपाशी की चुङ्गी एवं नगर में उसकी म्यूनिसिपैलिटी द्वारा लगाई गई माल की चुङ्गी के समान था। आय का एक दूसरा साधन भी था जो शराब पर चुङ्गी वसूल करने से आता था। इसके लिए आबपाशी का अधिकार या लाइसेन्स रखने का बड़ा व्यवस्थित प्रबन्ध था। विदेशी शराब के विक्रय के लिए विशेष अधिकार-पत्र (Licence) रखना पड़ता था। आय के इन साधनों के अतिरिक्त पानी की चुङ्गी, खानों और मछली की मण्डियों की चुङ्गी, सरकारी भूमि और जंगलों की आय, अर्थ-दण्ड तथा व्यवसाय सम्बन्धी कर (यह आजकल के पढ़े-लिखे पेशावालों के लाइसेन्स के लिए वसूल किये जानेवाले शुल्क की तरह था), नदियों के घाटों और पुलों को पार करने के लिए वसूल किये जाने-वाले महसूल आदि भी राजकीय कोश को भरने में लगे हुए थे। अशोक ने अपने पितामह की चलाई हुई आय-व्यवस्था (Revenue System) को अक्षुण्ण रखा। हाँ, इतना भर उसके एक अभिलेख से विदित होता है कि उसने लुम्बिनी ग्राम का भूमि-कर वहाँ भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान होने के कारण घटा कर $\frac{1}{8}$ कर दिया था। इससे यही पता चलता है कि अशोक के समय में भी भूमि कर $\frac{1}{8}$ से ऊपर ही था और बहुत संभव है कि लुम्बिनी के लिए घटा कर निर्धारित किये गये कर का दुगना था।

राज्य की आय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२. सामाजिक और आर्थिक अवस्था

मेगस्थनीज और अर्थशास्त्र दोनों के वृत्तान्तों से इसका पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के समय में लोग कई जातियों में विभक्त थे और जातीय नियम काफी कड़े और पृथक् थे। पर मेगस्थनीज ने जातियों और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए वर्गों में अन्तर न कर सकने के कारण जाति को ठीक से नहीं समझा, इसी लिए उसने सात जातियाँ—जो वास्तव में विभिन्न व्यवसायवाले हैं—मानली हैं। मेगस्थनीज के अनुसार जातियाँ इस प्रकार हैं—(१) दार्शनिक, (२) कृषक, (३) चरवाहे, (४) शिल्पी, (५) योद्धा, (६) निरीक्षक तथा (७) सचिव। यह निस्सन्देह भारतीय जाति-व्यवस्था के महत्त्व को ठीक तरह से न समझ सकने का परिणाम है। मौर्यों के राज्य में प्रजा का पुत्रवत् पालन होता था, इसलिए हर तरह के व्यवसाय की उन्नति के लिए राजकीय सहायता, निरीक्षण एवं नियंत्रण की व्यवस्था थी। अशोक के समय में जाति के बन्धन काफी शिथिल पड़ गये, क्योंकि यह समय बौद्ध-धर्म के उत्कर्ष और उसकी प्रधानता का था।

जातियाँ और व्यवसाय

समाज के नैतिक जीवन की उच्चता के सम्बन्ध में मेगस्थनीज ने काफी प्रशंसात्मक ढंग से लिखा है। उसका कहना है कि रोमन और ग्रीक जगत् में सर्वतः प्रचलित दास-प्रथा[1] का भारत में चिह्न भी नहीं पाया जाता। यहाँ के लोग प्रायः मितव्ययी और सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। यज्ञों के अलावा जिसमें 'सोमरस' ग्रहण किया जाता था सुरा-पान का कम प्रचार था। लोगों का मुख्य भोजन भात और शाक आदि था। सर्वसाधारण में बहु-विवाह (Polygamy) की प्रथा नहीं थी, वह केवल

समाज का उच्च नैतिक जीवन

---

१ दास-प्रथा यहां संभवतः थी, किन्तु मेगस्थनीज की दृष्टि उस पर नहीं गई। हाँ, यह तो निर्विवाद है कि भारत में दास के साथ वैसा बुरा बर्त्ताव नहीं किया जाता था जैसा ग्रीस और रोम में होता था। हो सकता है कि इसी लिए यूनानी लेखक को भारतीय दास-प्रथा का आभास नहीं हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजवर्ग और धनवानों तक ही सीमित थी; परन्तु समाज में स्त्रियों को हर प्रकार की स्वतन्त्रता थी। वे दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करतीं और वैराग्य तक की अधिकारिणी हो सकती थीं। नारी को पर्दे के भीतर छिपा रखने की प्रथा तो मुसलमानों के आने के बाद आरंभ हुई है। उस समय 'सती' प्रथा का भी प्रचार नहीं था, यद्यपि कहीं-कहीं स्त्रियाँ स्वेच्छा से पति के शव के साथ चिता बनाकर आत्म-हनन कर लेती थीं। लोग अपनी ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी सचाई की मेगस्थनीज ने युवान् च्वाङ्ग की ही तरह, जिसने कई शतियों बाद अपना वृत्तान्त लिखा, मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। चन्द्रगुप्त के शिविर में जब उसे जाने का अवसर मिला तो वहाँ सारी सेना के बीच चोरी के सम्बन्ध में उसे २०० द्रक्मा [१] से भी कम मूल्य की वस्तुओं के चोरी होने की सूचना मिली। लोग प्रायः अपना घर अरक्षित अवस्था में ही छोड़कर चल देते थे; लिखित पट्टे या लिखित कानून की उन्हें कुछ भी परवाह नहीं होती थी। न्यायालयों की शरण में भी वे कम ही जाते थे। लोग लिखना-पढ़ना जानते थे और पेड़ों की छाल एवं रेशे से बने कागज को व्यवहार में लाते थे। अशोक के अभिलेखों से इसका सहज अनुमान किया जा सकता है कि सर्व-साधारण में साक्षरता का काफी प्रचार था।

मेगस्थनीज ने देश की धार्मिक अवस्था का काफी मनोरंजक और यथार्थ विवरण दिया है। उस समय के प्रधान धार्मिक पन्थ ब्राह्मणों और श्रमणों के थे। श्रमणों में बौद्ध और जैन दोनों गिने जा सकते हैं। इनके

धर्म

अलावा योगी, यती और साधु लोग थे। मेगस्थनीज ने ब्राह्मणों के चिन्तन की तुलना पाइथागोरस (Pythagoras) एवं प्लेटो (Plato) की शिक्षाओं से की है। उसका कहना है कि ब्राह्मणों के अनुसार संसार अण्डाकार, विनाशशील एवं ब्रह्म के द्वारा परिव्याप्त है। वे लोग एक पाँचवें तत्त्व 'आकाश' अथवा 'दिक' की सत्ता भी मानते हैं। मेगस्थनीज इसका भी संकेत करता है कि यूनानियों को भारतीय देवताओं की यूनानी देवताओं के साथ तुलना करने में बड़ा आनन्द आता है, यथा शिव तो 'हेराक्लीज' हैं;

---

१ "द्रक्मा" का मूल्य १ फ्रैंक अथवा एक रुपये से कुछ कम होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन्द्र "जियूस ओम्ब्रिओस" इत्यादि। अशोक के समय में जाकर उस महान् सम्राट् का संरक्षण पाकर बौद्ध-धर्म सबसे लोकप्रिय धर्म बन गया; यद्यपि अशोक सब धर्मों का समान आदर करता था।

सुख एवं समृद्धि

मेगस्थनीज के विवरण से लोगों के सुख एवं समृद्धि का पता चलता है। राज्य की तरफ़ से सिंचाई का सुप्रबन्ध होने के कारण कृषि बड़ी उन्नत अवस्था में थी। इसके अलावा लोग कला-कौशल, वेष-भूषा एवं आभूषण बनाने में अत्यन्त पटु थे। "लोगों को आभूषण आदि से बेहद प्रेम था। उनकी पोशाक पर जरी का काम किया होता था और उसमें रत्न जड़े होते थे, इसके अलावा वे बारीक मलमल के जालीदार कपड़े पहनने के भी शौकीन थे।" साँची की प्रस्तर-मूर्त्तियों से मेगस्थनीज के वर्णन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। पुरुषों और स्त्रियों के वस्त्र साधारणतः एक अधोवस्त्र और एक उत्तरीय हुआ करते थे; पुरुष प्रायः मूल्यवान् कपड़े का साफा या 'उष्णीष' भी बाँधते थे। स्त्री-पुरुष दोनों के वस्त्रों की शोभा निहायत कलापूर्ण ढंग से गढ़े हुए विविध प्रकार के आभूषणों से बढ़ जाती थी।

तक्षण तथा अन्य कला-कौशल

जौहरियों की कला इस समय अत्यन्त उच्च कोटि को पहुँच गई थी। पर मौर्य युग विशेषतः अपनी प्रस्तर-कला के कारण विख्यात है, जिसकी तुलना नहीं हो सकती। अशोक के समूचे पत्थर काटकर गढ़वाये हुए शानदार स्तम्भ जिन पर उसने अपने आदेश खुदवाये थे उनके निर्माता शिल्पियों की अद्भुत कारीगरी तथा उनके उपकरणों की सार्थकता के प्रमाण हैं। फिर इन स्तम्भों को गड़वाने के उद्देश्य से दूर स्थानों में स्थानान्तरित करना यातायात की इञ्जीनियरिंग की कुशलता का द्योतक है जिसे हम आज के वैज्ञानिक युग में भी विस्मय और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। अशोक के स्तम्भ-शीर्ष मौर्य-कला के सुन्दर अवशेष हैं। उनमें अभिव्यक्त सुन्दरता, सुरुचिपूर्ण गठन एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों पर ध्यान, विशेषतः सिंह-शीर्षों में यही बातें मौर्यकालीन तक्षण-कला की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराती हैं।

मेगस्थनीज के वृत्तान्तों से हमें प्रजानुरञ्जक मौर्य राज्य-व्यवस्था के सर्वांगीण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्रियाकलापों के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी होती है। इसके अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र से मेगस्थनीज के वृत्तान्तों की पूर्ति के साथ अनेक नई बातों का पता चलता है। चन्द्रगुप्त के राज्य का सार्वजनिक-रचना विभाग अत्यन्त सुव्यवस्थित था और उसके क्षेत्र एवं कार्य भली प्रकार निर्दिष्ट थे।

मौर्य राज्य-संस्था का आर्थिक सञ्चालन

इस विभाग को सौंपे हुए कार्यों का क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उसमें अन्य कार्यों के अलावा 'खानों का सञ्चालन, सिंचाई का प्रबन्ध, कल-कारखानों की स्थापना, शिकार के लिए वन तालाब तथा पशुओं के लिए चरागाह और इसी प्रकार सड़क तथा व्यापार यातायात के थल और स्थल सम्बन्धी मार्गों की सुविधाओं की देखरेख; बाजारों और गोदामों की स्थापना; सेतु, बन्ध और नालियों की रचना; फल-फूल के वृक्ष, ओषधि तथा जड़ी-बूटियों का आरोपण; लँगड़े-लूले तथा अपाहिज, अनाथों और छोटे-छोटे जानवरों की रक्षा का भार'[१] आदि सम्मिलित था। इस प्रकार मौर्य शासन में वे सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं जिनके लिए एक आधुनिक समाजवादी शासन-तंत्र को स्पृहा होगी।

मेगस्थनीज लिखता है कि 'भू-गर्भ में विभिन्न धातुओं का जाल-सा बिछा हुआ है। उसमें सोना, चाँदी और लोहा बहुतायत से मिलते हैं, इसके अलावा टिन तथा दूसरी धातुएँ जो उपयोगी वस्तुओं और अलंकारों के बनाने में प्रयोग में लाई जाती हैं तथा जिनसे युद्ध-सम्बन्धी शस्त्र, अस्त्र एव सामग्री तैयार की जाती है, भी काफी मात्रा में पाई जाती हैं' [मेग०, प्रथम पुस्तक, खण्ड १]। इस अवतरण से उन दिनों खानों का कितना अधिक कारबार फैला हुआ था इसका साफ पता चलता है; हाँ, खानों की प्रणाली के विषय में उससे कुछ नहीं जाना जा सकता। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र से कहीं अधिक प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार दो तरह की खानें होती थीं—(१) सामुद्रिक खानें, एवं (२) पृथ्वी की खानें। सामुद्रिक खानों के अध्यक्ष का काम हीरा, जवाहरात, मोती, मूँगा तथा शंख और नमक के सञ्चय की व्यवस्था करना था पृथ्वी की खानों का अध्यक्ष मैदानों और पर्वतीय ढालों पर अवस्थित खानों का प्रबन्ध

खानों का प्रबन्ध

---

१ 'स्टडीज इन ऐन्श्येएट इण्डियन पॉलिटी' (कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर), लेखक एन० एन० ला, पृ० २–३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करता और नई खानों का आविष्कार। वह जली हुई मिट्टी, राख आदि संकेतों से इसकी परीक्षा करता था कि कहाँ खान मिलेगी। इस विभाग में अध्यक्ष के अतिरिक्त अन्य विशेषज्ञ नियुक्त थे। खान में काम करनेवाले मजदूरों के पास आवश्यक वैज्ञानिक यंत्र होते थे। खान का सञ्चालन या तो सरकार स्वयं करती थी अथवा उसे लाभ पर ठीकावालों को दे देती थी।[१]

सिंचाई

चन्द्रगुप्त के समय में सिंचाई की उत्तम प्रणाली व्यवहार में लाई जाती थी। मेगस्थनीज कहता है कि 'भूमि का अधिकांश सिंचाई के अन्तर्गत है जिससे वर्ष में दो-दो फसलें तैयार हो जाती हैं [मेग० प्रथम पुस्तक, खण्ड १]। एक दूसरे स्थान में वह लिखता है कि कुछ लोगों को यह काम सौंप दिया गया है कि वे नदियों की देखभाल करें, भूमि का पड़ताल करें, जैसी कि मिस्र में व्यवस्था है, तथा उन नालियों का निरीक्षण करते रहें जिनके द्वारा बड़ी नहरों से पानी दूसरी शाखाओं में लाकर सिंचाई के लिए चारों ओर दिया जाता है, जिससे हरएक को बराबर पानी मिले' [मेग० तृतीय पुस्तक, खण्ड चौंतीसवाँ]। मौर्यों की सिंचाई प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ और बातें जो मेगस्थनीज से नहीं जानी जातीं अर्थशास्त्र में मिलती हैं। उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र में एक स्थल पर चार प्रकार की सिंचाई का निर्देश पाया जाता है—

(१) हाथ के द्वारा सिंचाई,
(२) मोटों के द्वारा सिंचाई,
(३) कतिपय जलयन्त्रों के द्वारा सिंचाई, तथा
(४) नदियों और तालाबों का जल रोपकर सिंचाई।

कृषकों से सरकारी तौर पर लिया जानेवाला आबपाशी का कर पैदावार का क्रमशः $\frac{1}{5}$, $\frac{1}{4}$ तथा $\frac{1}{3}$ होता था।[२]

मौर्यों की आर्थिक व्यवस्था की इस शाखा का एकमात्र आभिलेखिक प्रमाण रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख है जिसमें यह वर्णन आता है कि

१ वही, पृ० ३–४।
२ वही, पृ० ११–१२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"पुष्यगुप्त ने एक दुर्ग और एक चट्टान के बीच प्रवाहित जलस्रोत को बाँधकर सुदर्शन नामक झील बना लिया। परन्तु उसे पूरा तुषास्प ने किया। जूनागढ़ सुराष्ट्र प्रान्त के अन्तर्गत था और पुष्यगुप्त चन्द्रगुप्त के समय में वहाँ का शासक तथा तुषास्प अशोक के समय में शासक रह चुका था।"[1]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त के राज्य में पशुओं का एक अलग विभाग था जिसके सिपुर्द बंजरों और चरागाहों की सुरक्षा, पशुओं की रजिस्ट्री, उनके खिलाने का मान आदि निर्धारित करना, दुहाई के नियम बनाना, पशुओं के साथ दुर्व्यवहार को रोकना तथा रोगी पशुओं की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करना था। इन पशुओं की ही तरह घोड़े और हाथी भी वैसी ही देख-भाल के अन्दर रखे जाते थे। घोड़ों और हाथियों के सिखलाये जाने का विशेष प्रबन्ध था।[2]

पशु-विभाग

प्राचीन काल के सभी नरेशों की तरह मौर्यों को भी आखेट से बड़ा प्रेम था। मेगस्थनीज इसका वर्णन करता है कि चन्द्रगुप्त के समय में सम्राट् कितनी शान और सजधज के साथ आखेट के लिए निकलता था [मेग० द्वितीय पुस्तक, खण्ड बत्तीसवाँ]। अशोक के अष्टम शि० ले० से पता चलता है कि सम्राटों की यह प्रथा थी कि वे आखेट के लिए निकला करते थे, स्वयं अशोक अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष तक इस प्रथा का पोषक बना रहा, ग्यारहवें वर्ष उसने उसे बन्द कर दिया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में ऐसा आता है कि चन्द्रगुप्त ने कुछ जंगलों की सुरक्षा का ऐसा प्रबन्ध कर रखा था कि उनमें न तो जानवर फँसाये जा सकते थे, न उन्हें आघात पहुँचाया या उनका बध किया जा सकता था। जंगल के नियमों का उल्लंघन करने से अर्थदण्ड का भागी बनना पड़ता था [अर्थ० द्वितीय

जंगल और आखेट के नियम

---

१ एपिग्राफिया इण्डिका, अष्टम, पृ० ४२ तथा आगे।

२ 'स्टडीज इन ऐन्श्येण्ट इण्डियन पॉलिटी', पृ० ४६, ६२; तुलनार्थ, मेग० तृतीय पुस्तक, खण्ड पैंतीसवाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अधिकरण, पृ० २२]। राजकीय आखेट के लिए अलग कर दिये गये जंगलों के अतिरिक्त दूसरे जंगलों में लोग आखेट कर सकते थे, परन्तु कुछ प्राणी अवध्य ठहराये गये थे, जैसे—पक्षी, मृग तथा ऋतु विशेष की मछलियाँ, सामुद्रिक हाथी, अश्व, बैल एवं गधा तथा कुछ पक्षी जो पवित्र माने गये थे। राजकीय वनों के इन रक्षित प्राणियों की सुरक्षा के लिए हर प्रकार की आवश्यक सावधानी बरती जाती थी [पञ्चम स्त० ले०]।

मेगस्थनीज और कौटिल्य दोनों इस बात की सप्रमाण विवेचना करते हैं कि मौर्य-शासकों ने अनेक सड़कें तथा नहरें बनवाईं। मौर्यों के सुविशाल साम्राज्य की चतुर्दिक सीमाएँ सड़कों और जलमार्गों के जाल से परस्पर एक दूसरे से मिली हुई थीं जो पाटलिपुत्र से निकलकर सारे साम्राज्य में फैल गये थे। प्रत्येक दिशा को जानेवाले मार्ग यात्रियों और व्यापारिक महत्त्व के आधार पर निश्चित किये गये जान पड़ते हैं। ऐसा सोचने के लिए यह आधार ही काफी है कि कौटिल्य ने दक्षिणवर्ती मार्गों को हिमालय के मार्गों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कहा है; क्योंकि हिमालय की ओर से जब बाजारों में बिकने के लिए ऊनी कम्बल, चमड़े तथा घोड़े आदि आते थे दक्षिण के मार्गों से हीरा, मोती, सुवर्ण एवं शंख जैसे अमूल्य रत्नों का व्यापार चलता था जिनका जन्म-जन्मान्तर से दक्षिण भारत खान रहा है। दक्षिणवर्ती मार्गों में भी अधिक महत्त्वपूर्ण वही गिने जाते थे जो अधिक से अधिक खानों के बीच से होकर जाते थे। पाटलिपुत्र को सिन्धु घाटी से संयुक्त करनेवाले प्रधान मार्ग को मेगस्थनीज़ ने 'राजकीय मार्ग' के नाम से अभिहित किया है जिसकी संज्ञा अर्थशास्त्र में 'राजमार्ग' है और जिसे ४ दण्ड या ३२ फीट चौड़ा बतलाया गया है [अर्थ०, सप्तम अधिकरण]। नगर की सड़कों का नाम बोझा ढोनेवाले पशुओं, पथिकों और यानों के अनुसार था तथा जनपद की सड़कें गन्तव्य स्थानों के नाम से जानी जाती थीं। पथिकों की रक्षा के निमित्त यान-सञ्चालक सम्बन्धी नियम बने हुए थे। सड़कों की मरम्मत पर विशेष ध्यान रखा जाता था और सड़क के मज़दूरों से कोई कर नहीं लिया जाता था। अर्थशास्त्र के प्रमाणों की पुष्टि अशोक के आभिलेखिक वृत्तान्तों

यातायात के साधन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से होती है जिनसे ज्ञात होता है कि जल और छाया का प्रबन्ध करना सरकार अपना कर्तव्य समझती थी। यात्रियों के आराम के लिए सड़कों के किनारे पेड़ लगवाये गये थे, स्थान-स्थान पर कुओं और धर्मशालाओं की सुविधा थी [सप्तम स्त० ले०]। जल-मार्ग बहुत अच्छी अवस्था में थे और यात्रा एवं वाणिज्य के काम में अत्यधिक रूप से व्यवहार में लाये जाते थे जिसका प्रमाण अर्थशास्त्र में मिलता है। जल-मार्ग कई प्रकार के थे; यथा नदियों के मार्ग नहरें, बन्दरगाहों के आन्तरिक यातायात के लिए समुद्र-तटवर्ती मार्ग एवं सागर द्वारा विदेशों से वाणिज्य-व्यवसाय एवं यातायात के लिए सामुद्रिक मार्ग। इन मार्गों के द्वारा माल ले जाने और ले आने की काफी सुविधा थी और अर्थशास्त्र में तो अनेक प्रकार की नौकाओं और जलपोतों का नाम हम सुनते हैं; जैसे सागर-पोत, वणिक-पोत इत्यादि। नदियों के आर-पार सड़कों को संयुक्त करने के लिए असंख्य पुल और घाट बने हुए थे जिनकी रक्षा का भार सरकार के हाथ में था।[1]

मेगस्थनीज और अर्थशास्त्र दोनों से मौर्य राज्य के अन्तर्गत एक स्थायी जन-गणना विभाग का पता चलता है जिसमें वार्षिक गणना का नियम था।

जन-गणना

मेगस्थनीज का कथन है कि—"अध्यक्षों की तीसरी समिति के सिपुर्द यह काम है कि वे जन्म और मृत्यु की तिथि एव कारण का लेख रखें, केवल इसलिए नहीं कि जिससे कर लगाया जा सके बल्कि इसलिए भी कि क्या बड़े क्या छोटे सभी वर्गों में जन्म लेनेवाले और मरनेवाले व्यक्तियों का सरकार को पता रहे।" [मेग० तृतीय पुस्तक, खण्ड बत्तीसवाँ]। अर्थशास्त्र के अनुसार ग्राम-कर्मचारियों और जन-गणना-विभाग को यह काम दे दिया गया था कि वे प्रत्येक ग्राम के चारों वर्णों के लोगों की संख्या लिख लें (जो निस्सन्देह देहातों में जन-संख्या की इकाई होती थी); इसके अलावा कृषकों, अमीरों, सौदागरों, कारीगरों, दासों, प्रत्येक घर के तरुण एवं वृद्ध पुरुषों को भी गिनें और उनके आचरण, उद्यम, आय तथा व्यय की जाँच करें [अर्थ० द्वितीय अधि० पृ० १४२]। बड़े-बड़े नगरों और कस्बों में जन-गणना का

---

१ एस० ए० आई० पी०, पृ० ६८-८७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कार्य नागरक नामक अधिकारी के हाथ में सौंपा गया था। विदेशियों और सन्दिग्ध आचरणवाले व्यक्तियों के आगमन एवं प्रत्यागमन का भी लेख रखना पड़ता था। आर्थिक दृष्टि से जन-गणना का इतने विस्तार के साथ कि अधिकृत भूमि कैसी है, लोगों का उद्यम क्या है, उनके आय और व्यय का क्या क्रम है, इत्यादि, हिसाब रखना कर के लिए अत्यन्त सहायक था और साथ ही उससे प्रजा की आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था का यथार्थ ज्ञान होता था।[१]

ऋण-सम्बन्धी कानून तथा दुर्भिक्ष, बाढ़ और अग्नि के उत्पातों के रोकने का प्रयत्न

प्रत्येक आधुनिक सरकार अपना यह कर्त्तव्य समझती है कि महाजनों द्वारा लिये जानेवाले सूद का दर नियत करे और जीवन-रक्षा (Insurance) कम्पनियों पर नियन्त्रण रखने के लिए जिनका काम जनता को क्षति से बचाना है तत्सम्बन्धी कानून बनाये; परन्तु मौर्य सरकार ने यह काम आज से दो-हजार वर्ष पूर्व कर दिखाया था। लोभी महाजनों द्वारा दरिद्र और आवश्यकता से पीड़ित व्यक्तियों को सताये जाने से बचाने के लिए सरकार ने कानून के द्वारा सूद का एक उचित दर नियत कर रखा था। उसके विरुद्ध आचरण करनेवाले को दण्ड दिया जाता था। एक महाजन के लिए सूद का दर वैधानिक रूप से १$\frac{१}{४}$% प्रति मास अथवा १५% वार्षिक अर्थशास्त्र में उल्लिखित है। सूद का यह दर आधुनिक भारतीय समाज के लिए अधिक जान पड़ेगा, किन्तु उस समय के किसानों और शिल्पियों की समृद्धि को ध्यान में रखकर जिनका चित्र तत्कालीन लेखकों ने प्रस्तुत किया है यह दर कुछ भी अधिक नहीं जान पड़ेगा। फिर भी आज के भारतवर्ष में कभी-कभी तो हम दरिद्र और गँवार व्यक्तियों को महाजनों को अत्यधिक सूद देता हुआ पाते हैं जिसकी दर ७५% तक हो जाया करती है, और यह एक नवयुगीन आधुनिक

---

१ वही, पृ० १७०-७६। तुलनार्थ तृतीय स्त० ले० की टिप्पणी भी देखें (मुकर्जी-कृत 'अशोक', पृ० १३६ टि० प्रथम तथा भण्डारकर-कृत 'अशोक', पृ० ३०२ टि० ७)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सरकार की आँखों में धूल झोंककर वसूल कर लिया जाता है।[१] पर उस समय वैधानिक अथवा गुप्त हर प्रकार के ऋण-सम्बन्धी सूद के दर नियत थे। कुछ व्यक्ति ऋण देने से मुक्त थे, ऐसे कानून बना दिये गये थे, जैसे—(१) दीर्घकालीन उत्सर्गमय जीवन व्यतीत करनेवाले, जिनसे संभवतः जनता की भलाई अपेक्षित थी; (२) रोगी; (३) गुरुकुल में विद्याध्ययन के निमित्त रोक लिये गये छात्र; (४) नववयस्क; (५) निर्धन या कंगाल। एक व्यापारिक संस्था के भाड़ा का दर भी सरकार द्वारा नियन्त्रित था। किसी व्यापारिक कम्पनी के सदस्य की पूँजी पर सूद लाभ के आधे से अधिक नहीं हो सकता और वह वर्ष के अन्त में चुकाना पड़ेगा। साझे के मामलों में यदि कोई साझेदार बहुत दिनों तक अनुपस्थित रहने के कारण अथवा रोग-व्याधि के कारण व्यापार के साझे से हट जाना चाहता है तो उसे मूलधन की दुगनी सम्पत्ति देकर व्यापार से अलग किया जा सकता है।[२]

मौर्य सरकार ने लोगों को दुर्भिक्ष, बाढ़ और अग्नि के प्रकोपों से बचाने के लिए निरोधात्मक और सहायतार्थ दोनों प्रकार के प्रबन्ध कर रखे थे। दुर्भिक्ष रोकने के लिए यह नियम प्रचलित कर दिया गया था कि सरकारी गोदाम में केवल आधा ही ओसाया हुआ अन्न व्यवहार में लाया जाय, बाकी अवसर पड़ने पर सरकार किसानों की बीज से सहायता करती थी, इसके अलावा अन्य सहायता के कार्य आरम्भ किये जाते थे। इनमें से एक यह भी था कि सम्राट् अपनी पीड़ित प्रजा के साथ किसी सुदूर स्थान को जहाँ पैदावार अच्छी होती कुछ काल के लिए चला जाता [अर्थ०, चतुर्थ अधि०]। अनुश्रुति चली आ रही है कि जब मगध में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा उस समय चन्द्रगुप्त ने अपनी प्रजा के एक अधिक भाग के साथ वास्तव में दक्षिण की यात्रा कर दी जहाँ अन्त में उसकी मृत्यु भी हो गई। वर्षा ऋतु में नदियों की बाढ़ से रक्षा के लिए नदी के किनारे बसे हुए लोगों को यथा समय हटाने का प्रबन्ध हो जाता था। जिनके

---

१ अभी हाल में जाकर कुछ प्रान्तीय सरकारों ने ऋण पर सूद का दर कम करने के लिए ऋण-सम्बन्धी कानून (Debt Legislations) बनाये हैं।

२ एस० ए० आई० बी०, पृ० १७०-७६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पास नावें होतीं अथवा रक्षा के दूसरे साधन होते उन्हें आसरा देखनेवालों की हर तरह रक्षा करनी पड़ती थी। सरकार की ओर से चूहे, टिड्डी, हानिकारक कीट-पतंग तथा अन्य हानि पहुँचानेवाले कीड़ों के मारने की व्यवस्था थी जिससे फस्लों को नष्ट होने से बचाया जा सके। इसी प्रकार अग्नि में जलने और सम्पत्ति के स्वाहा होने से रक्षा के लिए उपाय सरकार ने बना रखे थे। इन उपायों में 'रक्षा के दस उपकरणों' (दशमूली-संग्रह) का विशेष प्रयोग होता था, यथा—कुछ संख्या में घड़े, एक कूँड़ी, एक सीढ़ी, शहतीर फाड़ने की कुल्हाड़ी, जलते हुए पटरों को गिराने का रस्सा तथा रस्सियाँ आदि जिन्हें हर घर के सामने बड़ी सड़कों या चौराहों पर कतारों में रखना आवश्यक था। यह नियम शहर और देहात दोनों में बर्त्ता जाता था। राजकीय भवनों में इन सब वस्तुओं का खर्च सरकार के ऊपर था।[१] इतनी अधिक बातों का ध्यान अग्नि से रक्षार्थ इसीलिए रखना पड़ता था कि अधिकांश मकान जिनमें राजकीय कार्यालय आदि भी थे लकड़ी के बने हुए थे। इस तथ्य पर मेगस्थनीज से प्रकाश पड़ता है [मेग० द्वितीय पुस्तक, खण्ड छब्बीस]।

मौर्य सरकार जनता के स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान देती थी। मेगस्थनीज का कहना है कि विदेशियों के बीमार पड़ने पर उनकी भी उचित परिचर्या का प्रबन्ध था और मरने पर विधिपूर्वक उनका दाह-संस्कार किया जाता था (मेग० तृतीय पुस्तक, खण्ड चौबीसवाँ)। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि नागरकों की चिकित्सा का अच्छा सरकारी प्रबन्ध था। "इसके लिए अस्पताल थे जिनके औषधालयों में इतनी औषधियाँ रहती थीं कि वर्षों के खर्च के बाद भी बच रहतीं।" अर्थशास्त्र में साधारण वैद्यों, चीरफाड़ करनेवाले भिषजों और उनके चीरफाड़-सम्बन्धी यंत्रों (Surgical Instruments), परिचारिकाओं (Nurses), स्त्री-चिकित्सकों एवं जर्राहों के संकेत भरे पड़े हैं [अर्थ०, प्रथम अधि०, पृ० ४१-४३; द्वितीय अधि०, पृ० २४६]। हमारे आजकल के पाठकों को यह जानकर विशेष अभिरुचि होगी कि मौर्य-काल में शव-परीक्षा (Postmortem) भी होती थी। इसके लिए शव को विकृत होने से बचाने के लिए तेल में डुबाकर रखते थे। अकाल मृत्यु के सभी मामले, जैसे—दम

जन-स्वास्थ्य

[१] वही, पृ० ३७-१०३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

घुटना, फाँसी, विषपान आदि परीक्षा के लिए परीक्षणालय (Morgue) में लाये जाते थे और उनकी अधिकारी-परीक्षक द्वारा भली प्रकार जाँच होती थी (अर्थ०, चतुर्थ अधि०)। औषधियों के आरोपण और वृद्धि के लिए सरकारी प्रबन्ध था जिन्हें सरकारी भूमियों में तथा गमलों में लगाया जाता था (अर्थ०, द्वितीय अधि०, पृ० ११७)। अशोक के अभिलेखों से भी यह सिद्ध होता है। द्वितीय शि० ले० में आता है कि "जब कभी मनुष्यों के अथवा पशुओं के उपयोग के लिए ओषधियों का अभाव हो, वे हर जगह बाहर से मँगवाकर लगवाई जायँ।" लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए सरकार ने मिलावटी अन्न, तेल, क्षार, लवण, गन्ध और ओषधि आदि के विरुद्ध अत्यन्त कठोर नियम बना रखे थे (अर्थ०, चतुर्थ अधि०)। नगरों और भीड़भाड़ से युक्त स्थानों में लोगों की स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम बने हुए थे। सड़कों पर कूड़ा फेंकना या कीचड़ करना और गन्दा पानी एकत्र होने देना, अपराध माना गया था जिसके लिए लोगों को दण्ड दिया जाता था। इसी तरह देवालयों-राजकीय भवनों, तीर्थस्थानों आदि के निकट अथवा तालाबों में गन्दगी फैलाना भी अपराध था। नगर में मुर्दे-जानवर या शव फेंकना अर्थ-दण्ड का भागी होना था। नगर के सभी द्वारों या मार्गों से मुर्दे नहीं ले जाये जा सकते थे, उनके लिए नियत द्वार और मार्ग थे। इसी प्रकार मुर्दों के गाड़ने और जलाने के लिए श्मशान-भूमि की निश्चित सीमाएँ थीं। उनके अतिरिक्त स्थानों में मुर्दा गाड़ने या जलानेवाले स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन के अपराधी समझे जाते थे।"[१] इस तरह हम देखते हैं कि एक आधुनिक सरकार के स्वास्थ्य विभाग का जो कुछ काम है वह सभी आज से दो हजार वर्ष पहले मौर्यों के समय में होता था।

अशोक के उत्तराधिकारी

पुराणों के अनुसार तथा पालि पुस्तकों के अध्ययन से सम्राट् अशोक के ३६ या ३७ वर्ष तक राज्य करने का पता चलता है। इस प्रकार २३३ या २३२ ई० पू० को हम अशोक की निधन-तिथि मानते हैं। पुष्यमित्र शुङ्ग

---

१ वही, पृ० ९४–९५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१८५ ई० पू० के लगभग राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। अतएव अशोक के उत्तराधिकारियों ने कुल (२३२—१८४) ४८ वर्ष राज्य किया। उसके उत्तराधिकारियों की एक तालिका इस प्रकार बनाई जा सकती है[१]—

क.

ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर
(पार्जिटर, 'डायनस्टीज ऑव कलिएज', पृ० २७-३०)

१.	कुणाल		८ वर्ष
२.	बुद्धपालित (कुणाल का पुत्र)		८ ”
३.	इन्द्रपालित		
४.	दर्शन	(३ का पुत्र)	७ ”
५.	दशरथ	(४ ”)	८ ”
६.	सम्प्रति	(५ ”)	९ ”
७.	शालिशूक	(६ ”)	१३ ”
८.	देवधर्मन	(७ ”)	७ ”
९.	शशधर्मन	(८ ”)	८ ”
१०.	बृहद्रथ	—	७ ”
			७५ वर्ष

क.

बौद्ध-साहित्य के अनुसार
(दिव्यावदान, अ० २९)

१. कुणाल
२. सम्प्रति (१ का पुत्र)
३. बृहस्पति (२ ”)
४. वीरसेन (३ ”)
५. पुष्यधर्मा (४ ”)
६. पुष्यमित्र (५ ”)

ख.

राजतरंगिणी (प्रथम, १०८ और आगे)
अशोक का पुत्र जालोक
कश्मीर में

ख.

तारानाथ-कृत बौद्ध-धर्म का इतिहास

१. कुणाल
२. विगताशोक
३. वीरसेन

---

१ देखिए, कै० हि० इ०, पृ० ५०३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह तो हम देख चुके हैं कि अशोक के एक से अधिक रानियाँ और कुमार थे। इलाहाबाद-स्तम्भ पर उत्कीर्ण राज्ञी के लेख में अशोक अपनी द्वितीया रानी कारुवाकी तथा उसके पुत्र तीवर का उल्लेख करता है। सप्तम स्त० ले० में वह अपने कई पुत्र और पौत्र तथा एक से अधिक रानियों के विषय में बतलाता है। कम से कम चार पुत्रों के विषय में तो अभिलेखों के देखने से कोई सन्देह ही नहीं रह जाता; जिनमें तक्षशिला, उज्जयिनी, सुवर्णगिरि एवं तोसली नामक चार प्रान्तों या कुमारामात्य अधिष्ठानों के चार कुमारों द्वारा शासित होने की सूचना मिलती है।[१]

यद्यपि अशोक के उपर्युक्त कुमारों और राजमहिषी के अतिरिक्त अभिलेखों से और कुमारों या रानियों के विषय में पता नहीं चलता, बौद्ध और ब्राह्मण दोनों साहित्यों में तीन अन्य कुमार मिलते हैं। उनके नाम महेन्द्र, कुणाल तथा जालोक हैं। महेन्द्र अशोक की विदिशा की वैश्यारानी का पुत्र था जो इसलिए सिंहासन पर नहीं आया क्योंकि उसने भिक्षुओं के संघ में दीक्षा ले ली थी। कुणाल जो उज्जयिनी का शासक था अपनी विमाता के षड्यन्त्र से अन्धा कर दिया गया और जैन तथा बौद्ध लेखकों के अनुसार अपने पुत्र सम्प्रति को शासन का भार देकर राज्य के कार्य से अलग हो गया। राजतरंगिणी के लेखक का कहना है कि अशोक का ही एक पुत्र जालोक कश्मीर का स्वाधीन शासक बन बैठा। तारानाथ वीरसेन का उल्लेख करता है जिसने अशोक के बाद गन्धार का शासन सँभाला। अशोक के साथ वीरसेन का क्या सम्बन्ध था, इस पर ठीक प्रकाश नहीं पड़ता। डॉ० टामस [इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, १८७५ एवं कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५१२] का अनुमान है कि वह सम्भवतः पॉलिबियस (Polibius) द्वारा उल्लिखित अन्तियोक प्रथम (Antiochos I) के समकालीन सुभागसेन का पूर्ववर्ती था।

आनुश्रौतिक वृत्तान्तों में इस सम्बन्ध में कि अशोक के बाद कौन मगध का शासक हुआ काफी गड़बड़ी है। यहाँ तक कि पौराणिक तालिकाएँ भी एक दूसरे से नहीं मिलतीं। उनमें केवल अन्तिम मौर्य नरेश—बृहद्रथ के विषय में पूर्ण सामञ्जस्य पाया जाता है। दिव्यावदान के अनुसार अशोक के बाद कुणाल

---

१ कलिंग शिला-लेख, प्रथम, द्वितीय एवं लघु शि० ले० (ब्रह्मगिरि)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का पुत्र सम्पदी (सम्प्रति) राजा हुआ। वायु-पुराण के अनुसार अशोक के बाद उसका पुत्र कुणाल स्वयं राजसिंहासन पर आया और आठ वर्ष राज्य किया। कुणाल का पुत्र बन्धुपालित था और बन्धुपालित का उत्तराधिकारी इन्द्रपालित जिसके बाद देववर्मन, शतधनुष और बृहद्रथ ने राज्य किये। मत्स्यवंशावली में अशोक के निम्नांकित उत्तराधिकारियों के नाम आते हैं—दशरथ, सम्प्रति, शतधन्वा और बृहद्रथ। पर विष्णु-पुराण में दशरथ को अशोक का पौत्र माना है। अशोक के उत्तराधिारियों में दशरथ ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसका नाम एक अभिलेख में गया के निकट की बराबर पहाड़ी में कुछ कुभायें दान करने के सम्बन्ध में आता है।[१] इस प्रकार सम्प्रति की, जिसका नाम अधिकांश पौराणिक वंशावलियों तथा जैन और बौद्ध पुस्तकों में आता है और दशरथ की, जो साहित्य और अभिलेखों में समान रूप से उपस्थित है, ऐतिहासिकता का एक निश्चित आधार है। अधिकांश विद्वानों की सम्मति है कि सम्प्रति दशरथ के बाद राजा बना, न कि दोनों एक ही समय पश्चिमी और पूर्वी भारत में क्रमशः राज्य करते थे जैसा कि डॉ० स्मिथ का मत था।

सम्प्रति के सभी उत्तराधिकारी अपने वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ तक किसी काम के नहीं थे और उनके नामों के अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में हम बहुत कम सुनते हैं। बृहद्रथ की मृत्यु उसी के 'सेनापति' पुष्यमित्र शुङ्ग के हाथ से हुई जिसने मगध में एक नये राजवंश की स्थापना की। यह घटना १८४ ई० पू० की है।

---

१ इण्डियन ऐन्टिक्वेटरी, बीसवीं जिल्द, पृ० १६८ तथा आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाँ अध्याय

१. शुङ्ग, कण्व तथा आन्ध्रवंशीय शासन

(२०० ई० पू०—३०० ई०)

अनुवर्त्ती मौर्य शासक और उनका ह्रास

अशोक निर्भ्रान्त रूप से मौर्य वंश का अंतिम महान् सम्राट् था और उसके निधन पर (लग० २३२ ई० पू०) के साथ ही मौर्यों का सारा गौरव और ऐश्वर्य लुप्त हो गया। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हम पहले लिख आये हैं। अशोक के अभिलेखों से उसके तीवर नामक एक पुत्र का पता चलता है जो राजमहिषी कारुवाकी का पुत्र था। अन्य पुत्रों में कुणाल, जालोक तथा महेन्द्र के नाम साहित्य में उपलब्ध हैं और उसी आधार पर उसके दो पौत्रों दशरथ एवं सम्प्रति के बारे में हम जान पाते हैं। पुराणों में उत्तराधिकार का क्रम परस्पर विरोधात्मक होने के कारण ठीक नहीं। कुल मिलाकर अशोक और बृहद्रथ, जिसे सभी पुराण मौर्य वंश का अन्तिम शासक मानते हैं और जो १८५ ई० पू० के लगभग अपने सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग द्वारा राज्य-च्युत किया गया, के बीच पाँच या छः राजा हुए। परन्तु जिस समय पुष्यमित्र मगध के सिंहासन पर बैठा उस समय साम्राज्य की सीमाएँ काफी सिमिट चुकी थीं। अशोक का महान् साम्राज्य उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के समय में कई स्वाधीन राज्यों में बँट चुका था। प्रश्न होता है कि कर्मचारि-तंत्र की इतनी व्यवस्थित प्रणाली के शासन के अन्तर्गत मौर्य साम्राज्य इतने शीघ्र टूट कैसे गया ? इसके अनेक कारण थे : प्रथम तो यही था कि एक निरंकुश राजतंत्र में राजा का व्यक्तित्व ही प्रधान होता है और इस कारण राज्य का संचालक ही जब निर्बल और अयोग्य होने लगा तो दूर के प्रान्तीय शासक

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धीरे-धीरे स्वाधीनता की ओर पैर बढ़ाने लगे। कभी-कभी दूर के प्रान्तों में नियुक्त प्रान्तीय शासक स्वयं निर्बल या अत्याचारी होते थे उस दशा में केन्द्रीय सरकार की शक्ति ही उन प्रान्तों में शान्ति और सुरक्षा स्थापित रखने में समर्थ होती थी। पाटलिपुत्र का केन्द्रीय शासन शिथिल होते ही इनमें से कई प्रान्तों ने विद्रोह कर दिया और अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी। केन्द्रीय शासन का शिथिल होना अयोग्य शासकों के समय बिलकुल स्वाभाविक था और विद्रोहों को रोक सकना भी उसकी शक्ति के बाहर हो चला था। दूसरा कारण यह था कि युद्ध से विमुख होने के कारण मौर्यों की सामरिक शक्ति क्षीण हो चली थी। कलिङ्ग के युद्ध के पश्चात् अशोक ने रणचण्डी के आह्वान करने की नीति को बिलकुल छोड़ दिया था जिससे कम से कम सेना में स्फूर्त्ति एवं क्रियाशीलता तो बनी रहती। अशोक की शान्ति-नीति के अन्तर्गत विकास का कोई साधन न पाकर मौर्य सेना ने अपनी सामरिक प्रगति और क्षमता खो दी। अतः जब आन्तरिक विद्रोहों और बाह्य आक्रमणों का होना आरम्भ हुआ तो मौर्यों की सेना के लिए कुछ न बन पड़ा; और विकेन्द्रीकरण (disintegration) ने जोर पकड़ा। इसके अतिरिक्त एक तीसरा कारण भी था। मौर्यों के शासन के विरुद्ध एक तीव्र ब्राह्मण प्रतिक्रिया का आविर्भाव हुआ। मौर्यों का शासन भले ही और सब प्रकार उदार एवं सहिष्णु रहा हो, उसने यज्ञों का विरोध किया जो ब्राह्मण-धर्म का एक आवश्यक अंग माना जाता था। इस प्रतिक्रिया को पुष्यमित्र के नेतृत्व से बड़ा बल मिला जो स्वयं एक ब्राह्मण तथा बृहद्रथ के समय मौर्य सेना का एक उच्च पदाधिकारी था। उसने अपने निर्बल स्वामी को सिंहासन से च्युत कर मगध में मौर्यों के शासन की अन्तिम क्रिया कर डाली।

शुङ्ग राज्य

(लग० १८४—७२ ई० पू०)

पुष्यमित्र शुङ्ग ने जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं, ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के लिए—जिसकी पर्याप्त अवहेलना हो रही थी तथा देश की रक्षा के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लिए—उसके स्वातंत्र्य और पुरातन संस्कृति को यवन आक्रान्ताओं के विदेशी संस्कारों के बीच अक्षुण्ण रखने के लिए—एक प्रबल

पुष्यमित्र शुङ्ग १८४—१४८ ई० पू०

राज्य-क्रान्ति द्वारा मगध के सिंहासन पर अधिकार किया और एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा की। लोगों को प्रसन्न करने के लिए तथा पतनोन्मुख मगध साम्राज्य की विनाश से रक्षा के निमित्त उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। पुष्यमित्र द्वारा सुयोजित पुराने साम्राज्य में अब केवल मगध तथा कुछ पड़ोसी प्रान्त बच रहे थे जिनकी दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी थी। अयोध्या (उत्तर प्रदेश) विदिशा तथा बहुत (मध्य भारत) के नगर पुष्यमित्र के राज्य में सम्मिलित थे। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक से पता चलता है कि पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक था जिसके सिपुर्द दक्षिण के प्रान्त थे। उसी स्थिति में अग्निमित्र ने विदर्भ (बरार) के 'अचिराधिष्ठित' राजा को हराया और न केवल उसके अभिमान को चूर्ण किया, बल्कि वरदा नदी तक के सारे प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया।

वैयाकरण पतञ्जलि ने जो पुष्यमित्र का समकालीन था, वर्तमानकालिक क्रिया के उदाहरण में हाल की घटी हुई एक घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है : "अरुणद्यवनः साकेतम्। अरुणद्यवनः मध्य-

यवनों के आक्रमण

मिकाम्।" इससे पुष्यमित्र के समय मध्यमिका[1] और अयोध्या पर यवनों (बैक्ट्रिया के यूनानियों) द्वारा चढ़ाई करने का प्रमाण मिलता है। संभवतः यवनों के साथ पुष्यमित्र को युद्ध करने पड़े—एक अपने राज्य के आरंभ में और दूसरा अन्त में। 'गार्गी संहिता' में उल्लिखित यवनों (इण्डो बैक्ट्रियनों) के आक्रमण के सम्बन्ध में यह मिलता है कि साकेत, पञ्चाल और मथुरा को जीत लेने के बाद वे कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) पहुँच गये।[2] यह यवन आक्रान्ता जो कोई

---

१ चित्तौड़ के निकट नागरी नामक स्थान।

२ टार्न (W. W. Tarn) जायसवाल का 'कुसुमध्वज पहुँच जायँगे' वाला अनुवाद नहीं मानते, उन्होंने बार्नेट (L. D. Barnet) का 'जीत लेंगे' अनुवाद स्वीकार किया है।

(देखिए, 'ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया', पृ० ४५३-५६)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भी रहा हो पाटलिपुत्र में प्रवेश करने के पूर्व परास्त होकर अथवा बिना लड़े ही लौट गया। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि राज्यक्रान्ति के बाद सिंहासन पर बैठने के उपरान्त पुष्यमित्र को कभी भी राज्य से वञ्चित होना पड़ा हो। मालविकाग्निमित्र में जिस यवन-संघर्ष के बारे में हम पढ़ते हैं, वह निश्चय पुष्यमित्र के शासन-काल के अन्तिम भाग में हुआ था जबकि उसका पोता वसुमित्र यवनों के विरुद्ध राजकीय सेना का नायकत्व करने के योग्य हो गया था। यह युद्ध सिन्धु नदी के किनारे हुआ था जो यमुना की एक सहायक नदी है और मथुरा के एक दक्षिण-पूर्वी विन्दु से दक्षिण में मध्य भारत की ओर बहती है। अथवा यह काली सिन्धु भी हो सकती है जो चर्मण्यवती (चम्बल) की सहायक नदी है और यमुना के किनारे मथुरा तथा सिन्धु के बीच से होकर मध्य भारत में बहकर आती है (मानचित्र २)। मथुरा से जो सेना मध्य भारत आयेगी उसके लिए यमुना और उसकी इन्हीं उपर्युक्त सहायक नदियों के किनारे का मार्ग सबसे सुविधाजनक होगा। अतः मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित यवन-संघर्ष सिन्धु या काली सिन्धु के तट पर होने के कारण गार्गी-संहिता में वर्णित यवन आक्रमण से भिन्न है जो पाटलिपुत्र पर हुआ था और यह तो सोचा ही नहीं जा सकता कि जब पुष्यमित्र अपनी शक्ति की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था और भारत की अन्य शक्तियों को ललकारता हुआ उसका यज्ञ का अश्व सर्वत्र विचरण कर रहा था तो वे ही यवन जो वसुमित्र द्वारा पराजित हो गये इतना साहस दिखलाते कि पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर सकते। खेद तो इस बात का है कि ऊपर के किसी संदर्भ में यवन आक्रान्ता का नाम नहीं मिलता। यूनानी लेखक अवश्य भारत के दो बैक्ट्रियन ग्रीक शासकों को कई भारतीय विजयों का गौरव प्रदान करते हैं। वे इवुदिम (Euthydemos) के वंशज डेमेट्रियस (Demetrios) और मिलिन्द (Menander) हैं। पुष्यमित्र के १८४ ई० पू० में राज्यारोहण के समय डेमेट्रियस लगभग चालीस वर्ष का एक प्रौढ़ व्यक्ति था। गार्गी-संहिता में वर्णित एवं पातञ्जल-महाभाष्य में उल्लिखित पाटलिपुत्र के यवन-आक्रमण का अधिनायक सम्भवतः वही था। यूनानी वृत्तान्तों से पता चलता है कि जब डेमेट्रियस अपनी भारतीय विजयों में लगा हुआ था तो उसके स्वदेश बैक्ट्रिया में बड़ा उपद्रव उठ खड़ा हुआ और इवुक्रत (Eukratides) ने वहाँ सहसा विद्रोह कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शायद यही कारण था जिससे डेमेट्रियस को पाटलिपुत्र का आक्रमण छोड़कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाने के लिए स्वदेश लौट जाना पड़ा। उसका शेष जीवन जिसका अन्त १६० ई० पू० के लगभग हुआ इवुक्रत से लड़ते ही बीता।

'मालविकाग्निमित्र' में उल्लिखित दूसरा यवन-संघर्ष उस समय हुआ जब पुष्यमित्र निश्चय वृद्ध हो चला था, उसका पौत्र भी इतना बड़ा था कि उसके नायकत्व में राजकीय सेनाएँ युद्ध के लिए भेजी जा सकती थीं और जिसके विक्रम की नाटक में खूब प्रशंसा की गई है। यह यवन-युद्ध जिसका सम्बन्ध पुष्यमित्र के 'अश्वमेध' से है, निश्चित रूप से उसके शासन के अन्तिम भाग में हुआ प्रतीत होता है। पुष्यमित्र का शासन लगभग १४६ या १४८ ई० पू० तक रहा जिस समय तक डेमेट्रियस का अन्त हो चुका था। अतएव वसुमित्र द्वारा पराजित यवन सेनाओं का नायक डेमेट्रियस तो हो नहीं सकता, कोई दूसरा ही था। हमारा अनुमान है कि वह मिलिन्द था जिसका नाम भारत के अनेक प्रदेशों के जीतने के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों ने डेमेट्रियस के साथ लिया है। स्ट्रैबो (Strabo) का कथन है कि मिलिन्द ने 'सिकन्दर (Alexander) से भी अधिक राज्य' जीते थे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि डेमेट्रियस के बाद वह जीवित था और इवुदिम-डेमेट्रियस के राजघराने के एक राजकुमार के रूप में उनके मध्य तथा दक्षिण-पश्चिमी पंजाब पर शासन किया। पूर्व में मथुरा तक उसने अपनी राजसत्ता स्थापित कर ली थी, इसका भी मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाण है। इसके अतिरिक्त बौद्ध-ग्रन्थों से उसके बौद्ध-धर्म अंगीकार करने का तथा उसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) में बौद्ध भिक्षुओं के आश्रय लेने का पता चलता है। यह सम्भव है कि वह मध्य देश में धम्म घोष के द्वारा बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार करना चाहता रहा हो और इसीलिए उस प्रदेश के ब्राह्मण प्रतिक्रिया के संचालक पुष्यमित्र की अधिकार-सीमा में होने के कारण उसे धर्म-युद्ध की भावना से अपनी सेना पुष्यमित्र के विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में उतारनी पड़ी हो। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि वह अपने पूर्वज, इवुदिम और डेमेट्रियस की दक्षिण-पश्चिम में प्रसार-नीति को बरतना चाहता था। मथुरा पर तो उसका अधिकार पहले से ही था, वहाँ से मध्य भारत की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ओर जब वह बढ़ा शायद उसी समय मालविकाग्निमित्र में निर्दिष्ट अश्वमेध की तैयारियाँ हो रही थीं। मिलिन्द की यवन-सेना को मथुरा से मध्य-भारत की ओर आने में स्वाभाविकतः यमुना के तटवर्ती मार्ग का अनुसरण कर दक्षिण-पूर्व की ओर कुछ दूर तक आना पड़ा, फिर वह चर्मण्यवती अथवा सिन्धु के किनारे के प्रदेश में मुड़ी जहाँ से सीधा मध्य-भारत पहुँच सकते थे। मालविकाग्निमित्र की सिन्धु नदी जिसके किनारे यवन सेना परास्त हुई निश्चय ही सिन्धु या कालीसिन्धु है जो चर्मण्यवती की एक शाखा है (पूर्व-निर्दिष्ट)। डा० स्मिथ के अनुसार मिलिन्द के आक्रमण की तिथि १५६-१५३ ई० पू० है और यह काल पुष्यमित्र के राज्य के अन्तिम वर्षों में ही पड़ता है जबकि नाटक में वर्णित अश्वमेध (शायद दूसरा और अन्तिम[१]) यज्ञ सम्पादित हो रहा था।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक से ही हमें पुष्यमित्र के पुत्र तथा विदिशा के शासक अग्निमित्र के विदर्भ के साथ युद्ध का विवरण प्राप्त हुआ है। नाटक में वर्णित घटना इस प्रकार है— दक्षिण में विदर्भ का राज्य बहुत हाल में स्थापित हुआ था। नाटक में उसके लिए 'अचिराधिष्ठित' विशेषण का प्रयोग हुआ है जिसके कारण उस राज्य की जड़ें अच्छी तरह जम न सकी थीं ('नवसंरोपण-शिथिलस्तरुरिव)। विदर्भ का राजा यज्ञसेन अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ का, जिसे पुष्यमित्र ने अपनी सैनिक राज्य-क्रान्ति द्वारा उत्क्षिप्त किया था, सम्बन्धी था। इससे ऐसा जान पड़ता है कि यज्ञसेन शायद बृहद्रथ के समय विदर्भ का शासक रह चुका था और शुङ्गों का राज्य स्थापित होते ही उसने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी तथा विदिशा के शुङ्ग शासक के साथ शत्रुता का व्यवहार किया। उसका चचेरा भाई माधवसेन जो अग्निमित्र का सहायक था विदिशा में गुप्त रूप से उससे भेंट करने जा रहा था कि यज्ञसेन के सीमा-रक्षकों ने उसे बन्दी बनाकर कारावास में डाल दिया। अग्निमित्र की उसके छुटकारे के लिए माँग करने पर यज्ञसेन ने अपने साले मौर्य-सचिव को मुक्त

विदर्भ के साथ युद्ध

---

[१] अयोध्या के एक अभिलेख में पुष्यमित्र के दो अश्वमेध यज्ञ करने का संकेत मिलता है. यथा—"द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य" इत्यादि [एपिग्राफिया इण्डिका, बीसवीं जिल्द, पृ० ५४-५८]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर देने का सन्देश कहला भेजा। इस पर अग्निमित्र ने युद्ध की घोषणा कर वीरसेन को विदर्भ के राजा को कुचलने के लिए भेजा। युद्ध में यज्ञसेन की हार हुई और माधवसेन कारावास से बाहर निकला। विदर्भ का राज्य दोनों चचेरे भाइयों में बँट गया और वरदा नदी उनके राज्यों के बीच की सीमा निर्धारित हुई। (मानचित्र २)

अयोध्या अभिलेख [एपि० इण्डि०, २० वीं जिल्द, पृ० ५४-५८] के अनुसार पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किये थे। मालविकाग्निमित्र में जिस अश्व-

अश्वमेध

मेध का उल्लेख हुआ है वह जैसा कि हम देख चुके हैं उसके राज्य के अन्तिम भाग में हुआ था जब सम्पूर्ण मध्य-भारत में उसी की धाक जमी हुई थी। 'महाभाष्य' से ज्ञात होता है कि कम से कम एक यज्ञ पतञ्जलि के नेतृत्व में सम्पादित हुआ था। महाभाष्य का यह सन्दर्भ "इह पुष्यमित्रं याजयामः" (यहाँ हम पुष्यमित्र के लिए यज्ञ कर रहे हैं) इसे प्रमाणित करता है।[१]

अब, यदि अयोध्या-अभिलेख का प्रमाण मान लिया जाय, तो प्रश्न होता है कि पहला अश्वमेध कब हुआ? इसमें कोई सन्देह नहीं जैसा हम देख चुके हैं कि मालविकाग्निमित्र में जिस अश्वमेध की चर्चा हुई है वह यज्ञ उस समय हुआ जब पुष्यमित्र वृद्ध हो चला था और संभवतः वही दूसरा एवं अन्तिम यज्ञ था जिसे सम्पादित कर सम्राट् ने इस लोक से प्रयाण किया। इस यज्ञ के रूप में सम्राट् ने मानों अपने पड़ोसी राज्यों और सामन्तों के ऊपर अपनी प्रभुता घोषित की थी। अब देखना यह है कि कब और किस अवसर पर दूसरा अश्वमेध हुआ। इस सम्बन्ध में बिलकुल निश्चय रूप से कह सकना कठिन है। परन्तु यदि दूसरा यज्ञ सम्पन्न हुआ तो इतना कह सकते हैं कि वह उस यज्ञ के पहले तो हुआ ही जिसमें सम्राट् के पोते वसुमित्र के ऊपर

---

१ सर रामकृष्ण गोपाल भण्डार कर के अनुसार 'याजयामः' का नियम पतञ्जलि द्वारा वार्त्तिक शिक्षानुसार एक ऐसी क्रिया के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है जो आरम्भ हो चुकी है पर अभी समाप्त नहीं हुई [इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, १८७२, पृ० ३००; एवं तुलनार्थ, रायचौधुरी-कृत 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० १५६]।

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यज्ञ के घोड़े की रक्षा का भार रखा गया था। और शायद यह कहना असंगत न होगा कि पहला अश्वमेध पुष्यमित्र की सफल 'राज्य-क्रान्ति' के ठीक बाद और संभवतः प्रथम यवन-आक्रमण के पाटलिपुत्र की रक्षा के उपरान्त ही हुआ होगा (पहले, पृ० १६०)। पुष्यमित्र ब्राह्मण-तंत्र का अधिनायक या स्वामी था जिसका लक्ष्य यज्ञ-यागादि और हिन्दू-संस्कारों का पुनरुत्थान करना था जो बौद्ध धर्मानुयायी मौर्य शासकों के समय में दबा दिये गये थे। अतएव यह बिलकुल स्वाभाविक था कि पुष्यमित्र अपने राज्याभिषेक और उसके ठीक बाद यवन-आक्रमण से मगध की रक्षा की घटनाओं को अश्वमेध के पुनरुद्धार से विजयोत्सव के रूप में मानता जिससे उसके अनुयायियों की आशा तो पूरी होती जो न जाने कब से नास्तिक बौद्ध तंत्र के अन्त तथा ब्राह्मण-तंत्र की स्थापना और ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार के लिए इस अश्वमेध रूपी राज-घोषणा की प्रतीक्षा में बैठे थे।

पुष्यमित्र शुङ्ग का बौद्धों के प्रति दृष्टिकोण

दिव्यावदान तथा तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के आनुश्रौतिक वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र धार्मिक मामलों में बड़ा ही असहिष्णु था, उसने बौद्धों पर तरह-तरह के अत्याचार किये जिनमें बौद्ध संघारामों का जलवाना भी सम्मिलित था। कुछ विद्वान् दिव्यावदान और तारानाथ के वृत्तान्तों को अप्रामाणिक मानते हैं, उनका कहना है कि पुष्यमित्र ने बौद्धों पर कोई अत्याचार नहीं किया। अपने मत की पुष्टि में वे [१] बहुत अभिलेख का प्रमाण देते हैं जिसमें केवल इतना ही मिलता है कि बहुत-स्तूप का एक तोरण-द्वार "शुङ्गों के राजत्वकाल में" (सुगनं रजे) निर्मित हुआ। [२] यदि हम ध्यानपूर्वक उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पर्यवेक्षण करें जिसके द्वारा पुष्यमित्र को मगध का सिंहासन प्राप्त हुआ तो हम देखेंगे कि उस ब्राह्मण-क्रान्ति में सबसे आगे वही था जिसने अशोक की शान्तिमयी बौद्ध-नीति का अनुसरण करनेवाले मौर्यों का शासन छिन्न-भिन्न कर दिया। उस शासन के

---

१. डा० रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री', तृतीय संस्करण, पृ० ४८; डा० रमाशङ्कर त्रिपाठी, 'हिस्ट्री ऑव एन्शयेण्ट इण्डिया', पृ० १८७।

२ इण्डियन ऐन्टिकेरी, २१वाँ भाग, पृ० २२७, सं० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तर्गत ब्राह्मणों के असन्तोष के कुछ आधारयुक्त कारण थे जिनकी महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख में अच्छी व्याख्या की है (जे० ए० एस० बी०, १६१०) । यह ठीक है कि धर्म के सम्बन्ध में अशोक ने एक सहिष्णु नीति से काम लिया और जान-बूझकर किसी सम्प्रदाय पर अत्याचार न होने दिया, किन्तु उसके कुछ लेखों से पता चलता है कि उसने नये नये सुधार किये जिनसे वह अपनी प्रजा की भलाई समझता था [देखिए, शि० ले० १, शि० ले० ५, शि० ले० ६, एवं स्त० ले० ४] । पर इन सुधारों का ब्राह्मणों के ऊपर उल्टा प्रभाव पड़ा । उनके परम्परागत स्वार्थों और अधिकारों को इनसे बड़ा धक्का पहुँचा । फिर लगभग इसी समय यवनों और शकों ने भारत में प्रवेश करना आरंभ किया और उनके साथ ही विदेशी रीति-रिवाज फैलने लगे । हिन्दू-धर्म और संस्कृति को इस प्रकार बाहर और भीतर दोनों ओर से संकटों का सामना करना पड़ा । मौर्यों की शासन-पद्धति में बरती जानेवाली निहायत कमजोर बौद्धों की शान्ति-नीति से विदेशी आक्रमणों से भारत की रक्षा नहीं हो सकती थी और इस तरह उसकी संस्कृति एवं धर्म के भी लोप होने की आशंका थी । ब्राह्मणों ने इस पर, जो देश के धर्म और संस्कृत का अपने को अभिभावक मानते आ रहे थे, राज्य-शक्ति अपने हाथों में लेने की ठानी । पुष्यमित्र द्वारा संचालित, जो बृहद्रथ का सेनापति था, राज्यक्रान्ति पूर्णतया सफल रही । पुष्यमित्र शुङ्ग ब्राह्मण होने के कारण मगध में प्रथम ब्राह्मण-तंत्र का प्रवर्तक बना । इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आगे दिव्यावदान और तारानाथ के प्रमाणों की अवहेलना करना कठिन है जो पुष्यमित्र को बौद्धों पर अत्याचार करने का दोषी ठहराते हैं । वस्तुतः उसे उस क्रान्तिकारी-दल का नायक होने का प्रमाण उपस्थित करना था जो बौद्धों को संत्रस्त कर और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार की दुन्दुभी बजाकर राजनीतिक गौरव प्राप्त कर सका । दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र ने यह घोषणा की कि जो कोई उसे एक श्रमण का मस्तक लाकर भेंट करेगा उसे सौ दीनार प्रदान किये जायँगे ।[१] इस घोषणा का अभिप्राय

---

[१] 'यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि ।"—दिव्यावदान (कॉवेल और नील द्वारा सम्पादित, पृ० ४३३) ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शाकल के श्रमणों से था जो इण्डो-बैक्ट्रियन शासक मिनैण्डर (मिलिन्द) की राजधानी थी। मिलिन्द-पह्नो (मिलिन्द-प्रश्न) में शाकल को बौद्ध-श्रमणों का आवास बतलाया गया है। यह तो हम जानते ही हैं कि अयोध्या अभिलेख (एपि० इण्डि०, २० वीं जिल्द, पृ० ५४—५८) में पुष्यमित्र के दो अश्वमेध करने का उल्लेख मिलता है। उसके अश्वमेध-विषयक प्रमाण पातञ्जल महाभाष्य तथा मालविकाग्निमित्र में भी पाये जाते हैं। ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार की इस प्रबल क्रियात्मकता का मेल बौद्ध-धर्म की सहिष्णु नीति के साथ बिलकुल नहीं बैठता। फिर यह पुष्यमित्र को पसन्द भी न था कि इस प्रकार अपने विरोधियों को मित्र मानकर शासन से चिपटाये रहता। परन्तु उसके उत्तराधिकारियों के समय तक निश्चय यह भावोन्मेष और क्रियात्मकता दब गई होगी तथा राजनीतिक स्थिति भी कुछ सँभली होगी जिससे वे राज्य के प्रतिक्रियावादी एवं क्रान्तिकारी ब्राह्मण वर्ग को उतना मान देने का आवश्यकता न समझने लगे होगे और इस कारण बौद्धों के प्रति अपने रोष को ठण्डा कर सहिष्णुता का भाव प्रकट करने लग गये होंगे जभी उन्होंने उन्हें बहुत के बौद्ध-स्तूपों को तोरणों और सूचियों (Railings) आदि से अलंकृत करने की स्वीकृति दी। इन तोरणों का निर्माण पुष्यमित्र शुङ्ग के बहुत बाद हुआ, यही एन० जी० मजूमदार[1] प्रभृत पुरातत्त्वान्वेषियों का भी मत है। अतः 'सुगनं रजे' कथन का तात्पर्य पुष्यमित्र शुङ्ग के उत्तराधिकारियों से है न कि स्वयं पुष्यमित्र से। इस स्पष्ट पुरातत्त्व-विषयक प्रमाण और प्रस्तुत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर बहुत-तोरण के अभिलेख का प्रयोग कभी दिव्यावदान और तारानाथ के स्पष्ट साहित्यिक प्रमाणों के खण्डन के लिए नहीं करना चाहिए कि पुष्यमित्र शुङ्ग ने बौद्धों पर अनेक अत्याचार किये।

पुराणों में दस शुङ्ग राजाओं की वंशावली मिलती है जिनमें से पुष्यमित्र शुङ्ग ने ३६ वर्ष और कुल राजाओं ने मिलकर ११२ वर्ष राज्य किये। जैसा

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

कि हम ऊपर देख चुके हैं, पुष्यमित्र १८४ ई० पू० के लगभग राजसिंहासन पर बैठा, अतएव इस वंश का राज्य-काल लगभग ७२ ई० पू० तक माना जा सकता है। पौराणिक सूची के अनुसार इस वंश में यथाक्रम निम्नलिखित राजा हुए—

---

[1] मजूमदार, 'ए गाइड टु द स्कल्पचर इन दि इण्डियन म्यूजियम', पृ० १४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुष्यमित्र
|
अग्निमित्र
|
वसुज्येष्ठ
|
वसुमित्र
|
अन्ध्रक
|
पुलिन्दक
|
घोष
|
वज्रमित्र
|
भाग (भागवत ?)
|
देवभूति

इनमें से अग्निमित्र के विषय में हमारा ज्ञान मालविकाग्निमित्र तथा पुराणों तक ही सीमित है। उनके संयुक्त प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वह अपने पिता के समय में विदिशा का शासक था, उसने विदर्भ के साथ लड़कर विजयश्री प्राप्त की और उसका पुत्र वसुमित्र यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए नियुक्त राजवाहिनी का अधिनायक बनाया गया था। अपने पिता की मृत्यु के बाद वह सम्राट् हुआ और उसने आठ वर्ष तक राज्य किया। उत्तरी पञ्चाल (रुहेलखण्ड) में अग्निमित्र नामधारी बहुत से ताँबे के सिक्के मिले हैं। इस विषय में अन्य निश्चित प्रमाणों के अभाव में यह कह सकना कठिन है कि इन सिक्कों पर शुङ्ग सम्राट् का नाम अंकित है अथवा अहिच्छत्र पर शासन करनेवाले किसी स्थानीय कुमार का। प्रो० रैप्सन को इस विषय में सन्देह है [देखिए, कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५२०]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कनिंघम उसे एक स्थानीय कुमार बतलाते हैं ['क्वाइन्स ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० ७९]। डा० रायचौधुरी ['पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० २६९—७०] सिक्के पर पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी अग्निमित्र के नाम होने का समर्थन करते हैं। इसी प्रकार उनका विचार है कि सिक्कों पर अंकित जेठमित्र नाम भी अग्निमित्र के उत्तराधिकारी वसुज्येष्ठ का सूचक है जो पौराणिक सूची के अनुसार तीसरा सम्राट् था। एक पाण्डुलिपि में उसका केवल 'ज्येष्ठ' नाम भी पाया गया है [वही]। इस सूची में चौथा नाम वसुमित्र का है। वह अग्निमित्र का पुत्र था और अपनी तरुण अवस्था में यज्ञ के घोड़े की उसने रक्षा कर यवनों को सिन्धु के किनारे पराजित किया था। यह सिन्धु ही संभवतः मथुरा के यवन राज्य की दक्षिण-पूर्वी एवं मध्य-भारत के शुङ्ग राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा थी।[१]

वसुमित्र के बाद गद्दी पर बैठनेवाले सूची के पाँचवें राजा का नाम पाण्डुलिपियों में विभिन्न रूप में मिलता है, यथा—अन्ध्रक आन्ध्रक, अथवा ओद्रक। डा० जायसवाल उसे ओदाक (संस्कृत > ओद्रक) निश्चित करते हैं जिसका नाम पभोसा (कौशाम्बी के समीप) शिला-लेख में आता है।[२] किन्तु अधिकांश विद्वानों को यह विनिश्चीकरण मान्य नहीं। अन्य तीन राजाओं के विषय में उनके नामों के सिवाय और कुछ नहीं ज्ञात होता। उन्होंने निम्नलिखित क्रम के अनुसार शासन किया—पुलिन्दक, उसके बाद घोष तथा घोष के बाद वज्रमित्र। पौराणिक सूची के नवें सम्राट् भागवत को कुछ विद्वान् बेसनगर स्तम्भ लेख का काशीपुत्र भागभद्र बतलाते हैं। इस अभिलेख में ऐसा उल्लेख आता है कि तक्षशिला के यवन-शासक अन्तलिकित (Antialkidas) ने सम्राट् भागभद्र के दरबार में दिय (Dion) पुत्र हेलिओदोर (Heliodorus) को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। हेलिओदोर अपने को भागवत धर्मावलम्बी बतलाता है [जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० १०५५—५६]। सूची में दसवाँ एवं

---

१ देखिए पहिले, पृ० १९२; एवं तुलनार्थ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० २७०।

२ जर्नल ऑव दि बिहार ऐन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, दिसम्बर, १९१७, पृ० ४७३—५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्तिम राजा देवभूति है जो दस वर्ष के शासन के बाद अपने अमात्य वसुदेव काण्वायन द्वारा उत्थिप्त कर दिया गया। वसुदेव ने काण्वायन वंश की स्थापना की। पुराणों के इस वृत्तान्त की प्रतिध्वनि हर्षचरित में एक स्थल पर हुई है जिसमें इस प्रकार आता है कि वसुदेव ने विजयी शुङ्ग को एक कूट चाल चलकर मरवा डाला और स्वयं राज्य का अधिकारी बन बैठा।[१]

शुङ्ग संस्कृति : धर्म, कला और साहित्य

धर्म

बौद्धतन्त्र की कमजोरियों और अतिशय शान्तिवादिता के कारण सनातन ब्राह्मण-धम पर जैसा कुठाराघात हुआ था तथा विदेशियों को आक्रमण करने का प्रोत्साहन मिल गया था उसी का प्रतिरोध ब्राह्मणों ने विद्रोह कर, और शुङ्ग राज्य की स्थापना कर लिया। अतएव नव प्रतिष्ठित शासन के कर्ण-धारों के सामने पहला काम सनातन-धर्म की मर्यादा को पुनः स्थापित करना हो गया जिसके द्वारा सारे यज्ञ-य गादि, हवन-पूजन को फिर से प्रवर्तित करने और जातीय संगठन में ब्राह्मणों को फिर से शीर्ष स्थान दिलाने की आवश्यकता पड़ी। महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्ग सम्राट् का प्रधान धर्माधिकारी था जिसने पुष्यमित्र के लिए महान् यज्ञ किया। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में इस यज्ञ का अच्छा वर्णन हुआ है। अयोध्या के अभिलेख से पुष्यमित्र के दो अश्वमेध करने का पता चलता है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति के रचयिता मनु का भी काल डा० ब्यूलर ने २०० ई० पू० एवं २०० ई० के बीच ही रखा है। इस काल की पूर्व अवधि अधिक मान्य इसलिए जान पड़ती है, क्योंकि उस समय हिन्दू-समाज की जैसी पुनरुत्थापना हो रही थी जिसके आधार पर ब्राह्मणों की स्थिति हर प्रकार सर्वोच्च बनाने का प्रयत्न किया जा रहा था वह नये राजवंश के संरक्षण में ही अधिक संभव था और तभी आदर्श को

---

१ हर्षचरित, छठवाँ उच्छ्वास, पृ० १६६ (अतिस्त्रीसङ्गरतमनङ्गपरवशं शुङ्गममात्यो वसुदेवो......वीतजीवितमकारयत्); इसके अतिरिक्त पार्जिटर-कृत 'डाइनस्टीज़ ऑव दि कलि एज', पृ० ७१ भी देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चरितार्थ होने देने के लिए हिन्दुओं की प्रथम व्यवहार-सम्बन्धी रचना के लिपि-बद्ध किये जाने की आवश्यकता पड़ी। परन्तु यहाँ यह कदापि न भूलना चाहिए कि मनुस्मृति से शुङ्गकालीन सभी धार्मिक या सामाजिक अवस्था का बोध नहीं होता। उसके विपरीत बेसनगर स्तम्भ लेख जो एक पिछले शुङ्ग राजा के समय में अंकित हुआ यह प्रमाणित करता है कि यूनानी भी उस समय हिन्दू-धर्म में दीक्षित होकर भगवान् विष्णु की उपासना कर सकते थे। 'मनुस्मृति' की धारणायें एवं सिद्धान्त ही आगे चलकर यथार्थ बने और जैसे-जैसे समय बीतता गया उन धारणाओं को व्यवहार या कानून का रूप मिल जाने से हिन्दू-समाज का गठन उन्हीं के आधार पर निर्भर हुआ। वर्तमान हिन्दू-समाज का प्रगतिशील अंश आज यह सोचने लगा है कि मनु की व्यवस्थाएँ आज के लिए अव्यावहारिक एवं अप्रासंगिक हो गई हैं और उनमें नये संशोधनों द्वारा काफी परिवर्तन कर देने की आवश्यकता है।

कला

शुङ्ग काल में वास्तु-कला का एक नया युग आरंभ हुआ। मौर्य एवं पूर्व-मौर्यकालीन बौद्ध स्तूपों की काष्ठ-वेदिकाओं के स्थान में शुङ्ग-काल में पत्थर की वेदिकाएँ और भव्य तोरण-द्वार बनाये गये। इसका उदाहरण देखना हो तो बहुत स्तूप (मध्य-भारत) के अवशेष हमारे सामने हैं। उन तोरण-द्वारों और स्तम्भों एवं वेदिकाओं की सूचियों में अंकित प्रस्तर मूर्त्तिकला के कुछ अत्यन्त सुन्दर प्राकृतिक और जातक कथाओं के दृश्य देखे जा सकते हैं। शुङ्ग काल के अन्य स्मारकों में कुछ विशेष प्रसिद्ध स्मारक भाजा का सुप्रसिद्ध विहार (पूना के निकट), भाजा के ही पुराने विहार के समीप चट्टान काट-कर बनाये स्तूप तथा एक आयत चैत्य-गृह, नासिक का चैत्य-गृह, अजन्ता का ९ वाँ चैत्य-गृह, अमरावती का स्तूप, बोध गया की सुन्दर वेदिका जो उस 'चंक्रम' अथवा 'प्रदक्षिणा-पथ' के चारों ओर बनी हुई है जिसकी प्रदक्षिणा तथागत् ने 'बोधि' प्राप्त करने के बाद की थी, बहुत के सुन्दर वृक्ष-देवता तथा बेसनगर (भिलसा) का शीर्ष-विहीन गरुड़-स्तम्भ हैं।

जब हम साहित्य की ओर ध्यान देते हैं तो उस दिशा में ब्राह्मण-धर्म के

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुनरुत्थान के कारण ब्राह्मण-साहित्य को भी खूब सम्पन्न पाते हैं। पाणिनि के व्याकरण का सुप्रसिद्ध टीका "महाभाष्य" इसी समय में पतञ्जलि द्वारा हुई। पतञ्जलि की समकालीनता पुष्यमित्र के साथ निश्चित करनेवाला प्रमाण जिसमें पतञ्जलि को पुष्यमित्र के अश्वमेघ का होता बतलाया गया है यह वाक्य है कि—"इह पुष्यमित्रं याजयामः" [यहाँ हम पुष्यमित्र के लिए यज्ञ कर रहे हैं] जिसे भाष्यकार ने वर्तमानकालिक क्रिया का स्वरूप दिखलाने के लिए रखा है। 'मनुस्मृति' भी संभवतः इसी युग की रचना है, और उसके साथ ही अन्य इसी प्रकार की रचनाएँ इस समय हुई होंगी जिनके रचयिताओं के विषय में कुछ ज्ञात न रहा।

साहित्य

कण्व वंश का राज्य

(लग० ७२—२८ ई० पू०)

मगध के इस नवोत्थापित राजवंश का प्रवर्तक वसुदेव था। कण्वों के राज्य-शासन के विषय में बहुत थोड़ा वृत्तान्त मिलता है। ऐसा अनुमान है कि उनका राज्य मगध और उनके पास-पड़ोस तक ही सीमित था। परन्तु मगध पर शासन करने के कारण पुराणकार ने उन्हें सम्राटों की श्रेणी में रखा है। उनका सम्पूर्ण राज्यकाल पुराणों के अनुसार ४५ वर्ष था। पुराणों में चार कण्व राजाओं के नाम दिये गये हैं जिन्होंने यथाक्रम मगध पर शासन किया :

"वसुदेव का राज्य ६ वर्ष होगा। उसका पुत्र भूमिमित्र १४ वर्ष राज्य करेगा। उसका पुत्र नारायण १२ वर्ष; तथा नारायण का पुत्र सुशर्मा १० वर्ष।"

पुराण इन राजाओं को शुङ्ग भृत्यकाण्वायन सम्राटों के नाम से अभिहित करते हैं और उनकी जाति ब्राह्मण घोषित करते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि प्रथम कण्व नरेश अन्तिम शुङ्ग सम्राट् का मन्त्री रह चुका था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आन्ध्र या सातवाहन राजवंश

पुराणों में ऐसा उल्लेख आता है कि आन्ध्र-नरेश सिमूक या शिशुक या सिन्धुक (ये सब उसी के नाम हैं) ने सुशर्मा काण्वायन एवं शुङ्गों की शेष शक्ति को नष्ट कर वसुधा का राज्य प्राप्त किया।[1]

तिथि का प्रश्न

यह हम देख चुके हैं कि कण्व नरेशों ने (७२—४५) २७ या २८ ई० पू० तक राज्य किया। इस प्रकार चक्रवर्ती राजसत्ता के अर्थ में आन्ध्रों का उदय प्रथम शती के अन्तिम चरण से मानना चाहिए। सिमूक जिसका राज्यकाल २३ वर्ष बतलाया गया है आन्ध्र राज्य के सिंहासन पर उस घटना के पूर्व भी वर्तमान रहा होगा जबकि उसने कण्वों के हाथ से लग० २८ ई० पू० में मगध के साम्राज्य को छीन लिया। इस घटना के पूर्व प्रथम शती के बीच में ही सिमूक के अधीन आन्ध्र शक्ति का आविर्भाव माना जा सकता है।

विद्वानों में आन्ध्रों के उदय के सम्बन्ध में जो तिथि-विषयक मतान्तर पाये जाते हैं उसका कारण पुराणों के अस्पष्ट वृत्तान्त हैं जिनमें आन्ध्रों के शासन-काल तथा राजाओं की संख्या के बारे में बहुत-सी परस्पर-विरोधी और सन्दिग्ध बातों का समावेश हो गया है। "मत्स्य पुराण" के अनुसार १६ आन्ध्र राजा पृथ्वी का भोग करेंगे—

"एकोनविंशतिर्ह्येते त्रिंशदन्ध्रा भोक्ष्यन्ति ये महीम्।" पर इस पुराण में १६ के स्थान पर ३० नाम गिना दिये गये हैं। "वायु पुराण" में ३० राजाओं की संख्या तो मिलती है, पर गणना में १६ ही ठहरते हैं—

"इत्येते वै नृपास्त्रिंशदन्ध्रा भोक्ष्यन्ति ये महीम्।" फिर इसी प्रकार सम्पूर्ण राज्य-काल के सम्बन्ध में मत्स्य में आन्ध्रों के ४६० वर्ष राज्य करने का उल्लेख हुआ है ("तेषां वर्षशतानि स्युश्चत्वारि षष्ठिरेव च"), जब कि वायु में आन्ध्रों का शासन ३०० वर्ष पर्यन्त माना गया है ("आन्ध्रा भोक्ष्यन्ति वसुधां शते द्वे च शतञ्च वै")।

---

१ "काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्यतम्। शुङ्गानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा। सिन्धुको अन्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।" (वायु-पुराण)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शायद मत्स्य-पुराण ही के आधार पर डा० स्मिथ तथा कुछ दूसरे विद्वान् सिमूक को तीसरी शती ई० पू० में रखते हैं। और इस वंश का राज्य तीसरी शती ई० तक बतलाते हैं। पौराणिक उलझनों के बीच एक सुलझा हुआ मत डा० रायचौधुरी का ही प्रतीत होता है जो सिमूक के समय का एक तर्कयुक्त परिणाम देते हैं। उनका कहना है कि वायु की परम्परा के अनुसार १९ राजा हुए जिन्होंने ३०० वर्ष राज्य किया, किन्तु मत्स्य के अनुसार जिसमें एक दूसरी परम्परा मिलती है ३० राजाओं ने ४०० वर्ष तक राज्य किया। इस विषय में वे सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का वह मत उद्धृत करते हैं जिसमें उन्होंने यह सुझाव रखा है कि लम्बी सूची में उन समस्त राजाओं का समावेश हुआ है जो आन्ध्र-भृत्य वंशीय विविध शाखाओं के शासक थे और इन सभी शाखाओं के शासकों का राज्यकाल भी इसीलिए इतना अधिक आता है। इसके विपरीत वायु-पुराण में दिये हुए ३०० वर्ष और १९ नाम जिनका संकेत मत्स्य में भी पाया जाता है मुख्य शाखा के सूचक हैं। कम से कम शातकर्णियों की एक शाखा के अस्तित्व के विषय में जो मुख्य शाखा से अलग कुन्तल (कनारा का इलाका) में कदम्बों के पहले राज्य करती थी, डा० रायचौधुरी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। उनका यह भी कथन है कि इस शाखा के कम से कम दो राजाओं—स्कन्दशक्ति एवं कुन्तल शातकर्णी—का समावेश मत्स्य की सूची में हुआ है जो वायु में नहीं गिनाये गये हैं। इस विषय में अन्य प्रमाणों का विवेचन करते हुए वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि—"मत्स्यपुराण जो ३० सातवाहन सम्राटों की तालिका प्रस्तुत करता है, केवल मुख्य शाखा ही नहीं बल्कि कुन्तल के घराने का भी उसमें समावेश करता है......और यदि सातवाहन नरेशों की मुख्य शाखा में लगभग १९ राजा हुए जिनका राज्यकाल तीन शताब्दि पर्यन्त रहा तो पुराणों के इस आशय को मान लेने में कि सिमूक प्रथम शती ई० पू० में राजसिंहासन पर बैठा और उसके वंशजों ने उत्तरी-दक्खिन के पठार में तीसरी शती में किसी समय तक अप्रतिहत रूप से राज्य किया, कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती। कुन्तल का घराना अवश्य कुछ और आगे तक चला और उसका शासन चौथी या पाँचवीं शती के पूर्व कभी नहीं समाप्त

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हुआ जब कि कदम्बों के आगे उन्हें झुकना पड़ा।[1] इस प्रकार शातकर्णियों की दोनों शाखाओं का सम्मिलित राज्यकाल वास्तव में ४०० वर्ष से अधिक आता है।"[2]

सिमूक की तिथि निश्चित करनेवाले इन प्रमाणों के अतिरिक्त जो डा० रायचौधुरी ने दिये हैं और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं। शातकर्णि की पत्नी एवं सिमूक की पुत्रवधू नायनिका के नानाघाट अभिलेख का समय गौतमीपुत्र शातकर्णि के १०० वर्ष पूर्व रखा गया है [ब्यूलर, आर्के० स० वे० इ०, भाग ५, पृ० ६५]। और गौतमीपुत्र शातकर्णि का राज्यकाल दूसरी शती के प्रथम चरण में पड़ता है।[3] तीन-चार राजाओं का राज्यकाल जिसमें एक अभिभावक काल (Regency) तथा कुछ दिनों का विदेशी शासन भी सम्मिलित है जो सिमूक की मृत्यु और गौतमीपुत्र के राज्यारोहण के बीच आ गया था, एक शताब्दि से तो ऊपर ही रहा होगा। अतः नायनिका के श्वसुर सिमूक ने प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम चरण में साम्राज्य पर अधिकार किया होगा। यह तिथि पौराणिक वृत्त के अनुसार भी है जैसा ऊपर उद्धृत डा० रायचौधुरी के वर्णन से स्पष्ट है।

सिमूक के तिथि का प्रश्न हल करने में खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख के प्रमाण से भी काफी सहायता मिल सकती है। उक्त अभिलेख में एक स्थल पर आता है—"पञ्चमे च दानि वसे नन्दराज तिवससत [ं] ओघाटितं तनसुलिय-वाटा-पणाडिं नगरं पवेसयति"। डा० रायचौधुरी ने ठीक ही और सन्तोषजनक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि 'तिवससतं' का अर्थ ३०० वर्ष है, न कि १०३ वर्ष; और इसकी गणना नन्दराज के समय से होनी चाहिए। इसके आधार पर खारवेल प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम चरण में ठहरता है। अभिलेख के एक दूसरे स्थल पर खारवेल की पश्चिमपति शातकर्णि के साथ

---

१ परन्तु पाँचवीं शती में वाकाटक नरेश हरिषेण अपने अभिलेख में 'कुन्तल-पति' के नाम से अभिहित हुआ है [देखिए, आर्के० स० इ०, चतुर्थ, पृ० १२४ तथा आगे]।

२ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० सं०, पृ० २७५–७६।

३ देखिए, आगे, पृ० २२०–२२१। उसका राज्यकाल लग० १०६–१३० ई० है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लड़ाई का निर्देश हुआ है। इससे दोनों सम्राटों की समकालीनता निश्चित होती है और शातकर्णि के पिता सिमूक की तिथि भी प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम चरण से बहुत पहले नहीं जाती। यह हम ऊपर देख चुके हैं।

आन्ध्र-सातवाहनों का कुल और आवास

एक विचित्र बात यह देखने में आती है कि आन्ध्रों ने प्रायः अपने सभी अभिलेखों में अपने को 'सातवाहन' की संज्ञा दी है। यही सातवाहन साहित्य में शालिवाहन के नाम से प्रसिद्ध हैं। अपने दो प्राचीनतम अभिलेखों में [एपि० इ०, अष्टम, पृ० ९३; आर्के० स० वे० इ०, पञ्चम, पृ० ६४] प्रथम और द्वितीय आन्ध्र नरेश, सिमूक (शिशुक) एवं कृष्ण (कन्ह) सातवाहन कुल के कहे गये हैं। परन्तु पुराणों में सिमूक और कृष्ण आन्ध्र सम्राट् ही हैं। इसके अलावा यह भी हम जानते हैं कि आन्ध्र एक प्राचीन द्रविड़ जाति की शाखा है जो कृष्णा और गोदावरी के बीच तेलुगु प्रदेश में बसी हुई थी। बौद्धों के जातक-ग्रन्थों में अन्ध्रपुर नामक एक स्थान का उल्लेख आता है जो तेलवाहा नदी के किनारे स्थित बतलाया गया है। डा० दत्तात्रेय रामकृष्ण भण्डारकर का अनुमान है [इ० ऐ०, १९१८, पृ ७१] कि तेलवाहा नदी से अभिप्राय तेल या तेलंगिरि से है जो मद्रास और मध्य-प्रान्त की सीमा पर आस-पास बहती हैं। उनका ऐसा कथन है कि आन्ध्रों के प्रदेश में प्रारम्भ में जयपुर, मद्रास प्रेसिडेन्सी के विजगापट्टम जिले का कुछ भाग तथा कुछ मध्य-प्रान्त के सीमावर्ती जिले सम्मिलित थे। उसमें ऐसा सम्भव है कि निजाम की रियासत का दक्षिणी भाग एवं कृष्णा और गोदावरी जिले भी रहे हों जो आजकल तेलङ्गाना के नाम से विख्यात् है।

ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र आर्य सभ्यता के आवर्त्त से बाहर माने गये हैं। पर आन्ध्र-सातवाहन नरेश वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ६० तथा आगे] के एक अभिलेख से सातवाहनों के ब्राह्मण होने का पता चलता है। आन्ध्र जाति की प्राचीनता के विषय में मेगस्थनीज का विवरण मिलता है जिसने प्लिनी (Pliny) के अनुसार ऐसा लिखा है कि उनके पास एक इतनी बड़ी सेना थी जिसमें ६०,००० पैदल, १,००० घुड़सवार, ७०० हाथी थे तथा एक चहारदीवारी से रक्षित नगर भी उनके पास था। अशोक ने भी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने त्रयोदश शि० ले० में उन्हें अपने साम्राज्य के आवर्त्त के भीतर निर्दिष्ट किया है।

अब प्रश्न यह है कि यदि आन्ध्र प्राचीन द्रविड़ों की ही शाखा थे और ब्राह्मण लेखकों (लग० ८०० ई० पू०) के अनुसार आर्य सभ्यता के आवर्त्त से बाहर माने गये थे तो पुराणकार का यह कहना किस तरह मान्य हो सकता है कि सिमूक जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जो प्रथम शती ई० पू० में हुआ, आन्ध्र वंश का संस्थापक था? फिर सातवाहन-कुल के ब्राह्मण होने का दावा भी कहाँ तक उपयुक्त है (एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ६० एवं आगे) जब किप्राचीन आन्ध्र द्रविड़ जाति के थे?

परन्तु हमें इन परस्पर-विरोधी बातों से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। आन्ध्र वास्तव में द्रविड़ जाति के ही लोग थे और जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, सातवाहन लोग आर्यों की सन्तान, जो ब्राह्मण थे। वे आन्ध्रों से सर्वथा भिन्न थे। उनका मूल निवास-स्थान जैसा कि उनके अभिलेखों से पता चलत हैमहाराष्ट्र (उत्तरी दक्खिन के पठार) में था जब कि प्रथम शती ई० पू० में उन्होंने सिमूक के अन्तर्गत राजकीय शक्ति अधिगत किया।[१] आन्ध्र देश पर उन्होंने प्रथम विजय संभवतः शातकर्णि प्रथम के समय में पाई।[२] आगे चलकर लगभग दूसरी शती के मध्य में सातवाहनों ने फिर आन्ध्र देश पर अधिकार किया और वासिष्ठी पुत्र पुलुमावी के राज्यकाल में वहाँ अपना उपनिवेश स्थापित किया। इस उपनिवेश की स्थापना प्राचीन आन्ध्रों को जो उस प्रदेश के मूल निवासी थे, वश में कर लेने के बाद हुई। इस विजय के

---

१ डा० रायचौधुरी का कथन है कि सातवाहन मूलतः मध्य देश से लगे हुए ठीक दक्षिण के प्रदेश के रहनेवाले थे ('पोलिटिकल हिस्ट्री', चतुर्थ संस्करण, पृ० १७६); महामहोपाध्याय मिराशी का विचार है कि वे बरार के पास के रहनेवाले थे और बाद में उन्होंने आन्ध्र देश को जीता (जर्नल ऑव दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑव इण्डिया, द्वितीय, पृ० ६४)।

२ नानाघाट अभिलेख (नायनिका का)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
बारे में हमारे पास बहुत-से आभिलेखिक एवं मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाण हैं ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय पुराण लिखे जा रहे थे उस समय सातवाहनों ने अपने उत्तरी और पश्चिमी अधिकार-क्षेत्र खो दिये थे और आन्ध्र देश के रहनेवालों के साथ इस प्रकार मिल जुल गये थे, क्योंकि शासक के रूप में उन्हें आन्ध्रों के साथ निकटतम सम्पर्क में आने का अवसर यों ही मिल गया था, कि पुराणकार ने उस प्रदेश के शासकों को भी आन्ध्र ही कहना उचित समझा और तदनुसार प्रथम सातवाहन नरेश सिमूक को आन्ध्र-वंश का संस्थापक बना दिया ।

ब्राह्मण शासक

यह हम बतला चुके हैं कि सातवाहन भी शुङ्गों और कण्वों की तरह जो उनके पूर्ववर्त्ती थे, ब्राह्मण शासक थे । इनका यथेष्ट प्रमाण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के नासिक गुहा अभिलेख में मिलता है । उस अभिलेख में सुप्रसिद्ध सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'एकब्रम्हण' (अद्वितीय ब्राह्मण) कहा गया है जिसके शौर्य की तुलना राम (परशुराम) से की गई है और जिसे क्षत्रियों का अहंकार तोड़नेवाला (खतिय-दप-मानमदन) बतलाया गया है ।

प्रारम्भिक सातवाहन नरेश

सिमूक

पुराणों में आन्ध्र वंश के संस्थापक का नाम सिमूक अथवा शिशुक मिलता है । ये दोनों ही नाम प्रारम्भिक सातवाहन अभिलेखों में मिलते हैं । शातकर्णि के समय के नानाघाट-गुहा-चित्र-फलक अभिलेख में ['आर्कैलॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया', पञ्चम, पृ० ६४] सिमूक चित्र

---

१ आगे देखिए, पृ० २२२ । दक्षिण विजय का सूचक 'दक्षिणापथपति' की उपाधि शातकर्णि प्रथम के बाद कुछ काल तक किसी के द्वारा नहीं धारण की गई । दक्षिणापथपति की उपाधि फिर वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने ही धारण की, उसके पिता गौतमीपुत्र ने नहीं [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ६० और आगे] ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संख्या[१] के नीचे दिखलाया गया है, राजमहिषी नायनिका और उसका पति शातकर्णि दोनों एक साथ फलक संख्या पर[२]।

पुराणानुसार इस वंश का दूसरा सम्राट् सिमूक का भाई कृष्ण था। इसी कृष्ण (कण्ह) का उल्लेख कृष्णकालीन नासिक गुहा के अभिलेख में हुआ है [सेनार्ट (Senart), एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ९३] जिसका आशय नासिक के श्रमणों के आवास के लिए गुहा का निर्मित किया जाना है।

कृष्ण

पुराणों के अनुसार तीसरा सम्राट् शातकर्णि था। वह सिमूक का पुत्र था। उसी का नाम हाथीगुम्फा अभिलेख, शातकर्णि प्रथम के समय के नानाघाट-गुहा-चित्र-फलक अभिलेखों एवं नायनिका के नानाघाट गुहा लेख[१] और साँची स्तूप के तोरण पर अंकित अभिलेख का शातकर्णि है। साँची के लेख में शातकर्णि के नाम के पूर्व 'श्री' और जुड़ा हुआ है। अन्य अभिलेखों में वह श्री-उपाधि से रहित है।

शातकर्णि

अन्तिम विनिश्चयकरण के सम्बन्ध में सर जॉन मार्शल को इसलिए आपत्ति थी कि उनका विश्वास था कि हाथीगुम्फा और नानाघाट अभिलेखों के शातकर्णि दूसरी शती ई० पू० के थे और इस कारण इस शातकर्णि का कोई प्रभाव पूर्वी मालवा में नहीं कहा जा सकता जो प्रारम्भिक शुङ्गों के राज्य में था। यह हम देख ही चुके हैं कि ये दोनों अभिलेख प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम चरण के हैं।[२] जिस समय तक शुङ्गों को हटाकर कण्वों ने और कण्वों को भी हटाकर आन्ध्रों ने अपना प्रभुत्व जमा लिया था जिनके साम्राज्य के अन्तर्गत इन प्रदेशों का होना निश्चित है। डा० रायचौधुरी ['पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० संस्करण, पृ० २८२] का अनुमान है कि प्रथम शातकर्णि ने अपना वही सीधा-सादा नाम रखना पसन्द किया, किन्तु अनुवर्ती शातकर्णियों को अपनी विभिन्नता दिखलाने के लिए एक मातृ-सूचक (Metronymic) विशेषण जैसे गौतमीपुत्र एवं वासिष्ठीपुत्र रखना पड़ा। यह सुझाव वास्तव में

१-'आर्कैयालॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया', पञ्चम, पृ० ६४, ६० और आगे तथा ८६ और आगे।

२ पहले, पृ० २१४; आगे, परिशिष्ट द्वितीय 'खारवेल का तिथि-क्रम'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बड़ा उपयोगी है। नायनिका के नानाघाट अभिलेख से उसके जीवन पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। इस अभिलेख के एक जीर्णोद्धार किये गये अंश के अनुसार वह सिमूक का पुत्र था [सिमूक-सातवाहनस वंसवधनस]।[१] उसने अङ्गिय कुल की एक राजकुमारी के साथ विवाह किया जिसके शासक 'महारठी उपाधि से विभूषित थे। वह सारे दक्षिण का अप्रतिहत सम्राट् था (अप्रतिहत चक्र दक्षिणापथपति) और अपने गौरव के सम्मानार्थ उसने दो अश्वमेध यज्ञ किये (अश्वमेध यज्ञ-द्वितीय इष्टः)।[२] साँची के अभिलेख से हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसने पूर्वी मालवा की भी विजय की थी। वह कलिंगाधिपति खारवेल का समकालीन था जिसके हाथीगुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि खारवेल ने उसकी शक्ति की अवहेलना कर मूसिक नगर पर आक्रमण किया। शातकर्णि की मृत्यु के अनन्तर उसकी रानी नायनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्रों वेदश्री और शक्तिश्री की अभिभाविका बनकर शासन किया।

प्रारम्भिक सातवाहन नरेशों का राज्य उनके मातृप्रदेश महाराष्ट्र में संभवतः दूसरी शती ई० के आरम्भ में कुछ काल के लिए समाप्त हो गया जैसा कि नहपान के समय के जो एक शक वंश का क्षहरात सरदार था एक नासिक गुहाभिलेख से ज्ञात होता है। इस लेख की तिथि ११९ ई० है [देखिए आगे]। क्षहरातों ने महाराष्ट्र पर शासन किया जो सातवाहनों का मातृप्रदेश था और जहाँ से वे और दक्षिण भगा दिये गये। हम यहाँ उन प्रारम्भिक नरेशों की एक वंशावली अभिलेखों के आधार पर देते हैं जिन्होंने अपने मूल मातृप्रदेश में लगभग एक शती तक निर्विघ्न शासन किया—

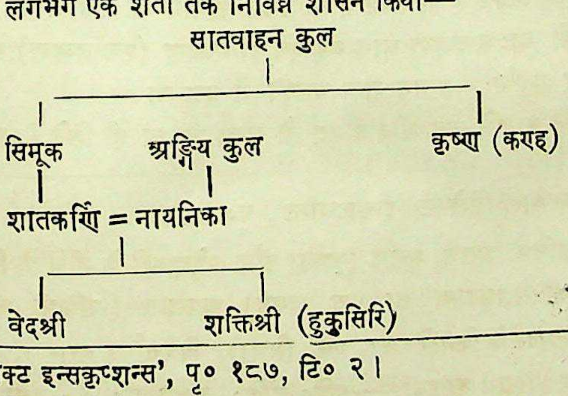

१ 'सेलेक्ट इन्सक्रप्शन्स', पृ० १८७, टि० २।
२ वही, पृ० १८९।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गौतमीपुत्र शातकर्णि

चहरातों द्वारा सातवाहनों का पराभव अत्यन्त अस्थायी था, जैसा कि गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक गुहा अभिलेख [एपि० इंडि०, अष्टम, पृ० ७३] से जिसकी तिथि लगभग १३० ई० है[1] विदित होता है कि महाराष्ट्र शातकर्णि के अधीन था। उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के समय के एक नासिक गुहाभिलेख [एप० इंडि०, अष्टम, पृ० ६० तथा आगे] से यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने चहरातों को अपने नये आवास से निकाल-बाहर किया था (चहरात वस निर्वसकरस)। फिर जोगलथम्भी (नासिक) से प्राप्त सिक्कों की निधि से भी जिसमें नहपान के चाँदी के सिक्के और उसके अन्य सिक्के जिन्हें गौतमीपुत्र ने फिर से ढलवाये थे मिले हैं यही निष्कर्ष निकलता है। यह तो हमें ठीक पता नहीं कि उसका प्रथम शातकर्णि अथवा उसके पुत्रों से क्या सम्बन्ध था; पर उक्त अभिलेख के आधार पर हम कह सकते हैं कि सातवाहन कुल का वह सबसे प्रतापी सम्राट् था। उसने न केवल अपने वंश के विलुप्त गौरव की पुनः स्थापना की (सातवाहन कुल यस पतिथापन करस), बल्कि अपने शासन के अन्तर्गत विस्तृत प्रदेशों को संयोजित किया जिनके आभिलेखिक नामों[2] का आधुनिक पर्याय स्थूल रूप से इस प्रकार होगा – गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तरी कोंकण तथा पूना और नासिक के चारों ओर का इलाका। जोगलथम्भी (नासिक) की निधि से जिसमें नहपान के चाँदी के सिक्के हैं यह स्पष्ट है कि उसने नहपान के उस प्रदेश में बचे हुए सिक्कों को पुनः ढलवाया था। वह एक ही ब्राह्मण (एक ब्रम्हण) था जो परशुराम और अर्जुन के समान शस्त्र चलाने में दक्ष था।

उसने कम से कम चौबीस वर्ष तो राज्य अवश्य ही किये (लगभग १०६-

---

[1] सरकार, 'सेलेक्ट इन्सक्रप्शन्स', पृ० १६३।

[2] असिक, असक, मूलक (कृष्णा और गोदावरी के नीचे के जिले), सुरठ कुकुर (पूर्वी राजपूताना का एक खण्ड), अपरान्त (पश्चिमी घाट), अनूप (ऊपरी नर्मदा के किनारे का एक जिला), विदर्भ (बरार), आकरावन्ती (पूर्वी और पश्चिमी मालवा)—एपि० इंडि०, अष्टम, पृ० ६० तथा आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

१३० ई०)। उस राज्य-काल का निर्णय निम्नलिखित सामग्री के आधार पर संभव हो सका है। गौतमीपुत्र और उसके तुरन्त बाद के आन्ध्र-सातवाहन शासकों के अभिलेखों में जो तिथियाँ मिलती हैं वे राज्याभिषेक से परिगणित होती हैं, उनका कोई निश्चित संवत् नहीं पाया जाता। उनका तिथि-क्रम मुख्यतः उनके समकालीन एवं प्रतिद्वन्द्वी पश्चिमी क्षत्रपों, के अभिलेखों के आधार पर निश्चित होता है जो ७८ ई० में आरंभ होनेवाले शक संवत् का व्यवहार करते हैं। नहपान की अन्तिम लिखित तिथि शक सं० ४६ = १२४ ई० मिलती है [नहपान के समय का जुनार गुहाभिलेख, 'ब्यूलर, आर्के० स० वे० इ०, चतुर्थ, पृ० १०३]। इस तिथि को विद्वानों ने स्वाभाविक रूप से गौतमीपुत्र के महाराष्ट्र विजय का वर्ष एवं उस प्रदेश में नहपान के शासन का अन्तिम वर्ष माना है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक गुहाभिलेख [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ७१] से हमें पता चलता है कि गौतमीपुत्र ने महाराष्ट्र पर अपने शासन के अठारहवें वर्ष में विजय पाई थी। अतः हम कह सकते हैं कि उसका शासन (१२४—१८) १०६ ई० में आरंभ हुआ। और जैसा कि उसकी अन्तिम आभिलेखिक तिथि शासन का २४ वाँ वर्ष है [देखिए, उसका नासिक गुहाभिलेख, एपि० इंडि०, अष्टम, पृ० ७३], उसका राज्य-काल १०६—१३० ई० निश्चित है।

राज्य-काल का निर्णय

वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी

बलश्री के अपने पौत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के राज्य-काल के नासिक गुहाभिलेख [ए प० इडि०, अष्टम, ६० तथा आगे] में जो उसके शासन के १६ वें वर्ष का सूचक है, वह अपने को वर्तमान नरेश की दादी तथा भूतपूर्व सम्राट् की माता कहती है। इस बात से वासिष्ठीपुत्र का अपने पूर्वज गौतमीपुत्र शातकर्णि के साथ सम्बन्ध असन्दिग्ध रूप से निश्चित हो जाता है जिसके पुत्र के रूप में उसने लगभग १३० ई० के उत्तराधिकार प्राप्त किया। विद्वानों ने उसी को 'सिरोपोलेमेऊ' (Siro Polemaiou) निश्चित किया है जिसकी राजधानी टॉलेमी के अनुसार गोदावरी के किनारे स्थित पैठन या प्रतिष्ठान में थी। उसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवनार का नरेश भी कहते हैं [नवनोर स्वामी वासिष्ठीपुत्र, एपि० इंडि०, अष्टम, पृ० ६५ तथा आगे]। नवनोर अथवा नवनगर (नया नगर) को डा० भण्डारकर ने पैठन निश्चित किया है। अभिलेख में (पूर्व-उद्धृत) श्री पुलुमावी को 'दक्षिणापथपथेश्वर' कहा गया है। उसके अभिलेखों और मुद्राओं से सिद्ध होता है कि उसके राज्य में कृष्णा का जिला भी सम्मिलित था। इससे यह स्वतः प्रमाणित है कि आन्ध्रदेश को भी उसी ने जीता था। यह हम ऊपर देख आये हैं कि गौतमीपुत्र द्वारा शासित प्रदेशों की सूची में आन्ध्रदेश का नाम नहीं है। वासिष्ठीपुत्र ने अपना अधिकार महाराष्ट्र पर भी जमाये रखा यह उसके विभिन्न नासिक तथा कार्ली गुहाभिलेखों से स्पष्ट है। उसके नाम में उपलब्ध कार्ली गुहा का अभिलेख अन्तिम है जिसकी तिथि उसके राज्य का चौबीसवाँ वर्ष है जो १३० ई० में उसके राज्यारोहण को मानकर चलने से १५४ ई० के बराबर होता है।[1] इस प्रकार वह उज्जैन के प्रसिद्ध शक शासक रुद्रदामन का समकालीन ठहरता है जिसके जूनागढ़ शि० ले० की तिथि १५० ई० है। इस जूनागढ़ के लेख से पता चलता है कि रुद्रदामन ने दो बार दक्षिण के स्वामी शातकर्णि को युद्ध में पराजित किया था, परन्तु अपने निकट के सम्बन्ध के कारण (सम्बन्धाविदूरतया) उसका संहार नहीं किया। इस निकट के सम्बन्ध पर कन्हेरी (थाना जिले में) बौद्ध तडाग अभिलेख (ल्यूडर्स, सं० ९९४) से प्रकाश पड़ता है जिसमें पुलुमावी को महाक्षत्रप रुद्र का जामाता बतलाया गया है। प्रो० रैप्सन के मतानुसार रुद्र से अभिप्राय रुद्रदामन प्रथम तथा पुलुमावी से शातकर्णि—जूनागढ़ अभिलेख का 'दक्षिणपति' है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रो० रैप्सन का मत ठीक है। शातकर्णि नाम पितृ-सूचक (Patronymic) है जिसे कई शातवाहन नरेशों ने धारण किया है जो सम्भवतः सातवाहन साम्राज्य की स्थापना करनेवाले श्री शातकर्णि की मधुर स्मृति में रखा गया जान पड़ता है। अन्य शातवाहन नरेशों के नाम के साथ यह पितृ-सूचक विशेषण उनके अभिलेखों में नहीं मिलता। परन्तु शातवाहन नरेश विदेशी शासकों द्वारा केवल शातकर्णि नाम

---

१ सरकार, 'सेलेक्ट इन्सक्रप्शन्स', पृ० २०३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ही पुकारे जाते रहे हैं यह अब तक प्राप्त हुए दो अभिलेखों से स्पष्ट है। इनमें से एक तो रुद्रदामन का, जो सौराष्ट्र का शासक था, जूनागढ़ अभिलेख है और दूसरा कलिंग-पति खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख जिसमें केवल 'शातकर्णि' मिलता है जिससे दो भिन्न काल के सातवाहन नरेशों का बोध होता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि रुद्रदामन अपने समय के शातकर्णि को 'दक्षिणापथपति' कहता है। इससे यह शंका तो बिलकुल ही निर्मूल हो जानी चाहिए कि वह पुलुमावी के अतिरिक्त भी कोई दूसरा हो सकता है जो आन्ध्रदेश पर अधिकार करनेवाला प्रथम सातवाहन शासक है और जिसे अपने वंशाभिलेख में 'दक्षिणापथपति' कहा गया है [दक्षिणापथेश्वर, एपि० इण्डि०, अष्टम, ६० तथा आगे]। आन्ध्रदेश उसके पिता गौतमीपुत्र के राजविषय में सम्मिलित नहीं था।

यज्ञश्री शातकर्णि

शातवाहन वंश का अन्तिम महान् सम्राट् यज्ञश्री शातकर्णि था। वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावी के साथ उसका क्या सम्बन्ध था यह स्पष्ट नहीं है। उसके अभिलेख नासिक, कन्हेरी तथा कृष्णा जिले के चिन्न[१] नामक स्थानों में पाये गये हैं। उसके सिक्के गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी मालवा, अपरान्त (दक्षिण के पठार का पश्चिमी घाट), मध्य-प्रान्त एवं कृष्णा जिलों में मिले हैं। इससे साफ प्रतीत होता है कि महाराष्ट्र और आन्ध्रदेश दोनों पर उसका शासन था। उसने कम से कम २७ वर्ष तक राज्य किया। उसका सबसे अन्तिम अभिलेख जो कृष्णा जिले के चिन्न नामक स्थान में पाया गया है उसके राज्य-काल के २७ वें वर्ष में अंकित हुआ है। डॉ० स्मिथ का निर्देश है कि शक शासकों की अनुकृति के उसके चाँदी के सिक्कों से ऐसा अनुमान होता है कि उसने शकों से भी कुछ प्रदेश जीत कर लिये थे। उसके कुछ सिक्कों पर एक नौका का चित्र बना पाया जाता है जिसमें एक मछली और एक पर्यङ्क भी सूचित हैं। इससे सिद्ध होता है कि यज्ञश्री ने नौ-शक्ति और सामुद्रिक व्यापार की अभिवृद्धि की थी।

---

१ डॉ० नीलकण्ठ शास्त्री के इस सुझाव के लिए कि इस स्थान को 'चिन्नगंगम' कहते हैं लेखक उनका आभारी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सातवाहन शक्ति का क्षीण होना

यज्ञश्री के उत्तराधिकारियों के विषय में उनके नामों के अतिरिक्त बहुत कम ज्ञात है। जिनके समय में सातवाहन शक्ति का बड़े वेग से अधःपात होना आरम्भ हो गया और उसके स्थान में सर्वथा नई शक्तियों का—आभीरों का—महाराष्ट्र में और इक्ष्वाकुओं और पल्लवों का पूर्वी-दक्खिन में तीसरी शती ई० के लगभग मध्य में उदय हुआ।

सातवाहन युग में दक्षिण की समृद्धि और संस्कृति[1]

पिछले कई पृष्ठों में हमने सातवाहन युग के दक्खिन के राजनीतिक इतिहास का वर्णन किया है। इस इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले अभिलेखों से इस समय के महाराष्ट्र की कला सम्बन्धिनी, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था का भी परिचय मिलता है।

धर्म: बौद्ध-धर्म और गुहा-निर्माण की कला

उस समय बौद्ध-धर्म का व्यापक प्रचार था और ब्राह्मण होते हुए भी उसे सातवाहनों की सहिष्णुता प्राप्त थी। बौद्ध धर्म से वास्तु-कला का अभिन्न सम्बन्ध था, विशेषतः गुहा मन्दिरों एवं सेलघरों (शैलगृहों) के रूप में जिसमें यह कला अत्यन्त उन्नति कर गई थी। दक्खिन में अब तक मिली प्रायः सभी गुहाएँ बौद्ध-धर्म को अभ्यर्पित हैं और उनका निर्माण इसी सातवाहन युग का है। गुहाएँ दो प्रकार की होती थीं—(१) चैत्य-गृह या मन्दिर, और (२) लयन या भिक्षुओं का आवास। इनमें से चैत्य-गृह मेहराबदार छतों और प्रवेश-द्वार के ऊपर घोड़े की नाल के आकार की खिड़कियों से युक्त होते थे जिसके गर्भ में वृत्ताकार अन्त में स्वाभाविक ढंग से पार्श्ववर्त्ती प्रतिमाओं के स्थान छोड़कर चैत्य कटे होते थे। वे प्रायः अनुरूप बराबर गुहाओं (लगभग २०० ई० पू०) के परिष्कृत स्वरूप हैं और बाद में उन्हीं का अनुकरण ईसाई गिरजाघरों (प्राचीन रोमन ढंग के जिन्हें 'बैसिलिका' Basilicas कहते हैं) के निर्माताओं ने किया है। 'लयन' में एक विशाल कमरा होता है

१ विशेष अध्ययन के लिए देखिए, डॉ० डी० आर० भन्डारकर का इंडियन ऐन्टिक्वेरी, जून १६१६, पृ० सं० ७७—८३ का लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिसके चारों ओर अनेक कक्ष्य बने होते हैं जिनमें से प्रत्येक में नियमित रूप से एक पत्थर की चौकी एक भिक्षु के शयन के लिए होती है। प्रत्येक लयन के साथ एक या दो पत्थर का कड़ाह जुड़ा होता है। इन सभी गुहाओं के—चैत्य-गृहों अथवा लयनों के—विभिन्न भाग अनेक वर्ग और परिस्थितियों के मनुष्यों द्वारा उनके अपने व्यय से निर्मित होते थे जिससे पता चलता है कि जनता के ऊपर बौद्ध-धर्म का कितना प्रभाव था। लोग केवल इनगुहाओं या उनके किन्हीं भागों के निर्माण में ही व्यय नहीं करते थे, बल्कि उनके संस्कार और उनमें निवास करने वाले भिक्षुओं के जीवन-यापन के लिए पर्याप्त व्यवस्था भी करते थे। संस्करण के काम के लिए प्रायः गाँव लगे हुए थे। भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था भूमि देकर या कभी-कभी गाँवों तक के दान या 'अक्षय नीवि' के रूप में निगमों या श्रेणियों के पास धन सुरक्षित कर जिससे वार्षिक व्याज के आधार पर उन्हें 'चीवर' (काषाय वस्त्र) प्रदान किया जा सके, होती थी। भिक्षु गुहाओं में 'वर्षावास' भर के लिए टिकते थे। वर्ष के शेष महीने वे तीर्थ-यात्रा या धर्म के प्रचार में व्यतीत करते थे जैसा कि जैन साधु अब भी करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ गुहाएँ बौद्ध-भिक्षुओं के कतिपय सम्प्रदायों के लिए विशेषाधिकार से मण्डित होती थीं। उदाहरण-स्वरूप नासिक की गुहा (सं० २) गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता बलश्री द्वारा भद्रायणीय भिक्षु संघ को प्रदत्त थी [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ६० एवं आगे]। कार्ली की गुहा जिसका निर्माण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के समय हुआ महासंघवालों को समर्पित थी, [एपि०, इण्डि०, अष्टम, पृ० ७१]।

ब्राह्मण-धर्म

बौद्ध-धर्म की ही तरह ब्राह्मण-धर्म भी काफी प्रबल था। शातकर्णि प्रथम और उसकी राजमहिषी ने अनेक यज्ञ किये जिनका विवरण कुछ तो नानाघाट से प्राप्त नायनिका के भग्नाभिलेख में सुरक्षित है [ए० एस० डब्ल्यू० आई० पञ्चम, ६०--६१; Lüders List, No. 1112]। उनके कम से कम बीस यज्ञों के सम्पादित करने का संकेत मिलता है। दो बार तो उन्होंने 'अश्वमेध' ही किया। अन्य यज्ञों में 'गवामयनम्', 'अग्न्याध्येय', 'राजसूय' आप्तोर्याम्', 'आङ्गिरसामयनम्', 'शतातिरात्र' थे। दक्षिणा में देने के लिए गाँवों से लेकर, कार्षापण, साधारण एवं दूध देनेवाली गायें, हाथी, घोड़े, रथ,

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

रजत-दंड, चाँदी के आभूषण, वस्त्र आदि का विधान था। गायों की सबसे महती संख्या में दान का उल्लेख ११,००० गाय तथा दक्षिणा के रूप में अधिक से अधिक २४,००० कार्षापण (=लगभग ६८६ सुवर्ण; ३५ रजत कार्षापण>१ सुवर्ण) मिलता है।[1] यह निस्सन्देह ब्राह्मण धर्म की प्रबलता का द्योतक है। उस अभिलेख का आरम्भ भी धर्म, इन्द्र, सकर्षण, वासुदेव, सूर्य और चन्द्र एवं लोकपाल—यम, वरुण, कुबेर तथा वासव, की उपासना से हुआ है। संकर्षण और वासुदेव नामों से दक्खिन में बहुत प्राचीन काल से कृष्ण और उनके कुल की पूजा के होते आने एवं प्रचार का प्रमाण मिलता है। इन्द्र का स्तवन इस बात का सूचक है कि उस महान् वैदिक देव की उपासना प्रथम शती ई० तक बनी रही। धर्म से किस देव का बोध हो यह स्पष्ट नहीं है। पर इतना तो निश्चय है कि अभिलेख में उनका यम और वरुण की तरह लोकपाल के रूप में उल्लेख नहीं हुआ है।[2]

वैष्णव धर्म, शैव धर्म तथा नाग सम्प्रदाय

यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण धर्म के साथ ही जिसका सातवाहनों के राजत्वकाल में महाराष्ट्र में बड़े वेग के साथ पुनरुद्धार हुआ वैष्णव और शैव धर्मों का भी व्यापक प्रचार हुआ। यह हम देख चुके हैं कि वासुदेव और संकर्षण नामों से वैष्णव सम्प्रदाय के अस्तित्व का पता चलता है। प्रो० भण्डारकर यह निर्देश करते हैं कि तत्कालीन अभिलेखों में आये, गोपाल, विष्णुदत्त, विष्णुपालित आदि नामों से वैष्णव धर्म के विकास पर और भी प्रकाश पड़ता है; और यदि नाम को ही प्रमाण मानें तो उनका कथन है कि उस काल में दक्खिन में शैव पूजा का कहीं अधिक प्रचार था। ऐसे नामों से जैसे भूतपाल, महादेवानक, शिवदत्त, शिवघोष, शिवपालित, शिवभूति, शिवदात, भवगोप आदि, यह साफ प्रकट होता है कि लोक में इस देवता की उपासना इन चार नामों के अन्तर्गत सर्वत्र प्रचलित थी—शिव,

१ वही पृ० ८१।

२ धर्म से किसी तरह यम की संभावना हो सकती है। 'लोकपाल' की कल्पना तो आगे जाकर पुष्ट हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महादेव, भव तथा भूतपाल। इस देवता के साथ ही उनके वाहन नन्दि की भी पूजा होती थी जो इन नामों से प्रमाणित है—नन्दिन, ऋषभनक एवं ऋषभदात। इसी प्रकार स्कन्दपालित, शिवस्कन्दिल और शिव-स्कन्दगुप्त आदि नाम इस बात के सूचक हैं कि स्कन्द की भी पूजा स्वतन्त्र रूप से अथवा शिव के साथ ही होती थी। नाग, सर्प तथा सर्पिल जैसे नाम 'नाग-पूजा' के द्योतक हैं।[1]

विदेशियों का हिन्दू धर्म ग्रहण करना

इस युग की धार्मिक अवस्था के प्रसंग में यह बात बड़ी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण है कि विदेशियों ने बड़ी संख्या में बौद्ध या ब्राह्मण धर्म को अपनाया। यह युग ही ऐसा था जिसमें यवन, शक, पह्लव एवं आभीर आदि अनेक विदेशी जातियों ने आकर भारत में अपना आवास स्थापित किया था। इस काल के अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इन लोगों ने न केवल बौद्ध या ब्राह्मण धर्मों को अंगीकार किया, बल्कि उन्होंने हिन्दू नाम भी ग्रहण किये। प्रो० भण्डारकर ने इस दिशा में हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि—"गुहा-अभिलेखों में स्थान-स्थान पर चैत्यों और विहारों के दान के सम्बन्ध में यवनों का नाम आया है। कार्ली अभिलेख के दो यवनों में एक का नाम सीहधोय (सिंहध्वज) और दूसरे का धर्म मिलता है। जुन्नर में तीन का उल्लेख हुआ है—इसिल, चिट (चित्र) एवं चन्द्र। नासिक में केवल एक यवन का नाम अंकित है—धर्मदेव का पुत्र इन्द्राग्निदत्त। इन सभी यवनों ने बौद्ध-धर्म में उपासकत्व ग्रहण कर रखा था और एक को छोड़कर शेष सभी ने हिन्दू नाम भी रख लिये थे।"[2]

हेलियोदोर जो विदिशा के भागभद्र के यहाँ ऐन्टिआलकिडस का राजदूत होकर आया था वैष्णव था। एक अन्य शक क्षत्रप रुद्रदामन कट्टर ब्राह्मण मतावलम्बी था।

इस युग की दूसरी ध्यान देने की बात धार्मिक सहिष्णुता है। सातवाहन

---

१ वही, पृ० ७८।

२ वही; एवं "इंडियन ऐन्टिक्वेरी", १६११, पृ० १५ तथा आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि, उसकी माता गौतमी बलश्री तथा पुत्र पुलुमावी ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे, किन्तु उन्होंने बौद्ध श्रमणों के लिए गुहाएँ निर्मित कराईं। उनकी दानशीलता उनके धर्म तक ही सीमित न थी, बल्कि बौद्धों तक भी उसका विस्तार था। गौतमी बलश्री ने भाद्रयणीय बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए एक गुहा बनवाई थी [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ६० एव आगे] । शातकर्णि और उसके पौत्र पुलुमावी ने क्रमशः कुछ भूमि तथा एक गाँव भिक्षुओं के निर्वाह एवं गुहा के संस्कार के निमित्त दान किये थे [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ७१; ६५ एवं आगे]। उन्होंने इसी तरह कार्ला के बौद्ध-विहार को एक गाँव दिया था। इस काल की धार्मिक अवस्था के विषय में एक अन्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि भिन्न धर्म के समर्थन से जाति से च्युत होने का भय नहीं था। इस तरह का सबसे ज्वलन्त उदाहरण अयितिलू नामक ब्राह्मण का है जिसकी भार्या भायिला का कुडा की गुहाओं में उपनिविष्ट बौद्ध-संघ को चैत्य-गृह के दान का उल्लेख हुआ है [ल्यूडर्स लिस्ट, स० १०५०]। पति का बौद्ध होना निश्चित है, क्योंकि अभिलेख में उसे वास्तव में उपासक कहा गया गया है।[1] तत्कालीन हिन्दू समाज की उदात्त भावना का एक प्रमुख उदाहरण ब्राह्मण सातवाहन कुलोत्पन्न राजकुमार श्री पुलुमावी का शक क्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री के साथ विवाह है।

हिन्दू धर्म की विशालता

इस काल में दक्खिन के हिन्दू समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध में गुहाभिलेखों में आये दाताओं की सामाजिक स्थिति एवं जाति-सूचक नामों के निर्देश से कुछ परिचय प्राप्त होता है। इनमें से सर्वोपरि श्रेणी महारठियों (महाराष्ट्रिकों), महाभोजों एवं महासेनापतियों की थी। उनका स्थान सामन्त राजाओं के बराबर था। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत अमात्य या राजामात्य, महामात्र एवं भाण्डागारिक जैसे राजकर्मचारी आते थे। इनमें से पहले दो आजकल के जिलाधीशों तथा भाण्डागारिक खजाञ्ची (कोषाध्यक्ष) की तरह थे। यही सामाजिक स्थिति (अर्थात् द्वितीय श्रेणी) निगम, सार्थवाह और श्रेष्ठिन् की थी। निगम

समाज

सामाजिक क्रम

1 वही, पृ० ७६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक साधारण व्यापारी तथा सार्थवाह सौदागरों के एक काफिले का सरदार होता था। श्रेष्ठिन् से अभिप्राय 'श्रेणिमुख्य' से था। इँगलैण्ड और आयरलैण्ड के नगर की व्यवस्था के अधिकारी 'आल्डरमैन' (Alderman) की भाँति सार्थवाह और श्रेष्ठिन् का काम नगरों की व्यवस्था और देख-रेख करना था। समाज की तीसरी श्रेणी में लेखक (राजकीय अथवा स्वतंत्र), वैद्य (चिकित्सक), मालकीय (किसान), सुवर्णकार, गान्धिक (गन्ध-द्रव्य के व्यापारी) की गणना होती थी। सबसे निम्न वर्ग वर्धकी (बढ़ई), मालाकार (माली), लोहवाणिज्ज (लुहार) एवं दास्सक (मछुए) का था। मध्यम वर्ग जिसमें मुख्यतः किसान और व्यापारी लोग थे अनेक गृहों, कुटुम्बों या कुलों में विभक्त था। उनमें से प्रत्येक का स्वामी 'गृहपति' अथवा कुटुम्बिन कहलाता था और उसका बड़ा जोर था। इस काल की यह एक उल्लेखनीय रीति जान पड़ती है कि प्रत्येक क्षत्रिय पुरुष को अपने मूल नाम के साथ मातृ-सूचक विशेषण रखना पड़ता था। उत्तर भारत में यह विशेषण उस देश के नाम पर रखा जाता था जहाँ माता के पितृ कुलवालों का शासन होता था। इसी आधार पर राजगृह का अजातशत्रु अपने को वैदेही पुत्र—वैदेह सम्राट् की राजकुमारी का पुत्र—कहता है। दक्षिण भारत में यह रीति किसी ब्राह्मण 'गोत्र' को लेकर मात्रसूचक विशेषण बनाने की जान पड़ती है। इसी के अनुसार हमें ऐसे नाम उपलब्ध हैं, यथा-गौतमीपुत्र, वासिष्ठीपुत्र, कौत्सी, कौशिकी, इत्यादि जो सभी ब्राह्मण गोत्रों से आये हैं।[१]

दक्खिन की आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध की मुख्य बातें भी तत्कालीन अभिलेखों से जानी जाती हैं। इस प्रदेश में सर्वत्र व्यवहृत मुद्रा और ताँबे के 'कार्षापण' थे। नायनिका के नानाघाट अभिलेख में दक्षिणा के रूप में २४,००० कार्षापण दिये जाने का विवरण मिलता है। लगभग उसी समय के उषवदात के नासिक अभिलेख में देवों और ब्राह्मणों के निमित्त ७०,००० कार्षापण के दान का उल्लेख है। इस अभिलेख में तो विशेष रूप से यह भी निर्दिष्ट कर दिया गया है कि ७०,००० कार्षापण २०० सुवर्ण-मुद्राओं के बराबर होते हैं, क्योंकि एक सुवर्ण का मूल्य ३५ कार्षापण

आर्थिक अवस्था
मुद्रा-संचालन

---

१ इ० ऐ०, जून, १९१९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है।[१] यहाँ एक चाँदी के कार्षापण और प्रचलित सुवर्ण मुद्रा के विनिमय (Exchange) की दर का अनुपात १ : ३५ दिया हुआ है। सुवर्ण मुद्राओं का यह संकेत प्रो० रैप्सन के मतानुसार उस समय की प्रचलित कुषाणों की सुवर्ण मुद्रा को सूचित करता है। ऐसा मानने के लिए यह आधार है कि उषवदात का श्वसुर नहपान न केवल कुजुल कैफिसेज का बल्कि विम कैफिसेज़ का भी क्षत्रप था जो सुवर्ण मुद्रा का सञ्चालक प्रथम कुषाण सम्राट था। उससे पूर्व किसी भी इण्डो-बैक्ट्रियन अथवा इण्डो-सीथियन विदेशी शासक ने यह मुद्रा नहीं चलाई थी ऐसा लगता है। अतएव निश्चय ही विम कैफिसेज की सुवर्ण मुद्राएँ नहपान के समय में भारतीय रजत कार्षापणों के अनुपात में १ : ३५ विनिमय की दर से प्रचलित रही होंगी।[२]

श्रेणी

श्रेणियाँ या शिल्पियों के निकाय (Craft-Guilds) इस युग में साधारण रूप से सर्वत्र विद्यमान थे। नासिक अथवा तिरश्मि गुहाओं के समीपवर्ती गोवर्धन में कम से कम विभिन्न प्रकार के निकायों का वर्णन आता है। वे निकाय 'तिलपीषकों' (तेलियों), 'ओदयन्त्रिकों' (जलयंत्र का निर्माण करनेवाले शिल्पियों), 'कुलरिकों' (कुम्हारों) एवं 'कोलिकों' (जुलाहों) के थे। जुन्नर गुहा के समीप के नगर में कम से कम तीन निकाय थे—प्रथम धाणकों या अन्न के व्यापारियों का निकाय, दूसरा वंसकारों (बाँस का काम करनेवालों) का निकाय तथा तीसरा कांसाकारों (काँसे का बर्त्तन आदि बनानेवालों) का निकाय। केवल गोवर्धन या जुन्नर ही क्यों अन्य स्थानों में भी बहुत से निकाय अवस्थित रहे होंगे जिनका कोई उल्लेख नहीं हुआ है। ऐसे अनेक निकायों का उल्लेख जातक-ग्रन्थों में मिलता है जो ईसा पूर्व छठवीं शताब्दि के सामाजिक जीवन का दिग्दर्शन कराते हैं। इससे यह साफ निष्कर्ष निकलता है कि छठवीं शती ई० पू० से लेकर तीसरी शती ई० तक उत्तर और दक्षिण भारत दोनों निकायों से परिपूर्ण थे। शिल्पियों के इन निकायों की बहुलता इस बात का प्रमाण है कि भारत में स्वायत्त-शासन-सम्बन्धी संस्थाएँ साधारण सी बात मानी जाती थीं और उनका काफी प्रभाव

१ एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ८२ तथा आगे।

२ इण्डि० ऐण्टि०, जून, १९१९, पृ० ८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। श्रेणियाँ केवल शिल्पियों का निकाय ही नहीं थीं, बल्कि उनसे कुछ-कुछ आधुनिक बैङ्कों का भी काम निकलता था, क्योंकि लोग उनमें धन जमाकर उस पर ब्याज वसूल करते थे। यहाँ तक कि बहुधा उनमें आजीवन सम्पत्ति चढ़ा देने की व्यवस्था थी जिसे "अक्षय नीवि" कहते हैं। उषवदात ने ऐसे ही दो अक्षय नीवि दो कोलिक-निगमों या श्रेणियों को प्रदान कर रखे थे, जिनमें से पहला नये काषाय वस्त्र (चीवरिकानि) तैयार करने के लिए और दूसरा भोजन की साधारण आवश्यकताओं (कुषान्न) की पूर्ति के लिए थे [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ८२ एवं आगे]। यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि उषवदात एक सम्भ्रान्त व्यक्ति—क्षत्रप नहपान का जामाता—था, जिसका शासन सारे राजपूताना, मध्य-भारत, काठियावाड़, गुजरात और दक्खिन पर था। उसने भोजन और वस्त्र की व्यवस्था स्थानीय जिला के कोष से न कर दो निकायों में सम्पत्ति जमा कर दी। उसने ऐसा क्यों किया ? यह शायद इस बात को ध्यान में रखकर ही ऐसा किया गया कि साम्राज्य तो स्थापित होते और क्षण-मात्र में छिन्न-भिन्न होते रहते हैं, परन्तु निकाय या श्रेणी एक स्थायी संस्था थी।[१]

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जो इस समय के अभिलेखों से ज्ञात होती है मूलधन पर ब्याज की दर है। उषवदात के दो निकायों की अक्षय नीवि में एक पर १२% वार्षिक ब्याज और दूसरे पर ९% वार्षिक

ब्याज की दर

ब्याज होता था (वही)। ब्याज की दर आजकल कुछ अधिक जान पड़ेगी, परन्तु प्राचीन भारत में यह अधिक नहीं समझा जाता था। मासिक ब्याज २ प्र० श० की दर से ब्राह्मण ऋणी से, ३ प्र० श० क्षत्रिय से, ४ प्र० श० वैश्य से तथा ५ प्र० श० शूद्र से लेने का विधान प्राचीन स्मृतिकारों का बनाया हुआ है [मनु०, अष्टम, १४२; याज्ञ० द्वितीय, ३८; विष्णु०, षष्ठ, २]।

'कार्षापण' एक मुद्रा था (उसके लिए ताँबा, सोना या चाँदी धातुओं का व्यवहार होता था)। उसका परिमाण (तौल) इस

मुद्रा का परिमाण

प्रकार था—१ कार्ष = ८० रत्ती = १४६.४ बीज [१ रत्ती = १.८३ बीज] उस समय के प्रचलित 'सुवर्ण', ताँबे के 'पण' एवं कौटिल्य के चाँदी के 'धरण' इसी परिमाण के आधार

१ वही, पृ० ८२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर चलते थे। चाँदी के धरण या 'पुराण' प्रायः ३२ रत्ती=५८·५६ बीज की तौल के बराबर होते थे। पर नहपान के चाँदी के सिक्के कार्षापण होते हुए भी ऊपर के प्रमाणित कार्षापण से परिमाण में हलके उतरते थे। वे केवल ३६ बीज के लगभग होते थे और पैंतीस कार्षापण एक सुवर्ण के बराबर होते थे।[१]

विदेशी वाणिज्य और व्यापार की अवस्था अत्यन्त समृद्ध थी और भारत के पाश्चात्य जगत के साथ वाणिज्य-सम्बन्धों में दक्खिन का महत्त्वपूर्ण हाथ था।

विदेशी वाणिज्य

इसका एक विवरण "एरथ्-सागर की परिक्रमा" (Periplus of the Erythrean Sea) नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जो पूर्वी अफ्रीका और भारत के साथ मिश्री व्यापार का वर्णन करता है। पश्चिम के देशों से नौकाएँ लाल-सागर (Red Sea) होती हुई अरब के समुद्र-तट पर केन नामक स्थान तक आती थीं जहाँ भारत के लिए दो मार्ग अलग होते थे। कुछ नौकाएँ सिन्धु तक आकर भड़ौंच (>Barygaza) तक चली आती थीं और कुछ सीधे मलाबर (>Lymrika) के बन्दरगाहों में जा पहुँचती थीं। भड़ौंच से लगा हुआ सागर का किनारा उत्तर से सीधा दक्खिन को चला गया है, अतः इस प्रदेश का नाम 'दक्षिणापथ' (>Dakshinabares) हो गया है। दक्षिणापथ के द्वीप-संनिविष्ठ व्यापारिक मण्डियों में दो का विशेष महत्त्व था—पैठन एवं तगर (आधुनिक तेर, निजाम की रियासत के नालदुग जिले में)[२]। बन्दरगाह सोपारा (>Surppara) और कल्याण (>Ke-liena) थे। अन्तिम बन्दरगाह के विषय में हमें यह सूचना मिलती है कि उसकी एक प्रचलित व्यापारिक मण्डी के रूप में प्रतिष्ठा एल्डर सारगेनीज (Elder Sarganes) के समय में हुई थी। एल्डर सारगेनीज़ शायद सातवाहन कुल का तीसरा नरेश श्री शातकर्णि है। टॉलेमी ने जिसने 'पेरिप्लस' के रचयिता के केवल छः दशाब्दियों के बाद अपना विवरण प्रस्तुत

१ से० इ०, भाग १, पृ० १५८, सं० ५।

२ जे० आर० ए० एस० १६०१, ५३७ तथा आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया कल्याण का उल्लेख नहीं किया है जो सम्भवतः उसके समय में उतना समृद्धिशाली नहीं रह गया होगा। हम यज्ञश्री शातकर्णि के समय के सामुद्रिक शक्ति और वाणिज्य के विकास के मुद्रा सम्बन्धी प्रमाणों को ऊपर उद्धृत कर आये हैं (देखिए पहले, पृ० २२३)। ऐसी मुद्राएँ पाई गई हैं जिन पर दो-मस्तूल के जहाज और उनके साथ एक मछली तथा एक पर्यङ्क बने हुए हैं तथा यह लेख अंकित है—'सिरी यज्ञ सातकणिस' [जे० एन० एस० आई०, भाग तीसरा, खण्ड पहला, १९४१, पृ० ४३–४५]।

साहित्य

सातवाहन नरेश प्राकृत साहित्य के बहुत बड़े संरक्षक थे, जैसा कि प्राकृत में अंकित अनेक राजकीय अभिलेखों से सूचित होता है। परम्परा में "सत्तसई" (सप्तशतक) नामक प्राकृत काव्य का रचयिता सातवाहन नरेश हाल बतलाया जाता है। पैशाची बोली में वर्णित मूल "बृहत्कथा का सुप्रसिद्ध रचयिता गुणाढ्य भी संभवतः इसी काल का है। यह ध्यान देने की बात है कि आन्ध्र-सातवाहन सम्राट् ब्राह्मण होते हुए अपनी विज्ञप्तियों में प्राकृत भाषा का व्यवहार करते थे, यद्यपि उस समय के प्राकृत पर संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव लक्षित होता है। अलेन महोदय (Mr. Allen) का कथन है कि इसी समय सर्ववर्मन् ने एक आन्ध्र-नरेश के उपयोग के लिए 'कातन्त्र' की रचना की, क्योंकि वह राजा "अपने संस्कृत के अज्ञान के कारण लज्जित था और पाणिनीय उसके लिए अत्यन्त दुरूह पड़ता था" [कै० हि० इ० संक्षिप्त, पृ० ६१]।

आ. कलिंगाधिपति खारवेल

जिस समय दक्खिन के पश्चिमी प्रदेश में सातवाहन राज्य कर रहे थे और उनका तीसरा सम्राट् शातकर्णि सिंहासनाधिरूढ था, उस समय कलिंग का राष्ट्र उनकी प्रतिद्वन्द्विता में पूर्वी-दक्खिन में प्रबल हो उठा। अशोक के समय के पश्चात् कलिंग (जिससे साधारणतः वर्त्तमान उड़ीसा का बोध होता है) का इतिहास अन्धकारमय है। अन्धकार का यह पर्दा अब उदयगिरि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की पहाड़ियों में हाथीगुम्फा अभिलेख [१] के मिल जाने से बहुत कुछ दूर हो गया है। ये पहाड़ियाँ भुवनेश्वर के निकट पुरी जिले में अवस्थित हैं। अभिलेख जो प्राकृत में है अपने कर्त्ता, कलिंगाधिपति खारवेल, की कृतियों का एक सुबोध और विस्तृत लेख प्रस्तुत करता है।

अभिलेख के अनुसार खारवेल चेत र जवंश का तीसरा नरेश था। पन्द्रह वर्ष तक अपनी युवावस्था के आरंभिक वर्षों को शारीरिक व्यायामादि एवं विभिन्न विद्याओं के सीखने में, यथा—लेख, गणित, अर्थशास्त्र एवं व्यवहार, [२] जो एक युवराज के लिए आवश्यक हैं, बिताकर अपने सोलहवें वर्ष में उसने युवराज का पद ग्रहण किया और २४ वर्ष का हो जाने पर (संपुंण-चतुवीसतिवसो) उसका राज्याभिषेक हुआ। [३]

प्रारंभिक जीवन

अपने शासन के प्रथम वर्ष में (पधमे वसे) उसने कलिंग नगर में कुछ ऐसे सार्वजनिक हित के कार्य सम्पादित किये जैसे आँधी में गिरे हुए गोपुर, प्राकार आदि (वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं) का संस्कार एवं शीतल जल से युक्त और सीढ़ियों से अलंकृत तडागों की रचना (सितल-तडाग-पाडियो च वंधापयति) जिसमें १ लाख मुद्राएँ व्यय हुईं। इसके साथ ही प्रजा के आमोद-प्रमोद में उसने ३५ लाख मुद्राएँ व्यय कर दीं (पनति-सहिसत-सहसेहि पकतियो च रंजयति)। अपने शासन के दूसरे वर्ष में (दुतिये च वसे) उसने शातकर्णि की शक्ति की अवहेलना कर पश्चिम की ओर एक चतुरंगिणी वाहिनी जिसमें घोड़े, हाथी, पैदल सैनिक और रथ काफी संख्या में सम्मिलित

राज्य-काल की घटनायें

---

१ एपि० इंडि०, बीसवाँ भाग, १९३०; जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१८ एवं १९२८।

२ "सरीर-वता कीडिता कुमार कीडिका ततो लेख-रूप-गणना-ववहार-विधि-विसारदेन।"

३ इसका पता नहीं कि उसके पिता का देहावसान पहले हो चुका था अथवा उसके २४ वें वर्ष। उसके राज्यारोहण की तिथि के सम्बन्ध में परिशिष्ट (द्वितीय) देखिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे भेजी जिसने कृष्णा पर स्थित असिक नगर को आक्रान्त कर ध्वस्त कर दिया (वितासिति)। अपने शासन के तीसरे वर्ष उसने नागरिकों के प्रमोद के लिए कलापूर्ण नृत्य, संगीत (स्वरित तथा वाद्य-युक्त), नाटक और भोज आदि समाजोत्सवों का प्रबन्ध किया (गंधव-वेद-बुधो दप-नत-गीत-वादित-संदसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि)। अपने शासन के चौथे वर्ष (चवुथे वसे) उसने राष्ट्रिकों और भोजकों को अपना अधिनायकत्व स्वीकार करने के लिए विवश किया। अपने शासन के पाँचवें वर्ष (पंचमे च दानी वसे) उसने एक बड़ा सार्वजनिक कार्य पूरा किया। नन्द राज द्वारा ३०० वर्ष पूर्व उद्घाटित नहर को वह तनसुलिय मार्ग से नगर में ले आया (नन्द-राज-ति-वस-सत-ओ (घा) टितं तनसुलिय-वाटा पणाडिं नगरं पवेस (य) ति)। छठें वर्ष (छठे वसे) उसने नागरिकों और ग्रामवासियों को (पोर-जानपदं) अनेक अनुग्रह (अनुगह-अनेकानि) प्रदान किये जिसमें उसका एक लाख (सत-सहसानि) व्यय हुआ। उसके शासन के सातवें वर्ष की कृतियों का विवरण भ्रामक है। अपने शासन के आठवें वर्ष (अठमे च वसे) उसने गोरथगिरि पर आक्रमण किया और राजगृहवासियों को सन्त्रस्त किया। गोरथगिरि का अभी तक निश्चय नहीं हो सका है। शायद वह राजगृह की रक्षा के निमित्त बनवाया गया कोई पहाड़ी दुर्ग था। अपने शासन के नवें वर्ष उसने ३८ लाख मुद्राएँ (अठतिसाय सत-सहसेहि) व्यय कर एक "महा-विजय-प्रासाद" बनवाया। दसवें वर्ष का विवरण अस्पष्ट है। अपने शासन के ग्यारहवें वर्ष (एकादसमे च वसे) उसने पलायित शत्रुओं के (प (ा) यातानं>सं०, पलायित शत्रूणां) लूट के माल को जिसमें अनेक रत्न आदि थे अधिकृत कर पिथुन्ड नामक प्राचीन नगर के जिसकी स्थापना एक पूर्ववर्ती नरेश ने की थी ध्वन्स का संस्कार गधों के हल से जुतवा कर किया (पुवं राज-निवेसितं पीथुंडं गदभ-नंगलेन कासयति)। यह बिलकुल स्पष्ट है कि उसने एक ध्वस्त नगर को एक बड़े कृषि-फार्म में परिवर्तित कर दिया।[१] उसी वर्ष उसने दक्षिण के तामिल राष्ट्रों के

[१] डा० जायसवाल इसका दूसरा ही पाठ करते हैं : पुवराज़-निवेसितं पिथुडग-दभ नगले नेकासययि, "पृथुडक (नगर) के झाड़-झंखाड़ को साफ कर जिसकी स्थापना एक भूतपूर्व सम्राट् ने की थी लाङ्गला (नदी) में बहवा दिया।"

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एक संघ को तोड़ा (अभिनत् अमिरदेश संघातं १)। उसके शासन के बारहवें वर्ष (बारसमे च वसे) की कृतियों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है। उसने एक विशाल सेना के साथ उत्तरापथ पर चढ़ाई की और अपनी सेना के हाथी-घोड़ों को गङ्गा में नहलाकर मागध जनों में विपुल भय उत्पन्न किया (म (ा) गधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय पाययति)। उसने मागध राजा बृहस्पति मित्र (बहसतिमित) को अपने चरणों पर गिरने के लिए बाध्य किया (पादे वंदापयति) और कलिंग की जिन मूर्त्ति को जिसे नन्द राज उठा ले गया था पुनः वापस लाया। इसके अतिरिक्त अङ्ग और मगध की सम्पत्ति भी (अंग-मगध-वसुं च) उसके हाथ लगी। वह उसी वर्ष पाण्डयों के राजा के उपर अपने विजय का उल्लेख करता है जिससे उसे लाखों मणि-मुक्ताएँ और रत्नादि प्राप्त हुए [(मु) त-मनि-रतनानि आहारापयति इध सत (सहसानि)]। इसके अनन्तर उसने गिरि-शृङ्गों को सुन्दर और सुदृढ़ गोपुरों एवं भव्य हस्त-शालाओं से मन्डित कराया। अपने शासन के तेरहवें वर्ष (तेरसमे च वसे) उसने कुमारी पर्वत (उदयगिरि-खण्डगिरि की पहाड़ियाँ) में अर्हतों (जैन साधुओं) के वर्षावास तथा अन्य सुकृत्यों के लिए १५ लाख से ऊपर व्यय कर गुहाएँ बनवाईं।

इस प्रकार सम्राट् खारवेल की कृतयों का वार्षिक क्रमानुसार उसके शासन के तेरह वर्ष तक का विवरण प्राप्त है। अतः हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि उसने कम से कम १३ वर्ष राज्य किया। अभिलेख से इस महान् नरेश के व्यक्तित्व पर भी प्रकाश पड़ता है। वह जैन धर्म का अनुयायी था। परन्तु अन्य धर्मों के प्रति उसकी उदारता सराहनीय है। वह सभी धर्मों का आदर करता था (सव-पासंड-पूजक) और सभी देवायतनों का जीर्णोद्धार करवाता था (सव-दे (वाय) तन-सकार-कारक)। शास्त्रों और सभी प्रकार की कलाओं का गम्भीर ज्ञान रखनेवाला वह नृप उनके संरक्षण के लिए भी बराबर उद्यत रहता था। वह राजर्षि कहलाता था और वसु वंश (चेत अथवा चेदि-वंश) में उत्पन्न हुआ था। उसके पास एक विशाल विजय वाहिनी थी (अपतिहत-चक-वाहनबलो)।

१ जायसवाल के पाठ का संस्कृत रूपान्तर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट (२)

खारवेल के तिथि-क्रम का निरूपण

खारवेल की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी दिनों से अनेक वाद-विवाद चल रहे हैं। डा० जायसवाल ने अभिलेख के बहसतिमित (बृहस्पति-मित्र) को पुष्यमित्र निश्चित किया जो प्रथम शुङ्ग सम्राट् था जिसने लग० १८४ ई० पू० में अपना शासन चलाया। इसी आधार पर डा० जायसवाल ने खारवेल को भी दूसरी शती ई० पू० का माना। उसका तर्क यह है कि बृहस्पति 'पुष्य' नक्षत्र के स्वामी हैं अतएव बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र मान सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह तर्क बेढंगा है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने अभि-लेख की १६वीं पंक्ति में एक इस प्रकार का वाक्यांश पढ़ा—"पानंतरीय-सथि-वस-सते-राज-मुरिय-काले वोच्छिने" जिसके सहारे उन्होंने मौर्य-काल का १६५वाँ वर्ष निर्धारित किया। यदि ३२२ ई० पू० को जब मौर्य-वंश के संस्थापक ने राज्य करना आरम्भ किया हम मौर्य-काल का आरम्भ मानें, तो [३२२-१६५] १५७ ई० पू० खारवेल के समय में पड़ता है जिससे उसकी समकालीनता बृहस्पतिमित्र अथवा पुष्यमित्र शुङ्ग के साथ ठहरती है। परन्तु यह तो हम देख ही चुके हैं कि यह निर्धारण बेढंगे तर्क पर स्थित है। इसका कोई पता नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने किसी संवत् का प्रवर्तन किया था, जिसका प्रयोग उसके वंश के किसी दूसरे सम्राट् ने अपने लेखों में किया हो। अशोक के विषय में हम जानते हैं कि उसने अपने लेखों में अपने शासन के वर्ष ही रखे हैं।

डा० विन्सेण्ट स्मिथ को यह मत मान्य था कि कलिंगाधिपति खारवेल ने पुष्यमित्र को जिसे हाथीगुम्फा अभिलेख में बहसतिमित कहा गया है पराजित किया था [आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इंडिया]। प्रो० डुब्रील (Prof. Dubr-euil) का भी यही मत जान पड़ता है कि खारवेल पुष्यमित्र का शत्रु था और हाथीगुम्फा अभिलेख मौर्य-काल के १६५वें वर्ष को सूचित करता है जो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खारवेल के शासन के तेरहवें वर्ष में पड़ता है।[१] इसी प्रकार स्टेन कोनो (SteuK onow) ने भी जायसवाल का बहसतिमित एवं पुष्यमित्र का एकीकरण मान लिया।[२]

बात यह हुई कि जब डा० जायसवाल ने पहली बार १६१८ में इस युगान्तरकारी तिथि-विषयक पाठ का अपना संस्करण तथा बहसतिमित और पुष्यमित्र के एकीकरण के तर्क प्रकाशित किये [जे० बी० ओ० आर० एस०, चतुर्थ] उस समय उनका मत ही सर्वग्राह्य हुआ और उपयुक्त लेखक स्वभावतः उनके विचारों से प्रभावित हुए।

प्रस्तुत पाठ जो अब मान्य हो रहा है 'पानतरीय-सत-सहसेहि" से अभिप्राय ५ लाख मुद्राएँ व्यञ्जित करता है जो अर्हतों (जैन साधुओं) के लिए तथा अन्य सुकृत्यों के लिए गुहा-निर्माण एवं स्तम्भादि से उन्हें अलंकृत करने के निर्माण-कार्य में व्यय हुआ।[३] वाक्य वस्तुतः यहाँ पूरा हो जाता है; उसमें बाद के पद सम्मिलित नहीं हैं जिन्हें डा० जायसवाल "राज मुरिय काल वोच्छिने" पढ़ते तथा "पानंतरीय-सथि-वस-सते" (यह पाठ भी अशुद्ध है) पद के साथ संयुक्त कर देते हैं। वस्तुतः पाठ इस प्रकार होना चाहिए—मुखिय-कला-वोछिनं" [मुख्य कला = गीतनृत्यादि; अवच्छिन्न = समन्वितम्] जो एक नये वाक्य के आरंभ में आता है जो खारवेल के इसी प्रकार की कलाओं के प्रयोग करने में जो शान्तिमय काल का बोध कराती है प्रयुक्त हुआ है। सम्पूर्ण वाक्य इस प्रकार है—

"मु (खि) य-कला-वोछिनं च चोय (ठि)-अंग संतिक (ं) तुरियं उपादयति"

[>सं०, मुख्यकलावच्छिन्नं = गीतनृत्यादिसमन्वितं, चतुः षष्ठ्यङ्गं = चतुः

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० २५५

२ "ऐक्टा ओरिएण्टालिया", प्रथम, २६।

३ इस पूँजी की तुलना उसके शासन के प्रथम, छठवें, नववें एवं तेरहवें वर्ष सार्वजनिक कामों में व्यय हुई पूँजियों से कीजिए जिसका वह उल्लेख करता है (देखिए, पंक्तियाँ ३, ६ और १६)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
षष्टिप्रकारवाद्यविशिष्टं, शान्तिकं तौर्यं = रणरहितकालोपयोगितौर्यत्रिकम्, उत्पादयति][1].
वाक्य में 'मौर्य-काल' का कोई संकेत नहीं है।

इस विहित पाठ के कारण खारवेल की पुष्यमित्र शुङ्ग के साथ समकालीनता निश्चित करनेवाली धारणा का सर्वथा खण्डन हो जाता है। अतएव, खारवेल की तिथि के लिए हमें अन्यत्र सक्रिय प्रमाण ढूँढ़ने पड़ेंगे।

१. (अ) पहले आभिलेखिक और पुरातत्त्व-सम्बन्धी प्रमाणों का विवेचन करेंगे। अभिलेख-विशेषज्ञों का यह सुनिश्चित मत है कि हाथीगुम्फा के लेख 'संभवतः नानाघाट के लेखों से अर्वाचीन एवं हेलियोदोर के बेसनगर अभिलेख से निश्चय ही बाद के हैं।'[2] इसलिए वे प्रथम शती पू० के अन्त के बहुत पहले किसी भी प्रकार नहीं रखे जा सकते। प्रो० रामप्रसाद चन्द ने यह सिद्ध किया था कि नानाघाट का लेख, 'प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध से पहले का नहीं है।'[3] भारतीय स्थापत्य के कला-विशारद भी यही पुष्ट करते हैं कि नासिक हाल का निर्माण प्रथम शती ई० पू० से उत्तरार्द्ध में हुआ' [कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ६३७]। नानाघाट अभिलेख मे व्यवहृत व, प, द, च आदि चिह्न और अक्षर अशोक की अथवा शुङ्ग लिपियों से भिन्नता एवं विकसित अवस्था का परिचय देते हैं। हम उन्हें त्रिभुज का आकार ग्रहण करता पाते हैं :

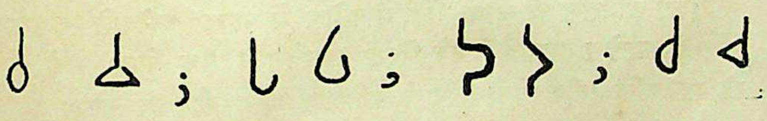

१ से० इ०, पृ० २१०-२१३।
२ वही, पृ० २०६, टि० १
३ एम० ए० एस० आई, सं०, प्रथम।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन्हीं तथ्यों के आधार पर नानाघाट के अभिलेख, जिनमें से एक शातकर्णि प्रथम के समय का तथा दूसरा उसकी पत्नी राजमहिषी नायनिका का है, प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम भाग के माने गये हैं। अतः खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख जैसा कि हमने अभी देखा अभिलेख-विशेषज्ञों के अनुसार नानाघाट अभिलेखों के कुछ ही बाद का अथवा समकालीन है जिससे वह प्रथम शती ई० पू० के पहले का नहीं हो सकता। इससे यही परिणाम निकलता है कि उक्त अभिलेख का कर्त्ता दूसरी शती० ई० पू० के पुष्यमित्र शुङ्ग का समकालीन नहीं हो सकता और अभिलेख का बहसतिमित कोई दूसरा ही व्यक्ति है।

(आ) मैंने अन्यत्र यह दिखलाया है ['इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स', १६४३, पृ० सं० १०६—१६ तथा 'दि बी० सी० ला मेमोरियल वाल्यूम, पृ० सं० २१०—१८] कि बरहुत का शिल्प संयुक्त तोरण-द्वार जिस पर एक अभिलेख पाया गया है पुष्यमित्र शुङ्ग के काल से लगभग एक शताब्दि बाद का है अर्थात् उसका समय लगभग प्रथम शती ई० पू० का प्रथम चरण है। भारतीय कला-मर्मज्ञों का विश्वास है की मञ्चपुरी गुहा के शिल्प जहाँ खारवेल की राजमहिषी का एक अभिलेख अंकित है बरहुत के शिल्पों से बाद के हैं [कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ६३९]। अतः खारवेल को दूसरी शती ई० पू० का नहीं मान सकते।

२. अभिलेख के अन्तर्साक्ष्यों से खारवेल के समय-निरूपण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(अ) अभिलेख की चौथी पंक्ति में पश्चिम में राज्य करनेवाले एक शातकर्णि का उल्लेख हुआ है जिसके विरुद्ध खारवेल ने एक सेना भेजी थी। यह शातकर्णि तृतीय आन्ध्र नरेश के अतिरिक्त और कौन हो सकता है जो प्रथम शती ई० पू० के नानाघाट अभिलेख में सातवाहन नरेशों में प्रथम शातकर्णि के रूप में आता है? इस विषय में सबसे पहले तो यही ध्यान देने की बात है कि हम किसी अन्य शातकर्णि के विषय में नहीं जानते जो दूसरी शती ई० पू० में पश्चिम में शासन करता रहा हो और जिसे पुष्यमित्र शुङ्ग का समकालिक मान सकें। फिर यह भी उल्लेखनीय है कि साँची के स्तूप स० १

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में अभिहित एक अभिलेख में किसी शातकर्णि नरेश के समय के एक दान का उल्लेख हुआ है। अभिलेख तिथि-युक्त नहीं है, किन्तु पुराविदों का निश्चित मत यही है कि वह संभवतः प्रथम शती ई० पू० का है। इससे पूर्वी मालवा के प्रथम शती ई० पू० में आन्ध्रों के अधीन होने का पता चलता है। दूसरी शती ई० पू० में कम से कम पुष्यमित्र शुङ्ग के समय तो पूर्वी मालवा जिसकी राजधानी विदिशा थी, अवश्य ही शुङ्गों के अधिकार में था। इससे साँची अभिलेख के शातकर्णि के प्रथम शती ई० पू० में होने का निश्चय होता है।

(आ) हाथीगुम्फा अभिलेख की छठवीं पंक्ति में आता है—"पञ्चमे च दानी वसे नद-राज-ति वस-सत-ओ (घा) टितं तनसुलिय-वाटा पणाडिं नगरं पवेस (य) ति" [खारवेल ने अपने शासन के पाँचवें वर्ष नन्दराज द्वारा ३०० वर्ष पूर्व खुदवाई हुई नहर को राजधानी में प्रविष्ट कराया]। अत्र विद्वानों ने एकमत होकर यह मान लिया है कि 'ति-वस सत' का अर्थ ३०० वर्ष है। डॉ० जायसवाल ने स्वयं यह अर्थ स्वीकार कर लिया है पर नन्दराज नन्दि-वर्द्धन को मानते हैं जिससे पुष्यमित्र और खारवेल दूसरी शती ई० पू० में रखे जा सकें। पर नन्दिवर्द्धन शिशुनाग-वंश का राजा था और उससे कलिंग से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह तो महापद्म नंद ही था जिसे पुराणों में 'सर्व-चक्र विजेता' कहा गया है और जिसने 'समस्त क्षत्रियों को उच्छित किया। अतः हाथीगुम्फा अभिलेख के नन्दराज को महापद्म नन्द मानना ही युक्तियुक्त है, नन्दिवर्द्धन नहीं। फिर नन्द वंश का नाश चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा हुआ जिसने ३२२ ई० पू० के लगभग राजसिंहासन पर अधिकार किया। पुराणों के अनुसार महापद्म के बाद उसके आठ पुत्रों ने १२ वर्ष तक शासन किया था। इस प्रकार महापद्म नन्द के ३२२+१२=३३४ ई० पू० के पश्चात् राज्य करने की सम्भावना नहीं पाई जाती। अतएव नन्दराज के ३०० वर्ष बाद नहर के विस्तार की घटना ३४ ई० पू० अथवा उससे पहले घटी होगी। ३०० वर्ष के गोलमटोल अङ्क को जो काल-निर्देशक एक रूढ़िगत ढंग है, ठीक उसी रूप में नहीं ले सकते। यदि २० वर्ष भी उसमें जोड़े जा सकें तो नहर के विस्तार की तिथि (३४—२०) लग० १४ ई० पू० होती है और राज्यारोहण पाँच वर्ष पूर्व १६ ई० पू० में आता है। और यह हम जानते ही हैं कि उसने अपने शासन के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पाँचवें वर्ष में यह विस्तार का काम कराया। अभिलेख की पंक्तियों में उसके प्रारंभिक जीवन का विवरण मिलता है जिसमें १६ वर्ष की अवस्था में उसका युवराज होना तथा २४ वर्ष की अवस्था में राज्याभिषेक निश्चित है। अतः नहर का विस्तार कराने के समय उसकी अवस्था २६ वर्ष थी।

इन्हीं बातों को लेकर १४ ई० पू० को आधार-बिन्दु मानकर हम उसके तिथि-क्रम की एक प्रयोगात्मक सरणी इस प्रकार दे सकते हैं :

जन्म	...	...	लग० १४ + २६ = लग० ४३ ई० पू०
यौवराज्य	...	...	लग० ४३—१६ = २७ ई० पू०
राज्याभिषेक	...	...	लग० ४३—२४ = १६ ई० पू०

उसकी मृत्यु का समय ज्ञात नहीं है। हाँ, उसके शासन के घटना-क्रम के आधार पर जो १३वें वर्ष तक अंकित हुआ है, यह निष्कर्ष सर्वथा संगत जान पड़ता है कि यदि अपने शासन के तेरहवें वर्ष के बाद उसने कोई उल्लेखनीय कार्य किया होता, तो उसे लिपिबद्ध करना न भूलता, साथ ही यह अनुमान भी निराधार नहीं है कि यदि लेख की तिथि के बाद वह हृष्ट-पुष्ट रहता तो अवश्य ही अंकित करने योग्य कोई न कोई कृति सम्पादित कर जाता। इसलिए यही संभावित जान पड़ता है कि अपने शासन के तेरहवें या चौदहवें वर्ष में वह रोग-ग्रस्त हो गया अथवा उसकी मृत्यु हो गई। उस दशा में उसकी मृत्यु (लग० १६—१४) ५ ई० पू० में ३८ वर्ष की अवस्था में हुई। खारवेल की इसी समय मृत्यु हुई, इस सम्बन्ध में उदयगिरि पहाड़ियों की मञ्चपुरी गुहा से प्राप्त दो अन्य लेखों से कुछ पुष्टीकरण होता है। इस गुहा का निर्माण खारवेल की पत्नी ने, जो उसकी मृत्यु के उपरान्त जीवित रही, कराया था। लेखों में एक कलिंग-राज वक्रदेव [एपि० इण्डि०, त्रयोदश, पृ० १६०] तथा दूसरा कुमार वडुख [ल्यूडर्स लिस्ट, सं० १३४८] का है। वक्रदेव निस्सन्देह खारवेल का ही उत्तराधिकारी था, यद्यपि खारवेल के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। लेख में जिस लिपि का व्यवहार हुआ है, वह समस्त अधिकारी विद्वानों के मत में [बरुआ, 'ओल्ड ब्राह्मी इन्सक्रिप्शन्स

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पृ० सं० १४५—१५३; सरकार, से० इ०, पृ० २१४] प्रथम शती ई० पू० के अन्त की ब्राह्मी है। अतः निश्चय ही खारवेल की मृत्यु इसी प्रथम शती ई० पू० की अन्तिम दशाब्दि में हुई, जिसकी राजमहिषी के शताब्दि के अन्त में जीवित रहने तथा निकटतम उत्तराधिकारियों के उस समय शासन करने का उल्लेख मिलता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आठवाँ अध्याय

विदेशी आक्रमण तथा उनके राज्य-संस्थापन का युग

जिस काल का विवेचन अब हम करेंगे वह अत्यन्त उथल-पुथल का समय है, क्योंकि इस समय विशाल मौर्य साम्राज्य के टूटने के कारण देश की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई थी। प्रमुख राज्य-शक्तियों में मध्य-भारत में शुङ्ग और दक्खिन में आन्ध्र थे। पञ्जाब और उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त के इलाके एक मौर्यवंशी नरेश[1] के हाथ में थे, जो विदेशियों को रोक सकने में नितान्त असमर्थ था। इस युग में निरन्तर होनेवाले विदेशी शक्तियों के धावों में जो भारत के प्रवेश-द्वारों के मार्ग से होकर राज्य-संस्थापन के कार्य में सफल हुए यवनों (बैक्ट्रिया के यूनानियों), शकों (इण्डो-सीथियन), पह्लवों (इण्डो-पार्थियन) और कुषाणों के धावे प्रसिद्ध हैं। उन सब पर स्वतन्त्र रूप से हम यहाँ विचार करेंगे।

क.

इण्डो-ग्रीक राज्य

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् बैक्ट्रिया का ग्रीक उपनिवेश सेल्यूकस निकेतोर के साम्राज्य का एक अङ्ग बन गया था, क्योंकि सिकन्दर के पूर्वी साम्राज्य का स्वामी वही माना गया था। तीसरी शती ई० पू० के लगभग मध्य में सेल्यूकस के साम्राज्य से दो राष्ट्र पृथक् हो गये। पार्थिया ने अपने राष्ट्रीय

१ यह नरेश वीरसेन का उत्तराधिकारी सुभागसेन था। तारानाथ के अनुसार वीरसेन मौर्यों की एक स्वतंत्र पश्चिमी शाखा का संस्थापक था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नेता अरसक (Arsakes) तथा बैक्ट्रिया ने यूनानी शासक दिवोदोत (Diodotus) की अध्यक्षता में क्रान्ति का पथ ग्रहण किया। दिवोदोत के बाद उसका पुत्र दिवोदोत द्वितीय राज्य का अधिकारी हुआ। तीसरी शती ई० पू० के अन्तिम चरण में दिवोदोत द्वितीय एक अन्य यूनानी सेनानायक द्वारा जिसका नाम इवदिम (Euthydemos) था, मारा गया। इस राजवध के उपरान्त इवदिम स्वयं राजा बन बैठा।

इसी समय सेल्यूकस के राजवंश के सीरिया के सम्राट् अन्तियोक तृतीय (Antiochus III) ने (लग० २२३–१८५ ई० पू०) खोये हुए प्रान्तों को पुनः अधिगत करने के प्राण-पण से प्रयत्न किये। उसने २०८ ई० पू० के लगभग बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया, किन्तु दो वर्ष तक निरन्तर लड़ने के पश्चात् उसे इविदिम के साथ सन्धि करनी पड़ी और बैक्ट्रिया की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इसके साथ ही उसने इवदिम के बेटे दिमेत्र (Demetrios) को अपनी बेटी ब्याह दी।

इवदिम

इवदिम के साथ सन्धि कर अन्तियोक ने भारत पर आक्रमण किया (लग० २०७ ई० पू०) और गन्धार के भारतीय नरेश सुभागसेन (Sophagasenos) के साथ अपने राजवंश के परम्परागत मैत्री सम्बन्ध को पूर्ववत् दृढ़ किया। नाम की ध्वनि से सुभागसेन वीरसेन का उत्तराधिकारी जान पड़ता है। और वीरसेन बौद्ध लेखकों के अनुसार अशोक के उत्तराधिकारियों की पश्चिमी शाखा का प्रतिनिधि एवं गन्धार का शासक था।[१] अपने भारतीय सहायक से भेंट के रूप में युद्ध के हाथी लेकर अन्तियोक लौट कर सम्पूर्ण वेग के साथ मैसोपोटामिया की ओर भागा, जहाँ घोर क्रान्ति मची हुई थी।

इसी बीच अवसर पाकर इवदिम ने बैक्ट्रिया के राज्य की सीमाएँ दक्षिण में अफगानिस्तान के निम्न प्रदेश तक बढ़ा लीं। उसने अन्तियोक तृतीय के भारत-अभियान का भी निकट से अध्ययन किया जिसका यद्यपि कोई महत्वपूर्ण परिणाम न निकला था, पर प्रतिरोध की कमजोरी का पूरा पता

---

१ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५११, तुलनार्थ, तारानाथ-कृत 'हिस्ट्री ऑव बुद्धिज़्म', शीफनर (Schiefner) का अनुवाद पृ० सं० ४८ एवं आगे

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चल गया था, जो मौर्य साम्राज्य के टूटने के बाद बिलकुल स्वाभाविक था। अतः सीरियन सेनाओं के हटते ही इवदिम की सतृष्ण आँखें पंजाब की ओर जा लगीं। अपनी दक्षिण की विजय-यात्रा में उसने अपनी मृत्यु के पूर्व (लग० १६० ई० पू०) संभवतः सुभागसेन को क्षति पहुँचाकर मौर्यों द्वारा पूर्व-अधिकृत पैरोपोनिसडा (काबुल की घाटी) एवं अराखोसिया (कन्दहार) आदि प्रान्तों को जो सेल्यूकस प्रथम से चन्द्रगुप्त को सन्धि-स्वरूप प्राप्त हुए थे, अपने राज्य में मिला लिया।

परन्तु भारत-भूमि पर सुसंगठित रूप से आक्रमण करनेवाला इवदिम नहीं, उसका पुत्र और उत्तराधिकारी दिमेत्र था। उसकी भारतीय विजयों में सिन्धु घाटी तथा पंजाब के कुछ भाग सम्मिलित थे। उसने सागल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया जिसे उसके पिता के नाम पर इवदीमिया (Euthydemia) भी कहते थे।[१] 'सिद्धान्त कौमुदी' में सौवीर प्रदेश में दात्तामित्री नगरी का उल्लेख आता है जो सम्भवतः दिमेत्र के नाम पर ही बसाई गई थी।[२]

दिमेत्र

गार्गी-संहिता के युग-पुराण नामक एक अध्याय में एक स्थल पर यवनों के साकेत (अवध), पञ्चाल तथा मथुरा को पादाक्रान्त कर कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) तक पहुँचने का उल्लेख हुआ है। पातञ्जल 'महाभाष्य' में भी पुष्यमित्र के समय (पूर्वोल्लिखित, पृ० १६६ एवं आगे) किसी यवन द्वारा मध्यमिका (चित्तौड़ के निकट नागरी नामक स्थान) और साकेत पर घेरा डालने का संकेत मिलता है। इसी प्रकार कालिदास-कृत 'मालविकाग्निमित्रम्' में सिन्धु नदी के किनारे एक युद्ध का वर्णन मिलता है (पूर्व, पृ० २०० एवं आगे) जिसमें एक यवन सेना पुष्यमित्र शुङ्ग के शासन में सम्राट् के पौत्र वसुमित्र

१ वही, पृ० ४४६।

२ 'ट्रांजैक्शन्स ऑव दि इण्टरनेशनल कांग्रेस ऑव दि ओरिएण्टलिस्ट्स', लन्दन, १८७४, पृ० ३४५। 'सिद्धान्त कौमुदी' में पाणिनि (चतुर्थ, २.७६) के अन्तर्गत दात्तामित्री का एक सौवीर नगरी के दृष्टान्त के रूप में उल्लेख हुआ है। रा० गो० भण्डारकर का अनुमान है कि यह नगरी निमेत्रिया (Demetria) थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

द्वारा पराजित हुई थी; परन्तु इन सन्दर्भों में भी; यवन आक्रान्ता का नाम नहीं पाया जाता, यद्यपि उन यवन आक्रमणकारियों के बैक्ट्रियन ग्रीक होने में कोई सन्देह नहीं है। यह हम देख ही चुके हैं [पूर्व, पृ० २४६] कि दिमेत्र ने सचमुच भारत-भूमि पर आक्रमण कर तथा सिन्धु घाटी और पंजाब के, जहाँ उसने अपने पिता के नाम पर इवदीमिया नामक नगरी बसाई, कुछ प्रदेश जीत कर अपने पिता के स्वप्न पूरे किये थे। बहुत सम्भव है कि देश के भीतर घुसकर मध्यमिका, पञ्चाल, अयोध्या पर अपनी विजय-पताका फहराता हुआ वह पाटलिपुत्र के नगर-द्वार तक चला आया हो, जहाँ से उसे रिक्त हस्त लौट जाना पड़ा। यह अभियान जिसका उल्लेख 'गार्गी-संहिता और 'पातञ्जल' में हुआ है, पुष्यमित्र के राज्यारोहण (लग० १८४ ई० पू०) के बहुत बाद हुआ नहीं प्रतीत होता, जबकि दिमेत्र अन्तियोक तृतीय की राजकुमारी को अपनी १७ या १८ वर्ष की अवस्था में वरण कर[1] (२०६ ई० पू०) प्रौढ हो चला था। 'मालविकाग्निमित्रम्' में यवन सेनाओं और वसुमित्र के बीच जिस युद्ध का वर्णन आता है, वह पाटलिपुत्र पर दिमेत्र के आक्रमण के बहुत बाद हुआ होगा; क्योंकि उस समय तक पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र ही इतना बड़ा होगया था कि यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए नियुक्त सेना का वही नायक बनाया गया था। इसके अतिरिक्त उस समय तक पुष्यमित्र राजसिंहासन पर इतना जम चुका था और तमाम विरोधी कुचक्रों को दबाकर उसने इस तरह अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था कि अपने साम्राज्य-निर्माण की प्रतिष्ठा के लिए वह अश्वमेध कर सकता था। इस स्थिति में यवनों के साथ उसका संघर्ष स्वाभाविक था जिसमें वसुमित्र ने यवनों को पराजित किया। इस घटना का सम्बन्ध सम्भवतः उसके द्वितीय एवं अन्तिम अश्वमेध से है, जो उसके शासन के अन्तिम भाग में जिसका पर्यवसान १४६ या १४८ ई० पू० के लगभग हुआ, सम्पादित हुआ। यहाँ जिन यवन टुकड़ियों का उल्लेख हुआ है उनका नायक दिमेत्र नहीं हो सकता जिसका राज्य-काल लग० १९०-१६० ई० पू० निर्धारित किया गया है।[2] वस्तुतः वह

---

१ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ६४४।

२ वही, पृ० ६९८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलिन्द (Menander) था, जो निस्सन्देह दिमेत्र के बाद जीवित था और जिसका शासन जैसा कि हम अभी देखेंगे इवदिम और दिमेत्र की शाखा के उत्तराधिकारी के रूप में मध्य एवं दक्षिण-पूर्वी पंजाब में व्याप्त था।[१] मिलिन्द की भारतीय विजयों के सम्बन्ध में यूनानी लेखक मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं, यद्यपि उनका कथन है कि "इन (भारतीय) विजयों का श्रेय कुछ तो मिलिन्द और कुछ दिमेत्र को है" [मैक क्रिण्डल, 'एन्श्येण्ट इण्डिया'; पृ० सं० १००–१]।

दिमेत्र जिस समय अपनी भारतीय विजयों में लगा हुआ था बैक्ट्रिया में इवक्रत ने जन-क्रान्ति का झण्डा ऊँचा किया और बैक्ट्रिया के राज्य से दिमेत्र को हाथ धोना पड़ा (लगभग १७५ ई० पू०)।

इवक्रत का विद्रोह इवक्रत अन्तियोक चतुर्थ (Antiochus iv) का सम्बन्धी एवं सेनानायक था। दिमेत्र का अपने इस प्रतिद्वन्द्वी को उसके प्रतिष्ठित पद से उखाड़ फेंकने का सारा प्रयत्न निष्फल हुआ। प्रत्युत दिमेत्र को अपने भारतीय अधिकारों की रक्षा के लिए भी लड़ना पड़ा। इवक्रत ने उसका पीछा भारत में भी किया और उससे अथवा उसके उत्तराधिकारी से सिंध तथा पश्चिमी पंजाब के प्रान्त छीन लिये। इससे इवदिम के वंशवालों को पंजाब के पूर्वी जिलों से ही सन्तोष करना पड़ा। और भारत में दिमेत्र ने जिन प्रदेशों पर अपने बाहुबल से अधिकार स्थापित किया था उनका इण्डो-बैक्ट्रियन शासकों के दो प्रतिस्पर्धी घरानों में विभाजन हो गया।

इवदिम का राजवंश

इवदिम और इवक्रत के दो प्रतिस्पर्धी राजवंशों के विविध इण्डो-ग्रीक सम्राटों के विषय में हमारा ज्ञान मुद्राओं तक ही सीमित है। और मुद्राओं से जो ढेरियों के रूप में तक्षशिला तथा अन्य स्थानों में मिली हैं, उनके नाम के अतिरिक्त बहुत थोड़ी बातें ज्ञात हो सकी हैं। मुद्राशास्त्रियों के अनुसार अपोलोडोटस (Apollodotos), ऐण्टीमेकस (Antimachos), पैण्टेलि-

१ तुलनार्थ, 'यवन इनवेजन्स' विषयक मेरा लेख, 'जर्नल ऑव दि गङ्गानाथ झा रिसर्च सोसाइटी,' चतुर्थ, १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

याँन (Pantaleon), ऐगथाक्लीज (Agathokles), स्ट्रैटो आदि (Stratos), हिपॉस्ट्रैटोज (Hippostratos) तथा अन्य इण्डो-ग्रीक शासक इवदिम और दिमेत्र के राजवंश के थे।

इन शासकों में मिनैण्डर ही एक ऐसा इण्डो-ग्रीक सम्राट् हो गया है जिसे भारत के प्राचीन साहित्य में स्थान प्राप्त है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वही शाकल (स्यालकोट) का यवन सम्राट् मिलिन्द है, जो 'मिलिन्द-प्रश्न' में बौद्ध थेर नागसेन से अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रश्न करता है और जिसे अन्त में अपने उत्तरों से सन्तुष्ट कर नागसेन बौद्ध-धर्म में दीक्षित कर लेता है। एक दार्शनिक एवं शास्त्रार्थ-कर्त्ता के रूप में वह महाथेर नागसेन का प्रतिद्वन्द्वी बनने के ही योग्य था। बौद्ध साहित्य में उसकी वैसी ही प्रतिष्ठा है जैसी उपनिषदों में विदेह-सम्राट् जनक की। उसकी राजधानी शाकल थी जिसका वर्णन 'मिलिन्द-प्रश्न' में 'एक महान् व्यापारिक केन्द्र के रूप में हुआ है, जो रमणीय भू-खंड में बसा हुआ था और जिसकी शोभा आराम-उद्यान-उपवन-तडाग-पुष्करिणी से युक्त होने के कारण वन, पर्वत और नदी के स्वर्ग के समान हो रही थी।'[1]

मिनैण्डर

यूनानी लेखकों ने मिनैण्डर को एक महान् विजेता कहा है। स्ट्रैबो का कथन है कि उसने "सिकन्दर से अधिक राज्य" जीते थे। यूनानी सत्ता का प्रसार सुदूर-पूर्व भारत में करने का श्रेय स्ट्रैबो मिनैण्डर और दिमेत्र को देता है। उसकी विविध प्रकार की मुद्राओं से तथा उनके प्राप्ति-स्थानों के विस्तार को देखते हुए जो काबुल की दून से लेकर मथुरा तक था, वह निस्सन्देह अनेक राज्यों के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेवाला एक महान् विजेता प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि उसी के नेतृत्व में यवन मध्य भारत तक घुसे थे जहाँ उसे सिन्धु नदी के किनारे राजकुमार वसुमित्र द्वारा पराजित होना पड़ा। इस भारतीय विजय का संकेत 'मालविकाग्निमित्रम्' में मिलता है [पूर्व

[1] रिज डेविड-कृत अनुवाद, एस० बी० ई०, भाग ३५ वाँ, पृ० २।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इंगित]। प्रो० रैप्सन के मतानुसार 'मिनैण्डर और इवक्रत निश्चय ही सम-कालीन थे' जैसा कि उनके कुछ मिलते-जुलते चौकोर ताँबे के सिक्कों से प्रमाणित होता है [कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५५१]। इससे दिमेत्र के बाद ही मिनैण्डर को भारत में राज्य करनेवाले बैक्ट्रियन राजाओं के मध्य स्थिति स्वीकरणीय है और यह भी निश्चित-सा है कि दिमेत्र से इवक्रत द्वारा ले लिये गये बैक्ट्रिया और काबुल को इनके प्रदेशों का कुछ न कुछ भाग मिनैण्डर द्वारा अवश्य ही इवदिम के घराने में लौटा लाया गया [वह इस रूप में कि इसी कुल में मिनैण्डर विवाहित था][1] काबुल की दूनसे पाये गये उसके सिक्कों से यही प्रमाणित होता है। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि उसने अपने राजवंश की दक्षिण-पूर्व में विस्तार-नीति से काम लिया। मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणों से पूर्व में मथुरा तक उसके राज्य के अन्तर्गत होना स्पष्ट है। और यदि मथुरा तक उसका राज्य हो सकता है, तो उसने अवश्य ही मध्य-भारत के कुछ प्रदेश अपने राज्य में मिलाने के प्रयत्न किये होंगे जहाँ शुङ्गों का शासन स्थापित था। उस दशा में 'मालविकाग्निमित्रम्' में उल्लिखित यवनों से अभिप्राय मिनैण्डर के अश्वारोहियों से ही जान पड़ता है जिन्हें वसुमित्र ने सिन्धु के किनारे हराया था। मिनैण्डर उस समय जीवित था जबकि पुष्यमित्र राज-सिंहासन पर अभी विद्यमान था, यद्यपि नाटक में वर्णित अश्वमेध (सम्भवतः द्वितीय) का सम्पादन उसके बाद हुआ प्रतीत होता है।

मिनैण्डर की राजधानी (शाकल) उन बौद्ध श्रमणों का केन्द्र बन रही थी, जो पुष्यमित्र शुङ्ग के अत्याचारों से पीड़ित होकर उसके यहाँ आश्रय पा रहे थे। 'दिव्यावदान' में पुष्यमित्र द्वारा यह घोषित किये जाने का वक्तव्य आता है कि शाकल के प्रत्येक बौद्ध-श्रमण का सिर काटकर लानेवाले को सौ दीनार पारितोषिक के रूप में दिये जायेंगे ['यो मे श्रमणशिरो दास्यति

---

१ रैप्सन, का० इ० इ०, पृ० ५५२ टि; टार्न, 'ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एन्ड इंडिया', पृ० २२५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तस्याहं दीनार शतं दास्यामि'][1]। परन्तु हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि पुष्यमित्र का कभी भी शाकल पर अधिकार था जैसाकि तारानाथ से ज्ञात होता है जब कि मध्य एवं दक्षिणी पञ्जाब में मथुरा तक मिनैण्डर का राज्य सुनिश्चित है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मिनैण्डर एक परम उत्साही बौद्ध था। शीनकोट में पाई गई खड़िया की डिबिया के अभिलेख[2], से, जिसमें सम्राट् मिनैण्डर के राजत्व काल में भगवान् बुद्ध की धातु (देहावशेष) के रखने का वर्णन आता है, उसके बौद्ध मतावलम्बी होने का साहित्यिक प्रमाण मलता है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित-सा है कि उसने पीड़ित बौद्ध-श्रमणों को आश्रय दिया होगा जिनके कटु उद्गारों ने पुष्यमित्र को इतना उत्तेजित कर दिया होगा कि उसे शाकल-स्थित बौद्ध-श्रमणों के प्रति उपर्युक्त घोषणा करनी पड़ी।

टार्न के अनुसार मिनैण्डर की मृत्यु १५०—४५ ई० पू० के लगभग हुई ['ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐन्ड इंडिया', पृ० २२६]। प्लूटार्क (Plutarch) से पता चलता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य के नगरों में उसक अस्थि-सुरक्षा के निमित्त काफी होड़-सी लग गई और बड़े विवाद के उपरान्त उसके राजत्व की स्मृति में उन्होंने धातु का विभाजन कर उस पर अलग-अलग स्तूप बनवाना स्वीकार किया।[3] इस कहानी से जो ठीक बुद्ध के 'परिनिर्वाण' की कहानी से मिलती है, प्रजा का उस यवन बौद्ध शासक पर अगाध प्रेम व्यक्त होता है।

मिनैण्डर के उत्तराधिकारियों के विषय में मुद्राओं पर अंकित उनके नामों को छोड़कर बहुत कम ज्ञात हो सका है। मिनैण्डर का पुत्र एवं उत्तराधिकारी स्ट्रेटो प्रथम अपने पिता की मृत्यु के समय अत्यल्प-वयस्क था; अतः ऐगथॉक्लिया (Agathokleia) ने जो उसकी माँ थी, संरक्षिका बनकर राज्य

---

१ 'दिव्यावदान', कॉवेल और नील द्वारा सम्पादित, पृ० ४३४।
२ एपि० इंडि०, बीसवाँ भाग, चतुर्थ पृ० ७।
३ प्लूटार्क, , 'मोरैलिया,' ८२१ द।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का कार्य-भार सँभाला। प्रो० रैप्सन ने यह भली प्रकार सिद्ध कर दिया है कि ऐगथॉक्लिया निस्सन्देह स्ट्रैटो प्रथम सोटर की माँ थी [कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५५२] और उसने अपने पुत्र के साथ सिक्के चलाये। इससे अपने पुत्र के अल्पवयस्कता के काल में उसका संरक्षिका होना बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। प्रो० रैप्सन फिर यह भी निर्देश करते हैं कि स्ट्रैटो प्रथम ने अपने अलग तथा बाद में अपने पौत्र स्ट्रैटो द्वितीय फिलोपैटर के साथ भी सिक्के चलाये थे [वही] जो उसका उत्तराधिकारी बना। स्ट्रैटो प्रथम के अन्तिम सिक्कों की गढ़न तथा उन सिक्कों की, जिनमें वह अपने पौत्र के साथ अंकित दर्शाया गया है, कला इतनी विकृत है कि उससे यही आभास मिलता है कि उन दिनों इवदिम के राजवंश का सूर्य ढलकर अस्ताचल को जा रहा था। प्रथम शती ई० पू० के मध्य तक पहुँचकर वह समग्र अस्त हो गया जबकि इवदिम के अन्तिम उत्तराधिकारियों के हाथ से निकलकर उनके द्वारा अधिकृत पूर्वी पंजाब का सारा राज्य शकों के हाथ में चला गया। इस दिशा में रैप्सन का कहना है कि हिप्पॉस्ट्रैटोज के सिक्के अय प्रथम (Azes I) द्वारा पुनः ढलवाये गये और इसी प्रकार इवदिम के राजवंश की एथेना (Athena) देवी की आकृति से युक्त मुद्राओं का प्रयोग मथुरा के शक क्षत्रप रञ्जुबुल (Rañjabula) ने अपनी मुद्राओं के लिए किया, उसने केवल यूनानी नाम हटाकर उनके स्थान पर शक नाम अंकित करा दिये और इस परिवर्तित रूप में उनका सञ्चालन किया।

इवक्रत का राजवंश

इसका उल्लेख हम कर चुके हैं [पहले, पृ० २४८] कि इवक्रत ने दिमेत्र का बैक्ट्रिया का राज्य छीनकर उसे राज्य से निकल जाने को विवश किया था और हिन्दूकुश के दक्षिणवर्ती देशों पर आक्रमण कर अपने प्रतिस्पर्धी से काबुल की दून, एरियाना एवं भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के उसके इलाके छीन लिये थे। उसके आक्रमणों के फलस्वरूप इवदिम का राजवंश केवल दक्षिणी तथा पूर्वी पंजाब में प्रतिष्ठित रह गया। परन्तु जैसे ही वह अपने भार-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तीय अभियान से गौरवन्वित होकर लौट रहा था, उसके पुत्र ने ही उसे मार डाला। यह राज-वध १५५ ई० पू० के लगभग हुआ।[१]

इवक्रत की हत्या करनेवाला पुत्र जिसने उसके बैक्ट्रिया एवं भारत दोनों देशों के राज्य अधिगत किये, हेलिऑक्लीज था।

हेलिऑक्लीज वह बैक्ट्रिया का अन्तिम यवन नरेश था, क्योंकि उसके बाद ही शकों ने मध्य एशिया के स्टेप्स से आकर बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया।

हेलिऑक्लीज के उत्तराधिकारियों के विषय में हम उनके विविध सिक्कों से जाने गये नामों के अतिरिक्त बहुत कम जान पाते हैं। उनमें से केवल अंतलिकित का नाम एक भारतीय स्मारक पर अंकित

अंतलिकित मिलता है। यह अभिलेख बेसनगर-स्थित गरुड़ध्वज पर अंकित है, जो ग्वालियर-राज्य में भेलसा के समीप मिला है। इस लेख के अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण वासुदेव की पूजा के निमित्त हेलिओदोर (Heliodorus) नामक यवन-दूत ने कराया था। वह दिय (Dion) का पुत्र एवं तक्षशिला का निवासी था, जिसे ग्रीक नरेश अंतलिकित (Antialkidas) ने काशीपुत्र भागभद्र के यहाँ उसके शासन के चौदहवें वर्ष में भेजा था।[२] हेलिओदोर को अभिलेख में भागवत अर्थात् विष्णु का अनुयायी कहा गया है। इससे भारतीय धर्म ग्रहण करनेवाले यूनानियों में वह दूसरा विशिष्ट व्यक्ति ज्ञात होता है। साथ ही यह अभिलेख इस बात का भी प्रमाण है कि तक्षशिला के यवन नरेश एवं विदिशा (बेसनगर) के शुङ्ग सम्राट् के बीच मैत्रीपूर्ण और कूटनीतिक सम्बन्ध वर्तमान थे।

आगे चलकर इवक्रत के राजवंश का अधिकार उसके हिन्दूकुश के

---

१ कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५५४। यह घटना जस्टिन के आधार पर है (जस्टिन, इकतालीसवाँ, ६.५) जिसे टार्न सत्य नहीं मानते। उन्होंने इसका दूसरा ही अर्थ लिया है।

२ से० इ०, पृ० सं० ६०—६१, ल्यूडर्स लिस्ट, सं० ६६६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दक्षिणवर्ती प्रदेश में केवल उतने भाग तक रह गया, जो उसकी प्रारम्भिक विजय में मिला था। इस प्रदेश के सबसे उत्तरी छोर पर कपिशा में हरमेउस (Hermaeus) का शासन था जो सीमावर्ती देशों तथा काबुल की दून पर राज्य करनेवाला अन्तिम ग्रीक नरेश था। उस प्रदेश में जिस नई शक्ति ने यूनानियों की सारसत्ता नष्ट की, वह कुषाणों के सरदार कुजूल कैफिसेज (Kujula Kadphises) की शक्ति थी।

हरमेउस

भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश बैक्ट्रिया के यूनानी आक्रमणकारियों के अधिकार में सिकन्दर के आक्रमण और विजयों की अपेक्षा जिनका उस महान् विजेता की मृत्यु के दो वर्ष के भीतर ही पर्यवसान हो गया, अधिक काल तक बने रहे। उन पर इन इण्डो-ग्रीक राजाओं का अधिकार लगभग डेढ़ शताब्दी तक रहा। तब भी दोनों विजयाधिकारों का राजनीतिक परिणाम एक-सा ही नगण्य रहा। हाँ, सांस्कृतिक दृष्टि से अवश्य ग्रीक सम्पर्क के कुछ चिन्ह दिखाई देते हैं। उनमें से सबसे पहला तो मुद्रा-विषयक ही है—प्राचीन पञ्च मार्के के भारतीय सिक्कों का स्थान अब ग्रीक शासकों के परिष्कृत और सुन्दर ढंग से ढलवाये गये सचित्र सिक्कों ने ले लिया, जो बाद की भारतीय मुद्राओं के लिए आधार बने। बैक्ट्रिया के ग्रीक शासकों की मुद्राओं पर अक्षर खुदे होते थे और किन्हीं-किन्हीं में तो दो लिपियों—ग्रीक तथा खरोष्ठी का मुद्राभिलेखों में व्यवहार हुआ मिलता है। भारत के पंच मार्के के सिक्के अभिलेखों से शून्य होते थे—ग्रीक मुद्राओं के ही आधार पर इस दोष को आगे चलकर दूर किया गया।

इण्डो-ग्रीक सम्पर्क का परिणाम

इस स्पष्ट सांस्कृतिक प्रभाव के अतिरिक्त दो महान् सभ्यताओं के सम्पर्क का परिणाम उनके पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम बना जो दर्शन, नक्षत्र-विज्ञान तथा ज्योतिष के क्षेत्रों में, विशेषतः ज्योतिष में परिलक्षित होता है। यवनों के ज्योतिर्विषयक ज्ञान को लक्ष्य कर गार्गी-संहिता में उनकी बड़ी प्रशंसा मिलती है। दूसरी ओर मिनैण्डर की बौद्ध-धर्म में और हेलिओदोर की वैष्णव-धर्म में दीक्षा यूनानियों पर पड़े भारतीय विचार-सरणियों और संस्कृति के प्रभाव को अच्छी तरह व्यक्त करती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इवदिम और इवक्रत के राजवंशों की तालिका

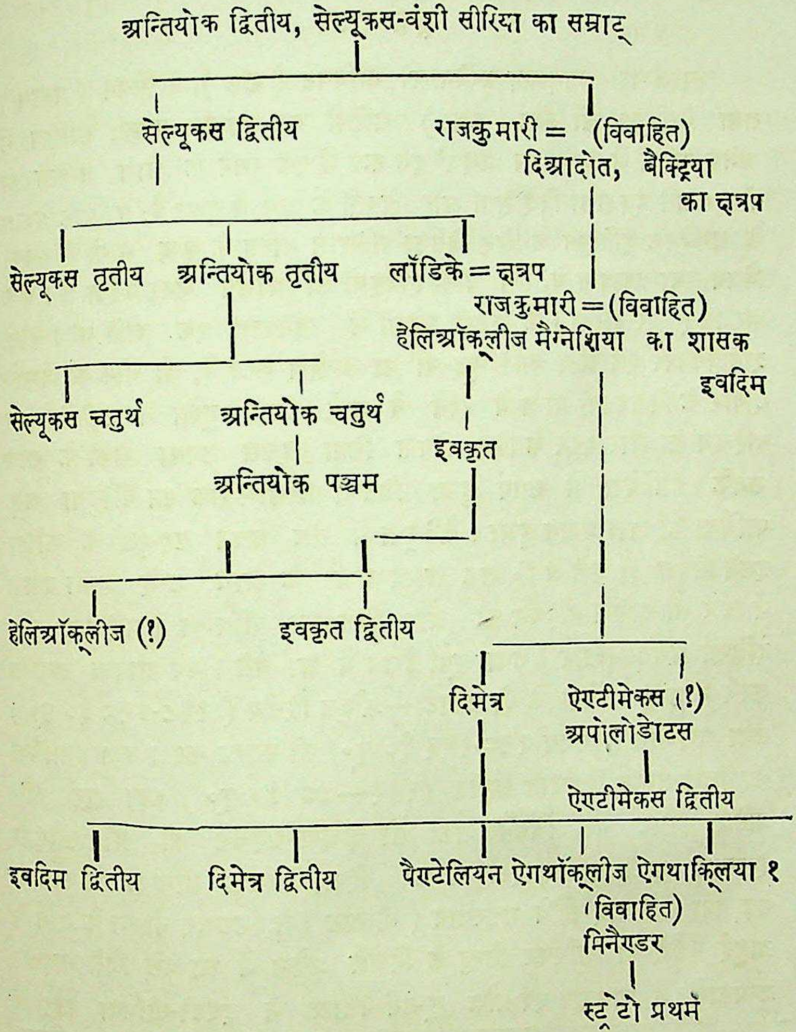

१ देखिए, टार्न, 'ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एएड इण्डिया'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ख

शक राज्य

भारत पर आक्रमण करनेवाली सीथियन (शक), पार्थियन (पल्हव) तथा बैक्ट्रिया की ग्रीक (यवन) जातियों का उल्लेख सस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों में 'शकयवन पल्हव' इस रूप में एक दूसरे के साथ सम्बन्ध का बोध कराते हुए तथा विदेशियों और म्लेच्छों के अर्थ में हुआ है; पर शक प्रवास के प्रारम्भिक इतिहास के लिए जिसका परिणाम भारत के कुछ भागों में उनकी विजय तथा आवास थे, हमें चीनी इतिवृत्तों का आश्रय लेना पड़ता है। शक जरजेस (सीर दरिया) के उत्तरी प्रदेशों में रहनेवाली एक जाति थी। चीनी इतिहासकार एक अन्य जाति 'यूह-ची' का उल्लेख करते हैं, जो चीन की विशाल दीवार के निकटवर्ती प्रान्त में रहते थे और जिन्हें हूणों ने उद्वेजित कर पश्चिम को ओर बढ़ने के लिए विवश किया। इससे उनका शकों के साथ उनके आदिदेश में संघर्ष हुआ जिसका परिणाम शकों का बैक्ट्रिया और पार्थिया की ओर प्रवास हुआ। बैक्ट्रिया में ग्रीक अपने गृह-युद्धों के कारण इतने निर्बल हो चले थे कि शक आक्रान्ताओं के आगे उन्हें दबना पड़ा। वे और भी दक्षिण-पश्चिम को ओर खिसककर एरियाना (पश्चिमी और दक्षिणी अफगानिस्तान) तथा पूर्वी ईरान में आ बसे। नये आवास स्थापित करने में उन्हें पार्थिया के दो सम्राटों—फ्रेट्स द्वितीय (१३८-१२८ ई० पू०) तथा अर्त्तबेनस (लगभग १२८-१२३ ई० पू०) को परास्त करना पड़ा। पार्थिया का दूसरा सम्राट् मिथ्रदात द्वितीय (१२३—८८ ई० पू०) बड़ा शूर और प्रसिद्ध सम्राट था, जिसने शकों को दक्षिण-पश्चिम की ओर खदेड़कर हेलमण्ड घाटी की तलहटी में कर दिया, जिसका नाम ही 'शकस्थान' पड़ गया।[१] बाद को वे शकस्थान (सीस्तान) से उठकर बोलन के मार्ग से ब्राहुई पर्वतों को लाँघकर सिन्धु के निचले प्रदेश में आ बसे जिसे भारतीय ग्रन्थकारों ने शकद्वीप एवं ग्रीक भू-गर्भ-वेत्ताओं ने इण्डो-सीथिया कहा है

---

१ शकस्थान [मथुरा सिंहध्वज अभिलेख, पारस के ड्रंगियाना प्रान्त, सिजिस्तान तथा आधुनिक सीस्तान से तुलना कीजिए]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

[देखिए, मानचित्र, सं० २]। इस सुविधाजनक स्थिति में शकों ने प्रथम शती ई० पू० के लगभग मध्य-काल में भारत के कई प्रदेशों में अपने नये-नये आवास स्थापित कर लिये।

मुद्राओं तथा अभिलेखों से जिस सर्वप्रथम शक शासक का नाम उपलब्ध होता है वह मेउस (Maues) है। उसने दिमेत्र और स्ट्रैटो प्रथम की मुद्राओं का अनुकरण किया है। उनकी द्वैभाषिक मुद्राओं में मुख-पृष्ठ पर ग्रीक भाषा में यह लेख "सम्राटों के सम्राट् महान् मेउस" तथा उलटी ओर खरोष्ठी लिपि में "राजातिराजस महतस मोअस" लिखा मिलता है। संभवतः मैरा अभिलेख का मोअ [कॉ० इ० इ०, द्वितीय, अष्टम] तथा तक्षशिला प्लेट का मोग एपि० इंडि०, चतुर्थ, पृ० ५५ एवं आगे] वही है। इन अभिलखों के प्राप्ति-स्थानों से उसके राज्य-विस्तार का स्थूल रूप से अनुमान करना कठिन नहीं है जो उत्तर-पश्चिमी पञ्जाब तक ही सीमित था। यद्यपि इस प्रान्त का दक्षिणी-पूर्वी भाग भी इवदिम के राजवंश के एक नरेश के यवन शासन के अन्तर्गत था। तक्षशिला ताम्र-पत्र में मेउस को महाराज कहा गया है। इस अभिलेख तथा उसकी मुद्राओं के लेखों से ज्ञात होता है कि वह एक बड़ा और स्वाधीन शासक था। तक्षशिला का यह प्लेट मोग के शासन के एक वर्ष के लिए किसी अव्यक्त संवत् के ७८वें वर्ष का प्रयोग करता है। परन्तु यह वर्ष किस संवत् को सूचित करता है यह स्पष्ट न होने के कारण मोग-मेउस का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता ! यदि हम इससे विक्रम संवत् मानें तो ७८ वाँ वर्ष २० ई० ठहरता है जिसका गुदफर्न (Gondophernes) के तिथि-क्रम से मेल नहीं खाता जिसका राज्य-काल तख्त-ए-बाही अभिलेख के अनुसार १९—४५ ई० है और जो मेउस के पश्चात् तीसरे शक नरेश अय द्वितीय के बाद राज्य का अधिकारी हुआ। और यदि यह पुराना शक संवत् हो तो दी हुई तिथि ७२ ई० पू० [१] ठहरती है जिससे एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित

[१] प्रो० रैप्सन इस संवत् को पार्थियन उत्पत्ति मानते हैं जिसका आरम्भ मिथ्रदात प्रथम के सीस्तान (शकस्थान) को पार्थिया के साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने के समय से लगभग १०५ ई० पू० है। अतः ७८ वें वर्ष से (१५०—७८) ई० पू० समझना चाहिए [कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५७०]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती है कि १४ ई० में पतिक (Patika) की समकालीनता एक साथ मेउस तथा क्षत्रप शोडास से नहीं दिखाई जा सकती।

मुद्राशास्त्रियों का मत है कि मेउस के बाद अय प्रथम राजा हुआ जिसने हिप्पॉस्ट्रेटस (Hipportratus) के सिक्कों को पुनः ढलवाया। इस बात से जान पड़ता है कि उसने पूर्वी पञ्जाब को विजय कर डाला था जिस पर अभी तक इवदिम के वंशज शासन कर रहे थे। उनकी मुद्राओं से इसका

उसके उत्तराधिकारी

और पता चलता है कि अय का सहायक उपराज अयलिष (Azilises) था जिसका नाम खरोष्ठी में भी अय प्रथम की मुद्राओं के दूसरी ओर अंकित मिलता है, मुख-पृ० पर उसका स्वयं नाम ग्रीक अक्षरों में खुदा रहता है। किन्तु कुछ ऐसे भी सिक्के मिलते हैं जिन पर यही दोनों नाम कुछ परिवर्तन के साथ अंकित हैं, और ध्यान देने की बात यह है कि यह परिवर्तन विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन पर अयलिष का नाम तो ग्रीक अक्षरों में सीधे ओर तथा अय का खरोष्ठी में दूसरी ओर अंकित रहता है।[१] इससे विदित होता है कि अयलिष जो अय प्रथम के सहायक के रूप में काम करता था अय की मृत्यु के बाद सम्राट् बना और उसके सामन्त के रूप में अय द्वितीय काम करने लगा। अयलिष का उत्तराधिकारी अय द्वितीय ही था। डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने जिन्होंने इस उत्तराधिकार का प्रश्न हल किया है उत्खनन में अपेक्षाकृत ऊपरी स्तरों में पाये गये सिक्कों को अय द्वितीय का तथा नीचे मिले हुए सिक्कों को अय प्रथम का माना है [जे० आर० ए० एस०, १९१४, पृ० ९७९]। मार्शल का भी यही मत है। अय द्वितीय के एक प्रतिनिधि 'स्ट्रैटेगॉस' (Strategos) अस्पवर्मन का निश्चित रूप से पता मिलता है, जिस प्रकार मोग के पतिक और लियाक (Liaka) प्रतिनिधि थे। अस्पवर्मन के सिक्कों से शक शासन के गुदफर्न द्वारा अन्त किये जाने की सूचना मिलती है जो पार्थिया का सम्राट् था।

१ ब्रिटिश म्यूजियम कैटलॉग, पृ० ९२; प्लेट बीसवाँ ३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शक क्षत्रप राजवंश

शक नरेशों के भारतीय प्रान्तीय शासन 'क्षत्रप' कहलाते थे। क्षत्रप शब्द शायद ईरानियों की उपाधि 'क्षथ्रपावन' (प्रान्तीय शासक) से लिया गया है और शकों तथा पार्थियनों के पुराने सम्बन्ध का प्रतीक है। नामों के सादृश्य तथा एक-सी क्षत्रप शासन-व्यवस्था के कारण भारतीय साहित्य और अभिलेखों में शक और पह्लव एक साथ प्रायः एक ही अथवा सादृश्य मूलक दो विभिन्न जातियों के अर्थ में उल्लिखित हुए हैं। इन दोनों जातियों में अन्तर्विवाह चलता था जिससे कुछ कुलों के नाम उभयपदी हैं। स्मिथ ने तो मेउस को एक पार्थियन सम्राट् ही बना दिया है [स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री,' चतुर्थ सं०, पृ० २४२]। प्रो० रैप्सन का यह कहना नितान्त संगत है कि मेउस और उसके उत्तराधिकारियों को शक कहना एक सुविधाजनक संज्ञा ही नहीं है [कै० हि० इ०, भाग १, पृ० ५६८]। इसमें सन्देह नहीं कि शक पार्थियनों से भिन्न थे, यद्यपि उनके कुछ कुलों के नाम एवं क्षत्रप राज-व्यवस्था पार्थियन उत्पत्ति के चिह्न हैं। क्षत्रप-व्यवस्था में एक अन्य विशेषता भी पाई जाती है। प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप हुआ करते थे—एक महाक्षत्रप और दूसरा क्षत्रप जो प्रायः महाक्षत्रप का ही पुत्र एवं उत्तराधिकारी होता था। इनका सम्बन्ध बहुत कुछ उसी प्रकार का था जैसा कि किसी प्रान्तीय अधिष्ठान का एक समय एक ही अथवा भिन्न स्थानों से शासन करनेवाले राजन् और युवराज का। भारत के विभिन्न प्रदेशों में ऐसे कई शक क्षत्रप राजवंश थे जिन्हें सुविधानुसार दो मुख्य वर्गों में बाँट सकते हैं—

(अ) तक्षशिला और मथुरा के उत्तरी क्षत्रप तथा

(आ) महाराष्ट्र और उज्जैन के पश्चिमी क्षत्रप।

१. तक्षशिला के क्षत्रप

सर्वप्रथम शक क्षत्रप जिसके विषय में कुछ लिखा मिलता है लियाक कुजूलक था। तक्षशिला ताम्र-पत्र में उसका उल्लेख छहर तथा चुक्ष प्रदेशों के क्षत्रप के रूप में हुआ है। छहर का निर्धारण अभी नहीं हो सका है, किन्तु चुक्ष आधुनिक चच—तक्षशिला से उत्तर-पश्चिम, बतलाया जाता है [से०

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इ०, पृ० १२० टि०]। दोनों जिले अनुमानतः एक दूसरे के निकट तक्षशिला के पड़ोसी थे। लियाक के सिक्कों पर इवकृत के सिक्कों की छाप वर्तमान है। तक्षशिला ताम्र-पत्र [एपि० इण्डि०, चतुर्थ, पृ० ५५ एवं आगे] में लियाक को साफ ही क्षत्रप कहा गया है। उस अभिलेख में उसके पुत्र पतिक के जिसकी कोई उपाधि नहीं मिलती भगवान् बुद्ध के धातु प्रतिष्ठापित करने की स्मृति विद्यमान है। इसका पता नहीं कि पतिक ने अपने पिता के अधि-नायकत्व में क्षत्रप के रूप में राज्य किया, क्योंकि उस समय उसकी कोई उपाधि नहीं मिलती[१] और न तो उसका पिता लियाक ही महाक्षत्रप की उपाधि से अभिहित हुआ है। परन्तु उसने अपने पिता का पहले क्षत्रप और बाद में महाक्षत्रप के रूप में उत्तराधिकार प्राप्त किया यह रज्जुल और शोडास के समय के मथुरा सिंह-ध्वज अभिलेख से ज्ञात होता है [एपि० इण्डि०, नवम, पृ० १४१ एवं आगे]। खेद है कि लियाक अथवा महाक्षत्रप पतिक के कोई सिक्के नहीं मिले हैं।

२. मथुरा के क्षत्रप

ऐसी अनेक मुद्राएँ तथा अभिलेख पाये गये हैं जिनसे मथुरा के शक-क्षत्रपों का बहुत-कुछ इतिहास प्रकाश में आया है। इस शाखा के प्रारम्भिक क्षत्रपों में हगामष और हगान अपनी मुद्राओं से जाने गये हैं। कुछ मुद्राओं से हगामष के अकेले और कुछ से हगान के साथ राज्य करने का पता चलता है। डा० स्मिथ के अनुसार[२] राजुल (रज्जवुल) उसका उत्तराधिकारी था। रज्जवुल के विषय में मुद्राएँ और अभिलेख दोनों मिलते हैं। पूर्वी पंजाब एवं मथुरा से मिली उसकी मुद्रायें उसके लिए 'अप्रतिहत चक्र क्षत्रप' विशेषण का प्रयोग करती हैं। अन्य मुद्राओं में उसे 'महाक्षत्रप' कहा गया है।[३] महाक्षत्रप ही मोरा अभिलेख में भी मिलता है। इससे अनुमान यह होता है

---

१ उसका एक विशेषण 'महादानवीर' अवश्य मिलता है, किन्तु उससे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं।

२ स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री,' तृ० सं०, पृ० २२७।

३ ब्रिटिश म्यूज़ियम कैटलॉग ऑव क्वाइन्स, पृ० ६७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि पहले वह क्षत्रप था, बाद में महाक्षत्रप की पदवी उसने ग्रहण की। उसके स्वतंत्र अथवा स्वतंत्रप्राय रूप में शासन करने का अनुमान उसकी उपाधियों एवं मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणों से होता है। राज्य-कार्य में उसका पुत्र शोडास (सुदास) क्षत्रप के रूप में उसकी सहायता करता था जो उसके बाद महाक्षत्रप हुआ। मथुरा सिंह-ध्वज अभिलेख [एपि० इण्डि०, नवम, पृ० १४१ एवं आगे] में एक स्थल पर उसे 'युवराज' तथा अन्यत्र क्षत्रप एवं महाक्षत्रप राजुल (रञ्जुवुल) का पुत्र कहा गया है। शोडास के समय के मथुरा दान-पत्र में वह महाक्षत्रप माना गया है। यह अभिलेख ७२ सं० का है; यह कौन-सा संवत् है इसका निर्देश तो नहीं हुआ है पर अधिकांश विद्वानों की सम्मति में यह विक्रमीय संवत् ही है।[1] फलतः इस आधार पर कि शोडास १४ ई० में महाक्षत्रप था यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि उस समय उसके पिता रञ्जवुल का देहावसान हो चुका था। पतिक ने जिसका अंकित कराया हुआ तक्षशिला का ताम्र-पत्र अभिलेख है अपनी शासकीय स्थिति का संकेत नहीं किया है, पर उसने अपना परिचय क्षत्रप लियाक के पुत्र के रूप में दिया है। परन्तु सिंहशीर्षों से युक्त स्तम्भ-लेखों से पतिक बराबर तक्षशिला के महाक्षत्रप कुजूलक के पुत्र के रूप में पाया जाता है। जिस समय रञ्जवुल मथुरा का महाक्षत्रप तथा उसका पुत्र शोडास युवराज और क्षत्रप था।

३. महाराष्ट्र के क्षहरात शक-क्षत्रप

पश्चिमी भारत के दो शक अभिनिवेशों में महाराष्ट्र के क्षहरात शक क्षत्रपों और उज्जैन के महाक्षत्रपों की गणना की जाती है। क्षहरात वंश का मूल पुरुष भूमक था। भूमक के कई प्रकार के सिक्के पाये गये हैं। उनकी तथा सर्वविदित क्षहरात शासक नहपान के सिक्कों की परीक्षा के उपरान्त प्रो० रैप्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भूमक नहपान का अग्रवर्ती था। उनका विचार है कि भूमक के सिक्कों के मुख-पृष्ठ को नहपान ने अपने सिक्कों में उलटा

---

१ तिथि के पाठ और संवत् के निर्धारण के लिए देखिए, 'ऐक्टा ओरिएण्टालिया', दशम, पृ० ११८ एवं आगे; एकादश, पृ० २६० एवं आगे; एपि० इण्डि०, चतुर्दश पृ० सं० १३६-४१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर रखा है। सिक्कों के इस नए गठन, उनके आकार-प्रकार एवं लिखावट से रैप्सन के अनुसार इस बात के लिए सन्देह का कोई आधार नहीं बचता कि नहपान भूमक का निकटतम उत्तराधिकारी था।[1] हाँ, भूमक के साथ उसका क्या सम्बन्ध था यह जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है और न तो उनके सिक्कों पर कोई तिथि ही मिलती है।

नहपान के सम्बन्ध के सिक्के और अभिलेख दोनों मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षहरात क्षत्रपों में वह प्रथम सम्राट् हुआ जिसने महाराष्ट्र देश पर शासन करनेवाले प्रारंभिक आन्ध्र शासकों को हराकर उस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित किया। भूमक की मुद्राओं के प्राप्ति-स्थानों से यह पता चल जाता है कि उसका शासन भड़ौंच, काठियावाड़, अजमेर और पुष्कर तक ही सीमित था। पाण्डुलेन (नासिक) में जितने अभिलेख मिले हैं उनमें से किसी में भी भूमक का नाम नहीं आया है। इसके विपरीत नहपान के चाँदी के सिक्के बहुतायत-से महाराष्ट्र में मिल जाते हैं और नासिक के कितने ही गुहाभिलेखों में उसके और उसके जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) के नाम आये हैं। इससे स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में शक-राज्य का विस्तार करनेवाला नहपान ही प्रथम क्षहरात था। नहपान के नासिक गुहाभिलेख से, जिसमें ४१, ४२, ४५ वर्ष अंकित हैं [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ८२ एवं आगे] नहपान के महाराष्ट्र में शासन करने की तिथि का संकेत मिलता है। ये वर्ष अधिकांश विद्वानों के मत में ७८ ई० में आरम्भ होनेवाले शक-संवत् के वर्ष हैं।[2] इसके अनुसार महाराष्ट्र में नहपान के शासन की सबसे पुरानी लिखित तिथि ११९ ई० ठहरती है। नहपान की अन्तिम लिखित तिथि ४६वाँ वर्ष है जो उसके समय के जुन्नर गुहाभिलेख में पाई जाती है ['आर्केयालॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया', चतुर्थ, पृ० १०३]। अतः १२४ ई० में संभवतः उसका

नहपान

---

१ रैप्सन, 'कैटलॉग ऑव आन्ध्र क्वाइन्स', पृ० ८७।

२ से० इ०, पृ० १६७ टि० २; रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० सं०, पृ० सं० ३३१-३५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासन जाकर समाप्त हुआ। ६ वर्ष के इतने अल्प राज्य-काल के बाद ही सहसा उसके शासन के अन्त हो जाने में प्रधान कारण निःसंशय आन्ध्र-वंशीय सम्राट गौतमीपुत्र शातकर्णि का उत्कर्ष था। आन्ध्र नरेश क्षहरातों के दमन-चक्र से पिसकर और दक्षिण खिसक गये थे, पर गौतमीपुत्र शातकर्णि इतना शक्तिशाली था कि उसने क्षहरातों को अपने मूल प्रदेश से निर्वासित कर अपने वंश की विलुप्त मर्यादा का पुनराहरण किया [पूर्वोल्लिखित पृ० २२०]।

महाराष्ट्र में यद्यपि नहपान के शासन की अवधि बहुत कम थी, तत्कालीन अभिलेखों से पता चलता है कि उसका शासन कितना घटनापूर्ण था। वह युद्ध अभियान एवं दान-सम्बन्धी पुण्य-कृतियों से भरा हुआ है। इन सब में उसका जामाता उषवदात उसका दाहिना हाथ ही था। उषवदात शक था, उसके पिता का नाम दीनीक था। और नहपान की पुत्री दक्षमित्रा उसे ब्याही थी। नहपान के अभिलेखों के प्राप्ति-स्थान से तथा उन लेखों से ज्ञात होता है कि वह न केवल प्रायः सम्पूर्ण महाराष्ट्र का शासक था जिसे उसने सातवाहनों का विजय कर प्राप्त किया था, बल्कि उसका शासन महाराष्ट्र से लेकर काठियावाड़, भड़ौंच, सोपारा (बम्बई) दशपुर (पश्चिमी मालवा) तथा अजमेर तक जिसमें पुष्कर भी सम्मिलित था, व्याप्त था [एपि० इंडि०, अष्टम, पृ० ७८ एवं आगे]। अजमेर और पुष्कर में नहपान के सिक्के मिले हैं। नासिक अभिलेख में इसका वर्णन आता है कि अपने स्वामी नहपान का अनुशासन पाकर उषवदात ने मालवों के आक्रमण से उत्तमभद्रकों की रक्षा की और इसके बाद पुष्कर तीर्थ की यात्रा की जहाँ जाकर उसने स्नान किया और ब्राह्मणों को प्रचुर मात्रा में गायें और सुवर्ण दान में दिये [वही]। उसी अभिलेख में तथा कार्ली के गुहाभिलेख में [एपि० इंडि०, सप्तम, पृ० ५७ एवं आगे] कई अन्य तीर्थों का उल्लेख हुआ है, जैसे—प्रभास, भृगुकच्छ, शूर्पारक, दशपुर, गन्धार, जिनकी उषवदात ने यात्रा की थी और जहाँ उसने सहस्रों ब्राह्मण खिलाये और उन्हें सहस्रों गायें तथा सुवर्ण दक्षिणा में दिये। उसकी राजमहषी दक्षमित्रा ने पुण्यार्थ एक गुहा-वास दान किया था [एपि० इंडि०, सप्तम, पृ० ८१] इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि उषवदात और उसकी राज्ञी ने सर्वांशतः हिन्दू-धर्म में दीक्षा ले ली थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नासिक के निकट जोगलथम्बी की ढेरी में पाये गये नहपान के बहुसंख्यक चाँदी के सिक्कों को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें बहुत-से गौतमीपुत्र द्वारा पुनः ढलवाये गये, पर उषवदात का एक भी सिक्का वहाँ पर नहीं मिला यह जान पड़ता है कि गौतमीपुत्र ने नहपान को ही हराया था अथवा उसके मरते ही उषवदात को जिसे महाराष्ट्र में अपने श्वसुर के राज्य का स्वामी बनने का अवसर न मिल सका। फिर भी नहपान के राज्य-शासन में उषवदात का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि वह नहपान का प्रधान सेनानायक था जिसने अनेक युद्धों में यश-अर्जन किया था। राज्य की ओर से उसने अनेक सार्वजनिक हित और पुण्य के कार्य सम्पादित किये, जैसे— लोगों को घाट के शुल्क से मुक्त करना, यात्रियों की सुविधा के लिए पार उतरनेवाली नौकाओं के लगने के उपयुक्त घाटों का निर्माण कराना, बौद्ध-श्रमणों के लिए गुहा-आवास बनवाना तथा ब्राह्मणों और बौद्धों को पक्षपात की भावना से रहित होकर प्रचुर दान देना।

४. उज्जैन के शक क्षत्रप

(चष्टन का राजवंश)

इस राजवंश का संस्थापक यशमतिक था जिसका पुत्र चष्टन उज्जैन का प्रथम शक शासक माना जाता है। प्रो० डुब्रील के अनुसार ['एन्श्येण्ट हिस्ट्री ऑव डेक्कन', पृ० ३६] चष्टन ने ७८ ई० में अपना राज्य आरम्भ किया जिसके आरम्भ करने में उसने शक-संवत् की स्थापना की। परन्तु यह इस कारण सन्देहजनक है कि चष्टन की सबसे पुरानी ज्ञात तिथि ५२ सं० है जिसे सभी विद्वानों ने शक संवत् मानकर १३० ई० निश्चित किया है। इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि जो नरेश संवत् चला सकता है उसके शासन के ५२ वर्षों तक के क्रिया कलापों का हमें कोई विवरण उपलब्ध न हो। डा० रायचौधुरी ने प्रोफेसर रैप्सन और प्रोफेसर भण्डारकर का यह मत उद्धृत किया है कि वह किसी उत्तरी—संभवतः क्षत्रप—शासक का प्रतिनिधि था।[1]

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० सं०, पृ० ३४४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकांश विद्वान् शक संवत् का प्रारम्भ ७८ ई० में कुषाण राजसिंहासन पर कनिष्क के आरोहण से मानते हैं।

चष्टन और रुद्रदामन के समय के (श० सं० ५२) अन्धाऊ (कच्छ) अभिलेख से १३० ई० में चष्टन के अपने पौत्र रुद्रदामन के साथ सम्मिलित रूप से शासन करने का पता चलता है। रुद्रदामन

महाक्षत्रप रुद्रदामन

के पिता का नाम इस अभिलेख में बिना किसी उपाधि के साथ जयदामन दिया हुआ है। इससे जान पड़ता है कि १३० ई० में जयदामन का स्वर्गवास हो चुका था, यद्यपि उसका भी पिता चष्टन उस समय वर्तमान था जिसने उसके पुत्र रुद्रदामन को शक प्रथा के अनुसार युवराज एवं सहायक-शासक अथवा क्षत्रप नियुक्त किया था। उस समय संभवतः चष्टन महाक्षत्रप की उपाधि से विभूषित रहा होगा।

चष्टन का पौत्र तथा उत्तराधिकारी रुद्रदामन उज्जैन का प्रमुख शक-क्षत्रप हुआ है। जूनागढ़ स्थित उसके शिला लेख में [एपि० इण्डि०, अष्टम, पृ० ४२ एवं आगे] उसका जीवन-वृत्त और

युद्ध और विजय

कार्य-विवरण दिया हुआ है। अभिलेख की तिथि ७२ (श० सं०) से उसका राज्य-काल १५० ई० के आस-पास निर्धारित करने में सहायता मिलती है। अभिलेख के अनुसार 'महाक्षत्रप' की उपाधि उसने स्वयं अधिगत की थी (स्वयमधिगत-महाक्षत्रप-नाम्ना) जिससे यह संकेत होता है कि उसके राजकुल की श्री कुछ काल के लिए उपहृत हो चुकी थी जिसे उसने पुनः संप्रतिष्ठित कर महाक्षत्रप की पदवी ग्रहण की। लेख के बारहवीं पंक्ति में दक्षिण के स्वामी शातकर्णि के साथ उसके युद्ध का उल्लेख हुआ है जिसे उसने दो बार पराजित कर अपना जामाता बनाया था। अभिलेख का शातकर्णि सातवाहन नरेश वासिष्ठी-पुत्र पुलुमावी है। ऐसा प्रतीत होता है कि चष्टन के राज्य-काल के अन्तिम भाग में अथवा उसकी मृत्यु के बाद उज्जैन के शकों की राज्य-शक्ति गौतमी पुत्र शातकर्णि तथा उसके पुत्र श्री पुलुमावी के नेतृत्व में सातवाहनों के उदय के कारण ढीली पड़ गई थी और रुद्रदामन को सातवाहनों के साथ घोर युद्ध करना पड़ा तब जाकर कहीं उन्हें हराकर वह अपने वंश की राज्यलक्ष्मी को प्रतिष्ठित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने में समर्थ हुआ। उसी पंक्ति में उसके स्वाभिमानी एवं वीर यौधेयों के साथ लड़ने का उल्लेख हुआ है जिन्हें उसने परास्त किया। पाणिनी ने यौधेयों को 'आयुधजीवी' बतलाया है। पूर्वी पंजाब में उनका यौधेय गण था जहाँ उनके गण-नामों से युक्त अनेक सिक्के और अभिलेख मिलते हैं। यौधेयों की बहुत-सी मिट्टी की मुहरें तथा दान-पत्र लुधियाना जिले में पाये गये हैं [प्रोसीडिंग्स ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव बङ्गाल, १८८४, पृ० सं० १३८-४०]। इनका समय तीसरी शती ई० निर्धारित किया गया है। समुद्रगुप्त ने भी उनका उल्लेख अपनी विजित जातियों में किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उनका गण चौथी शती ई० तक स्वाधीन था। उनकी प्रजातंत्रात्मक राजव्यवस्था एवं युद्ध-प्रियता का प्रमाण मुद्राओं पर अंकित उनके लेखों से मिलता है। एक प्रकार की उनकी मुद्राओं पर 'यौधेयगण स्थितिः' यह लेख पाया जाता है। दूसरी प्रकार की मुद्राओं पर युद्ध और स्वातंत्र्य के देवता कार्त्तिकेय का चित्र बना रहता है।[1] रुद्रदामन ने उन्हें एक वीर जाति (वीर शब्द-जातो) बतलाया है। शत्रु के मुख से इस तरह के प्रशंसात्मक शब्दों से यौधेयों की महानता स्वतः प्रमाणित है।

अभिलेख में रुद्रदामन के राज्य-विस्तार का स्पष्ट निर्देश पाया जाता है। उसके अन्तर्गत ये प्रदेश आते थे—आकर (पूर्वी मालवा जिसकी राजधानी विदिशा थी), अवन्ति (पश्चिमी मालवा जिसकी राजधानी उज्जैन थी), अनूप (राजधानी, माहिष्मती>वर्तमान मान्धाता ? निमार जिले में),

राज्य-विस्तार

आनर्त्त (उत्तरी काठियावाड़ ; सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़); श्वभ्र (साबरमती के किनारे का प्रदेश); मरु (राजपूताना के मरुस्थल का एक भाग, संभवतः मारवाड़), कच्छ (कच); सिंधु (वर्तमान सिंध का वह भाग जो सिन्धु नदी के निचले काँठे के पश्चिम पड़ता था) ; सौवीर (सिन्धु नदी के निचले काँठे के पूर्व); कुकुर (उत्तरी काठियावाड़ में आनर्त्त का पड़ोसी); अपरान्त (उत्तरी कोंकण, राजधानी शूर्पारक); निषाद (पश्चिमी

---

१ स्मिथ, 'कैटलॉग ऑव दि क्वाइन्स इन दि इण्डियन म्यूज़ियम', भाग १, पृ० सं० १८१-८२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विन्ध्य और अरावली की शृंखलाओं से आवृत)। यह हम देख चुके हैं कि सुराष्ट्र, कुकुर तथा अपरान्त गौतमीपुत्र के अधीन थे। अतः निश्चय ही इन्हें रुद्रदामन ने गौतमीपुत्र अथवा उसके पुत्र श्री पुलुमावी से जीता था।

रुद्रदामन के समय में सुराष्ट्र प्रान्त में स्थित सुप्रसिद्ध सुदर्शन भील का बाँध टूट गया। इस भील से चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक के काल से बराबर सिंचाई होती आ रही थी। रुद्रदामन ने अपने पह्लव शासक सुविशाख द्वारा जिसके अन्तर्गत आनर्त और सुराष्ट्र प्रान्त थे एक नया बाँध बँधवा दिया। इस भील के बाँध दो बार चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक के समय में टूट चुके थे जिनका उन्होंने अपने सुराष्ट्र के शासकों द्वारा संस्कार कराया था। बाँध के बँधवाने में जो व्यय हुआ वह रुद्रदामन की निजी-कोष से (स्वस्मात्कोशात्) देना पड़ा, क्योंकि मन्त्रि-परिषद् ने कार्य की कठिनाई का विचार कर राजकोष से धन व्यय करना अस्वीकार कर दिया था (विमुख-मतिभिः प्रत्याख्यातारंभं)। इससे सम्राट् तथा उसके अमात्यों और राज-कोष की वैधानिक (Constitutional) स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ज्ञात होता है कि रुद्रदामन शासन के कार्यों में विधान का सम्यक् पालन करता था। महाक्षत्रप की उदात्त लोकसत्तात्मक भावना का परिचय अभिलेख के इस कथन से मिलता है कि सब जातियों ने मिल-कर उसे अपना रक्षक या स्वामी बनाया [सर्ववर्णैरभिगंम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन]।

सुदर्शन भील का संस्कार : एक महान् सार्वजनिक कार्य

जूनागढ अभिलेख से महाक्षत्रप के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। ऊपर हम उसके प्रजानुराग को देख चुके हैं जो इतना बढ़ा हुआ था कि सुदर्शन भील के टूटे हुए बाँध का संस्कार कराने में उसने सारा व्यय अपने निजी कोष से किया था जब उसके अमात्यों ने राजकोष से व्यय करने की स्वीकृति नहीं दी। यदि बाँध का संस्कार न किया गया होता तो सारे प्रान्त की कृषि की क्षति होती। रुद्रदामन ऐसा प्रजापालक था कि उसने अपनी प्रजा से इस कार्य के निमित्त विशिष्ट कर, बेगार (विष्टि), पुण्य कर (प्रणय) आदि लेने का विचार तक न किया। वह अपना राज्य मन्त्रि-

व्यक्तित्व तथा शासन-पद्धति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिषद् की सहमति से, जिसके सदस्य वांछनीय योग्यतावाले थे (अमात्य-गुण-समुद्युक्तैः) चलाता था। राज्याभिषेक के पूर्व उसे समुचित शिक्षा मिली थी जिससे वह व्याकरण (शब्द), राजतन्त्र, जिसकी अर्थ-व्यवस्था भी निहित थी, संगीत-शास्त्र (गन्धर्व-विद्या), न्याय इत्यादि का पूर्ण ज्ञाता हो गया था। उसके चरित्र की एक सच्ची कसौटी तथा उसके शासन की सुसंस्कृत दशा का उसी अभिलेख के इस कथन में मिलता है कि उसने यह शपथ लें रखी थी जिसका उसने आजीवन निर्वाह भी किया कि युद्ध-भूमि को छोड़कर वह अन्यत्र नर-हत्या न करेगा (अन्यत्र संग्रामेषु)। उसके सचिव दो वर्गों में विभक्त थे—मतिसचिव (परामर्श-दाता) तथा कर्म-सचिव (शासक-वर्ग)। सुदर्शन झील के संस्कार के लिए राजकोष से आर्थिक सहायता देने का मतिसचिवों ने विरोध किया था जिनके परामर्श का उसे सम्मान करना पड़ा।

रुद्रदामन के उत्तराधिकारी

रुद्रदामन के उत्तराधिकारी नाम-मात्र के शासक थे। उनके नाम के बहुत से सिक्के तथा उनके समय के कुछ अभिलेख प्राप्त हुए हैं। परन्तु इनमें से किसी भी अभिलेख में एक वंशावली प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उनके द्वारा किसी महान् कार्य के सम्पादित होने की सूचना नहीं पाई जाती। हम यहाँ सिक्कों और अभिलेखों के आधार पर उनमें से कुछ के नाम देते हैं। रुद्रदामन का पुत्र और उत्तराधिकारी दामजद अथवा दामजदश्री था। दामजद को जीवदामन नाम का एक पुत्र था जिसका नाम उसके चाँदी के सिक्कों पर मिलता है, जिनका समय १६८ ई० दिया हुआ है। पर दामजद का निकटतम उत्तराधिकारी उसका भाई रुद्रसिंह प्रथम था जिसके समय का गुण्डा (काठियावाड़) प्रस्तर-अभिलेख [एपि० इण्डि०, षोडश, पृ० २३५] जिसमें उसके आभीर-सेनापति—सेनापति बापक के पुत्र रुद्रभूति के वापी-दान का उल्लेख हुआ है, १८१ ई० का है। यह इसका निर्देशक है कि रुद्रसिंह ने जीवदामन के पहले राज्य किया और इससे प्रो० रैप्सन के इस विचार की पुष्टि होती है कि दामजद की मृत्यु के पश्चात् चाचा और भतीजे में गृह-युद्ध हुआ जिसमें चाचा की विजय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुई।[१] डा० रायचौधुरी का कहना है [रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० सं०, पृ० ३४७] कि रुद्रसिंह के बाद उसका पुत्र रुद्रसेन प्रथम राजा हुआ। परन्तु रुद्रसिंह के बाद उसके पुत्र रुद्रसेन प्रथम के राज्यारोहण के पूर्व जीवदामन का राज्य करना निश्चित है। जीवदामन के चाँदी के सिक्कों पर १९८ ई० तिथि मिलती है तथा उन पर दिये हुए लेखों के अनुसार वे महाक्षत्रप दामजद के पुत्र महाक्षत्रप जीवदामन द्वारा चलाये गये निर्दिष्ट किये गये हैं [रैप्सन, 'कैटलॉग', पृ० ८३ एवं आगे, सं० २९१], जबकि रुद्रसिंह के पुत्र रुद्रसेन की सबसे पुरानी लिखित तिथि २०५ ई० है जो गढ़ा (काठियावाड़) प्रस्तर-अभिलेख [एपि० इण्डि०, षोडश, पृ० २३८] में मिलती है। रैप्सन का मत है कि 'दामजदश्री प्रथम के पुत्र जीवदामन के राज्य-काल से तिथि-युक्त सिक्के मिलने लगते हैं। इस समय से लगाकर इस वंश के चाँदी के सिक्कों पर बराबर मुख-पृष्ठ पर सम्राट् के शिरो भाग में उसके सञ्चालन का वर्ष ब्राह्मी अंकों में टँका हुआ पाया जाता है। जीवदामन के तो ताँबा, जस्ता, शीशा और टिन की एक मिश्रित धातु (Potin) के भी तिथि-युक्त सिक्के मिले हैं' [यथा उद्धृत, पृ० ११४]। रुद्रसिंह प्रथम का पुत्र रुद्रसेन प्रथम रुद्रदामन के अनन्तर उज्जैन का तीसरा शक क्षत्रप हुआ है। उसके राज्य की तिथि २०५ ई० मिलती है, इसका निर्देश किया जा चुका है। सिक्कों पर अंकित उसके उत्तराधिकारियों के नाम प्रायः इस योग्य नहीं हैं कि उन पर ध्यान आकर्षित किया जा सके, हाँ उज्जैन के शक क्षत्रपों में अन्तिम रुद्रसिंह तृतीय इसका अपवाद है जो शायद 'हर्षचरित' में वर्णित कामुक शक नरेश है जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' ने मारा था। रुद्रसिंह के कम से कम ३८८ ई० तक राज्य करने का पता उसके चाँदी के सिक्कों पर दी हुई एक तिथि से चलता है।[२] उज्जैन के शक क्षत्रपों का शासन इस प्रकार लगभग २५० वर्षों तक रहा।

[मुद्राओं और अभिलेखों के आधार पर उज्जैन के शक क्षत्रपों की राज-वंशावली प्रस्तुत की जा सकती है। भर्तृदामन-विश्वसेन तक वह बिलकुल

१ रैप्सन, 'कैटलॉग ऑव दि क्वाइन्स, ऑव दि आन्ध्रज, दि वेस्टर्न क्षत्रपज ऐण्ड दि बोधि डाइनस्टीज'।

२ रैप्सन, 'कैटलॉग', पृ० १९४ एवं आगे, सं० ६०७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि विश्वसेन कभी महाक्षत्रप हुआ था, और न तो अपने पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती नरेशों के साथ उसके सम्बन्ध का ही पता चलता है। इस वंश का अन्तिम नरेश रुद्रसिंह तृतीय हुआ है।]

उज्जैन के शक क्षत्रपों की वंशावली

- चष्टन
  - जयदामन
    - रुद्रदामन प्रथम
      - दामजदश्री प्रथम
        - सत्यदामन
        - जीवदामन
      - रुद्रसिंह प्रथम
        - रुद्रसेन प्रथम
          - पृथिवीसेन
          - दामजदश्री द्वितीय
        - संघदामन
        - दामसेन
          - वीरदामन
            - रुद्रसेन द्वितीय
              - विश्वसिंह
              - भर्तृदामन
                - विश्वसेन
                  - रुद्रदामन द्वितीय
                    - रुद्रसिंह तृतीय
          - यशोदामन प्रथम
          - विजयसेन
          - दामजदश्री द्वितीय
      - राजकुमारी= (आन्ध्रनरेश पुलुमावी के साथ विवाहित)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग.

पह्लव (इण्डो-पार्थियन)-राज्य

पह्लवों के विषय में हम जितना जानते हैं, उसके आधार पर वनान (Vonones) सबसे पहला पह्लव नरेश प्रतीत होता है। उसके सिक्कों से जान पड़ता है कि वह 'महरजस रजरजस महतस' (Basileos basileon megalon) की उपाधि धारण कर पूर्वी ईरान पर शासन करता था, जिस कार्य में उसके भाई श्पलिरिष (Spalirises) और श्पलहोर (Spala-hores) तथा भतीजा श्पलगदम (Spalagadames) से उसे सहायता मिलती थी जो संभवतः उसकी ओर से विजित राष्ट्रों के शासक नियुक्त किये गये थे। वनान के पश्चात् श्पलिरिष राजा हुआ। 'महरजस रजरजस महतस' की उपाधि उसने भी धारण की।

इण्डो-पार्थियन नरेशों में सबसे प्रसिद्ध और बड़ा गुदफर्न (Gondop-harnes) हुआ है। उसके समय के तिथि-युक्त तख्त-ये-बाही अभिलेख [एपि० इण्डि०, अष्टादश, पृ० २८२] से हमें उसकी तिथियों और भारत के शासित प्रदेश का साधारण रूप से अनुमान हो जाता है। तख्त-ये-बाही पेशावर जिले के अन्तर्गत है और दी हुई तिथि एक अनिश्चित संवत् का १०३ वर्ष है। डा० फ्लीट का यह निश्चित मत है कि तिथि की गणना मालव-विक्रम-संवत् में हुई है और इस आधार पर यह लेख ४५ ई० का ठहरता है; और क्योंकि यह 'उसके शासन के २६वें वर्ष' में अंकित कराया गया था गुदफर्न ने कम से कम १९ से ४५ ई० तक शासन किया। डा० विन्सेण्ट स्मिथ ने ['अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया', चतुर्थ सं०, पृ० सं० २४५–५०] ईसाई मत के एक कथानक का उल्लेख किया है जिसमें गुदफर्न को वह 'भारतीय नरेश' कहा गया है जिसकी राजसभा में ईसाई महापुरुष-सन्त थॉमस (St. Thomas) ने पदार्पण किया था और अपने धर्म-प्रचार के कार्यों में सफलता पाई थी। ईसाई अनुश्रुति का जो गुदफर्न को सन्त थॉमस का समकालीन बतलाती है तख्त-ये-बाही लेख की तिथि के साथ अच्छा मेल खाता है।

इस महान् पह्लव नरेश की मृत्यु के उपरान्त उसका साम्राज्य टूट गया। इस वंश के कुछ सदस्यों के नाम तक्षशिला से प्रो० रैप्सन को मिले सिक्कों पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पढ़े गये हैं। उनसे यह सूचित होता है कि संभवतः सनबर (Sanabares) सीस्तान का तथा पकुर (Pakores) पश्चिमी पंजाब का शासक था। इस वंश का मूलोच्छेद करनेवाले कुषाण थे।

घ.

कुषाण-राज्य

(लग० १००–३०० ई०)

१५० ई० पू० के लगभग यू-ची नामक एक बड़े खानाबदोश जत्थे ने शकों की एक दूसरी खानाबदोश जाति को उनके जरजेस (सीर दरिया) के उत्तरी काँठे के निवास-स्थान से निकाल बाहर किया। इसके बाद ही यू-ची स्वयं अपने नवाधिकृत प्रदेश से मध्य-एशिया के चरागाहों में बसनेवाले अपने पुराने शत्रु तुर्की खानाबदोशों द्वारा भगाये जाकर दक्षिण की ओर बढ़े। उन्होंने वंक्षु (Oxus) नदी को पारकर शकों के हाथ से छीनकर बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। इसका उल्लेख हम कर आये हैं कि किस प्रकार यू-चियों द्वारा पहली बार भगाये जाने पर शकों ने यूनानियों को हराकर बैक्ट्रिया पर अपना सिक्का जमाया था। कोई दो पीढ़ी तक यू-ची बैक्ट्रिया में रहे जहाँ उन्होंने अपनी फिरन्दर आदतें छोड़कर व्यवस्थित जन का रूप ग्रहण किया। परन्तु जन-संख्या की बहुलता का दबाव बैक्ट्रिया के छोटे से राज्य के साधनों के सँभाल का न था जिससे यू-ची हिन्दूकुश की दुर्लंघ्य चोटियों को पारकर और दक्षिण बढ़ने तथा वंक्षु से लेकर हेलमण्ड एवं सिन्धु नदियों की तलहटियों में बसने के लिए विवश हुए। यहाँ उनकी मुठभेड़ पह्लव और शकों तथा बचे हुए यवन राज्यों से हुई जिन पर उन्होंने विजय पा ली।

यू-ची जन पाँच भिन्न कबीलों में बँटा हुआ था, जिनमें से प्रत्येक एक स्वतंत्र राज्य के रूप में अपने एक विशेष स्वामी के अधीन था। कुषाण इन्हीं में से एक कबीले के थे जिनका स्वामी कुजूल कैफिसेज (Kujūla Kadphises) था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कैफिसेज प्रथम बड़ा शक्तिशाली था। उसने सभी कबीलों को एक शासन में संगठित कर एक साम्राज्य की स्थापना की जिसका विस्तार वंक्षु से लेकर सिन्धु तक था। उसके साम्राज्य में बैक्ट्रिया, सारा वर्तमान अफगानिस्तान, ईरान का पूर्वी छोर तथा भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के पारवर्त्ती प्रदेश सम्मिलित थे। मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उसने अन्तिम यवन (इण्डो-ग्रीक) नरेश हरमेऊस को जो काबुल की उपत्यका में राज्य करता था परास्त किया था और तदुपरान्त अपने साम्राज्य का विस्तार तक्षशिला तक कर लिया था।

कैफिसेज प्रथम

कुजूल कैफिसेज के बाद उसका पुत्र विम कैफिसेज राजा हुआ। उसने अपने पिता के राज्य को काफी विस्तृत किया। तक्षशिला से लेकर उत्तरी-भारत के अनेक भाग तक उसकी तूती बोलने लगी। यहाँ तक कि पश्चिमी-भारत और मालवा के शक क्षत्रपों ने भी कुछ काल के लिए कुषाणों की अधीनता स्वीकार कर ली, वे पुनः कनिष्क के निर्बल उत्तराधिकारियों के समय में जाकर स्वाधीन हो पाये। कैफिसेज ने अपने भारतीय प्रान्तों पर सैनिक शासकों द्वारा शासन की व्यवस्था कर रखी थी। चीनी इतिवृत्तों से ज्ञात होता है कि चीनी सेनानायक पञ्चॉङ ने कैफिसेज के विरुद्ध कई युद्धों में जय प्राप्त किया था और तदनुसार उसे चीन के नरेश को भेंट-स्वरूप बहुत-सी सामग्री प्रदान करने के लिए विवश किया था। पश्चिम में रोम के सम्राट् के साथ कैफिसेज का मित्रता का व्यवहार था जैसा कि उसके तथा मैसोपोटामिया के रोमन शासक के बीच सद्भावना-विनिमय की घटना से सूचित होता है। इस मैत्री-सम्बन्ध की पुष्टि में एक प्रमाण तो रोमन साम्राज्य के साथ जो उसके राज्य से लगा हुआ था किसी प्रकार के संघर्ष का अभाव ही है।

कैफिसेज द्वितीय

कैफिसेज नरेशों की विजय का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत, चीन तथा रोमन साम्राज्य के बीच वाणिज्य-व्यवसाय की अतिशय अभिवृद्धि हुई। भारत रेशम, मसाले और अन्न का पर्याप्त मात्रा में विक्रय करता था जिसके बदले में वह सोना और चाँदी स्वीकार करता था। इस प्रकार रोम का सोना आकर भारत में पटने लगा जिसका उपयोग कैफिसेज

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ने प्रथम कुषाण सुवर्ण मुद्राओं के ढलवाने में किया। भारत में विम कैफिसेज के राजत्व काल के सम्बन्ध में एक ज्ञातव्य बात तक्षशिला रजत-कुण्डली अभिलेख से जिसमें १३६वाँ वर्ष दिया हुआ है तथा पञ्चतर पाषाण अभिलेख से जिसमें १२२वाँ वर्ष मिलता है जानी जाती है। दोनों ही अभिलेख अनिर्दिष्ट संवत् के तथा किसी 'कुषाण नरेश' के शासन-काल के हैं। यह कुषाण विम कैफिसेज माना गया है जो दूसरा कुषाण शासक था, और संवत् को अधिकांश विद्वानों ने विक्रम संवत् मान लिया है जिसका प्रारम्भ ५८ ई० पू० है, उत्पत्ति चाहे जिस रूप में हुई हो। उस दशा में भारत में विम कैफिसेज का राज्य-काल ६४ ई०, उसकी ऊपरी सीमा, तथा ७८ ई०, उसकी निचली सीमा, के बीच रखा जा सकता है। हम ऐसा इस आधार पर कर सकते हैं जब कि ७८ ई० को निर्भ्रान्त रूप से शक संवत् का प्रथम वर्ष मान लें जिसका संस्थापक लोग कनिष्क प्रथम को बतलाते हैं।

कनिष्क (लग० ७८-१२३ ई०)

कैफिसेज द्वितीय का उत्तराधिकारी कनिष्क था, दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध था इस विषय में कोई ठीक पता नहीं चलता। कुछ विद्वानों की सम्मति में कनिष्क ने सीधा कैफिसेज द्वितीय से उत्तराधिकार नहीं प्राप्त किया था, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि सोटर मेगास (Soter Megas) नाम से बहुधा परिचित कोई अज्ञात शासक कैफिसेज द्वितीय का उत्तराधिकारी था। यह मत सर जॉन मार्शल का है जिन्हें उपर्युक्त नामांकित एक मुद्रा तक्षशिला में मिली थी जिसका समय वे प्रथम शती ई० मानते हैं और इस तरह वह मुद्रा कनिष्क की मुद्राओं से पहले की ठहरती है। कनिष्क ने मार्शल तथा अन्य बहुतेरे विद्वानों के अनुसार दूसरी शती ई० में अपना राज्य चलाया। मार्शल के अनुसार कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि १२५ ई० है ['ये गाइड टु टैक्सिला', पृ० २२]; दूसरी सुझाई गई तिथियाँ ५८ ई० पू० [फ्लीट] से लेकर २७८ ई० [डी० आर० भण्डारकर] के बीच रखी गई हैं। एक

कनिष्क की तिथि[१]

---

१ जे० आर० ए० एस०, १९१३-१९१४; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, खण्ड ५, सं० १, पृ० सं० ४६-८०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य विचार-सरणि के पोषकों की जिनमें प्रो० रैप्सन और डा० रायचौधुरी उल्खलेनीय हैं धारणा है कि कनिष्क ने ७८ ई० में अपना राज्य चलाया जो उसके द्वारा प्रवर्तित शक संवत् का प्रारंभ है। बाद की तिथि इसलिए विशेष रूप से संभाव्य है कि अन्य कारणों के बीच यदि कनिष्क के शासन का प्रारंभ हम दूसरी शती ई० में रखते हैं तो रुद्रदामन की स्वतंत्र राजसत्ता के लिए जिसने १३०–१५० ई० में शासन किया आधार नहीं मिलता। रुद्रदामन की स्वतंत्र राजसत्ता का जिसका विस्तार सिन्धु घाटी के निम्न प्रदेश को लेकर सम्पूर्ण पश्चिमी भारत में था, कनिष्क के भारतीय साम्राज्य-विस्तार के साथ किसी प्रकार सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो पाता। यह केवल उसी दशा में संभव है जब कि यह मान लिया जाय कि कनिष्क की मृत्यु के उपरान्त तथा उसके उत्तराधिकारी के निर्बल शासन-काल में पश्चिमी क्षत्रपों ने अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त कर ली जो उन्होने कनिष्क प्रथम के नेतृत्व में कुषाणों की बढ़ती हुई लहर के आगे खो दी थी।[१]

युद्ध और विजय

कनिष्क ने अपने पूर्ववर्ती नरेश से प्राप्त राज्य का अत्यधिक विस्तार किया। भारत में उसने कश्मीर और उपरले सिन्धु का उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम की ओर तथा पाटलिपुत्र तक पूर्व में विजय किया। ऐसी परम्परा है कि पाटलिपुत्र को जीतकर वह अपने साथ सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को लेता गया था जो आगे चलकर सम्राट् द्वारा आयोजित बौद्ध संगीति का उप-प्रधान बनाया गया। कनिष्क ने पार्थियनों पर भी विजय पाई। इसी समय प्रथम शती ई० के अन्तिम भाग में उसने चीनी सेनानायक पञ्चॉड को क्रमशः पश्चिम के देशों का विजय करते देखा। पञ्चॉड ने पामीर के पारवर्ती प्रदेशों में काशगर, यारकन्द और खुतन पर अधिकार कर लिया और वंक्षु

---

१ इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा के लिए देखिए, ऐक्टा ओरिएण्टालिया, तृतीय पृ० ५४ और आगे; इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, खण्ड ५, सं० १, मार्च १९२९; जे० बी० ओ० आर० एस०, पञ्चदश, भाग १ और २ मार्च-जून १९२९; फ्लीट, कॉर्पस, तृतीय, प्रस्तावना, पृ० ५६; जे० आर० ए० एस०, १९१३, पृ० सं० ६३५–६५०, ९८ और आगे; स्टेन कोनो (Sten Konow), कॉर्पस, द्वितीय।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

द्वारा परिवृत कुषाण साम्राज्य की पश्चिमी सीमा को आत्रस्त कर दिया। ९० ई० के लगभग कनिष्क ने चीन के सम्राट् के अधिनायकत्व में अविश्वास उत्पन्न किया और बराबरी का दावा कर एक चीनी राजकुमारी के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा। सेनानायक पञ्चॉड ने जिसे यह प्रस्ताव अपने स्वामी के पक्ष में बड़ा अपमान-जनक प्रतीत हुआ भारतीय दूत को बन्दी बनाकर स्वदेश भेज दिया। इस पर कनिष्क ने अपने सेनापति सी के नायकत्व में ७०,००० अश्वारोहियों की एक सुदृढ़ सेना पामीर के पारवर्ती देश में चीनियों पर आक्रमण करने के लिए भेजी। कनिष्क की सेना बुरी तरह पराजित हुई और उसे चीन को भेंट देने के लिए विवश होना पड़ा। पर आगे चलकर पञ्चॉड की मृत्यु तथा अपने कश्मीर-विजय के पश्चात् पामीर की उपत्यकाओं से होता हुआ वह स्वयं एक दूसरी सेना लेकर युद्ध के लिए जा पहुँचा। इस बार विजयी कनिष्क हुआ जिसके फलस्वरूप न केवल चीन को भेंट देने के भार से वह उऋण हो गया, बल्कि उसने काशगर, यारकन्द और खुतन को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।[१]

साम्राज्य-विस्तार

इन विजयों के द्वारा भारत में कनिष्क का साम्राज्य उत्तर में कश्मीर तथा पश्चिम में उपरली और निचली सिन्धु की घाटियों से लेकर दक्षिण में विन्ध्य मेखला और बिहार तक फैल गया। भारत के बाहर उसमें ये तीन प्रदेश स्पष्टतया सम्मिलित थे—पामीर के पारवर्ती प्रदेश के नवाधिकृत जिले; वंक्षु की उपत्यका (बैक्ट्रिया) एवं हिन्दूकुश और सिन्धु के बीच का भू-भाग जिसमें हेरात, काबुल और हेलमण्ड की तलहटियाँ आती थीं जहाँ अब अफगानिस्तान तथा सीस्तान और बलूचिस्तान के काबुल, गजनी और कन्दहार प्रान्त हैं।

राजधानी

इस विशाल साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी जिसे उसने अनेक भव्य-भवनों, सार्वजनिक शालाओं और बौद्ध-विहारों से अलंकृत कर रखा था। इन विहारों में एक अत्यन्त भव्य विहार एक बौद्ध-तीर्थ के रूप में नवीं शती तक वर्तमान था जब कि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वीरदेव ने उसकी यात्रा की थी जो मगध के नरेश देवपाल (लग० ८४५—

१ स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री', चतुर्थ संस्करण, पृ० २७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

६२)[१] के समय में नालन्द का महास्थविर निर्वाचित किया गया था। उस स्थान पर कनिष्क का बनवाया हुआ लकड़ी का विशाल धातु-प्रासाद कई शताब्दियों तक लोगों के कुतूहल और प्रशंसा का भाजन रहा। कनिष्क की राजधानी के प्राचीन स्थल अभी हाल में आधुनिक पेशावर के निकट ढूँढ़ निकाले गये हैं।

कनिष्क ने भारत को स्वदेश मान लिया था और उस पर व्यक्तिगत रूप से अपनी राजधानी पुरुषपुर से शासन करने लगा था। अपने सीमान्त के पारवर्ती विषयों का शासन उसने प्रान्तीय शासकों को सौंप रखा था। चीनी इतिवृत्तों से उसके एक प्रान्तीय शासक सी का पता चलता है जिसे उसने चीनी सेनानायक पञ्चॉड से मोर्चा लेने के लिए पामीर के पारवर्ती देश में एक सैनिक दल के साथ भेजा था।

विदेशों पर आधिपत्य

उसके शासन-प्रबन्ध के विषय में हम बहुत कम जान पाते हैं। सारनाथ अभिलेख से जिसमें तीसरा वर्ष अंकित है यह संकेत मिलता है कि उसने क्षत्रप-प्रणाली के आधार पर अपनी शासन-व्यवस्था बनाई थी। खरपल्लान उसका महाक्षत्रप था जो शायद मथुरा में था, और वनस्पर बनारस के पूर्वी प्रदेश का क्षत्रप।

शासन-प्रबन्ध

उसकी मुद्राओं से उसके क्रमिक धर्म-परिवर्त्तन का किञ्चित आभास होता है। उसकी प्रारंभिक मुद्राएँ जहाँ आकृति, लिपि और भाषा में यूनानी हैं, बाद की मुद्राएँ भाषा की दृष्टि से ईरानी, लिपि की दृष्टि से यूनानी तथा यूनानी, ईरानी और भारतीय देवताओं के चित्रों के सम्मिश्रण से संयुक्त हैं। उसकी अन्तिम मुद्राओं पर बुद्ध की प्रतिमा अंकित रहती है जिससे यह सिद्ध होता है कि कनिष्क बौद्ध था और महायान शाखा का अनुयायी।

कनिष्क का धर्म

यों तो कनिष्क जन्म से एक विदेशी था, किन्तु भारत में आकर वह यहीं का बन गया था। उसे बौद्ध धर्म से, जो भारत का जाग्रत धर्म था, प्रेम था और उसे उसने अपना धर्म मान रखा था। उसकी प्रारंभिक मुद्राओं से तो यही जान पड़ेगा कि अपने पूर्वजों के समान वह बहु-ईश्वरवाद (Pantheism)

---

१ इ० ऐ० सप्तदश (१८८८), पृ० सं० ३०७–१२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का माननेवाला था। परन्तु उसकी बाद की मुद्राएँ तथा कई स्मारक और अभिलेख-सम्बन्धी प्रमाण उसके बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने का साफ परिचय देते हैं। कई बौद्ध कथानक तो उसके प्रारंभिक वर्षों को अत्यन्त निंद्य ठहराते हैं। धर्म-परिवर्त्तन के पूर्व वह अशोक के समान ही अत्यन्त क्रूर चित्रित किया गया है, ऐसा निर्देश मिलता है कि वह दूसरों के रक्त का प्यासा हो रहा था! मनुष्यों का वध करने में उसे आनन्द आता था! इन कथानकों में उसे घोर-नृशंसकर्मा कहा गया है जिसके हृदय को कभी शान्ति नहीं। अन्त में उसे पश्चात्ताप होता है और रक्तपात और युद्ध के भयंकर काण्डों से उसे विराग हो जाता है। इस अवस्था में उसकी भेंट एक बौद्ध-श्रमण से होती है और अशोक की तरह वह त्रिरत्न की शरण में जाकर एक दिव्य पुरुष बन जाता है। यह कथानक उन बहुतेरे बौद्ध कथानकों की प्रतिध्वनि है जो विशिष्ट पुरुषों के धर्म-परिवर्तन से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे—उदयन, अशोक तथा मिलिन्द और जिनसे बौद्ध लेखकों का एकमात्र आशय- अपने धर्म की महानता का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना है। कथानक की स्वाभाविक अतिरञ्जना को छोड़-कर हमें कुछ ऐसे तथ्य अवश्य मिलते हैं जो इतिहास को मान्य हो सकें। इन्हीं तथ्यों के आधार पर विदित होता है कि पाटलिपुत्र पर अपना स्वत्व स्थापित करने के अनन्तर वह प्रसिद्ध बौद्ध सन्त और लेखक अश्वघोष के सम्पर्क में आया जिसके शील और पाण्डित्य पर मुग्ध हुए बिना वह न रहा, क्योंकि विद्वत्ता का वह बड़ा आदर करता था। वह अश्वघोष को अपने साथ अपनी राजधानी में ले आया और इस महान् सन्त के व्यक्तित्व एवं धर्म-देशना से प्रभावित होकर जिससे उसकी शंकाएँ जाती रहीं स्वयं बौद्ध हो गया।

कनिष्क एक उत्साही बौद्ध बना और अपने धर्म की अभिवृद्धि में अपने आदर्श सहधर्मी अशोक के चरण-चिह्नों पर चला।[१] महायान ग्रन्थों में उसे वैसा ही आदर का स्थान दिया गया है जैसा कि हीनयान ग्रन्थों में अशोक को। बौद्ध अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि कनिष्क ने कश्मीर के कुण्डलवन विहार में एक महान् बौद्ध संगीति बुलाई थी। इसका आशय धर्म-ग्रन्थों का संकलन और मीमान्सा था। प्रधान स्थविरों में पार्श्व, अश्वघोष और वसुमित्र के

बौद्ध-संगीति

१ वाटर्स (Watters), प्रथम, पृ० सं० २७०-२७८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाम मिलते हैं। वसुमित्र संगीति का प्रधान तथा अश्वघोष उप-प्रधान था। इस संगीति ने दो मुख्य कार्य किये। एक तो उसने यह किया कि नये विचारों और बौद्ध-दर्शन की कतिपय नवीन विचार-सरणियों के विकास के प्रकाश में धर्म-ग्रन्थों को नये ढंग पर लिपिबद्ध किया। नवीन लिपिकरण में संस्कृत भाषा का व्यवहार किया गया। संगीति का दूसरा कार्य महायान बौद्ध शाखा को राजधर्म का रूप देना था जिसके प्रचार के लिए कनिष्क उसका संरक्षक बना।

कनिष्क के पूर्व बौद्ध-धर्म केवल भारतीय जनता के उपयुक्त था। अश्वघोष, वसुमित्र और नागार्जुन के सहारे बौद्ध-संगीति का आश्रय पाकर बौद्ध-धर्म की महायान शाखा को राजधर्म बनने में पूरा योग मिला। महायान मत के बीज जैसा कि विस्तार-पूर्वक उल्लेख किया जा चुका है [पूर्वो०, पृ० ७२] हीनयान सम्प्रदाय में ही निहित थे। महायान मत में गौतम बुद्ध केवल शास्ता ही नहीं रहे बल्कि उन्हें देवता का स्थान मिला। और इस प्रकार बौद्ध धर्म आस्तिक दर्शन (Theistic) बन गया। बौद्ध धर्म का हीनयान से महायान में परिवर्तित होना कनिष्क की प्रजा को कहीं अधिक अनुकूल पड़ा, क्योंकि उसमें विभिन्न देश-जाति के मनुष्य सम्मिलित थे। उसका सरल आस्तिकवाद (Theism) जिसमें एक इष्ट देवता की प्रतिष्ठा थी उन्हें विशेष रुचिकर हुआ। महायानियों ने बुद्ध की अलौकिकता, प्रार्थना-शक्ति, पूजा तथा श्रद्धा पर जोर न दिया। महायानियों का आदर्श केवल आत्म-निर्वाण ही नहीं, बल्कि सारे जगत् का परित्राण था। संक्षेप में पुराने बौद्ध-धर्म में एक नई जागृति आ गई और अपने नये रूप में वह भारतीय सीमाओं को लाँघकर शीघ्र विदेशों में जा फैला। तिब्बत, चीन, बर्मा और जापान ने बौद्ध-धर्म के नये रूप को उसी क्षण अंगीकार कर लिया। महायान-मत बौद्ध-धर्म की उत्तरी शाखा कहलाता है और उसका साहित्य संस्कृत में उपलब्ध है। इसके विपरीत् पुराना अथवा हीनयान बौद्ध-मत दक्षिणी शाखा के नाम से विख्यात है जिसके धर्म-ग्रन्थों का माध्यम पालि है। महायान-मत में उसके सहायक और संरक्षक कनिष्क की प्रतिष्ठा हीनयान-मत में अशोक की ही जैसी है।

महायान मत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कनिष्क एक बड़ा भारी विजेता ही नहीं था, बल्कि एक महान् निर्माता भी। उसके राजत्व-काल में कला की सुन्दर शैलियों का उत्कर्ष तथा विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ। इस समय के मूर्ति-निर्माण, स्थापत्य तथा तक्षण कलाओं का चार भिन्न केन्द्रों में समुचित विकास हुआ—सारनाथ, मथुरा, अमरावती एवं गन्धार। इनमें से प्रत्येक की एक अलग शैली थी, एक दूसरे से अ-प्रभावित। हाँ, सारनाथ और मथुरा से प्राप्त मूर्त्तियों की निर्माण-कला से कुछ समानता अवश्य पाई जाती है। अमरावती से प्राप्त पाषाण-वेष्ठनियों पर उत्कीर्ण चित्रों की अद्वितीय कारीगरी शिल्प का विलक्षण नमूना प्रस्तुत करती है। पेशावर में बुद्ध का धातु-प्रासाद मुख्यतः लकड़ी का बना हुआ था और उसकी ऊँचाई ४०० फीट थी। तक्षशिला के खण्डहरों में विभिन्न युग के तीन नगरों का पता चला है। तीसरा नगर जो ध्वन्स का सीरसुख विभाग है कनिष्क द्वारा बसाये गये नगर का स्मारक है।[१] उसने कश्मीर में भी एक स्तम्भ खड़ा किया था जो आज भी उसके नाम से विख्यात् है। उसने पेशावर को ही नहीं बल्कि मथुरा को भी अनेक भवनों तथा विहार और मूर्त्तियों से अलंकृत किया था। उसके महायान-सम्प्रदाय के संरक्षण के फलस्वरूप बुद्ध और बोधिसत्त्वों की अनेक मूर्त्तियों का निर्माण और पूजा के लिए उनकी प्रतिष्ठा हुई। कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष निर्मित एक मस्तक-रहित विशाल मूर्त्ति सारनाथ में पाई गई थी और एक दूसरी बुद्ध-प्रतिमा—वह भी मस्तक-रहित—उसके शासन के द्वितीय वर्ष में निर्मित अभी हाल में कौशाम्बी में पाई गई है।[२] मथुरा से स्वयं कनिष्क की एक दर्शनीय मूर्त्ति मिली है जिसका सिर नहीं है।

कला और साहित्य

कनिष्क के समय में बहुत-से बौद्ध संघाराम, स्तूप और मूर्त्तियों का निर्माण हुआ जिन पर कला की पुरानी यूनानी शैली का कुछ प्रभाव पड़ा है। भारतीय प्रतिभा के उपयुक्त बौद्ध विषयों पर ढाली गई यूनानी कला की यह शैली यूनानी-बौद्ध शैली कही जा सकती है; यद्यपि इसका लोकप्रिय नाम

कला की गान्धार शैली

१ मार्शल, 'ए गाइड टु टैक्सिला,' पृ० सं० ६, ६१ और आगे।

२ देखिए लेखक की पुस्तक, 'ऐन अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी,' पृ० सं० १०८-१०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कला की गान्धार शैली है, क्योंकि इसका मुख्य केन्द्र पेशावर की ट्रन में था जहाँ कनिष्क ने अपनी राजधानी बनाई। इस प्रदेश को ही गन्धार कहते थे। इस शैली में निर्मित शिल्पों के अनेक संग्रह सीमा-प्रान्त में किये गये हैं जो पेशावर, लाहौर तथा कलकत्ता के संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। इस शैली के शिल्प प्रस्तर, चूना और बालू के प्लैस्टर, मृण्मूर्त्तियों तथा मिट्टी में मिलते हैं जिन पर बहुधा सोने के पत्र एवं रंगों के लेप का व्यवहार किया गया पाया जाता है। पेशावर, लाहौर तथा अन्य संग्रहालयों में जो नमूने सुरक्षित हैं वे प्रस्तर में ही हैं। परन्तु तक्षशिला में पुरातत्त्वान्वेषियों को प्रस्तर की मूर्त्तियों के अतिरिक्त चूना और बालू के प्लैस्टर की अनेक मूर्त्तियाँ तथा उससे संख्या में कुछ कम मृण्मूर्त्तियाँ तथा मिट्टी की आकृतियाँ मिली हैं। इन अनुसन्धानों से गान्धार शैली के शिल्पियों की उत्कृष्ट कारीगरी के विषय में हमें बहुत कुछ नया ज्ञान हुआ है।[१] गान्धार शैली अधिकतर भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में ही सीमित रही और वहीं से बौद्ध-धर्म के साथ-साथ उसका सुदूर पूर्व में विस्तार हुआ। पर गान्धार-शैली को जन्म देने के सिवाय ग्रीक और रोमन (Hellenistic) कलाओं का सर जॉन मार्शल के शब्दों में "भारत पर कभी वैसा वास्तविक प्रभाव न रहा जैसा कि उदाहरण स्वरूप इटली अथवा पश्चिमी एशिया पर। इसका कारण यही था कि दोनों राष्ट्र एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और असमान थे। ग्रीक मनुष्य, मनुष्य के सौन्दर्य, उसके मस्तिष्क को ही सब कुछ समझता था और इसी सौन्दर्य और मस्तिष्क के उत्कर्ष की पूर्वीय देशों की भी ग्रीक और रोमन-कला में हम अभिव्यक्ति पाते हैं। परन्तु इन आदर्शों का भारतीय दृष्टि से उतना महत्त्व न था। भारतीय दृष्टि लौकिकता के स्थान पर अमरत्व तथा ससीम के स्थान पर असीम से परिवृत रहना चाहती थी। यही अन्तर दर्शन के क्षेत्र में दिखाई देता है। ग्रीक दर्शन यदि कर्त्तव्य-शास्त्रीय (Ethical) था तो भारतीय दर्शन आध्यात्मिक (Spiritual); जहाँ ग्रीक दर्शन बुद्धि-प्रधान (Rational) था, वहाँ भारतीय दर्शन भाव प्रधान (Emotional) ; और इन्हीं उदात्त भावनाओं एवं आध्यात्मिक प्रेरणाओं को आगे चलकर भारतीयों

१ मार्शल, 'ए गाइड टु टैक्सिला,' पृ० ३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
ने कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के लिए मूर्त्त रूप देना प्रारंभ किया।"[१] इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुप्त कला में हम इस आदर्श की पूर्त्ति पाते हैं जब जाकर भाव और कला के बीच निकटतर सम्पर्क स्थापित हो सका।

साहित्य

कला और स्थापत्य के समान ही कनिष्क साहित्य का भी महान् संरक्षक था। साहित्य-प्रेम और विद्वानों का आदर करने के फलस्वरूप उसने अपने चारों ओर ख्याति-लब्ध व्यक्तियों का एक समूह एकत्र कर रखा था। राजकीय संरक्षण के उस अनुकूल वातावरण में बहुत सारा उच्चकोटि का धार्मिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य निर्मित हुआ।

अश्वघोष

कनिष्क का नाम कई लब्धप्रतिष्ठ बौद्ध ग्रन्थकारों के साथ जुड़ा हुआ है जिनमें से सर्वप्रधान अश्वघोष था। वह एक कवि, गायक, प्रचारक, नैतिकता का पुजारी, दार्शनिक, नाटककार एवं कहानी-लेखक था। वह इन सभी कलाओं का आविष्कार-कर्त्ता एवं उन सब में सिद्धहस्त था। कला-वैभव तथा विविधता में वह मिल्टन (Milton), गेटे (Goethe), काण्ट (Kant) एवं वाल्तेयर (Voltaire) के समान था। उसने, 'बुद्ध-चरित' नामक एक महाकाव्य लिखा है जो बुद्ध का पूरा जीवन-वृत्त प्रस्तुत करता है तथा जिसकी संस्कृत और शैली प्रशंनीय है। बौद्ध इस प्रसिद्ध रचना को वाल्मीकि-कृत रामायण महाकाव्य के समकक्ष रखते हैं। अश्वघोष की दूसरी कृति 'सौन्दरानन्द काव्य है' जिसकी रचना काव्य-शैली में हुई है और जिसमें बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएँ आ जाती हैं। 'वज्रसूत्री' नामक एक तीसरी रचना भी इस सुप्रसिद्ध लेखक की कृति बतलाई जाती है जिसमें वह ब्राह्मणों की जाति-व्यवस्था की निन्दा उन्हीं के साहित्य के प्रामाणिकों के आधार पर करता है। नाटककार के रूप में अश्वघोष की प्रतिष्ठा का आधार 'सारिपुत्र-प्रकरण' है जो अभी हाल में उपलब्ध हुआ है[२]।

१ वही, पृ० ३४।

२ इस रचना के कुछ अंश ताल-पत्र पर लिखी गई पाण्डुलिपियों (Mss.) में ल्यूडर्स (Lüders) को तुरफान से प्राप्त हुए थे जिन्हें उसने 'सेक्रेड बुक्स ऑव एशिया' ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया था [एस० बी० ए०, १९११, पृ० ३८८ और आगे]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुषाण-काल के साहित्य में अश्वघोष के पश्चात् जिसे दूसरे व्यक्ति का नाम आता है वह नागार्जुन है।[१] माध्यमिक दर्शन का यह महान् आचार्य दक्षिण भारत के विदर्भ प्रान्त का निवासी था।

नागार्जुन

उसने वैदिक और अन्य ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। बौद्ध-धर्म में उपसम्पदा लेकर महायान दर्शन का वह एक प्रमुख व्याख्याता बना। उसकी सबसे प्रसिद्ध रचनाएं 'प्रज्ञा-पारमिता सूत्र' हैं जिनमें माध्यमिकता पर विचार हुआ है जिसका आशय है कि सत्ता सापेक्ष्य है, अर्थात् कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो। उदाहरण के लिए अच्छाई तभी हो सकती है जब कुछ बुराई भी हो। सत्ता तभी हो सकती है जब अनस्तित्व भी हो। इस प्रकार कोई वस्तु सर्वथा असम्पृक्त नहीं है। इस दर्शन का ही नाम माध्यमिक दर्शन है।

कनिष्क के साथ ही दो अन्य विद्वानों का नाम आता है—वसुमित्र और चरक। वसुमित्र ने कनिष्क द्वारा बुलाई गई बौद्ध-संगीति के प्रधान के रूप में बौद्ध तत्त्व-दर्शन की अत्यन्त प्राचीन काल से मीमान्सा करने में तथा त्रिपिटक ग्रन्थों के विस्तृत भाष्य तैयार कराने में बड़ा भाग लिया। एक ऐसा ही भाष्य

वसुमित्र और चरक

'विभाषा शास्त्र' तका कुसू के अनुसार वसुमित्र का ग्रन्थ बतलाया जाता है। आयुर्वेद शास्त्र का सबसे प्रसिद्ध लेखक चरक कनिष्क का राजवैद्य माना जाता है।

कनिष्क के बाद क्रमशः तीन शासकों ने राज्य किया—वासिष्क, हुविष्क और वासुदेव। उनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। वासिष्क के दो अभिलेख २४वें तथा २८वें वर्ष के हैं जिनसे मथुरा और पूर्वी मालवा पर उसका अधिकार सिद्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हुविष्क ने मालवा तथा सिन्धु की निचली घाटी का अधिकार खो दिया जो सम्भवतः उज्जैन के चष्टन-वंशी शकों के हाथ में चले गये। पर उसका अधिकार मथुरा, कश्मीर और काबुल पर बना रहा इसके आभिलेखिक एवं स्मारक-सम्बन्धी

कनिष्क के उत्तराधिकारी

---

१ कुछ विद्वान् उसे दूसरी शती ई० में रखते हैं और कनिष्क द्वितीय का समकालीन बतलाते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमाण पाये गये हैं। उसका काबुल का शासन वर्दक में मिले भद्रघट-अभिलेख [एपि० इण्डि० एकादश, पृ० सं० २१० एवं आगे] से सिद्ध है। कश्मीर में हुविष्क द्वारा बसाया हुआ हुष्कपुर नामक नगर[१] उसके राज्य में कश्मीर के अवस्थित होने का परिचायक है। उसने मथुरा में एक भव्य विहार भी बनवाया जिससे पता चलता है कि वह बौद्ध-धर्म का संरक्षक था। २८वें वर्ष का अथवा १०६ ई० का मथुरा प्रस्तर-लेख [एपि० इण्डि०. एकविंश, पृ० ६० एवं आगे] तथा ५१ वें वर्ष का अथवा १२६ ई० का वर्दक भद्रघट-लेख हुविष्क के राज्य-काल के तिथि-क्रम के दो निश्चित विन्दु प्रदान करते हैं। परन्तु इसी काल में हमें एक और कनिष्क का नाम मिलता है जिसकी संज्ञा महाराज देवपुत्र भी है जो कुषाण वंश के चक्रवर्ती नरेशों की एक सामान्य उपाधि है। यह नाम आरा प्रस्तर-लेख में मिला है जिसमें ४१वाँ वर्ष = ११६ ई० दिया हुआ है। वह कनिष्क प्रथम तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके निकटतम उत्तराधिकारी ११६ ई० के पहले ही राज्य कर चुके थे। अतः हम उसे कनिष्क द्वितीय कहेंगे। अभिलेख में वह वाझिष्प का पुत्र [२८वें वर्ष में अंकित साँची बौद्ध प्रतिमा-लेख का वासिष्क[२] तथा 'राजतरङ्गिणी' का जुष्क] कहा गया है। अतः यह सम्भव है कि कनिष्क द्वितीय और हुविष्क एक समय में शासन करते रहे हों।[३] कनिष्क द्वितीय का ठीक राज्य-काल और हुविष्क के साथ उसका क्या सम्बन्ध था इसका पता नहीं, किन्तु संभवतः हुविष्क ने कनिष्क के बाद भी राज्य किया।

कनिष्क के वंश का सबसे अन्तिम उल्लेखनीय सम्राट् वासुदेव था। उसके अभिलेखों के आधार पर जिनमें ७४ से लेकर ९८ तक की तिथियाँ मिलती

---

१ 'उ-स्से-किया-लो'—बील, 'लाइफ', पृ० ६८।

२ एपि० इण्डि०, द्वितीय, पृ० सं० ३६९-७०। दीनेशचन्द्र सरकार का यह सुझाव है कि 'ष्प' से अभिप्राय 'ष्क' से था (से० इ०, पृ० १४६, टि० ३)।

३ डा० रायचौधुरी का यही मत है ['पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० सं०, पृ० ३२५]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हैं उसका राज्य-काल १५२-१७६ ई० निश्चित हुआ है। उसके अभिलेख केवल मथुरा और उसके पड़ोस में मिले हैं। इससे जान यह पड़ता है कि कुषाण-साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त से वह हाथ धो बैठा था। ऐसा प्रतीत होता है कि वासुदेव ने बौद्ध धर्म त्याग दिया। उसकी मुद्राओं के पृष्ठ पर शिव का चित्र रहता है जिसमें शिव का वाहन नन्दि भी बना होता है, जो उसके शैव धर्म अपनाने का सूचक है। उसका नाम जिसका तात्पर्य भगवान् विष्णु से है इस बात का प्रमाण है कि कुषाण नरेश पूरा हिन्दू बन गया था।

वासुदेव के समय में ही कुषाण-साम्राज्य का टूटना आरंभ हुआ और शीघ्र ही वह अनेक तुच्छ राजाओं के अधीन छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, जिनके नाम सिक्कों पर मिलते हैं। तीसरी शती के अन्त तथा चौथी शती ई० के आरंभ में इन सामन्तों का सर्वथा लोप हो गया जो उस काल में उत्तर-भारत के एक बड़े भू-भाग में नागों की नवोत्थित शक्ति की लहरों में बह गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नवाँ अध्याय

नागों का राज्य

ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणों के ह्रास के बाद उत्तर भारत के अनेक प्रदेशों में नागों ने अपना शासन स्थापित कर लिया। कई वाकाटक लेखों में इसका उल्लेख मिलता है कि रुद्रसेन द्वितीय जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामयिक था भवनाग के पौत्र का पौत्र था। भवनाग भारशिव-नागों का राजा था। इससे विदित होता है कि उत्तर भारत में गुप्तों का साम्राज्य स्थापित होने के पूर्व नागों का राज्य था। पुराणों में ऐसा वर्णन आता है कि नाग लोग विदिशा, पद्मावती (मध्य भारत), कान्तिपुरी (जिला मिर्जापूर) तथा मथुरा में शासन करते थे। लाहौर से प्राप्त एक ताँबे की मुहर के अभिलेख में नागभट्ट के पुत्र महेश्वरनाग नामक एक नाग सम्राट् का नाम अंकित है। इससे ऐसा लगता है कि नागों का शासन पंजाब में भी स्थापित था। एक वाकाटक लेख-प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक ताम्र-पत्र अभिलेख, से नाग-वंश की एक शाखा भारशिव नागों के भागीरथी (गंगा) के तटवर्ती राज्यों में प्रतिष्ठित होने तथा दस अश्वमेध यज्ञों के सम्पादित करने का पता चलता है। डा० जायसवाल का अनुमान है कि उनके इन्हीं दस अश्वमेधों पर बनारस के दशाश्वमेध घाट का नाम पड़ा है। यह सुझाव विवाद-ग्रस्त है। उनके सम्राट् भवनाग की एक राजकन्या वाकाटक नरेश गौतमी पुत्र को ब्याही थी जिसका पुत्र रुद्रसेन हुआ। रुद्रसेन शायदस मुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भलेख का रुद्रदेव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाग चौथी शती ई० में गुप्तों की नवोत्थित शक्ति के विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी बनकर डटे रहे। समुद्रगुप्त के साम्राज्य-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्थापन में नाग राजाओं ने पहला प्रतिरोध उपस्थित किया, यद्यपि इलाहाबाद 'प्रशस्ति' के अनुसार समुद्रगुप्त ने कई नाग राजाओं को जैसे गणपति नाग (पद्मावती का सम्राट्), नागसेन (मथुरा का सम्राट्) इत्यादि को युद्ध में पराजित कर उनका बध कर डाला। दूसरे पराजित नरेशों में जिनका नाम इलाहाबाद के अभिलेख में आता है अच्युत जिसके सिक्के रामनगर (जिला बरेली) में पाये गये हैं तथा नन्दि हैं। दोनों ही सम्भवतः नाग सम्राट् थे। इस प्रकार नाग वंश कुषाणों के पतन एवं गुप्तों की सार्वभौम-शक्ति के अभ्युदय के मध्यवर्त्ती-काल में पृथक् सम्राटों के अन्तर्गत मध्य देश पर जिसमें मथुरा, मध्य भारत और पंजाब सम्मिलित थे शासन करता रहा। नागों के पाँचवीं शती ई० के अन्त तक उत्तर भारत के कुछ भाग पर अधिकार जमाये रखने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि एक नाग राजकन्या कुबेरनागा चक्रवर्ती गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा अभिलषित की गई थी जिसे उसने अपनी राज्ञी बनाया [रिथपुर प्लेट, ऐ० इ०, पृ० ४१६][1]।

---

१. इस मत का कि भारशिव नागों ने महान् सार्वभौम-शक्ति प्राप्त की थी जैसा कि डा० जायसवाल मानते थे ['हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (१५०–३५० ई०) डा० अल्तेकर ने खण्डन किया है] अन्य तर्कों के साथ डा० अल्तेकर का निर्देश है कि दस अश्वमेध यज्ञ कर लेने से ही सार्वभौम विजयों और शक्ति-स्थापन का निश्चित प्रमाण नहीं मिल जाता। ऐसे दृष्टान्त कई शासकों के हैं जो कभी चक्रवर्ती नरेश नहीं थे, किन्तु जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये हैं। उदाहरण-स्वरूप, शान्तमूल इक्ष्वाकु ने जो केवल दो-तीन जिलों का शासक था लग० २२५ ई० में एक अश्वमेध किया था। कदम्ब नरेश कृष्णवर्मन ने जो एक स्वाधीन राजा भी नहीं था; लग० ४५० ई० में वैसा ही अश्वमेध किया था। विष्णु कुण्डिन नरेश माधववर्मन् प्रथम ने तो ग्यारह से कम अश्वमेध नहीं किये, यद्यपि उसका राज्य काफी छोटा था। 'न्यू हिस्ट्री ऑव दि इण्डियन पीपुल', खंड छठवाँ, पृ० २६, टि० २।]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दसवाँ अध्याय

गुप्त साम्राज्य (ल० ३००-५०० ई०)

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख आये हैं तीसरी शती ई० में उत्तर भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो चुकी थी। वह कई स्वाधीन राज्यों में बँट गया था। उत्तर भारत के एक बड़े भू-भाग में नागों का राज्य फैला हुआ था, यद्यपि उन्होंने कभी चक्रवर्ती बनने का दावा नहीं किया। इन पृथक् राज्यों का इतिहास बहुत-कुछ अन्धकार में पड़ा हुआ है और इस युग के प्रादेशिक इतिहास-विषयक आधुनिक शोधों के परिणाम भी इस पुस्तक में सहसा नहीं दिये जा सकते। चौथी शती के आरंभ में जाकर भारत में एक नये युग का अविर्भाव होता है जिसमें हम एक सार्वभौम शक्ति को प्रतिष्ठित होते देखते हैं। इस प्रकार फूट और अशान्ति के स्थान पर एकता का संचार हुआ। शक्तिशाली एवं गुणग्राही सम्राटों का संरक्षण पाकर कला, व्यवसाय, विज्ञान और साहित्य की उन्नति हुई। पिछली शताब्दी में विदेशी सम्बन्धों के जो सूत्र ढीले पड़ गये थे वे अपने पूर्व-गौरव तथा मर्यादा के साथ पुनः दृढ़ हुए।

प्रारम्भिक गुप्त शासक

गुप्त राज-शक्ति का उद्भव

गुप्त-साम्राज्य एक छोटे से सामन्त-राज्य से बढ़कर इतना विशाल हुआ था। गुप्त सम्राट् अपने अभिलेखों में अपना उद्भव महाराज श्रीगुप्त से बतलाते हैं। चक्रवर्ती गुप्त सम्राटों का यह मूल पुरुष केवल 'महाराज' उपाधि से अभिहित हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि वह चक्रवर्ती नहीं था, बल्कि एक सामन्त-नरेश था। स्व० डा० जायसवाल के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार वह प्रयाग के निकट के भारशिवों के अधिनायकत्व में एक छोटे से राज्य पर शासन करता था। एलेन (Allan) तथा कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार उसका राज्य पाटलिपुत्र एवं उसके पड़ोस तक सीमित था। इ-त्सिंग नामक एक चीनी यात्री ने जो भारत सातवीं शती ई० के अन्त में आया किसी महाराज श्री-गुप्त (चे--लि--कि--तो) का उल्लेख किया है जिसने चीनी यात्रियों के लिए उसके आने के ५०० वर्ष पूर्व मृगशिखावन के पास एक मन्दिर बनवाया था। एलेन ने श्री-गुप्त को महाराज गुप्त निश्चित किया है जो चन्द्रगुप्त प्रथम का पितामह था और जिसने ३१९-२० ई० में गुप्त-संवत् की स्थापना की। यह विनिश्चयकरण उस मान्य तिथि के विरुद्ध है जिससे उनके बीच एक शताब्दी से अधिक का व्यवधान पड़ता है। परन्तु इत्सिंग द्वारा दी गई तिथियों को एलेन के मत में अक्षरशः लेने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उसका आधार अनुश्रुतियाँ थीं और वह प्रायः एक पूर्ण संख्या (Round number) का ही प्रयोग करता है। यहाँ ध्यान देना चाहिए कि श्री-शब्द नाम का कोई आवश्यक अंश नहीं है, वह तो केवल गौरवार्थ है।

अभिलेखों के अनुसार महाराज गुप्त का पुत्र घटोत्कच है। उसकी भी उपाधि केवल महाराज है जिससे उसका सामन्त होना निश्चित है। बसाढ़ की खोदाई में ब्लॉच महोदय (Mr. Bloch) की बहुत-सी गुप्त-कालीन मुहरें मिली थीं। उनमें से एक पर 'श्री घटोत्कचगुप्तस्य' लेख मिलता है। ब्लॉच का विचार है कि यह मुहर द्वितीय गुप्त शासक की है। विन्सेण्ट स्मिथ ने ब्लॉच का मत स्वीकार किया है परन्तु एलेन उसका इस आधार पर खण्डन करते हैं कि इनमें सबसे महत्त्व की मुहर जिससे सम्पूर्ण निधि की तिथि निर्धारित होती है महादेवी ध्रुवस्वामिनी की मुहर है जो महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय की राज्ञी एवं महाराज गोविन्दगुप्त की माता थी—इससे पूर्व एक शती के पहले के किसी नरेश की मुहर मिले और बीच के काल की कोई दूसरी मुहर न मिले यह विचारणीय है। एलेन का विचार है कि मुहर का घटोत्कचगुप्त संभवतः राजकुल का ही कोई कर्मचारी रहा होगा। महाराज जैसी उपाधियों

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अभाव इस बात को और भी प्रमाणित करता है कि वह द्वितीय गुप्त शासक घटोत्कच नहीं हो सकता।[१]

एलेन के मत की पुष्टीकरण में यह बात भी आती है कि द्वितीय गुप्त शासक के समय में बसाढ़—वैशाली की प्राचीन नगरी का स्थल—लिच्छवियों के स्वाधीन गणराज्य के अन्तर्गत था। इसी प्रकार हम देखते हैं कि वंशतालिका देनेवाले गुप्त अभिलेखों में घटोत्कच नाम आया है, घटोत्कचगुप्त नहीं।

चक्रवर्ती गुप्त शासक

चन्द्रगुप्त प्रथम

घटोत्कच के पश्चात् शासन-चक्र उसके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम के हाथ में आया। गुप्त शासकों में महाराजाधिराज की पदवी ग्रहण करनेवाला वह प्रथम शासक हुआ है।

लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध : गुप्त साम्राज्य की स्थापना

गुप्त वंशावली में उल्लिखित होनेवाली रानियों में उसकी राजमहिषी ही प्रथम थी। वह 'लिच्छवि राजकुमारी' महादेवी कुमारदेवी थी। इलाहाबाद के अभिलेख में समुद्रगुप्त का एक विशेषण 'लिच्छवि दौहित्र' है, अर्थात् लिच्छवि राजकुमारी का पुत्र और बाद के सभी गुप्त शासकों के अभिलेखों में उसका यही विशेषण प्रयुक्त हुआ है। कुमारदेवी के लिए महादेवी की उपाधि का प्रयोग महाराजाधिराज के अनुरूप है और उसके प्रयोग का अधिकार केवल चक्रवर्ती सम्राटों की राजमहिषियों को था। चन्द्रगुप्त के लिच्छवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध की स्मृति में कुछ विशेष प्रकार के गुप्त सिक्के ढलवाये गये थे जिनके मुख-पृष्ठ पर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी की खड़ी आकृतियाँ हैं जिनके साथ ही उनके नाम दिये हुए हैं तथा पृष्ठतल पर सिंहवाहिनी लक्ष्मी की मूर्त्ति है और 'लिच्छवयः' लेख पाया जाता है। लिच्छवियों का एक प्रसिद्ध क्षत्रिय गण-राज्य था जिसका नाम बौद्ध ग्रन्थों में बार-बार आता है और जो वैशाली (वर्तमान बसाढ़) में प्रतिष्ठित

१ आर० ए० एस० आई०, १९०३–४, पृ० १०२; जे० आर० ए० एस०, १९०३, पृ० १५३; एलेन, पृ० सं० षोडश-सप्तदश।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था। साम्राज्यवादी मगध के लिए वे सदा से एक मार्ग के कण्टक थे। यह तो हमने देखा ही है कि उत्तर-पूर्वी भारत में शक्तिशाली राज्य की स्थापना के निमित्त मगध के राज्य-विस्तार के आरंभिक दिनों में किस प्रकार बिम्बिसार ने उन्हें एक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर जीत लिया था तथा अजातशत्रु ने एक अप्रत्याशित चाल से अस्थायी रूप से उनकी शक्ति नष्टकर भावी आक्रमण रोकने के लिए पाटलिपुत्र में एक दुर्ग का निर्माण किया था [पूर्वो० पृ० ७६ एवं आगे]। जिस गौरव के साथ लिच्छवि-सम्बन्ध का चन्द्रगुप्त प्रथम के उत्तराधिकारियों ने उल्लेख किया है उससे यह पता चल जाता है कि गुप्त वंश की महानता में यह सम्बन्ध एक नया युग लाता है। एलेन का अनुमान है कि विवाह-सम्बन्ध चन्द्रगुप्त प्रथम के लिच्छवियों पर जय पाने का परिणाम था। यह अनुमान इसलिए संशयजनक जान पड़ता है कि उन प्रदेशों की सूची में जिन पर समुद्रगुप्त शासन करता था वैशाली नाम नहीं आता। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि कुमारदेवी चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ शासन में समान रूप से भाग लेती जान पड़ती है। गुप्त मुद्राशास्त्र के इतिहास में और किन्हीं रानियों का इस प्रकार अभिचित्रण नहीं हुआ है। इससे स्पष्ट है कि लिच्छवि स्वतंत्र रूप से चन्द्रगुप्त प्रथम के सहायक अथवा मित्र-राष्ट्र थे, कोई अधीन या सामन्त राष्ट्र नहीं। युद्ध-प्रिय लिच्छवियों का यह घनिष्ठ सम्बन्ध जिनके द्वारा चन्द्रगुप्त को पड़ोसी-राज्यों के जीतने, एक साम्राज्य की स्थापना करने तथा महाराजाधिराज की संज्ञा ग्रहण करने में अत्यधिक सहायता मिली होगी कृतज्ञता-प्रकाशन के साथ गुप्त सम्राटों द्वारा उनके अभिलेखों में स्मरण किया गया है। फिर यह भी संशयग्रस्त है कि एक विजित राष्ट्र की राजकुमारी जिस राष्ट्र की सारी शक्ति नष्ट कर दी गई हो और उसका प्रदेश अधिकृत कर लिया गया हो, विजेता को शान्ति-स्थापना के निमित्त की गई सन्धि के मूल्य में विवाहित, अपने पति के साथ मुद्राओं पर शासन में समान रूप से हाथ बटानेवाली अंकित किया जाय और उसके पितृकुल के लोगों के साथ स्थापित हुआ सम्बन्ध विजयी सम्राट् के उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में बार-बार इतने अभिमान और कृतज्ञता के साथ अभिव्यक्त हो।

चन्द्रगुप्त के शासन का कोई अभिलेख या विवरण उपलब्ध नहीं है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिससे उसकी विजय की सीमा का पूरा-पूरा पता चले। पर समुद्रगुप्त की विजयों के विषय में अपने ज्ञान के आधार पर इतना कह सकते हैं कि समुद्रगुप्त ने यमुना के संगम (प्रयाग) से लेकर पाटलिपुत्र तक गंगा के मैदान पर अपना अधिकार पहले से कर रखा था जो प्रत्यक्ष रूप से उसे अपने पिता द्वारा उत्तराधिकार में मिले थे। गुप्तों की राज्य-सीमा का निर्देश करनेवाले पुराणों में आये श्लोक चन्द्रगुप्त के राज्य-काल को ही लक्ष्य करते जान पड़ते हैं—

राज्य-विस्तार

अनुगङ्गा प्रयागञ्च साकेतं मगधांस्तथा
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः[१]

चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त-संवत् नामक एक नया संवत् चलाया। इस संवत् का प्रथम वर्ष फरवरी ३२० ई० में आरंभ होता है जो चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्याभिषेक का पहला वर्ष कल्पित किया गया है। नवीनतम गणनाओं के अनुसार संवत् का प्रचलन दिसम्बर ३१९ से होता है।[२] गुप्त शासकों के तिथि-क्रम के लिए इस घटना का विशेष महत्त्व है, क्योंकि उनके सभी अभिलेख में इसी संवत् की तिथियाँ पाई जाती हैं।

गुप्त-संवत्

समुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। 'काच' नामांकित कुछ सुवर्ण के सिक्के मिले हैं जो समुद्रगुप्त के सिक्कों से प्रायः मिलते-जुलते हैं। उनके मुखपृष्ठ पर 'काच' का नाम अंकित रहता है तथा पृष्ठतल पर ब्राह्मी वर्णमाला में 'सर्वराजोच्छेत्ता' लेख दिया रहता है। डा० विन्सेण्ट स्मिथ[३] का विचार है कि सिक्कों का काच समुद्रगुप्त का एक

'काच' कौन है?

१ वायु-पुराण, अ० ९९, श्लो० ३८३।
२ पी० सी० सेन गुप्त, जे० आर० ए० एस०, १९४२।
३ स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री', चतुर्थ सं०, पृ० २९७, टि० १।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रतिद्वन्द्वी भाई था। डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर महोदय उसे रामगुप्त मानते हैं जो 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक के अनुसार समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी था और जिसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राजसिंहासन से हटाया ['मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम', १९३२, पृ० सं० २०४-०६]। परन्तु 'सर्वराजोच्छेत्ता' विशेषण से यह मानने में कठिनाई उपस्थित होती है कि वह समुद्रगुप्त का भाई था जो उसके पहले राज्य कर चुका था अथवा उसका उत्तराधिकारी रामगुप्त जिसका चित्रण नाटक में जो उसके विषय में जानने का एकमात्र साधन है एक कापुरुष के रूप में हुआ है जिसे सन्धि के लिए विदेशी आक्रान्ता को अपनी भार्या तक समर्पित करते हुए लज्जा न आई। इसके विपरीत काच के सिक्कों की समुद्रगुप्त के सिक्कों के साथ अतिशय समानता एवं उन सिक्कों पर 'सर्वराजोच्छेत्ता' विशेषण का प्रयोग काच को समुद्रगुप्त मानने के लिए विवश करते हैं। समुद्रगुप्त का अपने पुत्र चन्द्रगुप्त के समान जो देवगुप्त[१] या देवराज[२] नामों से भी विख्यात है सम्भव है एक अन्य नाम रहा हो।

समुद्रगुप्त का इलाहाबाद स्तम्भ-लेख उस महान् सम्राट् के चरित्र तथा कृतियों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। लेख में कोई तिथि नहीं पाई जाती।

इलाहाबाद स्तंभ-लेख

परन्तु वह निधनोपरान्त (Posthumous) है फ्लीट के इस मत से हम सहमत नहीं हैं। यह लेख उसकी उत्तर भारतीय तथा दक्षिण की विजयों के बाद तथा उसके अश्वमेध के पूर्व जिसका लेख में उल्लेख नहीं मिलता उत्कीर्ण हुआ था। स्तम्भ जिस पर अशोक के लेख भी खुदे हुए हैं (पूर्वो०) अपने मूल रूप में इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी (वर्तमान कोसम) में था और वहाँ से अकबर द्वारा बनवाये गये इलाहाबाद दुर्ग में लाकर गड़वाया गया। यह लेख साम्प्रदायिकता से रहित एवं विशुद्ध ऐतिहासिक है। उसका लेखक हरिषेण एक उच्चकोटि का कवि था जैसा कि प्रशस्ति की भाषा एवं शैली की विशिष्टता से प्रकट है। इसके अतिरिक्त वह

---

१ तुलनार्थ, रुद्रसेन द्वितीय का चम्मक ताम्र-पत्र अभिलेख।

२ देखिए, चन्द्रगुप्त द्वितीय का साँची प्रस्तर अभिलेख।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

एक उच्च राजकर्मचारी 'सान्धि-विग्रहिक', भी था जो सम्भवतः सम्राट् के साथ उसके सैनिक अभियानों में जाया करता था [१] और इस प्रकार घटनाओं का निकट से अध्ययन करता रहता था। अतः उसके लेखों के विवरण यथातथ्य माने जाने चाहिए और समुद्रगुप्त के इतिहास के लिए तो उन्हें एक प्रामाणिक साधन ही समझना चाहिए प्रशस्ति की रचना पद्य और गद्य में मिलकर हुई है।

प्रारम्भिक शिक्षण एवं राजसिंहासन के लिए निर्वाचन

अभिलेख का प्रथम भाग जो पद्य में है और जिसमें आठ श्लोक हैं समुद्रगुप्त के प्रारम्भिक शिक्षण एवं उसके भावी गौरवशाली पद को सुशोभित करने की क्षमता पर प्रकाश डालता है जिस पद की अपने पिता द्वारा प्रत्याशित रूप से राजसिंहासन का अधिकारी बनकर शोभा उसे बढ़ानी ही थी। प्रारम्भ के दो श्लोक तो बहुत कुछ नष्ट हो चुके हैं, किन्तु बचे हुए कुछ शब्दों से पता चलता है कि अपने पिता के जीवन-काल में ही समुद्रगुप्त को कुछ लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं जिनमें वह विजयी हुआ था। तीसरे श्लोक से समुद्रगुप्त के अगाध पाण्डित्य, शास्त्रीय ज्ञान एवं विद्वानों के सत्संग-प्रेम का परिचय मिलता है। चौथे श्लोक के अनुसार समुद्रगुप्त को उसके पिता ने इस आशीर्वचन के साथ अपना युवराज घोषित किया था—'निखिलां पाह्येवमूर्वीमिति' यह घोषणा सभासदों की उपस्थिति में हुई थी जो अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु इस अवसर पर राजकुल के अन्य बहुतेरे व्यक्ति (ईर्षा-वश) पीले पड़ गये [सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्य कुलज ग्लानाननोद्वीक्षितः]। अगले दो श्लोक (सं० ५ और ६) जो कई महत्त्व के स्थानों में उखड़े हुए हैं किसी युद्ध का संकेत करते जान पड़ते हैं [अपने परिजनों के साथ गृहयुद्ध ?] जिसमें (संग्रामे) उसके शत्रु (अपकाराः) उसके शौर्य से परास्त हुए थे (स्वभुजविजिता)। उन्हें शायद क्षमा कर दिया गया था, क्योंकि बाद की पंक्ति में आता है कि वे सन्तुष्ट तथा स्नेहार्द्र

१ यह जान पड़ता है कि गुप्त शासकों के सान्धि-विग्रहिक प्रायः अपने स्वामियों के साथ उनके सैनिक अभियानों में जाया करते थे। तुलनार्थ चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहा-लेख [कॉ० इ० इ०, तृ०, पृ० २५]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

होकर (तोषोत्तुङ्गैः स्फुटबहुरसस्नेहफुल्लैर्मनोभिः) पश्चात्ताप (पश्चात्तापं) करने लगे।

७वें और ८वें श्लोक तथा उनके बाद के गद्यांश में समुद्रगुप्त के सैनिक अभियानों और विजयों का सविस्तर वर्णन पाया जाता है जिनके द्वारा उसने अतिशय साम्राज्य-विस्तार किया। अभिलेख की तेरहवीं पंक्ति में आता है कि समुद्रगुप्त ने उत्तर-भारत के तीन राजाओं को हराया था जिन्होंने उसकी पश्चिम की दिशा में प्रसारगामी नीति बरतने में पहला अवरोध उपस्थित किया था। ये तीन राजा अच्युतनाग, नागसेन एवं गणपति नाग थे। वे सभी नागवंशी सम्राट् थे जिनका शासन अहिच्छत्र, मथुरा तथा पद्मावती (वर्तमान नारवाड़, ग्वालियर राज्य) में क्रमशः प्रतिष्ठित था। आर्यावर्त्त में यह प्रथम अभियान था। ये तीन नाम २१वीं पंक्ति में फिर आर्यावर्त्त के अन्य शासकों के नामों के साथ आते हैं जिनका उसने दक्षिणी अभियान के बाद युद्ध में सामना किया था।

आर्यावर्त्त का प्रथम युद्ध

गङ्गा के मैदानों और दो-आब में अपनी विजय-वैजयन्ती फहराकर समुद्रगुप्त दक्षिण-विजय के लिए निकल पड़ा। १९वीं और २०वीं पंक्तियों में इस अभियान का विस्तृत वर्णन हुआ है। दक्षिणापथ के बारह राज्य उल्लिखित हुए हैं जिनके नरेशों को बन्दी बनाकर समुद्रगुप्त ने बाद में मुक्त कर दिया था। वह उनके आत्मनिवेदन और शायद भेंट आदि से ही सन्तुष्ट हो गया था जिससे उन राज्यों को उसने अपने साम्राज्य में सीधे शासन के अन्तर्गत नहीं लिया। वे नरेश ये थे—

दक्षिण का अभियान

१. कोशल का महेन्द्र,
२. महाकान्तार का व्याघ्रराज,
३. कोशल का मण्टराज,
४. पिष्टपुर का महेन्द्र,
५. कोट्टूर का स्वामिदत्त,
६. एरण्डपल्ल का दमन,
७. काञ्ची का विष्णु,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

८. अवमुक्त का नीलराज,
९. वेङ्गी का हस्तिवर्मन्
१०. पालक्क का उग्रसेन,
११. देवराष्ट्र का कुबेर, और
१२. कुस्थलपुर का धनञ्जय।

स्थानों के नाम जो भौगोलिक क्रम के अनुसार जान पड़ते हैं, अभियान के पथ का निर्देश करते हैं। इनमें से अधिकांश नामों की सन्तोषजनक पहिचान हो चुकी है, यथा—(१) कोशल से तात्पर्य दक्षिण कोशल अथवा बिलासपुर, रायपुर और संभलपुर जिलों से है, (२) महाकान्तार मध्य-भारत का एक बड़ा जंगली प्रदेश था जहाँ उसने व्याघ्रराज को परास्त किया था। व्याघ्रराज को व्याघ्रदेव निश्चित किया गया है जो नचना एवं गंज अभिलेखों के वाकाटक महाराज पृथ्वीसेन का सामन्त था [फ्लीट, सं० ५३-५४]। नचना बुन्देलखण्ड के जैसो राज्य में पड़ता है, (३) कोराल या केरल मध्य प्रान्त का सोनपुर जिला माना गया है जिसकी राजधानी महानदी के किनारे थी, (४) पिष्टपुर गोदावरी जिले का वर्तमान पिठापुरम् है, (५) कोट्टूर गञ्जाम जिले का महेन्द्रगिरि का समीपवर्ती आधुनिक कोट्टूर है, (६) एरण्डपल्ल का निर्धारण गञ्जाम तथा विजगापट्टम जिलों में हुआ है। इसके बाद ये तीन नाम आते हैं—(७) काञ्ची का विष्णुगोप, (८) अवमुक्त का नीलराज, एवं (९ वेङ्गी का हस्तिवर्मन्। काञ्ची आधुनिक काञ्चीवरम् है जो मद्रास के दक्षिण पश्चिम में है; वेङ्गी मद्रास के उत्तर नेलोर जिले में है तथा अवमुक्त को विद्वानों ने गोदावरी जिले[१] में माना है जो नेलोर से भी उत्तर है। अगले अभियान में ये तीनों नाम भौगोलिक क्रमानुसार उल्लिखित नहीं हुए हैं। इससे यह 'संभावना पाई जाती है जैसा कि डुब्रील का अनुमान है'[२] कि उन दक्षिणी राज्यों का एक संयुक्त राष्ट्र-संघ (Confederacy) स्थापित हो गया था जिसका नायक विष्णुगोप था जो तीनों में सबसे शक्तिशाली शासक था और जिसका

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० सं० पृ०, ३६७; तुलनार्थ 'गजेटियर ऑव दि गोदावरी डिस्ट्रिक्ट, भाग प्रथम, पृ० २१३।

२ 'एन्श्येण्ट हिस्ट्री ऑव दि डेक्कन'।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नाम यहाँ भौगोलिक क्रम की अवहेलना कर सबसे पहले दे दिया गया है। काञ्ची चौथी शती ई० में पल्लवों की सुप्रसिद्ध राजधानी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विष्णुगोप और हस्तिवर्मन दोनों पल्लववंशी थे। वेङ्गी के हस्तिवर्मन् को हूल्श (Hultzsch) ने पल्लव जाति का अत्तिवर्मन् माना है [इ० हि० क्वा०, प्रथम, २, पृ० २५३]। अवमुक्त संभवतः एक छोटा-सा राज्य था। जायसवाल को इस नाम की आवा राज्य के साथ कुछ समानता दृष्टिगत हुई है जिसकी राजधानी हाथीगुम्फा अभिलेख, वर्णित पिथुण्ड थी।[1] काञ्ची के पल्लव नरेश विष्णुगोप के नायकत्व में समुद्रगुप्त के विरुद्ध जो राष्ट्र संघ स्थापित हुआ था वह एक काफी संभावित घटना जान पड़ती है। राष्ट्र-संघ की सेना के साथ ठीक किस स्थान पर समुद्रगुप्त का सामना हुआ था यह निश्चित नहीं है। उसके काञ्ची तक पहुँच जाने की बात हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, किन्तु इतना निश्चित है कि वह कभी काञ्ची के आगे नहीं गया। डुब्रील का यह सुझाव कि समुद्रगुप्त को राष्ट्र-संघ से पराजित होना पड़ा था बिलकुल मान्य नहीं हो सकता जब कि इसके विपरीत अभिलेख में प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है जिससे साफ विदित होता है कि समुद्रगुप्त ने उन्हें हराया था। सूची के अन्तिम तीन प्रदेश हैं—(१०) पालक्क तथा (११) देवराष्ट्र और (१२) कुस्थलपुर। पालक्क की स्थिति नेलोर जिले में बतलाई गई है [इ० हि० क्वा०, प्रथम, २, ६६८]। देवराष्ट्र का समीकरण विजगापटम जिले में येलमञ्चिली परगने से किया गया है [डुब्रील, 'ऐन्श्येण्ट हिस्ट्री ऑव दि डेक्कन', पृ० १६०]। कुस्थलपुर को बार्नेट ने उत्तरी आर्काट में स्थित कुट्टलूर निश्चित किया है ['कलकत्ता रिव्यू', १९२४, पृ० २५३ टि०]।

उपर्युक्त समीकरणों से साफ व्यक्त होता है कि समुद्रगुप्त के अभियान दक्खिन के पूर्वी घाट तक ही सीमित थे। एक अन्य मत जिसके आधार पर कहा जाता है कि समुद्रगुप्त पश्चिमी घाट की तरफ से लौटा था उन समीकरणों के आधार पर स्थित है जो स्मिथ और फ्लीट ने एरंडपल्ल को

---

१ जायसवाल का पाठ—'अवराज-निवेसितं पिथुण्डम्' [एपि० इंडि०, बिंश० पृ० ७२ और आगे]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

खानदेश का एरण्डोल बतलाने के लिए दिये थे और यदि देवराष्ट्र को महाराष्ट्र मानें। परन्तु जैसा कि हम देख आये हैं वे स्थान दक्खिन के पूर्वी भाग में निर्धारित किये गये हैं। डुब्रील का भी विचार है कि एरण्डपल्ल और एरण्डोल का तथा देवराष्ट्र और महाराष्ट्र का समीकरण संभवतः गलत है [मॉडर्न रिव्यू, १९२१, पृ० ४५७]। एक दूसरी विचारणीय बात है। दक्खिन के मध्यवर्ती और पश्चिमी प्रदेश वाकाटिकों के शासन के अन्तर्गत थे और वाकाटक नरेश का नाम उन राजाओं की सूची में नहीं है जिन्हें समुद्रगुप्त ने अपने दक्षिण के अभियान में पराजित किया था। समुद्रगुप्त के दक्षिण के अभियान के समय वाकाटक शक्ति अक्षुण्ण रही यह इससे प्रमाणित है कि वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम (>अभिलेख का रुद्रदेव) आर्यावर्त्त के नरेशों में सबसे बलवान था जिससे वह उस राष्ट्र-संघ का अग्रणी बना जिसे समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त्त के एक द्वितीय युद्ध में तोड़ा। यह युद्ध उनके दक्षिणी अभियान के बाद हुआ था (नीचे)।

अभिलेख की २१वीं पंक्ति में पुनः तीनों नाम आये हैं [१३वीं पंक्ति में जिनका उल्लेख हो चुका है] और उनके साथ आर्यावर्त्त के शासकों के छः और नाम जिनमें से सभी समुद्रगुप्त द्वारा पूर्णतया उत्क्षिप्त किये गये थे। नाम ये हैं—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन्, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दि तथा बलवर्मन्। यह साफ जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त ने इन शासकों को अपने दक्षिण के अभियान से लौट आने पर ललकारा था। संभव है कि समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान करने पर उसकी अनुपस्थिति में उपर्युक्त राजाओं ने एक संयुक्त राष्ट्र-संघ बना लिया हो और उसे आर्यावर्त्त में फिर एक दूसरा युद्ध करना पड़ा हो। अन्यथा गणपतिनाग, अच्युत और नागसेन का दूसरी बार उल्लेख करने में और उनके साथ के अन्य नामों को दक्षिण के अभियान के वर्णन के पश्चात् रखने में कोई संकेत नहीं जान पड़ता। अभिलेख में उस स्थान का कोई संकेत नहीं मिलता जहाँ राष्ट्र-संघ की सेना के साथ मुठभेड़ हुआ था। परन्तु हमारा अनुमान है कि वह कौशाम्बी में हुआ होगा जहाँ उत्तर और पश्चिम से विभिन्न पथ आकर मिलते थे, जहाँ अभिलेख में अभिहित उत्तर-

आर्यावर्त्त का द्वितीय युद्ध : कौशाम्बी की लड़ाई ?

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत के समस्त नरेशों को सुगमता से एकत्र होने में कोई कठिनाई नहीं थी। उत्तरी नरेशों पर पाई गई इस महान् विजय के उपरान्त सम्राट् के सान्धि-विग्रहिक हरिषेण ने जो संभवतः युद्ध में उपस्थित था वह 'प्रशस्ति' लिखी जो उस स्थल पर सुलभ अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण करा दी गई।

अभिलेख में जिन नरेशों के नाम आये हैं [२१वीं पंक्ति] उनका ठीक-ठीक विनिश्चयकरण हो चुका है—

(१) रुद्रसेन को काशीनाथ दीक्षित महोदय एवं जायसवाल ने वाकाटक-वंशी रुद्रसेन प्रथम निश्चित किया है [इ० हि० क्वा०, प्रथम, २ : २५४; जायसवाल, 'इम्पोरियल' हिस्ट्री ऑव इण्डिया, १५०–३५० ई०]। उसके राज्य में बुन्देलखण्ड (मध्य-भारत) तथा दक्खिन के मध्यवर्ती एवं पश्चिमी भाग थे। एक शक्तिशाली नरेश होने के कारण उसका नाम पहले संभवतः राष्ट्र-संघ के नायक के रूप में आता है।

(२) मतिल उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग के एक प्रदेश का शासक था। उसके नाम की एक मिट्टी की मुहर बुलन्दशहर में मिली है [इ० ऐ०, अष्टम पृ० ६८६]।

(३) नागदत्त संभवतः एक नाग नरेश था, किन्तु उसका ठीक निर्धारण नहीं हो पाया है।

(४) चन्द्रवर्मन् को 'पुष्पकरणा का महाराज चन्द्रवर्मन्' निश्चित किया गया है जिसका उल्लेख सुसुनिया शिलालेख में हुआ है [एपि० इण्डि०, त्रयोदश, पृ० १३३]। डा० हरप्रसाद शास्त्री ने पुष्करणा को अजमेर का समीपवर्ती पुष्कर तीर्थ बतलाया था। अन्य विद्वानों ने जैसे डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी तथा दिनेशचन्द्र सरकार पुष्करण को पोखरन माना है और उसकी स्थिति बाँकुरा जिले (बंगाल) में दामोदर नदी पर निर्धारित किया है।

(५) गणपति नाग पद्मावती का नाग सम्राट् था जिसके सिक्के ग्वालियर राज्य में पदम पवय्या (प्राचीन पद्मावती) के निकट नारवाड़ से मिले हैं।

(६) नागसेन भी एक नाग राजा था जिसे जायसवाल मथुरा का शासक बतलाते हैं।[1]

---

१ जायसवाल, 'इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (१५०-३५० ई०)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(७) अच्युत अहिच्छत्र (वर्त्तमान रामनगर, जिला बरेली, उत्तर प्रदेश) का एक नाग शासक था जहाँ उसके सिक्के पाये गये हैं।

(८) नन्दि संभवतः एक अन्य नाग राजा था जो मध्य-भारत में किसी प्रदेश पर शासन करता था। पुराणों की राजवंशावलियों में शिशुनन्दि अथवा शिवनन्दि का नाम मध्य-भारत के नागवंशी शासकों के साथ जुड़ा हुआ है। डुब्रील के मत में शिवनन्दि ही अभिलेख का नन्दि है ['एन्श्येएट हिस्ट्री ऑव दि डेक्कन', पृ० ३१]।

(९) बलवर्मन् का निश्चय अभी तक नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का विचार है कि वह आसाम का नरेश था और हर्ष के समकालीन भास्करवर्मन् का एक पूर्वज [एपि० इण्डि०, द्वादश पृ० ६९]।

समुद्रगुप्त द्वारा आटविक जातियाँ (आटविक-राजस्य) आत्मार्पण के लिए विवश (परिचारकीकृत) की गईं। डा० फ्लीट के अनुसार आटविक

आटविक राज्य

प्रदेश उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले से लेकर मध्य-प्रान्त के जबलपुर तक फैले हुए थे [फ्लीट, 'गुप्त इन्सक्रुप्शन्स', पृ० १४४]। आर्यावर्त्त और दक्षिण के बीच यातायात के मार्ग को खुला रखने के लिए समुद्रगुप्त ने उस प्रदेश पर अधिकार करना आवश्यक समझा। समुद्रगुप्त का एरण (जिला सागर, मध्य-प्रान्त) अभिलेख भी उसका इस प्रदेश पर अधिकार प्रमाणित करता है।

अभिलेख की २२वीं पंक्ति में पाँच सीमावर्त्ती (प्रत्यन्त) देशों की सूची

प्रत्यन्त राज्य

दी हुई है जो समुद्रगुप्त को कर ही भर नहीं देते थे बल्कि उसके अनुशासन के अनुसार स्वयं भेंट इत्यादि लेकर उसकी सेवा में उपस्थित होते थे। ये राज्य थे—

१—समतट (वर्तमान बडकम्त, कोमिल्ला के निकट, तिपरा जिले में);

२—डंवाक (वर्तमान डबोक, आसाम के नवगांग जिले में);

३—कामरूप (आसाम का गौहाटी का इलाका);

४—नेपाल;

५—कर्त्तपुर (कमाऊँ का कट्टूरियाराज, गढ़वाल और रुहेलखण्ड)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गण राज्य

नव गणराज्य जिन्होंने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की थी इस प्रकार उल्लिखित हुए हैं—

१—मालव—इनकी एक प्राचीन गणतंत्र जाति थी जिसे यूनानियों ने 'मल्वॉइ' नाम दिया है। उन्होंने अपने मूल-स्थान पंजाब में सिकन्दर का भीषण प्रतिरोध किया था, पर परास्त हुए थे। बाद में उन्होंने राजपूताना को प्रवास किया और अन्त में उस प्रदेश में आ बसे जो मालवा अथवा मालवों के देश के नाम से विख्यात हुआ। ढेर के ढेर मालव-सिक्के जयपुर राज्य (राजपूताना) से पाये गये हैं जिन पर "मालवगणस्य जयः" लेख अंकित है [जे० आर० ए० एस०, १८९३, पृ० ८८२]।

२—आर्जुनायन—संभवतः वर्तमान भरतपुर राज्य के प्रदेश में रहते थे जहाँ "आर्जुनायनानां जयः" अंकित ढेरों सिक्के पाये गये हैं [कै० का० इ० म्यू०, पृ० १६१]।

३—यौधेय—यह एक प्राचीन गणतंत्र जाति थी जिसका मूल आवास-पूर्वी पंजाब—सतलज के काँठे (नीचे) तथा भरतपुर और संभवतः और भी दक्षिण में था [कै० का० इ० म्यू० तृतीय, सं० ५८]।

४—मद्रक—यह भी एक अत्यन्त प्राचीन गणतंत्र जाति थी जिसकी राजधानी शाकल अथवा स्यालकोट थी जो पंजाब में है।

५—आभीर—आभीर लोग पंजाब तथा पश्चिमी राजपूताना में रहते थे। इस जाति का एक जत्था मध्य-भारत में आ बसा था जैसा कि झाँसी और भिलसा के बीच का प्रदेश उनके नाम पर अहीरवाड़ नाम से प्रसिद्ध चला आता है।

६—प्रार्जुन—प्रार्जुनों का उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में भी हुआ है। वे नरसिंहपुर जिले (मध्य-प्रान्त) में अवस्थित बतलाये गये हैं।

७—सनकानीक—सनकानीक पूर्वी मालवा के निवासी थे। सनकानीकों का एक शासक जो महाराज विष्णुदास का पुत्र था चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्त के रूप में उसके उदयगिरि (भिलसा के समीप) गुहा-लेख में जो ४०२ ई० का है उल्लिखित है।[१]

---

१ कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० २५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

८—काक—काक जाति संभवतः काकनादबोट प्रदेश की रहनेवाली थी जो साँची का पुराना नाम है।

९—खरपरिक—यह जाति भी शायद मध्य-भारत की थी।

अभिलेख की २३वीं और २४वीं पंक्तियों में कुछ विदेशी नरेशों का उल्लेख हुआ है जिन्होंने आत्म-निवेदन तथा 'कन्योपायनदान' आदि के रूप में युवती कन्याएँ सम्राट् को भेंट कर सन्धि किये थे।

विदेशी शक्तियाँ वे सदैव गरुडांकित राजमुद्राओं से विहित शासन (Charter) प्राप्त करने की याचना किया करते थे [गरुत्मदङ्क-स्वविषय-भुक्ति-शासन]।[1] वे विदेशी शक्तियाँ जिन्होंने इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक समुद्रगुप्त के साथ एक प्रकार की अधीनता का सम्बन्ध स्वीकार किया था निम्नलिखित थीं—

१—'दैवपुत्र-शाहि-शाहानुशाहि' जो प्रत्यक्ष रूप से चक्रवर्ती कुषाण नरेश का ही एक वंशज था जिसके अधीन उस समय उत्तर-पश्चिम का कोई प्रदेश था। चक्रवर्ती कुषाण सम्राटों ने—कनिष्क एवं उसके उत्तराधिकारियों ने, 'देवपुत्र' (देवों का पुत्र) तथा 'राजातिराज' (राजाओं का राजा) उपाधियाँ धारण कर रखी थीं। दूसरी उपाधि ईरानी 'शाहन्शाह' का प्रतिरूप 'शाहानु-शाहि' जान पड़ती है।

२—शक मुरुण्ड—शक-मुरुण्ड से या तो दो भिन्न जातियों का बोध होता है, जैसा कि मुरुण्डों को शकों के समान एक सीथियन जाति मान लेने पर संभव है—यह डा० रायचौधुरी का सुझाव है; परन्तु उसका एक अर्थ 'शक-स्वामी' भी निकलता है जिसके विषय में स्टेन कोनों का कथन है कि मुरुण्ड शब्द शक-भाषा का है जिसका अर्थ स्वामी, सं० स्वामिन्[2], होता है।

३—सिंहली (सैंहलकादि) तथा अन्य द्वीपवासी (सर्वद्वीप-वासिभिः)—

---

१ गरुड पक्षी गुप्तों का राज्य-चिह्न था जो उनकी ध्वजाओं पर मिलता है। उसका चित्रण उनके सिक्कों पर तथा उनके शासन से युक्त राजमुहरों पर भी हुआ है।

२ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० सं०, पृ० ३७३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक चीनी वृत्तान्त के अनुसार [इ० ऐ०, १६०२, पृ० सं० १६२-६७] समुद्रगुप्त का सिंहली समकालीन मेघवर्ण था जिसने बहुत-सी भेंट के साथ समुद्रगुप्त के पास अपना दूत भेजा था और उससे बोध गया में चीनी यात्रियों की सुविधा के लिए एक विहार बनवाने की स्वीकृति प्राप्त की थी। सर्वद्वीप-वासिभिः' से क्या निश्चय अर्थ समझना चाहिए यह स्पष्ट नहीं है।

इस प्रकार एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर लेने पर समुद्रगुप्त ने स्वभावतः अश्वमेध यज्ञ किया जिसे भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से राजत्व का प्रतीक माना जाता रहा है। यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मणों में वितरण के लिए उसने सुवर्ण-मुद्राएँ ढलवाईं जिनके मुखपृष्ठ पर एक यूप (यज्ञ का खूँटा) के सामने एक घोड़ा बना रहता है तथा पृष्ठतल पर महाराज्ञी का चित्र एवं 'अश्वमेध पराक्रमः' (अश्वमेध यज्ञ जिसके शौर्य का प्रमाण हो) लेख अंकित रहता है। इस यज्ञ का सम्पादन उसने इलाहाबाद प्रशस्ति के अंकित किये जाने के पश्चात् किसी समय किया होगा, क्योंकि उसमें इसका उल्लेख नहीं है। इस तथ्य का उल्लेख उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में बराबर पाया जाता है जिनके अनुसार दीर्घ-काल तक उपेक्षित अवस्था में पड़ा रहने के बाद समुद्रगुप्त ने उसका पुनराहरण किया था (चिरोत्सन्नाश्व-मेधाहर्तुः)। परन्तु इसमें साफ अतिरंजना है, क्योंकि हमें विदित है कि भारशिव नागों ने तथा प्रवरसेन प्रथम वाकाटक ने समुद्रगुप्त से कोई बहुत समय पूर्व अश्वमेध नहीं किये थे।[१]

अश्वमेध यज्ञ

हरिषेण के वर्णन से समुद्रगुप्त की सर्वतोमुखी प्रतिभा का पता चलता है। वह केवल एक महान् विजेता ही नहीं था जिसकी कभी पराजय न हुई, बल्कि शान्ति के समय में भी उसकी महानता दर्शनीय थी। वह एक उद्भट विद्वान् शास्त्रज्ञ, कविराज एवं विद्याप्रेमी था। वह एक कुशल गायक था जिसके संगीत के आगे हरिषेण का कहना है कि तुम्बुरु और नारद की वीणा मन्द

सर्वतोमुखी प्रतिभा

---

१ 'एनल्स ऑव दि भण्डारकर इन्स्टीच्यूट', सप्तम, पृ० सं० १६४-६५; डा० एस० के० आयंगर : 'स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री', पृ० सं० ४४-४५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पड़ जाती थी। उसका संगीत-प्रेम तथा उसकी आमोद-प्रियता उसके कुछ विशेष प्रकार के सिक्कों से प्रमाणित है। एक प्रकार के सिक्के तो वे हैं जिनमें वह वीणा बजाता दर्शाया गया है [वीणांकित सिक्के]; तथा अन्य प्रकार के सिक्कों में [उदाहरण-स्वरूप धनुर्धर और सिंहांकित सिक्कों में] वह आखेट करता हुआ दिखलाया गया है।

समुद्रगुप्त संभवतः पहला गुप्त शासक था जिसने प्रचुर परिमाण में सिक्के दलवाये। उसके ध्वजांकित सिक्कों का अत्यधिक प्रचार पाया जाता है जो पूर्वी पंजाब से पाये गये बाद के कुषाणों के सिक्कों से काफी मिलते-जुलते हैं। उसके अन्य सिक्कों में धनुर्धर, प्रास, सिंह एवं वीणांकित सिक्के आते हैं। एलेन का तो कहना है कि चन्द्रगुप्त और काच नामांकित सिक्कों का प्रवर्तक भी समुद्रगुप्त ही था। परन्तु यह एक विवादग्रस्त विषय है।

समुद्रगुप्त के राजत्व-काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। डा० स्मिथ ने उसे ३३०—३७५ ई० के बीच निर्धारित किया है।

समुद्रगुप्त का समय

नालन्द ताम्र-पत्र[१] और गया ताम्र-पत्र में जो तिथि युक्त लेख हैं गुप्त संवत् के क्रमशः पाँचवें और नवें वर्ष अंकित हुए हैं। उस अवस्था में समुद्रगुप्त का शासन-काल ३२४ अथवा ३२५ ई० में प्रारम्भ हुआ माना जा सकता है। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय की सबसे पुरानी तिथि जो मथुरा अभिलेख में मिलती है गु० सं० ६१ है। अतः समुद्रगुप्त का शासन-काल ३८० ई० में तो अवश्य ही समाप्त हो गया होगा। अधिकांश विद्वानों ने नालन्द और गया दोनों ताम्र-पत्रों को जाली ठहराया है [से० इ०, पृ० २६२, टि० ४], यद्यपि प्रसिद्ध पुराविद स्व० प्रो० राखालदास बनर्जी गया ताम्र-पत्र को सच्चा मानते हैं।[२]

[तृतीय परिशिष्ट]

रामगुप्त

गुप्त वंशावलियों के अनुसार जो गुप्त अभिलेखों में दी हुई हैं समुद्रगुप्त

---

१ फ्लीट द्वारा जाली माना गया।

२ 'मणीन्द्रचन्द्र नन्दी लेक्चर्स', पृ० ८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का निकटतम उत्तराधिकारी उसका पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय था। परन्तु गुप्तों के वंश-क्रम पर विशाखदत्त द्वारा लिखित 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक एक संस्कृत नाटक के मिल जाने से नवीन प्रकाश पड़ा है। विशाखदत्त वही विशाखदत्त है जिसका लिखा हुआ एक दूसरा ऐतिहासिक नाटक 'मुद्राराक्षस' (६०० ई०) उपलब्ध है। नाटक देवीचन्द्रगुप्तम् तो खो चुका है, पर उसके कुछ अंश नाट्यशास्त्र-विषयक रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा प्रणीत नाट्य-दर्पण नामक ग्रन्थ में जो अभी हाल में मिला है उद्धृत हुए हैं। इन अंशों की ओर सबसे पहले सिलवाँ लेवी (Sylvain Levi) नामक फ्रेंच विद्वान् का ध्यान गया था जिन्होंने इन्हें 'जर्नल एशियातिका' (१६२३, पृ० सं० २०१-३) में निकाला था। देवीचन्द्रगुप्तम् से लिये गये ये अवतरण उसके द्वितीय अङ्क से मिलते हैं जहाँ इस प्रकार का वर्णन आता है कि रामगुप्त अपनी भार्या ध्रुवदेवी को शकों को अपनी प्रजा को संत्रस्त होने से बचाने के निमित्त समर्पित करना स्वीकार करता है। ध्रुवदेवी अपने पति की निष्ठुरता की भर्त्सना करती है। ध्रुवदेवी के वेष में कुमार चन्द्रगुप्त जाकर शकाधिपति को मार आता है और पुनः अपने भाई को मारकर ध्रुवदेवी को अङ्गीकार करता है।

यद्यपि नाटक अभी तक अपने पूर्ण रूप में नहीं मिला है; उपर्युक्त अवतरणों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त था, जो एक शक्तिहीन और कायर नरेश था।

२. गुप्त सम्राटों का शकों के साथ युद्ध हुआ था।

३. शक चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा पराजित हुए थे। बाण (७०० ई०) ने अपने 'हर्षचरित' में इस घटना का उल्लेख किया है जहाँ वह कहता है कि स्त्री-वेष में शत्रु के स्कन्धावार में जाकर चन्द्रगुप्त ने शकों के नरेश को मार डाला ['अरिपुरे च परकलत्र-कामुकं कामिनीवेषगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपति-मशातयत्']। 'हर्ष चरित' के टीकाकार शंकरार्य (लग० १४०० ई०) ने इसकी व्याख्या यों की है कि शक-नरेश ध्रुवदेवी को चाहता था जो चन्द्रगुप्त की भाभी होती थी; चन्द्रगुप्त ने उसे ध्रुवदेवी के छद्म वेष में जाकर मार डाला।[१]

१ तुलनार्थ "शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवी प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेशधारिणा स्त्रीवेश-जनपरिवृतेन व्यापादितः।"
—शङ्करार्य की टीका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह कहानी कवि राजशेखर (११०० ई०) के 'काव्य मीमान्सा' तथा धार के महाराज भोज (११८० ई०) प्रणीत 'शृङ्गार-प्रकाश' में भी उल्लिखित है। इन सबके अन्त में अल्तेकर ने [जे० बी० ओ० आर० एस०, चतुर्दश, पृ० १५१] विद्वानों का ध्यान 'मजमुल-उत-तवारीख' नामक एक ग्यारहवीं शती ई० की रचना में वर्णित खाल और बर्कमारिस की कहानी की ओर आकर्षित किया है।[१] उस पुस्तक के रचयिता अबुल हसन अली (१०२६ ई०) ने एक अरबी के ग्रन्थ का अक्षरशः अनुवाद कर रख दिया है जो किसी हिन्दू-रचना का उल्था है। इस कहानी का देवीचन्द्रगुप्त के कथानक से काफी साम्य है। खाल रामगुप्त तथा बर्कमारिस विक्रमादित्य का प्रकारान्तर जान पड़ता है। कहानी प्रायः देवीचन्द्रगुप्त के कथानक के ठीक अनुरूप है जिसके अंश नाट्य-दर्पण में विद्यमान हैं।

इस कहानी की एक प्रतिध्वनि हमें ६वीं शती ई० के एक अभिलेख में भी मिलती है। अमोघवर्ष प्रथम के सञ्जन ताम्र-पत्र (८७१ ई०) में शायद इसका कुछ संकेत है जहाँ इस प्रकार आता है 'कलियुग में गुप्त वंश का वह नरेश बड़ा दानी समझा जाता है जिसने (अपने) भाई को मारकर (उसके) राज्य एवं पत्नी को छीन लिया' [एपि० इण्डि०, अष्टम]।

इस प्रकार वह कहानी जो पुस्तकों और अभिलेखों में छठवीं से लेकर ११वीं शती ई० तक चली आती थी केवल कवि की कल्पना कहकर नहीं टाली जा सकती। ऐतिहासिक नाटकों के लिखने में जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं के बीज तो रहते ही हैं विशाखदत्त, की अच्छी ख्याति है। उसका 'मुद्राराक्षस' कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर है जो उसके समय से लगभग हजार वर्ष पूर्व घटी थीं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय (४००-५०० ई०) से वह बहुत बाद का नहीं था और नाटक में वर्णित कथानक उसके लिए इतना नवीन-सा था कि उसके विस्तार के विषय में वह कोई भूल नहीं कर सकता। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि गुप्तकाल का कोई लेखक, नाटकीय खेल

१ ईलियट (Eliot) तथा डॉसन (Dawson)-कृत 'हिस्ट्री ऑव इण्डिया', भाग प्रथम, पृ० सं० ११०-१२।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में ही सही, गुप्त सम्राटों के एक वंशधर को केवल काल्पनिकता का आश्रय लेकर इस प्रकार नीच अभिचित्रित करे, अवश्य कोई वास्तविक आधार था जिससे उसका ऐसा करना युक्तिसंगत माना जा सकता था। नाटक से रामगुप्त के प्रति क्या एक साधारण मनुष्य और क्या एक नरेश के अर्थ में लेखक के समकालीन राजा और प्रजा की धारणा का साफ पता चलता है। रामगुप्त के प्रति उनके हृदय में यथेष्ट अनादर की भावना थी।

अब दो प्रश्न सामने आते हैं—(१) रामगुप्त का क्यों किसी गुप्त अभिलेख में संकेत नहीं पाया जाता, अथवा (२) उसके नाम के कोई सिक्के नहीं मिलते ?

इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि उसका व्यक्तिगत शासन इतना स्वल्प एवं अशान्तिमय रहा कि वह स्वयं तो किसी प्रकार के सिक्कों के प्रवर्तन अथवा किसी अभिलेखिक स्मारक के निर्माण से दूर रहा। बाद के गुप्त अभिलेखों में, जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में उसका नामोल्लेख न होने का कारण यह है कि अभिलेख की सूचियाँ उत्तराधिकार-सूचक हैं वंशावली नहीं प्रस्तुत करतीं, भ्रातृ अँग्रेजों का नाम प्रायः छोड़ दिया जाता है। उदाहरण के लिए कुमारगुप्त प्रथम के बिलसड प्रस्तर स्तम्भ-लेख या स्कन्दगुप्त के भितरी और बिहार प्रस्तर स्तम्भ-लेखों में जिनमें उनके पूर्वजों की सूची मिलती है, चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं ध्रुवदेवी[१] के एक पुत्र गोविन्दगुप्त का नाम नहीं है। इससे भी बढ़कर दृष्टान्त भितरी मुहर [इण्डि० ऐन्टि०, ऊनविंशति] में मिलता है जिसमें महाराज गुप्त से अपना वंशानुक्रम देते हुए कुमारगुप्त द्वितीय अपने पिता पुरगुप्त का नाम कुमारगुप्त प्रथम के ठीक बाद स्मरण करता है और स्कन्दगुप्त का नामोल्लेख नहीं करता जो मगध का गुप्त-वंशी सम्राट् होते हुए भी अभिलेख के उत्कीर्णकर्त्ता नरेश के सम्बन्ध में एक भ्रातृ-शाखा का शासक ठहरता है। इसके अतिरिक्त रामगुप्त के कारनामें इतने काले थे कि किसी परवर्त्ती गुप्त नरेश के लिए अपने अभिलेख में उनका स्मरण करना असम्भव था, यदि उसके उत्तराधिकारियों में कोई

---

१ तुलनार्थ, बसाढ़ की मुहरें [ए० एस० आर०, १९०३-४]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उस शाखा का शासक रहा भी हो अथवा कोई आभिलेखिक सूची ही प्रकाशित की हो।[१]

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

(लग० ३८०-४१४ ई०)

समुद्रगुप्त के अनन्तर दूसरा महान् गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय हुआ। उसकी माता का नाम दत्तदेवी था। यों सामान्य रूप से वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम से अधिक विख्यात् है। 'विक्रमादित्य' की उपाधि उसने संभवतः उज्जैन के शक क्षत्रपों को घोर युद्ध के उपरान्त परास्त कर धारण की थी।

उत्तराधिकार

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के पिता ने अपने बाद शासन के लिए उसे ही सबसे उपयुक्त समझकर युवराज चुना था। अपने पूर्वजों की वंश-तालिका प्रस्तुत करते हुए बिहार प्रस्तर स्तंभ-लेख [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ४६ एवं आगे] में समुद्रगुप्त अपने पितामह चन्द्रगुप्त द्वितीय का वर्णन 'समुद्रगुप्त द्वारा निर्वाचित' (तत्परिगृहीतः) के रूप में किया है। इससे निस्सन्देह समुद्रगुप्त के एक से अधिक पुत्रों के होने का बोध होता है। शायद रामगुप्त उनमें से एक था [देखिए तृतीय परिशिष्ट]। समुद्रगुप्त के एरण अभिलेख

---

१ इस समस्या के विषय में अधिक जानने के लिए पढ़िए—अनन्त सदाशिव अल्तेकर, जे० बी० ओ० आर० एस०, चतुर्दश, पृ० २२३ और आगे; पञ्चदश, पृ० १३४ और आगे; राखालदास बनर्जी, 'द एज ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज', पृ० सं० २६ और आगे; दत्तात्रेय रामकृष्ण भण्डारकर, 'मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम', पृ० १८६ और आगे; काशीप्रसाद जायसवाल, जे० बी० ओ० आर० एस०, अष्टादश, पृ० १७ और आगे; विन्टरनित्स, 'आयगर कमेमोरेशन वाल्यूम', पृ० सं० ३५६ और आगे; स्टेन कोनो, जे० बी० ओ० आर० एस०, त्रयोविंश, पृ० ४४४; वी० वी० मीराशी, आई० एच० क्यू०, दशम, पृ० ४८; इ० ऐ०, द्विषष्ट, पृ० २०१; एन० दासगुप्त, इ० क०, चतुर्थ पृ० २१६, हेमचन्द्र रायचौधुरी, 'पॉलिटिकल हिस्ट्री,' च० सं०, पृ० ४६५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

[कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० २०] में भी उसका वर्णन 'बहुत से पुत्र और पौत्रों' (बहुपुत्र-पौत्र) से युक्त के रूप में आता है। इतना तो स्पष्ट है कि वह अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था जिससे वह न्यायतः युवराज होता, क्योंकि उस दशा में निर्वाचन की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। रामगुप्त की कहानी यदि सच हो, जिसका अभिचित्रण उसमें चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता के रूप में हुआ है, तो समुद्रगुप्त के निधन और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के बीच कुछ समय का व्यवधान मानना पड़ेगा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन की सबसे पुरानी अंकित तिथि गु० सं० ६१ = ३८० ई० है [मथुरा अभिलेख, एपि० इण्डि०, एकविंश, पृ० ८ एवं आगे]।

राज्य-काल

इस आधार पर हम यह मान सकते हैं कि उसका शासन कम से कम ३८० ई० के पूर्व तो अवश्य ही स्थापित हो गया। कतिपय तिथि-युक्त अभिलेखों से उसके राज्य-काल की सीमाएँ निश्चित करने में सहायता मिलती है। उसका अन्तिम तिथियुक्त लेख गु० स० ९३ = ४१२ ई० का साँची प्रस्तर अभिलेख है। [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ३१]। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम का जो सबसे पुराना तिथियुक्त लेख उपलब्ध है वह गु० सं० ९६ = ४१५ ई० का बिलसड प्रस्तर स्तम्भ-लेख है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन ४१२ और ४१५ के बीच में किसी समय संभवतः ४१३ अथवा ४१४ ई० में या उसके आस-पास जाकर समाप्त हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता से एक विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार-स्वरूप प्राप्त किया था। पर उसके पिता के समय के शत्रु शक उसके मार्ग के कंटक थे।

शकों से युद्ध

भारत में शकों की बची हुई शक्ति अभी पश्चिमी मालवा (उज्जैन), गुजरात और सौराष्ट्र (काठियावाड़) में विद्यमान थी। चन्द्रगुप्त इन पश्चिमी क्षत्रपों के विनाश पर तुल गया। यह निर्विवाद है कि उसने उन पर एक महान् विजय पाई थी और उनके विषय अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिये थे। इस शकों के युद्ध के साहित्यिक सन्दर्भों की चर्चा हो चुकी है जिसमें शकों का अधिपति चन्द्रगुप्त द्वारा एक अ-प्रत्याशित चाल से जिसका उल्लेख

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'देवीचन्द्रगुप्तम्' तथा 'हर्षचरित' प्रभृत रचनाओं में आता है, मारा गया था [पूर्वो०]। वे सभी सन्दर्भ इस बात की सूचना देते हैं कि शकाधिपति अपने ही नगर में मारा गया था। इस युद्ध की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ अन्य प्रमाणों से भी सूचना मिलती है। वाकाटकों के साथ चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध स्थापित करना विद्वानों द्वारा इस बात का प्रमाण घोषित किया गया है कि वह पश्चिमी भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रारंभिक तैयारी स्वरूप था [नीचे, पृ० ३११]। उदयगिरि (भिलसा के समीप, पूर्वी मालवा) गुहालेख स० २ में उसके सन्धि-विग्रहिक पाटलिपुत्र निवासी शाब-वीरसेन द्वारा जो अपने स्वामी चन्द्रगुप्त के साथ उसके भू विजय के अभियान पर (कृत्स्न-पृथ्वीजयार्थेन) गया था शम्भु (शिव) के निमित्त एक गुहा दान करने का उल्लेख हुआ है। खेद केवल इतना है कि अभिलेख तिथि-रहित है जिससे अभियान का काल नहीं निर्धारित हो पाता। परन्तु उससे अभियान के मार्ग का पता चलता है। चन्द्रगुप्त के युद्ध-मंत्री शाब-वीरसेन की गुहा-प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष ही महादेव की आराधना कर उनसे भावी-युद्ध के लिए जयाशीर्वाद प्राप्त करना था। युद्ध की तिथि एवं विजय की घटना के सम्बन्ध में कुछ आभास चन्द्रगुप्त द्वितीय के चाँदी के सिक्के देते हैं। यह हमें विदित है कि चाँदी के सिक्के उस समय तक केवल भारत के शक शासकों ने ही ढलवाये थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व किसी भारतीय नरेश ने कभी चाँदी के सिक्के नहीं चलवाये थे। प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त ने शकों की शक्ति नष्ट कर उनके प्रदेशों पर अधिकार जमा लेने के बाद उनके अनुरूप चाँदी के सिक्के चलाये। अन्तिम शक नरेश रुद्रसिंह तृतीय के जो शायद चन्द्रगुप्त द्वारा पराजित होनेवाला उसका शत्रु शक शासक था अन्तिम बार ३०० (+) १० शक सं० = ३८८ ई०[1] में चाँदी के सिक्कों के चलाने का पता चलता है तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के चाँदी के चिक्कों पर जो तिथि मिलती है वह ९० (+)×, गु० सं० है जिसे एलेन (३१९ + ९०—१०) ३९९ ई० मानते हैं।[2] इस प्रकार पश्चिमी क्षत्रपों पर विजय एवं चन्द्रगुप्त

१. रैप्सन, कैटलॉग', पृ० १९४ और आगे, सं० ९०७।

२. एलेन, 'कैटलॉग', पृ० अष्टत्रिंशत् और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

द्वारा सिक्कों के प्रचलन का समय ३८८ और ३९९ ई० के बीच है। डॉ० विन्सेएट स्मिथ ने पश्चिमी क्षत्रपों पर विजय पाने की तिथि ३९५ ई० के लगभग अनुमानित किया है जो ऊपर किये गये विवेचन के अनुसार काफी युक्तियुक्त जान पड़ता है।

✓ गुप्त शासकों की यह विशेषता थी कि उन्होंने दूरदर्शितापूर्ण राजनीतिक विवाहों को अपनी बाह्य नीति का एक अङ्ग बना लिया। बिहार में चन्द्रगुप्त प्रथम की स्थिति जमाने में उसके लिच्छवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रभाव था। अपने पितामह का अनुसरण कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दो महत्त्वपूर्ण वैवाहिक सम्बन्ध किये। उसने स्वयं नाग कुल की एक राजकुमारी कुबेरनागा के साथ अपना विवाह किया और उससे एक पुत्री प्रभावती को जन्म दिया [एपि० इण्डि०, पञ्चदश, पृ० ४१ और आगे, पृ० ४१६]।[१]

वैवाहिक सम्बन्ध

यद्यपि समुद्रगुप्त द्वारा नाग पराजित हुए मध्य भारत में उनका कुछ प्रभाव उसके समय में वर्तमान रहा जो पद्मावती को अपनी राजधानी बनाये हुए राज्य करते रहे। इस प्रकार इस बुद्धिमत्तापूर्ण विवाह से उसने इस प्राचीन राजवंश की मैत्री प्राप्त कर ली। इसके बाद उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता वाकाटक नरेश रुद्रसेन को ब्याही [एपि० इण्डि०, पञ्चदश, पृ० ४१ और आगे, पृ० ४१६]। यह तो हम देख ही आये हैं [पूर्वो०, पृ० २९८] कि समुद्रगुप्त के समय में वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम (इलाहाबाद स्तंभ-लेख का रुद्रदेव) जो बुन्देलखण्ड तथा मध्य और पश्चिमी दक्खिन पर राज्य करता था उत्तरी भारत के नरेशों में सबसे अधिक शक्तिशाली था जो गुप्त सम्राटों का सामना एक संयुक्त राष्ट्र संघ के नायक के रूप में कर सकता था। इसमें सन्देह नहीं कि वाकाटकों को समुद्रगुप्त के सामने नीचा देखना पड़ा और उनका काफी राज्य उनके हाथ से निकल गया। फिर भी मध्य-दक्खिन में उनका प्रभुत्व बहुत कुछ बना रहा जिस समय वहाँ रुद्रसेन द्वितीय अधिपति था और चन्द्रगुप्त ने उनके साथ सन्धि द्वारा मैत्री स्थापित की, न कि विग्रह से। डॉ० विन्सेएट स्मिथ ने इस पर ठीक ही अपना यह मत व्यक्त किया था

---

१. प्रभावती गुप्ता का पूना ताम्र-पत्र अभिलेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि 'वाकाटक महाराज का अधिकार एक ऐसी भौगोलिक स्थिति पर था जिसमें वह गुजरात और सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों के विरुद्ध उसके उत्तरी आक्रान्ता को काफी सहायता दे सकता था' [जे० आर० ए० एस०, १९१४, पृ० ३२४]। इसके अतिरिक्त इस मैत्री से नवाधिकृत शकों के सौराष्ट्र विषय पर उसके सबसे निकटवर्त्ती दक्षिण-पूर्वी पड़ोसियों—वाकाटकों से किसी तरह के आक्रमण न होने का आश्वासन सा भी मिल गया।

विजय के परिणाम

शक प्रदेशों के विजय से जो पश्चिमी मालवा (उज्जैन), गुजरात और सौराष्ट्र के अत्यन्त उपजाऊ भाग थे गुप्त साम्राज्य के ऐश्वर्य में कहीं अभिवृद्धि हुई और उसका पश्चिमी सामुद्रिक व्यापार के क्षेत्र एवं उसके बन्दरगाहों से सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया जिससे उसके सामुद्रिक व्यापार का प्रसार हुआ। विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध हो जाने के फल-स्वरूप उनके साथ खूब सांस्कृतिक आदान-प्रदान होने लगा।

गुप्तों के शासन में उत्तरी और पश्चिमी भारत के एक दूसरे से सर्वथा मिले होने के कारण आंतरिक व्यापार एवं यात्रियों के यातायात में भी वृद्धि हुई, क्योंकि अब व्यापारिक माल बिना किन्हीं अन्तर्यात्रा में पड़नेवाले राज्यों की सीमाओं को पार करने के फलस्वरूप अनेक प्रकार के शुल्क दिये ही सुगमता से उत्तर से पश्चिम और पश्चिम से उत्तर लाये जा सकते थे। वाणिज्य तथा यात्रियों की दृष्टि से उज्जैन उस समय एक अत्यन्त प्रसिद्ध नगर हो रहा था जहाँ विभिन्न दिशाओं से आकर सड़कें मिलतीं थीं तथा उसे पश्चिमी बन्दरगाहों से भी संयुक्त करती थीं। चन्द्रगुप्त ने तो उज्जैन को अपनी दूसरी राजधानी ही बना लिया और उसे भारत के एक धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्र का रूप दे दिया। शायद इस विजय के बाद ही उसने विक्रमादित्य की उपाधि भी धारण की।

फाहियान का आगमन

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना चीनी यात्री फाहियान की भारत-यात्रा थी। वह गोबी मरुभूमि को पारकर तथा खोतन, पामीर, स्वात और गन्धार के पहाड़ी इलाकों से होता हुआ और मार्ग में महान् कठिनाइयों और संकटों का सामना करता हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पेशावर पहुँचा जहाँ उसने उस समय के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध बौद्ध धार्मिक स्थानों का दर्शन किया। पेशावर से वह पञ्जाब में आ घुसा और क्रमशः दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ता गया। उसने अपनी यात्रा में पड़नेवाले मथुरा, संकाश्य, कन्नौज, कौशाम्बी, काशी, कुशीनारा, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, पाटलिपुत्र, नालन्दा आदि स्थानों का परिभ्रमण किया। इसके बाद उसने ताम्रलिप्ति (तामलुक, मिदनापुर जिले में) के लिए प्रस्थान किया जहाँ से समुद्र द्वारा वह स्वदेश को लौट गया। स्वदेश लौटते समय वह सिंहल तथा जावा में भी ठहरा था। अपने देश से वह ३९९ ई० में चला था और ४१४ ई० में स्वदेश वापस पहुँच गया। इस प्रकार उसने कुल १५ वर्ष तक भ्रमण किया। जिसमें से ७ वर्ष (४०५—४११) तो उसने केवल भारत में ही बिताये। भारत के इस लम्बे पर्यटन में फाहियान ने मुख्यतः बौद्धों के धार्मिक स्थानों का निरीक्षण किया और उनका वृत्तान्त लिखा क्योंकि उसके भारत आने का प्रधान हेतु ही यही था। उन वृत्तान्तों से जिनमें पर्यटन के मार्ग एवं विविध स्थानों की स्थिति तथा उनके पूर्व इतिवृत्त और वर्तमान अवस्था का विस्तृत विवेचन हुआ है जिनका पुष्टीकरण दो शतियों के बाद उनके तथा दूसरे स्थानों के और भी विस्तृत विवेचन द्वारा अगले चीनी पर्यटक युवान् च्वाङ्ग (७वीं शती ई०) ने किया आधुनिक पुरातत्त्वान्वेषियों को उत्खनन के लिए उन स्थानों की पहचान में अत्यधिक सहायता मिली है। कुछ स्थलों पर उस यात्री ने लोगों के जीवन और साधारण दशा पर भी प्रकाश डाला है जिनके आधार पर उसके समय की देश की अवस्था का कुछ आभास मिलता है।

पाटलिपुत्र

पाटलिपुत्र के विषय में जहाँ उसने तीन वर्ष रहकर संस्कृत का अध्ययन किया उसके वृत्तान्त उपयोगी और मनोरंजक दोनों हैं। उनसे पता चलता है कि पाँचवीं शती ई० में भी यह प्राचीन नगर एक साम्राज्य की राजधानी के रूप में पहले जैसा ही समृद्धशाली था और उसकी ख्याति विविध ज्ञान, विज्ञान और धर्म के एक महान् केन्द्र के रूप में वैसी ही फैली हुई थी। उसका कहना है कि नगर में दो विशाल और सुन्दर विहार थे जिनमें से एक हीनयान मतानुयायियों का था और दूसरा महायानियों का। उनमें से प्रत्येक में ६-७ हजार के लगभग विद्वान् भिक्षु निवास करते थे जो हजारों विद्यार्थियों को जो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
भारत के विभिन्न भागों से उनके पास आते थे शिक्षा देते थे। अशोक द्वारा निर्मित राजभवन जो अब भी वैसा ही बना हुआ था अपने वैभव से उसे आश्चर्यान्वित करने के लिए काफी था। वह इस प्रकार वर्णन करता है—"नगर के मध्य भाग में अवस्थित राजभवन तथा दूसरे भवन जो पहले की तरह वर्तमान हैं सभी यक्षों की कृतियाँ हैं जिनसे वह (सम्राट्) काम लेता था और जिन्होंने पत्थरों की ढेरियाँ लगा दीं और उनसे बड़े-बड़े दीवार एवं तोरण-द्वार निर्मित कर उनमें ऐसी सुन्दर पच्चीकारी तथा तक्षण के कार्य कर डाले जिन्हें क्या कोई मानव-शिल्पी सम्पादित कर सकता है।"[१] यात्री ने नगर को अत्यन्त समृद्ध देखा था और वहाँ के नागरिकों के बारे में उसकी धारणा यह थी कि लोग सार्वजनिक कार्यों में विशेष रुचि रखते थे—यहाँ तक कि "सार्वजनिक कार्यों और दान आदि में वे परस्पर होड़ लगाये बैठे थे।" वह कहता है कि वैश्य कुलों के प्रधान पुरुषों ने दानशालाएँ और चिकित्सालय बनवा रखे थे। नगर में उसने कई अच्छे चिकित्सालय (Hospitals) देखे जिन्हें श्रेष्ठियों और गृहपतियों ने बनवाया था जिनमें दरिद्र रोगियों को निःशुल्क भोजन मिलता और उनकी परिचर्या होती थी। उस यात्री ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों की अत्यन्त अलंकृत प्रतिमाओं को भी बड़े समारोह के साथ एक बड़े जुलूस में निकलते देखा था जो नगरवासी प्रतिवर्ष वैशाख की अष्टमी को निकालते थे। इनमें कम से कम बीस रथ थे जो एक ही आकार-प्रकार के थे, किन्तु उनका रंग भिन्न था और उन पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी हुई थी। ये प्रतिमाएँ उन्हीं पर ले जाई जा रही थीं।

यात्री के स्फुट वृत्तान्तों से हमें मध्य-देश (चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शासित) की सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था का आभास होता है। उसका कहना है कि

समाज तथा धर्म

लोग अधिक संख्या में तथा सुखी थे। अधिकांश जनता शाकाहारी थी और अहिन्सा (प्राणि-वध का त्याग) के सिद्धान्त पर चलती थी। बाजारों में लोग सुरा नहीं बेच सकते थे और न अपने घरों में मांस के लिए सुअर या पक्षी जिला सकते थे। वे मांस नहीं खाते थे, प्याज या लहसुन तक का व्यवहार

१ फाहियान, 'ट्रैवेल्स', लेगी (Legge) द्वारा अनुवादित, सत्ताईसवाँ अध्याय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं करते थे; वे सुरापान भी नहीं करते थे। केवल चाण्डाल जो साधारण समाज से पृथक् माने जाते थे आखेट करते और मांस आदि खाते थे। उसने लिखा है कि "क्रय-विक्रय में केवल कौड़ियों का प्रयोग होता था।" यह कथन तो साफ गलत है। इससे सम्भवतः उन छोटे क्रयादि से तात्पर्य जान पड़ता है जो यात्री को स्वयं करने पड़े थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे सुवर्ण के सिक्कों का व्यवहार होते नहीं दिखाई पड़ा था जिनकी आवश्यकता केवल बड़े क्रय विक्रय में होती है। पर उनका प्रचलन वस्तुतः था यह हमें अभिलेखों के 'दीनार'' और "सुवर्ण" के दान के संकेतों से ज्ञात होता है [एलेन]। यों प्रजा काफी सन्तुष्ट थी और अपराध भी कम होते थे इसका समर्थन यात्री के इस वर्णन से होता है कि "राजमार्गों पर उसके साथ किसी प्रकार का अत्याचार नहीं हुआ।" उन राजमार्गों के किनारे बने हुए विश्राम गृहों में यात्रियों के ठहरने के लिए पर्याप्त स्थान और सुविधाओं का प्रबन्ध था। जलवायु शीतोष्ण थी और शीत और तुषार का प्रकोप नहीं होता था।

फाहियान एक बौद्ध भिक्षु और यात्री था जो भारत इस पवित्र उद्देश्य से आया था कि यहाँ बौद्ध तीर्थ-स्थानों का भ्रमण करेगा और बौद्ध ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों (Mss.) का संग्रह करेगा। यही कारण है जो बौद्ध-धर्म के वर्णन में वह अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक उत्साहशील दिखाई देता है। उसके अनुसार पंजाब, बंगाल तथा मथुरा में बौद्ध-धर्म का 'व्यापक प्रचार था।' अन्तिम स्थान में यात्री को बीस बौद्ध संस्थाएँ दिखाई दी थीं। जीवन की बौद्ध प्रणाली—जीवहिन्सा और मांसाहार से उपरति का साधारणतया पालन होता था। हीनयान तथा महायान दोनों मत समान रूप से उत्कर्ष पर थे। फिर भी मध्य-भारत में बौद्ध धर्म की अवनत दशा का साफ पता चल जाता था जहाँ के हरएक प्रधान नगरों में यात्री को एक-दो विहार ही देखने में आये, ऐसे ही कहीं और विहार दिखाई दिये। इस प्रदेश में ब्राह्मण-धर्म का बोलबाला था यह इस बात से ही स्पष्ट है कि यहाँ का शासक एक वैष्णव था जैसा कि उसकी मुद्राओं और अभिलेखों के साक्ष्य से पता चलता है। परन्तु गुप्त शासक कट्टर धर्म-सहिष्णु था जिससे 'ब्राह्मण विधर्मी' और बौद्ध एक साथ अच्छी से अच्छी सम्भावना लेकर रहते थे। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की असंख्य गुप्त-कालीन प्रतिमाएँ जो आज भी वर्तमान हैं तथा बौद्धों को राजकर्मचारियों तक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
द्वारा दिये गये दानों के आभिलेखिक वृत्तान्त [का० इ० इ०, तृतीय भाग, सं० ५] इस बात के प्रमाण हैं।

फाहियान के यात्रा विवरण से हमें चन्द्रगुप्त द्वितीय की शासन-नीति का साधारण परिचय मिल जाता है, यद्यपि वह शासक का नाम नहीं देता। उस समय के शासन में प्रजानुरंजन पर विशेष ध्यान रहता था, शासन की नीति में मुक्त व्यवसाय (Laissez faire) को मान्यता दी गई थी और प्रजा काफी सुखी थी। यात्री को यह देखकर प्रसन्नता हुई थी कि 'लोगों को अपने घरों की छोटी-मोटी बातों का न तो व्योरा ही देना पड़ता था और न किन्हीं न्यायाधिकारियों या शासकों के यहाँ बराबर उपस्थिति।' शासन की व्यवस्था अत्यन्त मृदु थी और हस्तक्षेप से दूर जो मौर्यों की पैतृक ढङ्ग की शासन-व्यवस्था से ठीक विपरीत थी। यदि लोगों की इच्छा होती तो वे जा सकते थे, वे चाहते तो किसी स्थान पर ठहरे रह सकते थे; उन्हें न तो कोई अनुमति-पत्र (Passport) प्राप्त करना पड़ता था और न अपना नाम ही कहीं दर्ज कराना पड़ता था। राजा का राज्य अल्पतम और मृदु से मृदु नियमों के आधार पर चला जाता था। बहुत-से अपराधों का शमन केवल आर्थिक-दण्ड द्वारा होता था जो अपराध की गुरुता के आधार पर कम या अधिक लगाया जाता था। मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता था। सबसे बड़ा दण्ड अंग-भंग समझा जाता था जिसका विधान कई बार राजद्रोह के अभियोग में पकड़े जानेवाले व्यक्ति के लिए व्यवहृत होता था। भूमि राजा की मानी जाती थी जिस पर 'राजस्व' (Revenue) लगता था। राजकर्मचारियों को नियत समय पर निर्धारित एवं अच्छा वेतन मिलता रहने के कारण उनके द्वारा अतिरिक्त कर आदि के रूप में प्रजा पर अत्याचार नहीं होने पाता था।

गुप्त शासन-नीति

फाहियान के उपर्युक्त विवरण के अलावा बसाढ़ की मुहरों[1] तथा

---

१ प्राचीन वैशाली। इस स्थान की खोदाई श्री ब्लॉच (Mr. Bloch) ने कराई थी जिन्होंने १९०३ में अपनी विज्ञप्ति प्रकाशित की [एनुअल रिपोर्ट ऑव द आर्केयालॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, १९०३—०४, पृ० सं० १०१ – २०]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज-तंत्र

अन्य अभिलेखों से हमें चन्द्रगुप्त द्वितीय एवं उसके उत्तराधिकारियों के समय के राजतंत्र के विषय में ज्ञान होता है।

सम्पूर्ण राज्य का स्वामी सम्राट् था जिसकी सहायता के लिए मंत्री (मन्त्रिणः) होते थे जिनका यह प्रायः पितृक्रमानुगत होता था (अन्वय-प्राप्त-साचिव्य)।[१] उनमें से कुछ जैसे युद्ध और शान्ति के मंत्री (सान्धि-विग्रहिक) सम्राट् के साथ युद्ध-भूमि में जाया करते थे [वही]। कुछ कई पदों पर नियुक्त थे अथवा भिन्न समय में भिन्न पदों पर रहकर काम करते थे। उदाहरण-स्वरूप, हरिषेण को समुद्रगुप्त के इलाहाबाद अभिलेख में उसका 'सान्धि-विग्रहिक' (युद्ध और शान्ति का सचिव); 'कुमारामात्य' (एक कुमार के बराबर या एक उपमंत्री जिसका पिता जीवित हो) तथा 'महादण्डनायक' (पुलिस-विभाग का प्रधान कर्मचारी जिसे कण्टकशोधन न्यायालय के उपयुक्त मुकदमों के देखने का अधिकार प्राप्त हो) कहा गया है।

केन्द्रीय शासन

सारा साम्राज्य कई प्रान्तों में जिन्हें 'भुक्ति' या 'देश' कहते थे बँटा हुआ था। उनका शासन प्रान्ताधिपतियों के हाथ में था जो 'उपरिक महाराज, या 'गोप्तृ' कहलाते थे। उनकी नियुक्ति सम्राट् करता था। वे बहुधा राजकुल के राजकुमार होते थे। यथा, बसाढ़ की मुहरों में हम चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र गोविन्दगुप्त को तीरभुक्ति (तिरहुत, बिहार)[२] के शासक के रूप में पाते हैं। अभिलेखों से हमें निम्नलिखित प्रान्तों के नामों का पता चलता है, यथा—पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति, तीरभुक्ति, नगरभुक्ति, श्रावस्तीभुक्ति तथा अहिच्छत्र-भुक्ति, सुकुलिदेश और सौराष्ट्र।

प्रान्तीय शासन

प्रत्येक प्रान्त (भुक्ति या देश) 'विषयों' और 'प्रदेशों' में विभक्त था।

---

१ उदयगिरि गुहाभिलेख, सं० २, शाब वा [कॉ० इ० इ०, तृतीय, स० ६]।

२ आर्कयालॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, १९०३-०४, पृ० सं० १०२, १०७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक विषय एक आधुनिक जिले के बराबर होता था और उसका अधिकारी विषयपति कहलाता था जिसके प्रधान कार्यालय का स्थान 'अधिष्ठान' के नाम से विख्यात था। विषयपति के पद पर कुमारामात्य जैसे राजकर्मचारी (दामोदरपुर के ताम्र-पत्र) एवं सामन्त महाराज (बुद्ध गुप्त का एरण प्रस्तर स्तंभ-लेख) नियुक्त किये जाते थे। विषयपतियों की नियुक्ति प्रायः उपरिकों या प्रान्तीय शासकों द्वारा होती थी जिनके अनुशासन में वे काम करते थे। दृष्टान्त-स्वरूप, दामोदरपुर के ताम्र-पत्रों[1] में कोटिवर्ष का विषयपति पुण्ड्रवर्द्धन (राजशाही—दिनाजपुर कमिश्नरियाँ, बंगाल) के उपरिक द्वारा नियुक्त (तन्नियुक्तक) किया गया था। इसी प्रकार के ऐरिकिण और त्रिपुरी[2] के विषयपतियों के सन्दर्भ मिलते हैं। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कुछ विषयपतियों की नियुक्ति सीधा सम्राट् करता था और सम्राट् से ही उनका सीधा सम्पर्क था जैसा कि चन्द्रगुप्त के इन्दोर ताम्र-पत्र लेख [इण्डि० ऐन्टि०, अष्टादश, पृ० २१९] से सूचित है। यहाँ अन्तर्वेदी के विषयपति सर्वनाग के सम्राट् द्वारा नियुक्त किये जाने का (तत्पाद-परिगृहीत) वर्णन आता है। परम्परा में अन्तर्वेदी से अभिप्राय गङ्गा और यमुना एवं प्रयाग तथा हरद्वार के बीच के भू-खण्ड से रहा है। इस दो-आब प्रदेश में आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश का अधिकांश सम्मिलित है। इन्दोर, आधुनिक जिला बुलन्दशहर, जहाँ यह लेख पाया गया था, प्रत्यक्ष ही विषय के अधिष्ठान के रूप में था जो वस्तुतः इस अन्तर्वेदी (दो-आब) में ही पड़ता है। संभवतः अन्तर्वेदी साम्राज्य के गृह-प्रान्त में समझा जाता था जिसका शासन सीधा सम्राट् के हाथों में था, किसी उपरिक की सहायता से सम्पादित नहीं होता था। विषयपति के प्रधान कार्यालय का स्थान जहाँ उसका 'अधिकरण' (कार्यालय) होता था 'अधिष्ठान' कहलाता था। विषय के शासन के सम्बन्ध में दामोदरपुर ताम्र-पत्रों से कुछ मनोरंजक प्रकाश पड़ता है जिनमें विषयपति को उसके शासन में सहायता देनेवाले बहुत-से कर्मचारियों का उल्लेख हुआ है। वे कर्मचारी ये हैं—

विषय का शासन

---

१ एपि० इण्डि०, पञ्चदश, पृ० सं० १३०, १३३।

२ तुलनार्थ, रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री,' तृ० सं०, पृ० ३८१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर-श्रेष्ठी···(नगर का प्रधान सेठ अथवा श्रेणी-प्रमुख)

सार्थवाह	···	(नगर का मुख्य व्यवसायी अथवा व्यवसाय-मण्डल का प्रधान)
प्रथम-कुलिक	···	(प्रधान शिल्पी अथवा शिल्पि-संघ का प्रमुख)
प्रथम कायस्थ	···	(प्रधान लेखक)
पुस्तपाल	···	(संग्रहाधिकारी)

तथा इसी प्रकार के अन्य। ऐसा संभव है कि उनका एक प्रकार का म्यूनिसिपल या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड (परिषद्)[१] रहा होगा जिसका प्रथम कायस्थ मंत्री के रूप में जिले और नगर के काम में सहायता देता रहा होगा। पुस्तपाल (Record-Keeper) के कार्य का तो स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उसका कार्य भूमि का वर्गीकरण करना तथा राजा को उसकी सूचना देना था तभी उसका विक्रय हो सकता था [वही]।

ग्राम शासन

प्रत्येक विषय या जिला बहुत-से ग्रामों में जो शासन की सबसे छोटी इकाइयाँ था बँटा हुआ था। ग्राम का मुखिया 'ग्रामिक' कहलाता था जो ग्राम का शासन प्रबन्ध करता था और ग्राम की शान्ति और मर्यादा का उत्तरदायी होता था। उसके इस कार्य में 'पञ्चमण्डल' अथवा पञ्चायतें सहायता देती थीं जिनमें ग्राम-वृद्ध होते थे।[२]

राज-कर्मचारी

यह तो निस्सन्देह है कि शासन-प्रणाली कर्मचारि-तंत्र (Bureaucracy) पर निर्भर थी जिसमें सम्राट् से नीचे सभी कर्मचारी होते थे। बसाढ़ की मुहरों तथा अन्य अभिलेखों से साम्राज्य के शासन के विविध कर्मचारियों के नाम उपलब्ध होते हैं, यथा—

---

१ डॉ० ब्लॉच को बसाढ़ में एक मुहर मिली है जो उदानकूप के परिषद की है। इसी तरह बिलसड अभिलेख [कॉ० इ० इ०, तृतीय, ४३ और आगे] में एक 'पर्षद' का उल्लेख आता है।

२ कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ३१ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपरिक	...	(प्रान्तीय शासक)
सान्धिविग्रहिक	...	(पूर्वो० ,,)
कुमारामात्य	...	(पूर्वो० ,,)
महादण्डनायक	...	(पूर्वो० ,,)
विनयस्थिति-स्थापक	...	(Censor)
महा-प्रतिहार	...	(Chamberlain)
और भटाश्वपति	...	(सेना और अश्वारोहियों का नायक)

तथा इसी प्रकार ऐसे कार्यालयों के नाम मिलते हैं, जैसे—

दण्ड-पाशाधिकरण	...	(पुलिस के प्रधान कर्मचारी का कार्यालय)
बलाधिकरण ...	...	(सेनानायक का कार्यालय)
रण-भाण्डागाराधिकरण	...	(प्रधान युद्ध अर्थ-सचिव का कार्यालय)
तीर-भुक्ति-उपरिक-अधिकरण	...	(तिरहुत के प्रान्तीय शासक का कार्यालय)
एवं वैशाल्याधिष्ठिताधिकरण	...	(वैशाली के जिले के प्रमुख विभागों का कार्यालय)।

राजकर्मचारियों की नियुक्ति में उनकी योग्यता पर ध्यान रखा जाता था न कि किसी जातीय पक्षपात की भावना का। उदाहरण के लिए चन्द्रगुप्त ने जो कि 'परम-भागवत' था अपना विश्वासपात्र सेनानायक 'अनेक युद्धों के विजेता' आम्रकार्दव को बनाया था जो बौद्ध था[१] और अपना सन्धि-विग्रहिक शाब-वीरसेन को नियुक्त किया था जो शैव था।[२]

राजकर्मचारियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित प्रदेशों के अतिरिक्त सामन्त राज्य और प्रज्ञातन्त्र भी थे जो सम्राट् की अधीनता तो स्वीकार करते थे किन्तु उन्हें आन्तरिक विषयों में स्वायत्त का अधिकार प्राप्त था।[३]

१ कॉ० इ०; इ० तृतीय, पृ० ३१।

२ वही, पृ २५।

३ तुलनार्थ, समुद्रगुप्त का इलाहाबाद अभिलेख तथा दूसरे अभिलेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुद्राशास्त्र से सम्बन्धित चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ऐसे नये प्रयोग किये जिनमें पर्याप्त मौलिकता थी। उसके शासन-काल में हम मुद्राओं पर से सिंहासन-स्थिति देवी को हटाकर विशुद्ध भारतीय रूप में कमलासन पर अवस्थित देवी को अंकित पाते हैं। पर्यङ्क-वाले तथा छत्रवाले सिक्के तो सर्वथा मौलिक हैं।

सिक्के

उसने अश्वारोही-मुद्रित सिक्कों का भी प्रचलन किया जिसका उसके अधिकारियों ने काफी स्वागत किया। इसी प्रकार सिंह अङ्कित सिक्के भी उसी के निकाले हुए थे। उसके शासन में यह एक और विशेष बात हुई कि चाँदी के सिक्के ढलवाये गये जिनका प्रचुर परिमाण में उसके उत्तराधिकारियों—कुमारगुप्त प्रथम एवं स्कन्दगुप्त ने प्रयोग किया। चाँदी के सिक्के ढलवानेवाला वह प्रथम ही गुप्त शासक हुआ है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय कम से कम दो अन्य नामों से विदित है—'देवराज' जिसका प्रयोग साँची प्रस्तर-लेख [कॉ इ० इ०, तृतीय, पृ० ३१ एवं आगे] में हुआ है तथा 'देवगुप्त' जो प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक ताम्र-पत्र लेख [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० २३६ एव आगे] में आता है। यदि मेहरौली (दिल्ली के पास) स्तम्भ-लेख का आशय तीसरे गुप्त सम्राट् से है तो उसकी एक अभिधा केवल 'चन्द्र' भी मानी जा सकती है [देखिए चतुर्थ परिशिष्ट]। उसकी उपाधियाँ कई थीं। विक्रमादित्य की उपाधि तो उसने संभवतः शकों पर विजय पाने के उपरान्त धारण की थी। उसके सिक्कों पर विक्रमाङ्क, नरेन्द्र-चन्द्र, सिंह-विक्रम, सिंह-चन्द्र इत्यादि उपाधियाँ मिलती हैं। उसके अभिलेख उसे 'परम-भागवत महाराजाधिराज श्री भट्टारक' के विशेषण से अभिहित करते हैं। अनुश्रुति में वह उज्जैन के विक्रमादित्य शकारि के नाम से प्रसिद्ध है।

नाम और उपाधियाँ

उसके कम से कम दो पुत्रों का नाम मिलता है—पहला कुमारगुप्त प्रथम जो उसके बाद सम्राट् हुआ तथा दूसरा गोविन्दगुप्त जो तीरभुक्ति (विहार) का उपरिक था। दोनों उसकी अग्रमहिषी ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी से उत्पन्न हुए थे। ध्रुवदेवी नाम अभिलेखों में तथा अनुश्रुति में मिलता है,

राज-कुटुम्ब

२१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ध्रुवस्वामिनी एक बसाढ़ की मुहर में गोविन्दगुप्त की माता के रूप में आया है। एक वाकाटक अभिलेख में उसकी एक अन्य रानी—कुबेरनागा का नाम दिया हुआ है जिसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता वाकाटक नरेश रुद्रसेन की पट्ट-महिषी एवं दिवाकरसेन, दामोदरसेन और प्रवरसेन की माता थी।[१]

[चतुर्थ परिशिष्ट]

मेहरौली स्तंभ-लेख का 'चन्द्र'

दिल्ली से ९ मील दक्षिण स्थिति मेहरौली नामक एक गाँव में वर्तमान एक लौह-स्तंभ पर उत्तीर्ण अभिलेख में विशुद्ध संस्कृत छन्दों तथा पाँचवीं शती० ई० की गुप्त वर्णमाला में किसी 'चन्द्र' के विजय का वर्णन हुआ है जिसके वंशादि के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी हुई है, परन्तु जो बहुत संभव है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही था। अभिलेख तिथि-रहित है और 'प्रशस्ति' के चतुर्थ श्लोक से उसके सम्राट् के निधनोपरान्त उत्कीर्ण किये जाने का पूरा-पूरा अनुमान होता है। अभिलेख का उद्देश्य विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णुध्वज की स्थापना की स्मृति कराना था जो संभवतः दिल्ली की पहाड़ी का ही नाम था। प्रशस्ति में इस प्रकार वर्णन आता है कि वे सभी शत्रु जिन्होंने बंगाल से आकर एक संघ स्थापित कर (समेत्यागताः) उसके (चन्द्र के) ऊपर आक्रमण कर दिया था परास्त हुए थे। इसी प्रकार उसने (चन्द्र ने) सिन्धु के सप्त मुखों अथवा सप्त शाखाओं को पार कर वाह्लीकों को युद्ध में पराजित किया था और अपने बाहुबल से (स्वभुज-विजित) पृथ्वी का 'एकाधिराज्य' प्राप्त कर दीर्घ काल तक (सुचिरं) उसका उपभोग किया।

अभिलेख के 'चन्द्र' के निर्धारित करने में विद्वानों में बड़ा विवाद चला है। आर०-जी० बसाक ['हिस्ट्री ऑव नॉर्थ-ईस्टर्न इण्डिया', पृ० सं० १३—१८], फ्लीट [कॉ० इ० इ०, तृतीय, भूमिका, पृ० १२] तथा आयंगर

१ एपि० इण्डि०, पञ्चदश, पृ० ४१ और आगे; जे० ए० एस० बी०, न्यू० स० विंशति, ५८ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

['स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री', पृ० २४] का मत है कि चन्द्र से अभिप्राय चन्द्रगुप्त प्रथम से है। परन्तु चन्द्र के वाह्लीक विजय से चन्द्रगुप्त प्रथम का अधिकार सिंध तक मानना होगा। यह चन्द्रगुप्त प्रथम की कृतियों का एक अतिरंजित अनुमान जान पड़ता है। समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति से पता चलता है कि उसके पिता का राज्य पाटलिपुत्र से प्रयाग के बीच गङ्गा की घाटी में सीमित था; प्रयाग से और उत्तर एवं पश्चिम के प्रदेश जिनमें वर्तमान दोआब तथा संभवतः पंजाब के कुछ भाग सम्मिलित थे स्वयं समुद्रगुप्त के जीते हुए थे। फिर पृथ्वी के एकाधिराज्य का दर्प चन्द्रगुप्त प्रथम के पक्ष में तो बिल्कुल ही अर्थहीन लगता है। पण्डित हरप्रसाद शास्त्री [एपि० इण्डि, द्वादश, पृ० सं० ३१५—२१; त्रयोदश, पृ० १३३] और राखालदास बनर्जी [वही, चतुर्दश, पृ० स० ३६७—७१] उसे शुसुनिया (बंगाल में रानीगंज के पास) शिला-लेख का चन्द्रवर्मन् मानते हैं। किन्तु इस निर्धारण के लिए साध्य आधार-भूमि का अभाव है जिससे विद्वानों ने ठीक ही इसे अस्वीकार कर दिया है। शुसुनिया शिला-लेख का चन्द्रवर्मन् संभवतः समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तंभ-लेख का चन्द्रवर्मन् है जो आर्यावर्त के अन्यान्य शासकों के साथ समुद्रगुप्त द्वारा पराजित हुआ था। डॉ० रायचौधुरी ने भी एक अनुमान प्रस्तुत किया है ['पोलिटिकल हिस्ट्री', च० सं०, पृ० ४४६, टि० १] जो एक अटकल-मात्र है। कल्पना के आधार पर अभी हाल में एक सुझाव बड़े जोरों के साथ सामने रखा गया है ['प्रोसीडिंग्स', इ० हि० कॉ० १९४३, पृ० सं० १२७—२९] वह यह कि मेहरौली स्तंभ का चन्द्र चन्द्रगुप्त मौर्य है और स्तम्भ को गड़वानेवाला चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जिसने उसे अपने आदर्श नायक के गौरवार्थ स्थापित किया। परन्तु जिसकी यह प्रशस्ति है वह निस्सन्देह एक वैष्णव था जब कि चन्द्रगुप्त मौर्य के कभी वैष्णव होने का पता नहीं है। कट्टर ब्राह्मण धर्मावलम्बी चाणक्य के शिष्य के रूप में ही उसे अधिक ख्याति प्राप्त है तथा यह भी हम जानते हैं कि आखेट को उसने अपने आमोद का एक प्रमुख साधन बना रखा था जब तक कि वह शायद जैन नहीं हो गया यदि जैन-साहित्य में सुरक्षित परम्परा सच हो। अन्य विद्वानों ने जैसे विन्सेण्ट स्मिथ, दाण्डेकर और दीनेशचन्द्र सरकार ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चन्द्र को निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य माना है।[१] संभावना भी इसी की है कि मेहरौली अभिलेख का चन्द्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य है। इस निर्धारण के पक्ष में निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिए—

१. चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम केवल चन्द्र के रूप में उसके ताँबे के सिक्कों में भी व्यवहृत हुआ है।

२. उसने एक दिग्विजय किया था [उदयगिरि, गुहा-लेख २] जैसा कि मेहरौली के लेख में अनुमानित है;

३. वह एक साम्राज्य का अधिपति था;

४. दिल्ली का प्रदेश उसके साम्राज्य का एक अङ्ग था और।

५. वह एक वैष्णव था।

जिस श्लोक में यह कहा गया है कि 'उसने सिन्धु के सप्तमुखों को पार किया था और वाह्लीक (बलख) पर विजय पाई थी' उसका अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। सिन्धु के 'सप्त मुखों' का अभिप्राय निस्सन्देह पंजाब की नदियों से है तथा वाह्लीक को भण्डारकर ने रामायण के श्लोकों (द्वितीय, ६८; १८—१९) के आधार पर विपाशा (व्यास) के किनारे अवस्थित बतलाया है और उसी के पड़ोस में विष्णुपद गिरि की स्थिति बतलाई गई है [विष्णुपदं प्रेषमाणा विपाशाञ्चापि शाल्मलीम्; वही]। टार्न का कथन है कि वाह्लीक (बैक्ट्रियन) शब्द का प्रयोग भारत में पहले से भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में निवास करनेवाली कुछ अर्द्ध-विदेशी जातियों के लिए होता आ रहा था ['ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया', पृ० १२५]। अपनी धारणा के प्रतिपादन के लिए वे इस प्रकार समझा कर कहते हैं कि— "उत्तर-पश्चिम की कई जातियाँ ईरान अथवा अन्य स्थानों से आकर यहाँ बस गई थीं, और उनमें से कुछ तो अच्छी तरह भारतीय भी नहीं बन पाई थीं, कुछ उत्तर-ईरानी नाम सिकन्दर की कहानी में आते हैं, इसी प्रकार पंजाब में कुछ ऐसे शब्द व्यवहृत होते हैं और भारतीय लेखकों ने इन सभी अर्द्ध-विदेशी जातियों को सामूहिक रूप से वाह्लीक (बैक्ट्रियन) की संज्ञा दे दी

१. 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया'; 'हिस्ट्री ऑव दि गुप्ताज', से० इ०, पृ० २७५, टि० १।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जिसका एक संकुचित अर्थ झेलम के पश्चिम निवास करनेवाले भल्ल होता था" [वही; पृ० १६६]। इस प्रकार वाह्लीक शब्द जिस तरह अभिलेख में व्यवहृत हुआ है उससे कोई आवश्यक नहीं है कि ठीक बैक्ट्रिया के ही निवासियों का बोध हो। उससे इन अर्द्ध-विदेशी जातियों में से ही किसी का परिज्ञान हो सकता है जो कहीं पंजाब में बसी हो। इस निर्धारण के सम्बन्ध में एक महाकाव्य सन्दर्भ के कारण किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता। महाभारत (आदिपर्व) में हम भद्र देश के जिसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी नरेश शल्य को वाह्लीकाधिपति तथा उसकी भगिनी माद्री को वाह्लीकी संज्ञाओं से अभिहित पाते हैं। मद्रदेश चिनाब और व्यास के बीच का इलाक़ा था। उन दो नदियों के बीच में बसी हुई वाह्लीक जातियों के विषय में अनुमान किया जाता है कि वे दक्षिण में सिंधु की ओर प्रवास कर गईं। सिंधु का यही वह प्रदेश था जहाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उन्हें पराजित किया था जिसके लिए उसे सिन्धु का 'सप्त मुख' लाँघना पड़ा था। ऐसा सम्भव है कि स्तम्भ अपने मूल रूप में इसी विष्णुपद की पहाड़ी पर गड़वाया गया रहा हो जैसा कि अभिलेख में वर्णित है और बाद को दिल्ली के किसी शक्तिशाली शासक द्वारा स्थानान्तरित कर दिया गया हो जैसा कि स्मिथ का अनुमान है ['अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ४०१']। यह हम देख ही चुके हैं [पूर्वो०] कि फ़िरोज़शाह अशोक के दो स्तम्भों को अम्बाला और मेरठ से उखड़वाकर दिल्ली ले आया था। अभिलेख के निधनोपरान्त उत्कीर्ण होने में किसी प्रकार का सन्देह न रहने के कारण डॉ० सरकार ठीक ही यह अनुमान करते हैं कि "स्तम्भ सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने जीवन के अवसान-काल में गड़वाया था और उस पर अपने पिता का निधन होते ही कुमारगुप्त प्रथम ने लेख उत्कीर्ण करा दिया।"[१] अस्तु, यदि चन्द्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय का समीकरण ठीक हो जैसा कि बहुत सम्भव है, तो अभिलेख से दो महत्त्वपूर्ण बातों का निष्कर्ष निकल सकता है :

१. बंगाल जो भारत के दीर्घकालीन इतिहास में निरन्तर विद्रोह का एक

---

१ से० इ०, पृ० २७७, टि० १।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
सांघातिक स्थान रहा है चन्द्रगुप्त द्वितीय के विरुद्ध उभड़ा था, किन्तु उसके द्वारा दबा दिया गया;

२. चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में शकों और कुषाणों की बची-खुची शक्ति को नष्ट कर दिया जिसे समुद्रगुप्त ने केवल अंशतः किया था। एलेन के अनुसार 'वाह्लीकों' का प्रयोग सामान्य अर्थ-परक है जिससे विदेशी आक्रान्ताओं का बोध होता है [एलेन, पृ० षट्त्रिंशत्]।

कुमारगुप्त प्रथम

(लग० ४१४—४५५ ई०)

कुमारगुप्त अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद राजसिंहासन पर बैठा। उसके बहुत से तिथि-युक्त अभिलेखों और मुद्राओं से हमें उसका राज्य-काल निश्चित करने में कुछ तो निश्चयात्मकता का अनुभव होता ही है। उसकी सबसे पुरानी लिपि-बद्ध तिथि (बिलसड अभिलेख में) गु० सं० ९६=४१५ ई० है। सबसे बाद की तिथि जो उसके चाँदी के सिक्कों पर दी हुई रहती है गु० सं० १३६ = ४५५ ई० है।[१] यह भी हमें ज्ञात है कि कुमारगुप्त के पुत्र एवं उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त की सबसे पुरानी लिखित तिथि १३६ गु० सं० = ४५५ [जूनागढ़ शिला-लेख] है। अतः कुमारगुप्त का राज्य-काल निश्चित रूप से ४१४ या ४१५ तथा ४५५ ई० के बीच पड़ता है।

राज्य-काल

कुमारगुप्त के सिक्कों के प्राप्ति-स्थानों तथा उन पर दिये हुए भुक्ति के शासकों के नामों से हमें उसके द्वारा शासित क्षेत्र का कुछ आभास होता है। उनसे पता चलता है कि उसने साम्राज्य की शक्ति और एकता अक्षुण्ण रखी। उसके सिक्कों की विविधता तथा संख्या को देखते हुए जिनमें सोने और चाँदी दोनों तरह के सिक्के सम्मिलित हैं हम सहज अनुमान कर सकते हैं कि उसके राज्य में बड़ी शान्ति एवं समृद्धि रही होगी, कम से कम उसके

भुक्ति के शासक

१ ज० ए० सो० ब० १८९४, पृ० १३५।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवन के पर्यवसान काल तक जब कि युद्धों ने सारी शान्ति भंग कर दी। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। बसाढ़ से प्राप्त एक मुहर के अनुसार उसका भाई गोविन्दगुप्त तीरभुक्ति (बिहार) का शासक था जिसकी राजधानी वैशाली थी [पूर्वो०]। सम्भवतः इस पद पर वह अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय से ही आसीन था। गोविन्दगुप्त के सेनापति वायुरक्षित के पुत्र दत्तभट्ट के मालव सम्बत् ५२४ (=४६८ ई०) के एक मन्दसोर अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह (महाराज गोविन्दगुप्त) बाद में कुमारगुप्त द्वारा मालवा का राजप्रतिनिधि बना दिया गया था।[१] गुप्त सम्वत् १२४ तथा १२८ के दामोदरपुर के ताम्र-पत्रों से विदित होता है कि उसका पुण्ड्रवर्द्धन (उत्तरी बंगाल) का शासक चिरातदत्त था।[२] गु० सं० ११६ के तुम्बवन या तुमेन (ग्वालियर राज्य में) अभिलेख से सूचित होता है कि कुमारगुप्त के राजत्व काल में मध्य-भारत के पूर्वी प्रदेश का शासक घटोत्कचगुप्त था। अभिलेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय का वर्णन आया है जो 'आसमुद्र-क्षितीश' था और इसी प्रकार उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम एवं घटोत्कचगुप्त का 'जिसने अपने बाहुबल से अपने पूर्वजों की ख्याति प्राप्त की थी' [वही] वर्णन मिलता है। इससे साफ पता चलता है कि वह एक गुप्त शासक था और सम्भवतः कुमार का ही एक पुत्र था। वह बसाढ़ की मुद्रा का स्वनामधारी व्यक्ति भी हो सकता है [पूर्वो०] तथा उसी प्रकार सेंट पीटर्सबर्ग के संग्रह (St. Petersburg Collection) के सिक्के का नरेश जिसके बाहु के नीचे मुखपृष्ठ पर 'घट' शब्द एवं किनारे पर 'क्रमादित्य' उपाधिधारी 'गुप्त' पदान्त लेख (=त्कच गुप्त) अङ्कित हुए हैं [देखिए एलेन 'कैटलॉग', पृ० १४६, प्लेट चतुर्विंशति, सं० ३, भूमिका पृ० चतुर्पञ्चाशत्]। यदि लेख का पाठ ठीक माना जाय तो यह स्पष्ट है कि घटोत्कचगुप्त ने अपने स्वतन्त्र शासन के संक्षिप्त काल में क्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी जो उपाधि बाद में स्कंदगुप्त ने ग्रहण की। यह उपाधि

चिरातदत्त

घटोत्कचगुप्त

---

१. से० इ०, पृ० २६८, टि० १।

२ कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ४६ और आगे, पृ० ८१ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उसने उस समय धारण की जब कि उसे शासन का पहला अवसर मिला और अपने चाचा गोविन्दगुप्त के यहाँ वैशाली में कोई पद ग्रहण करना पड़ा जैसा कि बसाढ़ के मुहर से जान पड़ता है। यह मध्य-भारत के पूर्वी भाग में अपने पिता का राजप्रतिनिधि बनने के पहले की बात है। डा० सरकार ने यह सुझाव उपस्थित किया है [से० इ०, पृ० २६६, टि० १] कि वह शायद उन प्रतिद्वन्दियों में था जिन्होंने स्कन्दगुप्त के साथ उत्तराधिकार की लड़ाई की थी। यदि यह ठीक हो तो यह माना जा सकता है कि उसने बहुत थोड़े समय तक स्वाधीन रहकर राज्य किया जिस काल में वह केवल एक अत्यन्त सीमित संख्या में अपने सिक्के निकाल सका जिनमें से केवल एक अभी तक मिल पाया है। गु० सं० १७७ का करमदाण्डा (जिला फैज़ाबाद, उत्तर प्रदेश) अभिलेख इस बात का परिचायक है कि उसका अवध का शासक कुमारामात्य पृथ्वीसेन था जो एक महाबलाधिकृत (एक सेनाध्यक्ष) भी था।

अश्वमेध यज्ञ

कुमारगुप्त के सिक्कों से विदित होता है कि उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। उसके अश्वमेध-सूची सिक्के जिनके पृष्ठतल पर "श्री अश्वमेध महेन्द्र" लेख पाया जाता है इसे प्रमाणित करते हैं। एलेन का अनुमान है कि उसने यह उपाधि अश्वमेध-यज्ञ करने के बाद धारण की थी। उसकी अन्य उपाधियाँ जो उसके सिक्कों पर मिलती हैं नरेन्द्र, विक्रमाङ्क, विक्रमादित्य, सिंह-विक्रम, सिंह-चन्द्र आदि हैं। परन्तु वह सामान्यतः कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के नाम से ही विख्यात् है।

पुष्यमित्रों के साथ युद्ध

कुमारगुप्त के शासन के अन्तिम वर्ष पुष्यमित्रों के साथ युद्ध करने में बीते। भितरी के प्रस्तर स्तंभ-लेख [कॉ इ० इ०, तृतीय, पृ० ५३ एवं आगे] से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों को हराया था जो काफी बलवान् और सम्पत्तिशाली हो चले थे (समुदितबलकोशान्—पुष्यमित्रांश्च)। इस युद्ध में युवराज को असीम धैर्य धारण कर निभृत भूमि पर शयन कर रातें बितानी पड़ीं। अन्त में अपने शत्रुओं को परास्त कर एवं स्वकुल की विलुप्त मर्यादा (विप्लुतां वंश-लक्ष्मीम्) को प्रतिष्ठापित कर (प्रतिष्ठाप्य)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह अपनी अश्रुधारिणी माता को यह संवाद देने के लिए लौटा, क्योंकि उसके पिता का इसी बीच देहावसान हुआ था (पितरि दिवं उपेते); यह उसी प्रकार हुआ जैसा कि 'विजयी कृष्ण देवकी को संवाद देने गये थे' [वही] । श्री दिवेकर [ए० भ० रि० इ०, १६१६, पृ० ६६ और आगे] फ्लीट का पाठ नहीं मानते और यह सुझाव देते हैं कि 'पुष्यमित्रांश्च' के स्थान पर 'युध्यमित्रांश्च' होना चाहिए, अर्थात् युद्ध में (युधि) निरत अमित्र (शत्रु) । यदि यह पाठ ठीक हो तो इसका अर्थ यह होगा कि स्कन्दगुप्त को एक गृह-युद्ध का सामना करना पड़ा था जो परिस्थिति उसके पिता के निधन के उपरान्त उपस्थित हो गई थी, परन्तु अभिलेख से तो यही प्रतीत होता है कि पुष्यमित्रों के साथ जब उसने युद्ध किया था तो उसका पिता जीवित था । फिर पुष्यमित्र नामक एक जाति का उल्लेख पुराणों में आया है [विष्णुपुराण, चतुर्थ, २४—१७] ।

कुमारगुप्त प्रथम एक कट्टर ब्राह्मण धर्मानुयायी था । उसने देवोपासना में कार्त्तिकेय की पूजा चलाई [तुलनार्थ, उसका मयूर आकृति का सिक्का तथा भितरी प्रस्तर-लेख], किन्तु अन्य देवताओं की जैसे सूर्य, शिव एवं विष्णु की उपासना में कभी नहीं आने दी । इनमें से प्रत्येक को कुछ न कुछ दान के रूप में समर्पित होने का तत्कालीन लेखों में वर्णन पाया जाता है । वह अपने पूर्वजों की सहिष्णुता की नीति को बरतता गया । उदाहरण के लिए बुद्ध प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा [तुलनार्थ, मानकुँवर का ११६ गु० सं० का अभिलेख] तथा बौद्ध संघों के दान [तुलनार्थ, साँची का १३१ गु० सं० का प्रस्तर अभिलेख] के लेख हमारे सामने आ चुके हैं ।

धार्मिक कृत्य एवं सहिष्णुता

स्कन्दगुप्त क्रमादित्य

(लग० ४५५–४६७ ई०)

स्कन्दगुप्त अपने पिता के निधनोपरान्त राजसिंहासन पर आया और उसने 'क्रमादित्य' की उपाधि धारण की । उसके चाँदी के सिक्कों पर विक्रमादित्य उपाधि भी मिलती है । यह संभव है कि उसे यों ही बिना किसी विवाद के उपस्थित हुए उत्तराधिकार नहीं मिल गया । अभिलेखों से उसके कम से कम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दो और भाइयों का पता चलता है। उनमें से एक घटोत्कचगुप्त था और दूसरा पुरगुप्त [भितरी मुहर—अभिलेख]।[1] पुरगुप्त स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद राजसिंहासन पर बैठा। उसकी माता का नाम अनन्तदेवी था। यह हम देख चुके हैं कि घटोत्कचगुप्त मध्य-भारत में अपने पिता का उपरिक रह चुका था [पूर्वो० पृ० २६४]। यदि पीटर्सवर्ग संग्रहवाला सिक्का उसी का हो तो अपने पिता के निधन के बाद वह अपने को साम्राज्य का स्वामी समझने लगा होगा और अपने भाई के साथ साम्राज्य के स्वत्व के लिए झगड़ा कर बैठा होगा। सिक्के के पृष्ठतल पर 'क्रमादित्य' लेख तथा मुखपृष्ठ पर घटोत्कच का नाम अंकित हुआ है। यही उपाधि स्कन्दगुप्त ने भी धारण की थी। स्कन्दगुप्त ने यह उपाधि संभवतः अपने भाई घटोत्कचगुप्त को पूर्णतया हरा चुकने के बाद धारण की थी जिसने केवल अस्थायी काल के लिए ही यह उपाधि धारण कर ली थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि घटोत्कचगुप्त की स्कन्दगुप्त के जीवन-काल में ही मृत्यु हो गई, परन्तु पुरगुप्त उसके बाद भी जीवित रहा और बाद में वही सम्राट् हुआ, क्योंकि स्कन्दगुप्त निस्सन्तान मरा था। भितरी की राजमुहर में जिसमें पुरगुप्त का नाम तथा उसकी वंशावली मिलती है स्कन्दगुप्त का नामोल्लेख नहीं हुआ है। स्कन्दगुप्त के भाई पुरगुप्त के पौत्र द्वारा राजवंशावली में एक ऐसे महान् नरेश का नामोल्लेख न होने का साफ अर्थ यही है कि पुरगुप्त और स्कन्दगुप्त के बीच कोई अच्छा सम्बन्ध नहीं था और यह दौर्मनस्य का भाव पुरगुप्त की शाखा के नरेशों में बराबर बना रहा। इससे अनुमान होता है कि दोनों भाइयों अथवा सौतेले भाइयों के बीच कोई प्रतिद्वन्द्विता का युद्ध हुआ था। ऐसा संभव है कि स्कन्दगुप्त के एक अथवा दोनों भाइयों ने उसके पिता के निधन के पश्चात् उसके विरुद्ध राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त सब पुत्रों में सबसे योग्य होने के कारण अपने पिता का प्रिय पुत्र[2] था और पुष्यमित्रों से युद्ध

---

१ इ० ऐ०, एकोविंश, १८६०, पृ० २२५, ज० ए० सो० बं०, अष्टपञ्चाशत्, प्रथम भाग, पृ० ८६।

२ तुलनार्थ, "पितृपरिगतपादपद्म-वर्त्ती, प्रथितयशाः, पृथ्वी-पतिः सुतोऽयं" आदि, स्कन्दगुप्त का भितरी प्रस्तर स्त० ले० [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ५२ और आगे]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करने के लिए वही साम्राज्य की वाहिनी का सेनानायक बनाया गया था। भितरी स्तंभ-लेख की १२वीं पंक्ति से यह ध्वनि निकलती है कि उसके पिता का निधन उस समय हुआ जब कि वह पुष्यमित्रों से युद्ध कर रहा था और राधजानी से बाहर था। उसके पिता की मृत्यु तथा राजधानी से उसकी अनुपस्थिति में उसके गृह-शत्रुओं को, संभवतः उसके प्रतिद्वन्द्वी भाई को, अपने पिता के निर्वाचित युवराज के विरुद्ध उभड़ने का अवसर मिल गया। अभिलेख की १३वीं और १४वीं पंक्तियों से विदित होता है कि जब वह शत्रुओं पर अपनी विजय-पताका फहराकर राजभवन को वापस लौटा तो उसने अपनी माता को विलाप करते हुए और अत्यन्त आर्त्त पाया। उसकी अवस्था अपने पति के निधन का दृश्य उपस्थित होने के कारण ऐसी हो गई होगी अथवा सगे-सम्बन्धियों के उठ खड़े होनेवाले झगड़ों के कारण जिसमें हो सकता है कि वह बन्दी बना ली गई थी। कृष्ण के अपनी विजय के उपरान्त देवकी के पास जाने का दृष्टान्त उसके बन्दी बनाये जाने का, संभवतः उसके सौतेले पुत्र पुरगुप्त द्वारा, सूचक है। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त ने अपने पराजित भाइयों को क्षमा कर दिया, क्योंकि वही अपनी माँ को यह सूचित करता है कि उसने पराजित शत्रुओं को जो आत्रस्त थे क्षमा कर दिया (जितेष्वार्त्तेषु कृत्वा दयाम्)। इस क्षमा-दान का संकेत उसके गृह-शत्रुओं की ओर होना चाहिए जिनमें उसके भाई तथा परिजन सम्मिलित जान पड़ते हैं, न कि पुष्यमित्र लोग जिनके लिए इस प्रकार का कोई विचार उपयुक्त नहीं जँचता।

राज्य-काल

अन्तिम लिखित तिथि कुमारगुप्त के चाँदी के सिक्कों पर ४५५ तथा स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर ४६७ ई० पाई जाती है। ये दोनों तिथियाँ उसके तिथिक्रम के निश्चित विन्दु होने के कारण उसके शासन का काल बतलाती हैं।

हूणों का आक्रमण

भितरी स्तंभ-लेख हूणों की चर्चा करता है जिन्हें स्कन्दगुप्त ने एक भीषण संग्राम में पराजित किया था (हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता, भीमावर्त-करस्य)। मध्य एशिया की ये खानाबदोश जातियाँ जिनके विषय में हम आगे चलकर और सुनेंगे भारत-भूमि पर पहली बार उसके उत्तर-पश्चिमी द्वार से आकर प्रकट हुईं और उन्होंने गुप्त-साम्राज्य पर धावे किये। यह संभव

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
है कि इन्हीं हूणों का उल्लेख स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में 'म्लेच्छों' के रूप में हुआ है। उस दशा में हूणों के साथ युद्ध १३६-१३८ गु० सं० के आस-पास हुआ होगा जो तिथि अभिलेख में मिलती है।

जूनागढ़ अभिलेख [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ५८ और आगे] से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र देश का शासक पर्णदत्त को नियुक्त किया था

सौराष्ट्र देश

और उसके पुत्र चक्रपालित की देखरेख में गिरनार नगर का शासन कर दिया था। गिरनार की सुप्रसिद्ध झील के बाँध फिर टूट गये। बाँध जैसा कि हम देख चुके हैं सिंचाई के निमित्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने बनवा दिये थे जिनका अशोक द्वारा सुधार तथा रुद्रदामन द्वारा संस्कार किया गया था। सुदर्शन झील का संस्कार इस बार ४५६ ई० के लगभग चक्रपालित ने क्षति-पूर्ति की और ४५८ ई० में उसने इस कार्य की स्मृति में एक विष्णु-मन्दिर बनवा दिया।

अनुवर्ती गुप्त नरेश

पुरगुप्त[1]

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के साथ यशस्वी गुप्त सम्राटों की परम्परा समाप्त-सी हो गई। स्कन्दगुप्त अपना कोई पुत्र नहीं छोड़ गया था जो उसके बाद शासन का सूत्र सँभालता। भितरी के मुहर अभिलेख से पुरगुप्त के कुमारगुप्त और अनन्तदेवी का पुत्र होने तथा अपने पिता के बाद राजसिंहासन पर आरूढ़ होने का पता चलता है। अभिलेख में स्कन्दगुप्त के नामोल्लेख न होने के कारणों का विवेचन ऊपर हो चुका है [पूर्वो, पृ० सं० ३६९—७१]। परन्तु हम जानते हैं कि स्कन्दगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का निकटतम उत्तराधिकारी था और इसलिए पुरगुप्त स्कन्दगुप्त के बाद राजसिंहासन पर आया होगा, क्योंकि स्कन्दगुप्त के तो कोई पुत्र था नहीं। अभिलेख से पुरगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त

---

१ इसे पुरुगुप्त भी पढ़ते हैं; देखिए नालन्दा की मुहर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के नाम तथा पौत्र कुमारगुप्त द्वितीय का पता चलता है, जो अभिलेख का कर्त्ता था अभिलेख से पुरगुप्त की कृतियों के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती जिससे इस सम्बन्ध में कुछ कहा जा सके। एलेन [कैटलॉग, पृ० १३४ प्लेट एकविंश, सं० २३] पुरगुप्त के एक सोने के सिक्के का वर्णन करते हैं जिसके मुखपृष्ठ पर सम्राट् के चित्र के बायें हाथ के तल में "पुर" लिखा हुआ तथा पृष्ठतल पर "श्री विक्रमः" अथवा विक्रमादित्य लेख मिलता है।[१] एलेन उसे अयोध्याधिप विक्रमादित्य नरेश निश्चित करते हैं जो बालादित्य का पिता था और जो प्रसिद्ध बौद्ध विचारक और लेखक वसुबन्धु द्वारा प्रभावित हुआ था और जिसने बौद्ध-धर्म का संरक्षण किया। यदि निर्धारण ठीक है तो पुरगुप्त की राजधानी अयोध्या जान पड़ती है।

नरसिंहगुप्त बालादित्य

पुरगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी नरसिंहगुप्त था। उसकी माता का नाम चन्दनदेवी था।[२] उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने 'बालादित्य' की उपाधि धारण की थी।[३] परन्तु यह वह बालादित्य नहीं है जिसका उल्लेख युवान्-च्वाङ् ने किया है जिसने मिहिरकुल के अधिनायकत्व में आक्रमण करनेवाले हूणों को हराया था; भ्रम-वश ही कुछ विद्वानों ने दोनों को एक मान लिया है। युवान्-च्वाङ् के बालादित्य का पिता तथागत तथा उसका पुत्र वज्र था, जब कि भितरी मुहर के राजवंशात्मक अभिलेख के अनुसार नरसिंहगुप्त बालादित्य का पिता पुरगुप्त तथा उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय था। मिहिरकुल का विजेता एवं युवान्-च्वाङ् का बालादित्य कोई दूसरा ही व्यक्ति था। बालादित्य

---

१ परन्तु इस पाठ को श्री सरसीकुमार सरस्वती ठीक नहीं मानते, वे 'पुर' के स्थान में 'बुध' पढ़ते हैं ['इण्डियन कल्चर' भाग प्रथम, पृ० ६६१ और आगे]।

२ फ्लीट 'वत्सदेवी' पाठ करते हैं; तुलनार्थ, एन० पी० चक्रवर्त्ती [एपि० इण्डि०, एकविंश, पृ० ७७] जो नाम के ठीक पाठ के सम्बन्ध में युक्तिपूर्ण कारण देते हैं।

३ एलेन, 'कैटलॉग', पृ० १३७ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का 'विरुद' मध्यदेश के कई सम्राटों ने धारण कर रखा था। प्रकाशादित्य के सारनाथ अभिलेख [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० २८५] से ज्ञात होता है कि इसके कुल के दो बालादित्यों ने राज्य किया था। एक बालादित्य का नाम यशोवर्मन् के नालन्दा प्रस्तर अभिलेख [एपि० इण्डि०, १९२९] में आता है।

कुमारगुप्त द्वितीय

नरसिंहगुप्त बालादित्य के शासन का उत्तराधिकार उसके पुत्र कुमारगुप्त तथा अग्रमहिषी देवी[१] को मिला। गु० स० १५४ के सारनाथ बुद्ध प्रतिमा-लेख [जे० आर० ए० एस०, १९१४–१५, पञ्चदश, पृ० १२४] के अनुसार ४७३ ई० में कुमारगुप्त सम्राट था। डा० नलिन भट्टशालि और डा० आर० जी० बसाक का विचार है कि सारनाथ अभिलेख का कुमारगुप्त भितरी की मुहर के कुमारगुप्त से भिन्न है। भट्टशालि का यह तर्क है कि नरसिंहगुप्त का पिता कुमारगुप्त पाँचवीं शती ई० के बहुत बाद राजा हुआ ['ढाका रिव्यू', मई और जून, १९२०]। डा० भट्टशालि का यह मत उनकी उस धारणा के सर्वथा अनुकूल था जिसमें उन्होंने नरसिंहगुप्त बालादित्य को मिहिरकुल का विजेता मान लिया है—वह धारणा जैसा कि हमने देखा है [पूर्वो०] संशयात्मक है। सारनाथ अभिलेख की तिथि से पता चलता है कि कुमारगुप्त का शासन ४७३ ई० से तो अवश्य ही आरंभ हो गया तथा उसके उत्तराधिकारी बुधगुप्त की प्राचीनतम लिखित तिथि जो सारनाथ की एक अन्य बुद्ध-प्रतिमा पर अंकित है [जे० आर० ए० एस०, १९१४—१५, पृ० सं० १२४—२५] इसका निर्देश करती है कि वह गु० सं० १५७ = ४७६ ई० तक जाकर समाप्त हो गया। कुमारगुप्त परम वैष्णव था। सारनाथ अभिलेख में उसे 'परम भागवत' कहा गया है जो वैष्णवों की उपाधि है। उसकी भितरी की मुहर पर गरुड़ का चित्र भी उसके वैष्णव होने की पुष्टि करता है। दशपुर (मन्दसोर) स्थित सूर्य-

---

१ फ्लीट 'महालक्ष्मी देवी' पाठ करते हैं ;तुलनार्थ, से० इ०, पृ० ३२२, टि० ४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मन्दिर का जो नगर के रेशमी वस्त्र बुननेवाले कुलिकों द्वारा प्रतिष्ठित था और जिसका मूल निर्माण कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल में मालव सं० ४९३ = ४३६–३७ ई० में हुआ था उसके राज्य-काल में मालव सं० ५२९ = ४७२–७३ ई० में पुनः जीर्णोद्धार हुआ [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ८१ और आगे]।

बुधगुप्त

आगामी गुप्त नरेश जो कुमारगुप्त द्वितीय के बाद राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ बुधगुप्त है। उसका नाम और काल सारनाथ के एक अन्य प्रतिमा-लेख में दिया हुआ है [आर्केयालॉजिकल सर्वे', एनुअल रिपोर्ट, १९१४–१५, पृ० सं० १२४–२५]। अभिलेख का समय गु० सं० १५७ = ४७६ ई० है जबकि वह राज्य कर रहा था। इससे पता चलता है कि पिछले तीन गुप्त नरेशों ने जिनका उल्लेख भितरी के मुहर-अभिलेख में हुआ है कुल मिलाकर ७ या ८ वर्ष ही राज्य किये। बुधगुप्त तथा उसके पूर्ववर्त्ती शासक कुमारगुप्त के बीच क्या सम्बन्ध था इसका पता नहीं। ऐसा संभव है कि वह कुमारगुप्त प्रथम का सबसे छोटा पुत्र था और इस प्रकार कुमारगुप्त द्वितीय का चचेरा भाई। इस अनुमान का कारण यह है कि उसका उल्लेख युवान्-च्वाङ्ग ने शक्रादित्य के पुत्र के रूप में किया है। शक्र संस्कृत में 'महेन्द्र' का सूचक है और उस उपाधि का धारण करनेवाला बुधगुप्त का एक ही पूर्ववर्त्ती कुमारगुप्त प्रथम हुआ है जिसका विशेषण महेन्द्रादित्य (= शक्रादित्य) था। पर्याप्त संख्या में मिले तिथियुक्त अभिलेखों और मुद्राओं तथा उनके प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है कि उसने काफी दीर्घ-काल तक शासन किया (४७६–४९५ ई०) और काफी विस्तृत भू-खण्ड पर उसका आधिपत्य रहा जिसका विस्तार बंगाल से लेकर मध्य-भारत तक उत्तर प्रदेश को सम्मिलित कर था। दामोदरपुर [दिनाजपुर, उत्तरी-बंगाल] ताम्र-पत्र अभिलेख [एपि० इण्डि०, पञ्चदश, पृ० १३५ और आगे] से पता चलता है कि बुधगुप्त का पुण्ड्रवर्द्धन (उत्तरी बङ्गाल) का उपरिक-महाराज ब्रह्मदत्त था। सारनाथ अभिलेख [वही] काशी पर उसका प्रभुत्व सिद्ध करता है। गु० सं० १६५ = ४८४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ई० के एरण प्रस्तर स्तम्भ-लेख [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ८६ और आगे] से उस वर्ष में मध्यवर्त्ती प्रान्तों पर उसके आधिपत्य का पता चलता है। ऐरिकिण (एरण) विषय का शासन उसके सामन्त के हाथ में था। मध्य-भारत के पूर्वी भाग में अवस्थित उसके प्रदेश जो कालीनदी और नर्मदा के बीच में पड़ते थे महाराज सुरश्मिचन्द्र द्वारा शासित होते थे। तोरमाण और धन्नविष्णु,—जो मातृविष्णु का छोटा भाई था। के एरण बाराह अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके उत्तराधिकारी भानुगुप्त के राजत्वकाल में मध्य-भारत का पूर्वी प्रान्त हूणों के अधिकार में चला गया [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० १५६ और आगे]। उसके समय में कुमारगुप्त प्रथम एवं स्कन्दगुप्त के चाँदी के सिक्कों की अनुकृतियों का प्रचलन बना रहा और उनकी तिथियों से विदित होता है कि उसने ४६५ ई० तक राज्य किया।

बुधगुप्त के उत्तराधिकारी

५१० ई० के एरण अभिलेख [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ६२ और आगे] से पता चलता है कि भानुगुप्त के राजत्वकाल में उसका सेनानायक गोपराज युद्ध करता हुआ मारा गया। तोरमाण के शासन-वर्ष का एरण प्रस्तर बाराह अभिलेख यह बतलाता है कि हूण नरेश एरण का अधिपति था और धन्यविष्णु उसका सामन्त, जैसाकि उसका भाई मातृविष्णु बुधगुप्त का सामन्त रह चुका था [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ८६]। इससे यह अनुमान संगत हो जाता है कि गोपराज की ५१० ई० में हूणों के साथ युद्ध करते हुए मृत्यु हुई जिस वर्ष भानुगुप्त के हाथ से एरण निकलकर हूणों का हो गया। बुधगुप्त तथा भानुगुप्त के बीच क्या सम्बन्ध था इसका पता नहीं। एक मुहर तथा सिक्के का नाम विष्णुगुप्त उपलब्ध है जो संभवतः कुमारगुप्त द्वितीय या तृतीय का निकटतम उत्तराधिकारी था।

वैन्यगुप्त के गुणैघर (जिला तिपरा, दक्षिण-पूर्वी बङ्गाल) ताम्र-पत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि ५०७ ई० के लगभग[1] बङ्गाल में एक अन्य

१ इ० हि० क्वा०, १४, पृ० ४५ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गुप्त शासक राज्य करता था। ऐसा संभव है कि जिस समय भानुगुप्त भारत के पश्चिमी एवं मध्यवर्त्ती प्रदेश में पुरगुप्त की शाखा का प्रतिनिधित्व करता हुआ शासन कर रहा था, वैन्यगुप्त पुराने गुप्त साम्राज्य के पूर्वी भाग का स्वामी था। वैन्यगुप्त के न तो भानुगुप्त के साथ और न बुधगुप्त के साथ क्या सम्बन्ध था इसका ही पता चलता है। गुणैघर पत्र में उसके पास एक नौ-सेना होने का वर्णन आता है जो दक्षिण-पूर्वी बङ्गाल में उसके जल-प्रदेश की रक्षा किया करती थी। अभिलेख में उसे 'महाराज' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। परन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वैन्य एक तुच्छ नरेश था। नालन्दा से प्राप्त एक मुहर में उसे 'महाराजाधिराज' कहा गया है। उसके प्रदेश में संभवतः बङ्गाल तथा बिहार के अधिक भू-खण्ड सम्मिलित थे। वह एक शैव था [वही]. परन्तु अपनी मुद्राओं में कुल-चिन्ह 'गरुड़ध्वज' को उसने अपनाये रखा जो वैष्णव सम्प्रदाय का सूचक है।

युवान्-च्वाङ् भी एक गुप्त शासक वज्र का उल्लेख करता है और उसे बालादित्य का पुत्र बतलाता है जिसके पिता का नाम तथागतगुप्त था। वह यह भी कहता है कि बालादित्य ने मिहिरकुल को हराया था [पूर्वो०]। तथागतगुप्त की वास्तविकता के विषय में हम कुछ नहीं जानते। डा० राय-चौधुरी तो यह समझते हैं कि बालादित्य संभवतः भानुगुप्त का एक 'विरुद' था जिसका सेनानायक गोपराज ५१० में एक प्रसिद्ध युद्ध में लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।' इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि भानुगुप्त (बालादित्य) मिहिरकुल का समकालीन था और उसके बाद उसका पुत्र वज्र राजसिंहासन पर बैठा। वज्र के विषय में और अधिक पता नहीं चलता। वह संभवतः चक्रवर्त्ती गुप्त वंश का अन्तिम शासक हुआ है।

चक्रवर्त्ती गुप्त शासकों का वंशवृक्ष वंशावलीसूचक अभिलेखों के आधार पर यहाँ देते हैं। उनका उल्लेख तिथि-क्रम के अनुसार हुआ है। कोष्ठ का चिन्ह (⋮) सम्बन्ध का अभाव सूचित करता है।

---

१ रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', पृ० सं० ४०१-२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुप्त

घटोत्कच

चन्द्रगुप्त प्रथम = कुमारदेवी (लग० ३१९—३३५ ई०)

समुद्रगुप्त = दत्तदेवी (लग० ३३५—३८० ई०)

रामगुप्त (?) = ध्रुवदेवी = चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१४ ई०)

कुमारगुप्त प्रथम = अनन्तदेवी (४१४—४५५ ई०)

स्कन्दगुप्त
४५५-४६७ ई०)

पुरगुप्त = वत्सदेवी

बुधगुप्त

नरसिंहगुप्त = देवी अथवा महालक्ष्मी

भानुगुप्त
(लग० ४९५-५१० ई०)

कुमारगुप्त द्वितीय

वज्र

विष्णुगुप्त

गुप्त काल : इतिहास का स्वर्ण युग

गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ हिन्दू राज्य का एक अत्यन्त गौरवमय अध्याय समाप्त हो गया। गुप्तों ने एक बड़ा वैभवशाली साम्राज्य खड़ा कर रखा था। इस वंश के प्रथम दो महान् नरेशों समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ऐसे सुशासन की स्थापना की थी जिसके फलस्वरूप उनके दीर्घ शासन काल में काफी शान्ति और सुव्यवस्था बनी रही, उसके आधार पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सभ्यता के सूक्ष्मतर अंगों के विकास के लिए अच्छा अवसर मिला; उदाहरण-स्वरूप, विज्ञान, धर्म, कला तथा साहित्य को उस शासन और राज्य के सुदृढ़ शासन-तंत्र से अच्छी सहायता और गति मिल गई। शासन की प्रबुद्ध प्रणाली एवं व्यवस्था के कारण धर्म तथा जीवन की रीति-नीति में पूर्ण स्वतंत्रता का आश्वासन मिला। इसके साथ ही उनके राजाश्रय के निमित्त सम्राट् ने उनमें व्यक्तिगत अभिरुचि भी रखना प्रारंभ कर दिया। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस प्रकार गुप्त युग हिन्दू शासन का स्वर्ण युग के नाम से विख्यात हो गया और बहुत ठीक अनेक लेखकों द्वारा यूनान के पेरीक्लीज-युग (Age of Pericles) एवं इङ्गलैण्ड के एलिज़ाबेथ-युग (Elizabethan Age) के समकक्ष रखा गया है।

धार्मिक विषय में गुप्त सम्राट् ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे जिनकी विशेष प्रवृत्ति विष्णु की उपासना की ओर थी। फलतः राजाश्रय पाकर ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। अभिलेखों और मुद्राओं से जिन अन्य देवी-देवताओं की उपासना का पता चलता है उनके उदाहरण गदाधर, जनार्दन, शिव, कार्त्तिकेय एवं सूय, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती आदि हैं। ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान होने के कारण पुनः यज्ञ-यागादि—व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक—का प्रचार हुआ और हम अभिलेखों में ऐसे यज्ञों के विषय में सुनने लगते हैं जैसे अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम इत्यादि।

धर्म : ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान

स्वयं ब्राह्मण धर्मावलम्बी होने पर भी गुप्त नरेशों ने अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय सहिष्णुता का परिचय दिया। इन सम्प्रदायों में मुख्य बौद्ध और जैन धर्म थे। गुप्त नरेशों के समय में प्रजा को पूरी धार्मिक स्वतंत्रता थी। फलतः ब्राह्मण-धर्म के साथ-साथ बौद्ध और जैन धर्मों की भी अभिवृद्धि हो रही थी। बौद्ध विहारों और जैन मन्दिरों को दिये गये व्यक्तिगत तथा राजकीय दानों एवं बुद्ध और तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापन के विषय में लेख मिलते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय

सहिष्णुता : बौद्ध और जैन-धर्म

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का एक सेनानायक आम्रकार्दव बौद्ध था और उसके विषय में ऐसा लेख मिलता है कि उसने काकनादबोट के बौद्ध विहार को द्रव्य दान किया था। काकनादबोट साँची प्रदेश का पुराना नाम है [कॉ० इ० इ०, तृतीय, पृ० ३१ एवं आगे]। गुप्त शासन में बौद्धों को कितनी अधिक धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी इसका प्रमाण उन ढेर की ढेर गुप्तकालीन बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं में मिलता है जो भारत के विभिन्न प्रान्तों में, विशेषतः सारनाथ, मथुरा और नालन्द के ध्वन्सावशेषों में मिली हैं। नालन्द का बौद्ध महाविहार बौद्ध परम्पराओं के अनुसार पाँचवीं शती ई० में शक्रादित्य (कुमारगुप्त प्रथम) द्वारा स्थापित किया गया था और अतिरिक्त भवनों और अन्य दानों के साथ बुधगुप्त, बालादित्य और दूसरे गुप्त नरेशों के नाम जुड़े हुए हैं। इतना होने पर भी इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध-धर्म की पुरानी सजीवता नष्टप्राय हो चली थी और ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे थे। फाहियान का यह कथन कि ह्रास का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था अक्षरशः सत्य नहीं माना जा सकता। यह ह्रास निम्नांकित तीन कारणों से सर्वथा स्वाभाविक हो गया था :—

(१) राजाश्रय का अभाव,

(२) बौद्ध संघों में मुख्यतः महायान-संघों[१] में भ्रष्टाचार का प्रवेश, तथा

(३) बौद्ध देवी-देवताओं का ब्राह्मण-धर्म के विस्तीर्ण अंचल में समावेश जिसने बुद्ध तक को अपनी अवतार परंपरा में रख लिया।

विज्ञान

याज्ञिक पूजाओं के पुनरुत्थान के कारण जिनमें विभिन्न आकृतियों की 'वेदियाँ' और 'यूप' बनते थे ज्योमितिशास्त्र के विकास को अच्छा अवसर मिला। यज्ञ आदि के विधान के लिए शुभ मुहूर्त्त ढूँढ़े जाने के कारण नभ-मण्डल के ग्रह-नक्षत्र आदि का श्रमसाध्य अध्ययन आरंभ हुआ। इस प्रकार स्वभावतः ज्योतिष और गणित शास्त्रों का विकास हुआ। महान् गणक आर्यभट्ट (जन्म लग० ४७६ ई०) और महान् ज्योतिषी वराहमिहिर (५०५–८७ ई०) इसी युग में हुए और विज्ञान के इन क्षेत्रों में उन्होंने स्मरणीय योग-दान दिया।

---

१ विस्तार के लिए देखिए, पूर्वो० चौथा अध्याय।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुप्त नरेश जिस प्रकार स्वयं सुसंस्कृत थे उसी प्रकार उन्होंने साहित्य और कला को व्यापक प्रश्रय दिया। समुद्रगुप्त को इलाहाबाद के अभिलेख में 'कविराज' एवं कुशल संगीतज्ञ कहा गया है। ऐसे अनुकूल वातावरण को पाकर बहुत से बुद्धिजीवी कलाकारों का पनपना बिलकुल स्वाभाविक था।

साहित्य

अनुश्रुति में उज्जैन के विक्रमादित्य की राजसभा में नव रत्नों का होना सुप्रसिद्ध है। इसमें सन्देह नहीं है कि गप्त राजसभा में कलाकारों की अच्छी गोष्ठी जमती थी जिसका सबसे उज्ज्वल रत्न विख्यात कालिदास[1] था जिसने ऐसी उत्कृष्ट कोटि के जैसे 'शकुन्तला', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशी' कई नाटक; 'रघुवंश' जैसे महाकाव्य तथा 'ऋतु-संहार' और 'मेघदूत' जैसे गीत-काव्य लिखे। हरिषेण भी कोई साधारण कवि नहीं था जैसा कि इलाहाबाद स्तंभ पर उत्कीर्ण उसकी समुद्रगुप्त-विषयक प्रशस्ति की भाषा और शैली से परिलक्षित है। इसी प्रकार वत्सभट्टि नामक एक अन्य कवि भी हुआ है जो कुमारगुप्त प्रथम और कुमारगुप्त द्वितीय का समकालीन था [कॉ० इ० इ०,

---

[1] प्रतिष्ठित विद्वानों ने अपने श्रमसाध्य अनुशीलन द्वारा कालिदास की तिथि का ऐसा विनिश्चय कर डाला है कि अब इस दिशा में संशय या विवाद को स्थान देना व्यर्थ है। मैकडानेल ('हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर', पृ० सं० ३२३-२५); आर्थर बेरीडेल कीथ (क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० सं० ३१-३२ एवं ज० रा० ए० सो०, १९०९); रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर (ज० बॉ० रा० ए० सो०, विंश); देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर (एनल्स ऑव दि भण्डारकर इन्सटीट्यूट ', १९२६-२७, भाग अष्टम, खण्ड दशम); विन्सेण्ट स्मिथ ('अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, तृ० सं०, पृ० ३०४, टि०) सभी कालिदास को गुप्तकालीन ठहराते हैं। यद्यपि श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ('इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज', द्वितीय, १९२६, पृ० सं० ७९-१७०) प्रथम शती ई० पू० के पक्ष में अपना मत देते और श्री टी० जे० केदार ('नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल', सं० ५, दिसम्बर १९३९) उसे शुङ्ग काल में रखते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृ०, पृ० ८१ एवं आगे]। पाटलिपुत्र-निवासी वीरसेन शाब जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक उच्च राजकर्मचारी एवं सभासद् था एक महान् वैयाकरणी, राजनीतिज्ञ और कवि बतलाया गया है। [वही, पृ० ३५] 'वासवदत्ता' का सुप्रसिद्ध रचयिता सुबन्धु भी संभवतः गुप्तकालीन ही था; क्योंकि इतना तो निश्चित है कि वह बाणभट्ट (७०० ई०) से पहले हुआ जिसने 'कादम्बरी' में उसकी रचना का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध बौद्ध लेखक असंग—'योगाचारभूमिशास्त्र', 'महायान सम्परिग्रह' [परमार्थ द्वारा चीनी भाषा में अनूदित] तथा इसी प्रकार की अन्य कृतियों का रचयिता और उसका भाई आचार्य वसुबन्धु जिसने महायान बौद्ध दर्शन पर कई पुस्तकें जैसे 'महायान सूत्रालङ्कार टीका', 'महायान-विभाषा भाष्य' आदि तथा हीनयान दर्शन-सम्बन्धी जैसे 'अभिधर्म कोश' आदि लिखे और 'प्रमाण समुच्चय' इत्यादि के ग्रन्थकार इस युग के प्रमुख बौद्ध लेखक थे। परमार्थ (४६६-५६० ई०) एक दूसरा बौद्ध सन्त और अध्येता था जिसने वसुबन्धु का एक जीवन-चरित्र उसकी मृत्यु होते ही लिखा था। अधिकांश विद्वानों के मत में 'मुद्राराक्षस' का लेखक विशाखदत्त और 'अमरकोष' का रचयिता अमरसिंह गुप्त युग में ही हुए। इस काल में कई पुराणों का अन्तिम संस्करण हुआ और कई स्मृतियों तथा सूत्रों पर भाष्यों की रचना हुई। आर्यभट्ट, वराहमिहिर जैसे वैज्ञानिक विषयों के लेखकों के सम्बन्ध में हम पहले ही बतला चुके हैं।

गुप्तों के समय तक जितने अभिलेख मिलते हैं वे सामान्यतः प्राकृत भाषाओं में हैं। परन्तु ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही हम संस्कृति के प्रयोग और प्रभाव का पुनरुत्थान होता देखते हैं

संस्कृत का पुनरुत्थान

जिसका परिणाम यह हुआ कि क्या राजकीय और क्या व्यक्तिगत अभिलेखों तथा मुद्राभिलेखों में प्राकृत का स्थान पूर्णतया संस्कृत ने ले लिया। यहाँ तक कि बौद्ध लेखकों ने भी अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए पालि को छोड़कर इसी संस्कृत के माध्यम का आश्रय लिया।

उपयोगी और ललित कलाओं के क्षेत्र में गुप्तकाल अभिव्यक्ति की एक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अत्यन्त उन्नत अवस्था को पहुँचा हुआ था। संगीत को विशेषतः समुद्रगुप्त के समय में जो स्वयं कशल संगीतज्ञ था विशेष राजाश्रय मिला हुआ था। इसी प्रकार स्थापत्य, मूर्त्ति-निर्माण तथा चित्रकला का भी गुप्त नरेशों के आश्रय में

कला और स्थापत्य

व्यापक प्रचार हुआ। गुप्तकालीन मूर्त्तियों के देखने से शिल्प के मार्मिक सौन्दर्य एवं उनके कलाकारों की कुशल कारीगरी का पता चलता है। गुप्त काल की बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ अत्यधिक संख्या में भारत के विभिन्न प्रदेशों के ध्वन्सों के उत्खनन में मिली हैं जिनमें सबसे अधिक संखया सारनाथ की प्रतिमाओं की है। इन आकृतियों के अध्ययन से विदित होता है कि मनुष्यों और देवताओं की प्रतिमा बनाने की भारतीय कला उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँची हुई थी जिसके सामने कुषाण शैली की कला तथा गन्धार की विदेशी प्रभाव से मिश्रित कला फीकी लगती है। विभिन्न मुद्राओं में अंकित गुप्त प्रतिमाएँ अपनी कुषाण और गन्धार प्रतिकृतियों की अपेक्षा मुख और नेत्रों के अंकन में कहीं अधिक आध्यात्मिक शान्ति का परिचय देती प्रतीत होती हैं। बोधिसत्त्व की खड़ी प्रतिमा तथा अन्त प्रतिमाओं से उनके सानुपातिक एवं सुगठित शरीर पर सुन्दर ढंग से पड़े शरीर के अंग-प्रत्यंग को दर्शानेवाले (Diaphanic) परिधान को धारण करने की कला के एक नये विकास से सुरुचि का पता चलता है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि हूणों और मुसलमान आक्रान्ताओं द्वारा निरन्तर होते रहनेवाले ध्वन्स के परिणाम-स्वरूप गुप्त स्थापत्य के बहुत थोड़े चिह्न अवशिष्ट हैं, किन्तु उतने ही से यह प्रमाणित हो जाता है कि गुप्त स्थापत्य और मूर्त्ति निर्माण एक से ही उत्कृष्ट कोटि को पहुँचे हुए थे। झाँसी जिले में पत्थर का बना हुआ देवगढ़ का मन्दिर तथा कानपुर के निकट ईंट-चूने का बना हुआ भिटारगाँव का मन्दिर अपनी दीवारों पर उत्कीर्ण कलाकृतियों-सहित गुप्त स्थापत्य और शिल्प के अच्छे नमूने प्रस्तुत करते हैं। गुप्त युग में जैसा कि हम पहले कह आये हैं [पृ० ३३९] ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हुआ जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति उस काल की स्थापत्य-सम्बन्धी रचनाओं में हम पाते हैं जो अनेक ब्राह्मण मन्दिरों के रूप में विद्यमान थे। उन मन्दिरों में जिनके अवशेष

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्तमान हैं निम्नलिखित काफी प्रसिद्ध हैं—(१) देवगढ़ स्थित दशावतार का मन्दिर, (२) भिटारगाँव का मन्दिर, (३) तिगवा, जबलपुर जिले में स्थित विष्णु का मन्दिर, (४) भूमरा (नागौद राज्य) स्थित शिव का मन्दिर (५, ६) साँची और बोध गया के दो बौद्ध तीर्थ, (७) खोह (नागौद राज्य) स्थित शिव का मन्दिर जिसमें एकमुखी लिङ्ग की एक सुन्दर मूर्त्ति है, (८) नचना-कुथरा (अजयगढ़) राज्य-स्थित पार्वती का एक सुन्दर मन्दिर तथा (६) ब्रह्मपुत्र के किनारे दह परबतिया (दरँग जिला, आसाम) में स्थित एक जीर्ण-शीर्ण मन्दिर जिसमें उत्कृष्ट कला का दर्शन होता है। इस काल में अजन्ता की तीन सर्वोत्तम गुहाएँ—संख्याएँ षोडश, सप्तदश एवं एकोनविंश—बनीं। अजन्ता के गुहाओं के सुरम्य भित्ति-चित्र (Fresco-Paintings) भित्ति चित्रकला में मानवीय अन्तर्दृष्टि गहराई और सूक्ष्म शिल्प-कला की कुशलता के द्योतक हैं। इसी प्रकार गुप्त मुद्राओं के विषय में कहा जा सकता है कि उनके श्रेष्ठ मुद्रा-सम्बन्धी मान के अतिरिक्त उनके कलात्मक गढ़न की भी जो प्रशंसा की जाय थोड़ी है। दिल्ली के सुन्दर लौह-स्तंभ तथा नालन्द में पाई गई बहुसंख्यक एवं विशाल ताँबे की मूर्त्तियों को देखकर गुप्तकालीन धातु-विज्ञान की विलक्षण कारीगरी का सहज अनुमान होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्यारहवाँ अध्याय

वाकाटकों का राज्य

जिस प्रकार गङ्गा की तलहटी में चक्रवर्ती गुप्त नरेशों की प्रभुता थी उसी प्रकार उनके सामयिक वाकाटक नरेश जिनका राजवंश भी कम शक्तिशाली न था, सम्पूर्ण मध्य प्रदेश, बरार एवं दक्खिनी भारत के उत्तरी भाग में राज्य कर रहे थे। वाकाटकों की कृतियाँ दक्षिण में उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार गुप्तों की उत्तर में। प्रो० डुब्रील का यह कथन सर्वथा संगत है कि—'दक्खिन के उन सभी राजवंशों में जिन्होंने तीसरी से लेकर छठवीं शती तक राज्य किया सबसे गौरवपूर्ण एवं आदरणीय स्थान का पात्र तथा सबमें अद्वितीय और सम्पूर्ण दक्खिन के राज्यों में श्रेष्ठतम सभ्यता-वाला निःसंशय वाकाटकों का यशस्वी राजवंश था'।[१]

एक ऐसे शक्तिशाली राजवंश के नाम तक से १८३६ ई० के पहले हम अपरिचित थे जब कि सिवनी (मध्य प्रान्त और बरार) के एक गोण्ड माल-गुजार से अधिकार में अवस्थित एक ताम्र-पत्र दान पहली बार प्रकाश में लाया गया।[२] इस राजवंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति का नाम तो पुराणों में भी आया है, किन्तु वहाँ वह वाकाटकों का शासक नहीं बल्कि कोलिकिल नामक एक जाति का शासक माना गया है।[३] विष्णु पुराण की मान्यता है कि कैलकिल नरेशों की गिनती यवनों में है।[४] इस भ्रष्ट पाठ और गलत

---

१ जे० डुब्रील, 'एन्श्येण्ट हिस्ट्री ऑव दि डेक्कन', पृ० ७१।

२ ए० बु० ना० यू० हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, अक्तूबर, १६४६, सं० प्रथम, पृ० ८।

३ वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में कहा गया है—'ततः कोलिकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति। समाः षण्णवतिं ज्ञात्वा पृथिवीं तु समेष्यति।'

४ 'तेषूच्छिन्नेषु केलिकिला यवना भूपतयो भविष्यन्ति।'

—'डाइनस्टीज ऑव दि कलि एज', पृ० ४८।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विन्यास के कारण विन्ध्यशक्ति को लोगों ने पहले यवन अथवा यूनानी जाति का मान रखा था। यहाँ तक कि डा० भाऊ दाजी जैसे सुप्रसिद्ध पुराविद ने यह भूल की। अजन्ता की एक गुहा (सं० षोडश) में मिले लेख का सम्पादन करते हुए उन्होंने यह बतलाया कि 'वाकाटक यवनों अथवा यूनानियों का एक राजघराना था जो वैदिक कर्मकाण्ड तथा बौद्ध धर्म के प्रोत्साहन के निमित्त स्थायी और व्ययसाध्य कृतियों के निर्माण में समान रूप से अग्रणी रहा।[१]

कुल

इसके विपरीत सर्वसम्मत मत अब यह है कि वाकाटक ब्राह्मण जाति के थे। अजन्ता (षोडश गुहा) लेख जिसका सम्पादन महामहोपाध्याय मीराशी ने किया है साफ निर्देश करता है कि उक्त राजवंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति एक 'द्विज' था।[२] बाद के वाकाटक लेखों में विष्णुभद्र वाकाटकों का 'गोत्र' बतलाया गया है।[३] बसीम ताम्र-पत्र (इ० हि० क्वा०, षोडश, पृ० १८२ एवं आगे) में वाकाटक नरेश प्रवरसेन प्रथम के लिए कुल की मातृसूचक अभिधा हारीतिपुत्र का प्रयोग हुआ है और एक अन्य अभिलेख (कॉ० इ० इ०, तृ०, पृ० २३६ एवं आगे) में एक वाकाटक नरेश का नाम गौतमीपुत्र मिलता है जिसकी माता स्पष्ट है कि 'गौतम गोत्र' की थी। इन सब बातों से उनके ब्राह्मण जाति के होने में और भी प्रमाण मिल जाते हैं। यह ठीक है कि संस्कृत निरुक्ति के अनुसार 'द्विज' शब्द क्षत्रिय अथवा वैश्य परक भी है; किन्तु उसका अर्थ प्रायः ब्राह्मण ही होता है जैसा कि सामान्यतः व्यवहार में आता है, और इस प्रकार वाकाटकों की ब्राह्मण-उत्पत्ति के विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना निर्मूल है।

---

१ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, अक्तूबर, १९४६, पृ० ६; तुलनार्थ, ज० बॉ० रा० ए० सो०, भाग सप्तम, पृ० ६६ एवं आगे।

२ मीराशी अजन्ता की षोडश गुहा में अवस्थित वाकाटक अभिलेख, 'हैदराबाद आर्केयालॉजिकल सिरीज़', सं० १४, पृ० १०।

३ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वर्गीय डा० जायसवाल का जिन्होंने प्रिन्सेप (Princep), ब्यूलर (Buhler) तथा कीलहॉर्न (Keilhorn) की कोटि में वाकाटक लेखों पर पर्याप्त काम किया है कथन है ['हिस्ट्री ऑव इण्डिया १५०–३५० ई०, पृ० ६७-एफ०]

उत्पत्ति

कि वाकाटक मूलतः वाकाट नामक स्थान के रहनेवाले थे जिसे वे ओड़छा राज्य का बागाट बतलाते हैं। वाकाटकों के इस औदीच्य उत्पत्ति की धारणा का प्रोफेसर मीराशी ने खण्डन किया है। वे वाकाटकों की दाक्षिणात्य उत्पत्ति के पक्ष के समर्थन में इस प्रकार अपने तर्क उपस्थित करते हैं—अपनी धारणा की पुष्टि में उन्होंने (डा० जायसवाल) यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि इलाहाबाद के समीप कोसम तथा उत्तर भारत के अन्य स्थान से प्राप्त कुछ सिक्के वाकाटक राजवंश के प्रवरसेन प्रथम तथा अन्य नरेशों द्वारा सञ्चालित किये गये थे। पर जायसवाल के पाठ नितान्त भ्रमपूर्ण हैं और अन्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं किये गये हैं।[१] सच तो यह है कि वाकाटकों ने कभी कोई सिक्के चलाये ही नहीं; उन्होंने अपने सारे राज्य में गुप्त मुद्राओं का ही प्रचलन बना रहने दिया। अतः इस धारणा की पुष्टि में कि वाकाटक मूलतः एक औदीच्य राजवंश के थे कोई प्रामाणिक तर्क नहीं रखा जा सकता। दूसरी ओर ऐसे बहुत से संकेत हैं जिनसे पता चलता है कि वे इस प्रान्त में दक्षिण से आये। उनके संस्कृत तथा प्राकृत अभिलेखों में ऐसे कई प्रयोग आते हैं जिनकी अतिशय समानता पल्लव दानपत्रों के प्रयोगों से पाई जाती है।[२] दाक्षिणात्य शातकर्णियों, कदम्बों और चालुक्यों के समान प्रारम्भिक वाकाटक अपने को हारीतिपुत्र—हारीति के वंशज, बतलाते थे। उन्होंने 'धर्म-महाराज' की उपाधि धारण की थी, जो उपाधि भी केवल कुछ दक्षिणी राजवंशों के जैसे पल्लवों और कदम्बों के लेखों में दिखाई देती है। इससे यह निश्चित जान पड़ता है कि वाकाटकों का मूल आवास दक्षिण में था।[३]

१ अल्तेकर, 'सम अलेज्ड नाग ऐण्ड वाकाटक क्वाइन्स', ज० न्यू० सो० इ० भाग पञ्चम, प्लेट तृ०।

२ एपि० इण्डि०, षड्विंशति, पृ० १४६।

३ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० ६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटक राजवंश का संस्थापक अजन्ता की षोडश गुहा में पाये गये अभिलेख[१] के अनुसार विन्ध्यशक्ति था जिसे अभिलेख में 'वाकाटक वंशकेतु' एवं 'द्विज' कहा गया है। पुराणों में राजकुटुम्ब के प्रधान विन्ध्यशक्ति को उसके पुत्र प्रवीर के साथ रखा गया है और दो वाकाटक राजधानियों—पुरिका और चणका, का उल्लेख हुआ है—'विन्ध्यशक्तिस्सुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान् । भोच्यते च समाः षष्टिं पुरिकां चणकाञ्च[२] वै ।[३]'

विन्ध्यशक्ति प्रथम

प्रोफेसर मीराशी का अनुमान है कि पुरिका पहले नाग राजाओं की राजधानी थी और 'हरिवंश' में पाये गये वर्णन से वह रिक्षवत् अथवा सतपुड़ा पर्वत के चरण पर कहीं अवस्थित जान पड़ती है। वह उस समय वाकाटक राजधानी बन गई होगी जब कि यह घराना उत्तर की ओर बढ़ आया होगा। दूसरी नगरी चणका उनकी मूल राजधानी प्रतीत होती है। उसका अभी तक निर्धारण नहीं हो सका है, किन्तु अनुमान है कि उसकी स्थिति कहीं कन्नड़ देश में थी जहाँ इसी प्रकार चण्डगिरि एवं चणपेट जैसे नाम मिलते हैं।[४]

अजन्ता अभिलेख में विन्ध्यशक्ति की असाधारण प्रशंसा पाई जाती है। उसके विषय में कहा जाता है कि उसने महान् लड़ाइयाँ लड़कर अपनी शक्ति बढ़ा ली थी; 'क्रुद्ध' होने पर उसकी 'शक्ति अनिवार्य' हो जाती थी। वह रण तथा दान दोनों में असाधारण था। उसके प्रभाव की तुलना इन्द्र और विष्णु के प्रभाव से की जा सकती है (पुरन्दरोपेन्द्रसम-प्रभावः)। उसके पास अश्वारोहियों की एक बड़ी सेना थी जिसे लेकर उसने अपने शत्रुओं को पराजित किया था।[५]

---

१ यह हरिषेण-कालीन अजन्ता गुहा-लेख के नाम से भी ख्यात है।

२ डा० जायसवाल और प्रो० मीराशी ने कुछ भिन्न पाठ रखा है [ए० बु० ना० यू०, सं० प्रथम, पृ० १०, टि० ८]।

३ पार्जिटर, 'डाइनस्टीज ऑव दि कलि एज', पृ० ५०।

४ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० १०।

५ से० इ०, पृ० सं० ४२६–२७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके पश्चात् उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम राज्य का उत्तराधिकारी बना जो पुराणों का प्रवीर माना जा सकता है। पुराणों में उसे एक प्रतापी नरेश कहा गया है। वाकाटकों को साम्राज्यवादी शक्ति बनाने में उनकी प्रतिष्ठा का मूल कारण वही था। वह अपने राज्य का विस्तार और उत्तर में नर्मदा तक करता प्रतीत होता है। पुराणों में उसे 'वाजपेय' यज्ञों का कर्त्ता कहा गया है। विन्ध्यशक्ति द्वितीय के बसीम ताम्र-पत्र अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि उसने वाजपेय सहित सभी सातों यज्ञ सम्पादित किये थे, यथा—'अग्निष्टोम', 'आप्तोर्याम', 'वाजपेय', 'ज्योतिष्टोम', 'बार्हस्पत्यासव', 'साद्यस्क' तथा अश्वमेध जिनमें से अन्तिम उसने चार बार किये। चार अश्वमेधों का सम्पादन इसका प्रमाण है कि उसने विभिन्न दिशाओं में सफल अभियान किये होंगे। उसने 'सम्राट्' की उपाधि धारण की थी जो उसने स्पष्ट ही अश्वमेधों और वाजपेयों के सम्पादन के अनन्तर की होगी।[2]

प्रवरसेन प्रथम

अपने राज्य का विस्तार उत्तर में नर्मदा तक कर प्रवरसेन प्रथम संभवतः चणका से अपनी राजधानी हटा कर पुरिका जैसे अधिक मध्यवर्त्ती स्थान में ले गया जो सतपुड़ा पर्वत के चरण पर कहीं अवस्थित था [पूर्वो०, पृ० ३६२]। पुराणों के अनुसार पुरिका में कुछ पीढ़ियों तक नागवंशियों का राज्य था जो संभवतः विदिशा (वर्तमान भिलसा के समीप) के राजवंश की एक शाखा थे। इससे यह जान पड़ता है कि प्रवरसेन ने निश्चय ही पुरिका के नाग शासक को राज्य से हटाकर उसके प्रदेश पर अधिकार कर लिया होगा। उसके बाद उसने भारशिव नरेश भवनाग के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी स्थित सुदृढ़ कर ली। उसने अपने पुत्र गौतम पुत्र का विवाह, भवनाग की राजपुत्री से कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि यह वैवाहिक सम्बन्ध प्रवरसेन प्रथम की बड़ी दूरदर्शितापूर्ण चाल थी। अपने सम्राट् भवनाग के अधिनायकत्व में भारशिवों की शक्ति काफी बढ़ी-चढ़ी हुई थी,

---

१ वाई० के० देशपाण्डे और डी० बी० महाजन, 'प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस', कलकत्ता, १६३८, पृ० ३४६ एवं आगे।

२ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० १०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
जिसके सिक्के नागों की विख्यात राजधानी पद्मावती (मध्य भारत) में पाये गये थे। भारशिव नागवंशी थे और इस नाम से संभवतः इसलिए विख्यात थे क्योंकि वे अपने कन्धों पर शिव का चिन्ह (शायद त्रिशूल) धारण करते थे और उनका ऐसा विश्वास था कि उनकी राज्यश्री शिव के वरदान का फल थी। वाकाटक लेखों से साफ पता चलता है कि वे कट्टर शैव थे। उन्होंने दस 'अश्वमेध' किये थे और उनका राज्याभिषेक भागीरथी के जल से हुआ था।[१] इससे जान पड़ता है कि उन्होंने गङ्गा की तलहटी के कुछ 'तीर्थों' से जैसे काशी और प्रयाग से कुषाणों को निकाल बाहर किया था। शक्तिशाली भारशिवों के साथ इस मैत्री-सम्बन्ध के कारण वाकाटकों की शक्ति और श्री से जैसी अभिवृद्धि हुई वह इस बात से ही स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र के वंशजों के समस्त लेखों में इस सम्बन्ध का बड़े अभिमान के साथ उल्लेख हुआ है।[२]

पुराणों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्र थे जो सभी राजा हुए।[३] अभी हाल तक पुराणों का यह कथन अविश्वसनीय समझा जाता रहा; क्योंकि वाकाटक राजवंश के इस प्रकार स्पष्ट रूप से शाखाओं में विभाजित हो जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध न था। १९३९ में बसीम के ताँबे के दान-पत्र[४] के मिल जाने से यह बतलाने को नहीं रह गया है कि गौतमीपुत्र के अतिरिक्त जिसका उल्लेख कई वाकाटक दान-पत्रों में है प्रवरसेन प्रथम के कम से कम सर्वसेन नामक एक और पुत्र तो अवश्य ही था। यह पुनरावृत पाठ में भी मिलता है।[५] अतः यह निश्चित जान पड़ता है कि प्रवरसेन

---

१ 'भागीरथ्यामलजल मूर्द्धाभिषिक्तानां·····दशाश्वमेधावभृत-स्नातानां' [एपि० इण्डि०, भाग त्रिविंशति, पृ० ८५]।

२ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० १२।

३ 'तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः' [पार्जिटर, 'डाइनस्टीज ऑव दि कलि एज', पृ० ५०]।

४ 'प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस', कलकत्ता १९३९, पृ० ३४९ एवं आगे।

५ 'नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल', दिसम्बर १९४०, सं० ६, पृ० ४१ एवं आगे; तुलनार्थ, से० इ० पृ० ४२७।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रथम का विस्तृत साम्राज्य उसकी मृत्यु के अनन्तर उसके चारों पुत्रों में बँट गया। उनमें से ज्येष्ठ शाखा का शासन तो पुरानी राजधानी पुरिका से ही होता रहा। द्वितीय पुत्र सर्वसेन ने वत्सगुल्म (आधुनिक बसीम) नगर में जो अकोला जिले में पड़ता है अपनी सार-सत्ता स्थापित की। शेष दो पुत्रों का नाम अभी अज्ञात ही हैं।

प्रधान शाखा

प्रवरसेन प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्र अपने पिता के पहले मर चुका था जिससे उसका पुत्र रुद्रसेन प्रथम अपने पितामह के बाद राजा हुआ। रुद्रसेन प्रथम को भवनाग का दौहित्र होने के कारण भारशिवों की अपार सहायता प्राप्त थी और उसने देवटेक नामक स्थान में एक शिव का मन्दिर बनवाया। यह स्थान नागपुर से पचास मील दक्षिण पड़ता है और यहीं से रुद्रसेन प्रथम का एक अभिलेख मिला है।[१] रुद्रसेन चक्रवर्ती गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का समकालीन था। वह संभवतः समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ-लेख में उल्लिखित रुद्रदेव ही है।[२] अभिलेख की २१वीं पंक्ति में जिसमें

१ 'द एट्थ आल-इण्डिया ओरिएण्टल कॉन्फरेन्स', मैसूर, दिसम्बर १६३५, ६१३–३२।

२ प्रो० मीराशी को इस समीकरण में सन्देह है [वही, पृ० ६२१]। उनका कहना है कि लेख (देवटेक अभिलेख) की स्थिति इसका सूचक है कि रुद्रसेन प्रथम नर्मदा के दक्षिण में राज्य करता था जिससे रुद्रदेव और रुद्रसेन प्रथम का समीकरण सन्देहास्पद हो जाता है। परन्तु इस पर भी तो विचार करना है कि रुद्रसेन के नर्मदा के उत्तर में भी लेख हों जो अभी तक नहीं पाये जा सके। यह तो निर्विवाद है ही कि उसका अपने निकट सम्बन्धियों भारशिव नागों और अन्य नागवंशी मित्र नरेशों के उत्तर भारतीय अधिकार-क्षेत्रों में जिन की स्वाधीनता समुद्रगुप्त के प्रसारगामी साम्राज्यवाद के कारण संकट में थी अपना स्वार्थ निहित था। अतः यह सोचना कि रुद्रसेन प्रथम ने समुद्रगुप्त के विरुद्ध अपने सम्बन्धियों को सहायता दी होगी अयुक्तिकर नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समुद्रगुप्त के उसके दक्षिणी अभियान के पश्चात् श्रेणीबद्ध उत्तर भारतीय राजाओं के एक नये संगठन के विरुद्ध एक द्वितीय आर्यावर्त्त युद्ध का वर्णन हुआ है रुद्रसेन का नाम आठ अन्य राजाओं के पहले आया है। इससे विदित होता है कि रुद्रसेन प्रथम समुद्रगुप्त के विरुद्ध उसकी दक्षिण में उपस्थिति के समय आयोजित किये गये राष्ट्रसंघ का नायक बन बैठा था। रुद्रसेन प्रथम जो प्रवरसेन प्रथम का पौत्र एवं भारशिव नरेश भवनाग का दौहित्र था ठीक ही अपनी शक्ति और स्थिति-वश समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति का सबसे महान् विरोधी सिद्ध हुआ होगा। समुद्रगुप्त द्वारा उसकी पराजय से वाकाटकों को न केवल अपने मध्य भारत में स्थित अधिकार-क्षेत्रों से, यदि उनकी संभावना ठीक हो, हाथ धोना पड़ा, बल्कि नर्मदा के दक्षिण में भी उनके कुछ प्रदेश उनके अधिकार में न रहे। अतः इस प्रधान अथवा बड़ी शाखा का राज्य विदर्भ के उत्तरी प्रदेश में ही सीमित रह गया।

रुद्रसेन प्रथम का पुत्र एवं उत्तराधिकारी पृथ्वीषेण प्रथम था जिसने कुन्तल विजय कर दक्खिन में वाकाटक राज्य का विस्तार किया। हरिषेण 'प्रशस्ति' में वह 'कुन्तलेन्द्र' कहा भी गया है। कुन्तल को विद्वानों ने कन्नड प्रान्त निर्धारित किया है जो वर्तमान बनवासी[१] जिले के आस-पास का इलाका है। पृथ्वीषेण प्रथम ने जिस कुन्तलाधिप से उसे जीता था वह निश्चय मयूरशर्मा का वंशज एक कदम्ब नरेश था।[२] पृथ्वीषेण का पुत्र एवं उत्तराधिकारी रुद्रसेन द्वितीय था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य' का समकालीन था। इस बात का कि वाकाटक अब भी दक्खिन के पश्चिमी और मध्यवर्त्ती प्रदेशों में अपनी शक्ति सुदृढ़ और अपराजेय बनाये रहे सबसे बड़ा

---

१ से० इ०, पृ० ४२७, टि० ३। प्रो० मीराशी इसे दक्षिणी महाराष्ट्र प्रान्त मानते हैं [ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं प्रथम, पृ० २४।

२ वही, पृ० ४२७, टि०३। कुछ विद्वानों का मत है कि कुन्तल-विजय वस्तुतः वसीम शाखा के विन्ध्यसेन ने की थी जिसे संभवतः पृथ्वीषेण से सहायता मिली थी ['न्यू हिस्ट्री ऑव द इंडियन पीपुल', भाग षष्ठ, भारतीय इतिहास परिषद्, पृ० १८६]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमाण तो यही है कि चन्द्रगुप्त ने अपने शक अभियान (पूर्वो०, पृ०) के पूर्व अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता को रुद्रसेन द्वितीय से व्याह कर उनकी मैत्री एवं सहायता पहले प्राप्त कर ली थी [प्रभावती गुप्ता का रिद्धपुर ताम्र-पत्र अभिलेख, ज० रा० ए० सो० ब०, न्यूस्मैटिक सप्लीमेण्ट, विश, ५८ एवं आगे]। प्रभावती गुप्ता अपनी माता कुबेरनागा द्वारा सुप्रसिद्ध नाग कुल से सम्बन्धित थी। अपने पति के मृत्यु के बाद उसने अपने अल्प-वयस्क पुत्रों—दिवाकरसेन और दामोदरसेन, की संरक्षिका बनकर राज्य किया। दिवाकरसेन तो बहुत थोड़े दिनों तक जीवित रहा प्रतीत होता है। उसके बाद उसका भाई दामोदरसेन राजा हुआ जिसने अपने राज्यारोहण के अवसर पर प्रवरसेन द्वितीय की उपाधि ग्रहण की। इस नरेश के कई लेख प्रकाश में आ चुके हैं। वे उसके द्वारा दिये गये क्षेत्रों अथवा गाँवों के जो मध्यप्रान्त और बरार के अमरावती, वर्धा, नागपुर, बैतूल, भन्दारा एवं बाघाट के वर्तमान जिलों में पड़ते थे दान-लेख हैं। प्रवरसेन द्वितीय के उसके शासन के १८वें वर्ष में दिये गये चम्मक (इलिचपुर, जिला बरार) ताम्र-पत्र अभिलेख से विदित होता है कि उसने अपने नाम पर प्रवरपुर नामक एक नया नगर बसाया, थाजहाँ वह संभवतः अपनी राजाधानी उठा ले गया।[१] वह शम्भु का उपासक था जिसकी कृपा से उसके विषय में कहा जाता है कि वह पृथ्वी पर 'कृत युग' अथवा स्वर्ण-युग का शासन स्थापित करने में समर्थ हुआ था।[२] वह एक उदारचेता नरेश था और उसने सहस्रों ब्राह्मणों को प्रचुर दान दिया।[३]

प्रवरसेन द्वितीय के अनन्तर उसका पुत्र नरेन्द्रसेन राजा हुआ। उसके विषय में जानने के लिए पृथ्वीषेण द्वितीय के अपूर्ण बाघाट प्रशस्ति-

---

१ ब्यूलर ने इस लेख को इलिचपुर दान के नाम से सम्पादित किया था। प्रो० मीराशी का अनुमान है कि यह वर्धा जिले में स्थिति पथाँर हो सकता है [ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट सं० प्रथम, पृ० १७]।

२ 'प्रभावतीगुप्ताय मुत्पन्नस्य शम्भोः प्रसाद-धृति कार्त्त-युगस्य' [फ्लीट, कॉ० इ० इ०, तृ०, पृ० २३६]।

३ वही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्रों[1] के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं है। नरेन्द्रसेन ने अपनी नीति प्रसारगामी रखी और पूर्व तथा उत्तर में कुछ प्रदेश भी जीते। उसके पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय के बाघाट प्रज्ञप्ति-पत्र सूचित करते हैं कि उसने बाहुवीर्य से अपने शत्रुओं को परास्त किया था और उसके अनुशासन का सम्मान करने के लिए कोशलाधिप तथा मेखला और मालवा के नरेश प्रस्तुत रहते थे।[2] प्रो० मीराशी का यह सुझाव वास्तव में बड़ा युक्तिपूर्ण है कि मालवा का प्रान्त जो चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा पश्चिमी क्षत्रपों के निर्वासित किये जाने के समय से लेकर सीधा गुप्त सम्राट् द्वारा शासित होता आ रहा था, संभवतः स्कन्दगुप्त के समय में अपने गोप्तृ अथवा उपरिक-महाराज गोविन्दगुप्त की अध्यक्षता में स्वाधीन हो गया था।[3] मैं अन्यत्र (पूर्वो०) यह दिखला चुका हूँ कि गोविन्दगुप्त पहले अपने पिता का वैशाली विषय (पूर्वी भारत) का उपरिक रह चुकने के बाद मालवा का शासन करने के लिए भेज दिया गया था। गोविन्दगुप्त के सेनानायक वायुरक्षित के पुत्र दत्तभट्ट के मालव संवत् ५२४ (४६७ ई०) के एक मन्दसोर अभिलेख से यह सिद्ध है। ग्वालियर राज्य के मालव दान-पत्र में प्रो० मीराशी एक मन्दसोर अभिलेख का संकेत करते हैं ['ग्वालियर आर्कयालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट १६२२-२३ के लिए', पृ० २३ एवं १८७] जिसमें गोविन्दगुप्त का चन्द्रगुप्त के ठीक बाद नामोल्लेख हुआ है। स्कन्दगुप्त का नामोल्लेख न होना विशेष अर्थ रखता है। इससे सूचित होता है कि गोविन्दगुप्त ने अपने भाई के निधन के बाद अपने भतीजे का अधिनायकत्व स्वीकार नहीं किया। सम्भव है कि वह अपने दक्षिण के पड़ोसी वाकाटक नरेन्द्रगुप्त से मिल गया जिसकी बाघाट प्रज्ञप्ति-पत्रों में आये कथनानुसार वह दरबारदारी करता था।[4] अस्तु, वस्तुस्थिति जो भी हो मालवा का

---

१ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० १८; कीलहॉर्न का भी, पृथ्वीषेण द्वितीय के बालाघाट प्रज्ञप्ति-पत्र, एपि० इण्डि०, नवम भाग, पृ० २६७ एवं आगे।

२ वही।

३ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० १६।

४ वही, पृ० १६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नरेन्द्रसेन के प्रति यह आत्मार्पण यदि बाघाट प्रज्ञप्ति-पत्रों में व्यक्त प्रशंसा ठीक हो तो तिथिक्रम की दृष्टि से उसके शासन-काल से ठीक मेल खाता है जो प्रो० मीराशी के अनुसार लग० ४५० ई० से लेकर ४६५ ई० तक था।[1]

नरेन्द्रसेन के बाद राज्य का अधिकारी उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय हुआ। नरेन्द्रसेन के शासन-काल में वाकाटकों को बस्तर राज्य के नलों से जिनका स्वामी भवदत्तवर्मन् था काफी क्षति उठानी पड़ी थी, नल उनके प्रदेश में काफी भीतर घुस गये थे और उनकी पहले की राजधानी नन्दिवर्द्धन तक को उन्होंने अधिकृत कर लिया था जहाँ से भवदत्तवर्मन् ने एक ताम्र-पत्र शासन सञ्चालित किया था।[2] यद्यपि नरेन्द्रसेन का उस नगर पर पुनः अधिकार स्थापित हो गया प्रतीत होता है, फिर भी काफी भाग उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी पृथ्वीषेण द्वितीय द्वारा पुनराधिकृत किये जाने के लिए बच रहा था। पृथ्वीषेण के समय के एक वाकाटक अभिलेख में उसे 'राजवंश की उपहृत-श्री का संवर्द्धन करनेवाला' कहा गया है। प्रो० मीराशी का अनुमान है कि उसने संभवतः अपनी राजधानी पद्मपुर को बनाई थी जो बाँदा जिले में पदमपुर के पास पड़ती थी जहाँ से एक अपूर्ण वाकाटक ताम्र-पत्र का सञ्चालन अभिप्रेत था।[3] अपने जीवन-काल में वह इतना कर सका कि मरने के पहले पूर्वी-विदर्भ स्थित अपनी राजधानी में अपनी जड़ें अच्छी तरह जमा ली थीं और उसके कुछ ही काल बाद न केवल शत्रु को अपनी पितृभूमि से निकाल बाहर किया था, बल्कि उत्तर में भी अपनी स्थिति ठीक कर ली थी।

पृथ्वीषेण द्वितीय वाकाटक राजवंश की इस बड़ी शाखा का अन्तिम सदस्य था जिसके विषय में हम जानते हैं। उसके बाद राज्य पर संभवतः छोटी

---

१ वही।

२ वही, पृ० २०; तुलनार्थ, 'भवदत्तवर्मन के रिद्धपिन (जिला अमरावती) प्रज्ञप्ति-पत्र', एपि० इण्डि०, भाग एकोनविंश, पृ० १०० एवं आगे।

३ एपि० इंडि०, भाग नवम, पृ० २७१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वत्सगुल्म शाखा के हरिषेण का अधिकार स्थापित हो गया जिसने सभी दिशाओं में अनेक विजय किये। इस प्रकार ४८० ई० के लगभग वाकाटक राजवंश की बड़ी शाखा का शासन समाप्त हुआ।[१]

वाकाटक वंशावली (बड़ी शाखा)

विन्ध्यशक्ति प्रथम
|
प्रवरसेन प्रथम
|
गौतमी पुत्र = (वि०) भवनाग भारशिव की पुत्री — सर्वसेन जिसने वत्सगुल्म (बसीम) में शासन करनेवाली छोटी शाखा की स्थापना की।
|
रुद्रसेन प्रथम
|
पृथ्वीषेण प्रथम = (वि०) प्रभावतीगुप्ता—चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' की पुत्री
|
रुद्रसेन द्वितीय
|
दिवाकरसेन — दामोदरसेन (प्रवरसेन द्वितीय)
|
नरेन्द्रसेन
|
पृथ्वीषेण द्वितीय

छोटी (वत्सगुल्म) शाखा

१६३६ ई० में विन्ध्यशक्ति द्वितीय के बसीम ताम्र-पत्र अभिलेख की

१ तुलनार्थ, मीराशी, 'ऐन अनफ़िनिश्ड वाकाटक प्लेट फ्रॉम दुग', एपि० इण्डि०, भाग द्वाविंशति, पृ० २०७ एवं आगे; ए० बु० ना० यू० हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० सं० २०-२१ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खोज[1] से वाकाटक नरेशों की यह शाखा प्रकाश में आई है। जिसके विषय में पहले कुछ नहीं ज्ञात था। इस शाखा के कतिपय नरेशों का उल्लेख अजन्ता अभिलेख में सोलहवीं गुहा में अवश्य हुआ है, किन्तु लेख के बुरी तरह टूटे-फूटे होने के कारण उनके नाम पहले गलत पढ़े गये। प्रो० मीराशी ने गुहा-लेख के एक नये संस्करण में इन नामों को अपने मूल रूप में लाने का यत्न किया है।[2] उन्होंने यह दिखलाया है कि अजन्ता के दक्षिण शासन करनेवाले नरेश वाकाटक राजवंश की इस शाखा के थे और उनका शासन दक्षिण में गोदावरी तक फैला हुआ था।[3]

छोटी शाखा का प्रवर्त्तक सर्वसेन था जिसका उल्लेख बसीम तथा अजन्ता दोनों अभिलेखों में प्रवरसेन प्रथम के पुत्र के रूप में हुआ है। वह शायद कनिष्ठ पुत्र था जिसने प्रधान शाखा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और एक स्वतंत्र राजकीय सह शाखा पल्लवित की जिसकी राजधानी उसने वत्सगुल्म-अकोला जिले में वर्तमान बसीम, को बनाई जो धीरे-धीरे विद्या और संस्कृति के एक महान् केन्द्र में परिणत होकर पुरानी राजधानी की प्रतिद्वन्द्विता करने लगी। दक्षिण की रीति के अनुसार सर्वसेन ने 'धर्ममहाराज' की उपाधि ग्रहण की थी। अनुश्रुति में वह 'हरिविजय' नामक प्राकृत् काव्य तथा सुप्रसिद्ध गाथा ग्रह 'गाथासतशती' में सग्रहीत कुछ प्राकृत् गाथाओं का रचयिता माना जाता है।[4]

सर्वसेन का उत्तराधिकार उसके पुत्र विन्ध्यशक्ति ने प्राप्त किया जो बसीम प्रज्ञप्ति-पत्रों में विन्ध्यशक्ति द्वितीय के नाम से प्रख्यात है। वह बसीम शासन का

---

१ दीनेशचन्द्र सरकार, इ० हि० क्वा०, षोडश, पृ० १८२ एवं आगे; देश पाण्डे और महाजन, 'प्रोसीडिंग्स ऑव द इण्डियन हिस्ट्री कॉग्रेस', कलकत्ता, १९३९, पृ० ३४९ एवं आगे।

२ मीराशी, वाकाटक इन्स्क्रप्शन इन केव सिक्सटीन्थ' (हैदराबाद आर्कैयालॉजिकल सिरीज़', सं० १४)।

३ ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० २१।

४ वही, पृ० २२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्त्ता था जिसे उसने अपने शासन के ३७वें वर्ष में सञ्चालित किया था। अपने पिता की भाँति उसने धर्ममहाराज की उपाधि धारण की। वाकाटकों के लिखित इतिहास में बसीम प्रज्ञप्ति-पत्र का बड़ा महत्त्व है। वत्सगुल्म-स्थित राजधानी से सञ्चालित प्रज्ञप्ति-पत्रों में विन्ध्यशक्ति द्वितीय द्वारा नन्दिकट (निजाम के राज्य में वर्तमान नन्देड़) के उत्तर एक गाँव दान में दिये जाने का लेख सुरक्षित है। शासन का संस्कृत में लिखा हुआ वंशक्रम प्रस्तुत करनेवाला अंश गौतमीपुत्र और रुद्रसेन प्रथम—प्रवरसेन प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र तथा पौत्र, के नाम नहीं देता और सर्वसेन का उल्लेख ठीक बाद एवं प्रवरसेन प्रथम के पुत्र तथा शासन के कर्त्ता विन्ध्य-शक्ति द्वितीय के पिता के रूप में करता है। इस संयोग तथा इस बात से कि शासन का संचालन एक नये नगर वत्सगुल्म से हुआ था जो निश्चय ही सह शाखा की राजधानी था, सिद्ध है कि सर्वसेन ने जो प्रवरसेन प्रथम का एक कनिष्ठ पुत्र था इस स्वतन्त्र शाखा का आरोपण किया था जिसका इतिहास अन्यथा हमें ज्ञात न हो पाता।

विन्ध्यशक्ति द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय राजा हुआ। सबसे मनोरंजक बात तो यह है कि इस नरेश का वही नाम था जो प्रधान शाखा के उसके समकालिक शासक का। उसके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है, किन्तु अजन्ता अभिलेख से वह एक प्रबुद्ध शासक प्रतीत होता है। उसके शासन के आठवें वर्ष राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ दुर्भाग्यवश अजन्ता अभिलेख में नाम खण्डित हो गया है, यद्यपि अभिलेख से इतना पता तो अवश्य चलता है कि उसने अच्छी तरह शासन किया, ('प्रशशास सम्यक्')।

उसके बाद उसका पुत्र देवसेन आया। उसने वत्सगुल्म से एक ताम्र-पत्र शासन संचालित किया।[1] इससे स्पष्ट है कि बसीम राजधानी बनी रही। उसका एक अत्यन्त कुशल, अनुभवपरायण तथा असाधारण योग्यता का हस्तिभोज नामक मंत्री था जिसे उसने राज्य का सारा शासन सौंप रखा था और स्वयं जीवन के राग-रंग में मस्त रहता था।[2]

---

१ 'न्यू इण्डियन ऐण्टिक्वेरी', १९३७, पृ० १९७ एवं आगे।

२ 'भोगेषु यथेष्ट-चेष्टः', अजन्ता षोडश गुहा-लेख।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवसेन के अनन्तर उसका पुत्र हरिषेण राज्य का स्वामी बना जिसके समय में अजन्ता गुहा (षोडश) लेख अंकित हुआ जिसमें उसके समय तक की वाकाटक नरेशों की सह शाखा की वंशावली दी गई। अभिलेख में उसका वर्णन एक प्रतापी नरेश के रूप में हुआ है उसके विषय में कहा जाता है कि उसने अनेक प्रदेश जीते और अपने राज्य का चतुर्दिक विस्तार किया। अजन्ता अभिलेख की पंक्तियाँ (१४-१५) जिसमें उसकी विजयों का वर्णन पाया जाता है इस तरह टूट-फूट गई हैं कि वे नहीं पढ़ी जा सकतीं, किन्तु वर्तमान अंश सूचित करते हैं कि उसके जीते हुए प्रदेशों में कुन्तल (महाराष्ट्र का दक्षिणी भाग), अवन्ति (पश्चिमी मालवा), कलिंग (उड़ीसा), कोशल (दक्षिण कोशल अथवा छत्तीसगढ़)[१], त्रिकूट (जिला नासिक), लाट (गुजरात) और आन्ध्र (पूर्वी घाट में गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का देश) सम्मिलित थे। इससे पता चलता है कि उसने एक विस्तृत प्रदेश पर शासन किया जिसका विस्तार उत्तर में मालवा से लेकर कुन्तल तक दक्षिण में तथा पूर्व में बङ्गाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर पर्यन्त था।

वाकाटक साम्राज्य का पतन

अपने पिता की तरह उसे भी वराहदेव नामक एक योग्य और लोकप्रिय सचिव प्राप्त था जो संभवतः देवसेन के मंत्री हस्तिभोज का ही पुत्र था और जिसने अजन्ता की सोलहवीं गुहा का निर्माण कराया और उसकी दीवार पर अत्यन्त विज्ञप्तिजनक अभिलेख उत्कीर्ण कराया। हरिषेण के राज्य-काल में अनुमान किया जाता है कि वाकाटक-शक्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई जब कि सम्पूर्ण वाकाटक साम्राज्य उसके अधीन आ गया प्रतीत होता है। इस राजवंश का वह अन्तिम ज्ञात शासक है। उसके

१—३६गढ़ों का इलाका, वर्तमान रायपुर, संभलपुर, बिलासपुर के प्रदेश जिनमें उड़ीसा के दो राज्य मध्य-प्रान्त और उड़ीसा की सीमाओं पर स्थित पटना तथा कालिया हण्डी सम्मिलित हैं।

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बाद के किसी वाकाटक नरेश का नाम नहीं मिलता। हरिषेण ने पाँचवीं शती ई० के अन्तिम चरण के लगभग राज्य किया। इसके बाद आगामी शती के मध्य में जाकर इस राजवंश का अन्त हो गया। उसके पतन के सम्बन्ध में किसी उत्तेजनापूर्ण घटना का पता नहीं; किन्तु उसके कई कारण रहे होंगे, जैसे हरिषेण के यदि कोई उत्तराधिकारी रहे हों तो उनका कमजोर होना तथा नल जैसे पुराने शत्रुओं और कलचुरिय तथा कदम्ब जैसी नई शक्तियों का उत्कर्ष। फिर मालवा और मध्य-प्रान्त के उत्तरी भाग में इसी समय यशोधर्मन् की नवोत्थित शक्ति—अल्पकाल के लिए ही सही—सामने आई। उसके साम्राज्य में जिसने ५३२ ई० के लगभग राज्य किया[१] और चक्रवर्ती नरेशों की उपाधियाँ ग्रहण कीं तथा जिसका यह दावा था कि उसने उन प्रदेशों पर शासन किया जो गुप्त और हूण नरेशों के अधिकार तक में नहीं आये[२] वाकाटकों के उत्तरी जिले अवश्य ही आ गये होंगे। यशोधर्मन का साम्राज्य अल्पकालीन था और वह शक्ति सम्भवतः कलचुरियों की थी जिसने वाकाटक-शक्ति का विनाश किया और उसके ध्वन्स पर अपनी सत्ता खड़ी की जैसा कि मुद्रा-सम्बन्धी प्रमाणों से पता चलता है।[३]

---

१ यशोधर्मन् का तिथि-युक्त मन्दसोर अभिलेख, वि० सं० ५८९= ५३२ ई० [कीलहॉर्न, इ० ऐ०, अष्टादश, पृ० २२०, विंश, पृ० १८८ एवं आगे]।

२ उसका तिथिरहित मन्दसोर अभिलेख [कीलहॉर्न, इ० ऐ० सप्तदश, पृ० २१९ एवं आगे; विंश, पृ० १८८]।

३ आरम्भ के कलचुरिय शासनों की वंशावली में सर्वोपरि लिखित कृष्ण-राज की मुद्राएँ देश भर में पाई गई हैं [ए० बु० ना० यू०, हिस्टॉरिकल सब्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० २४; आ० स० रि०, १९१३-१४, पृ० २१४; बम्बई गजेटियर, प्रथम भाग, द्वितीय खण्ड, पृ० १३; ब० ब्रा० रॉ० ए० सो०, विंश भाग (विशेषाङ्क, पृ० ७ और ९)]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाकाटक वंशावली (छोटी शाखा)

प्रवरसेन
- गौतमीपुत्र
- सर्वसेन
  - विन्ध्यशक्ति द्वितीय
    - प्रवरसेन द्वितीय
      - देवसेन
        - हरिषेण

वाकाटक युग की संस्कृति

वाकाटकों ने केवल राजनीतिक विजय ही नहीं किये; वाकाटक-युग में धर्म, कला और साहित्य की दिशा में महान् कार्य हुए हैं। इस अध्याय के आरंभ में उद्धृत प्रो० डुब्रील के वाकाटक सभ्यता-सम्बन्धी अत्यन्त प्रशंसा के शब्द वस्तुतः कोरी प्रशंसा के ही शब्द नहीं हैं; उनसे स्थिति की यथार्थता पर प्रकाश पड़ता है।

धर्म

वाकाटक नरेश स्वयं कट्टर ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे जैसे बौद्ध धर्म और जैन धर्म जो उनके सचिवों और सामन्तों का उदार आश्रय पाकर उनके विशाल साम्राज्य में अपनी स्थिति बनाये रहे। यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्रवरसेन ने सात वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया था जिनमें उसके द्वारा सम्पादित चार 'अश्वमेध' भी थे [पूर्व०, पृ०]। बहुत-से वाकाटक अभिलेख इस आशय के मिले हैं जिनमें धर्मात्मा और विद्वान् ब्राह्मणों को भूमि एवं सम्पूर्ण गाँव दे डालने के शासन वर्तमान हैं। अधिकांश वाकाटक नरेश शैव थे जो शिव की उपासना महेश्वर और महाभैरव के नामों से करते थे और जिनके निमित्त उन्होंने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बहुत-से मन्दिर बनवाये थे। ऐसा तो रुद्रसेन द्वितीय-चन्द्रगुप्त द्वितीय का जामाता, ही था जो शिव का उपासक नहीं बल्कि एक वैष्णव प्रतीत होता है; इसमें उसकी स्त्री अथवा श्वसुर का प्रभाव जान पड़ता है जो दोनों ही परम वैष्णव थे जिसके आभिलेखिक प्रमाण हैं।[1] परन्तु रुद्रसेन के बाद उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय पुनः शैव मत में लौट गया जो इससे सिद्ध है कि अपने चम्मक प्रज्ञप्ति-पत्र अभिलेख[2] में वह 'परम महेश्वर' के विशेषण से विहित हुआ है।

साहित्य और कला

कई वाकाटक नरेश ऐसे थे जो न केवल विद्या और विद्वानों के महान् संरक्षक ही थे, बल्कि उत्कृष्ट प्राकृत् काव्य-ग्रन्थों और गाथाओं के रचयिता भी। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है [पूर्वो०] वत्सगुल्म शाखा के प्रवर्त्तक सर्वसेन ने प्राकृत् काव्य 'हरिविजय' की रचना की थी जिसका आधार महाभारत में वर्णित कृष्ण, सत्यभामा और पारिजात का उपाख्यान था। यह काव्य अब उपलब्ध नहीं है किन्तु बाद के संस्कृत कवियों द्वारा उसमें से दिये गये अवतरणों और सन्दर्भों से शैली और विषय-परक उत्कृष्टता तथा काव्य का रचयिता कौन था ये दोनों बातें सिद्ध हैं। उसकी कई प्राकृत् 'गाथाएँ' 'गाथासप्तशती' में आती हैं। उसके शासन काल में वत्सगुल्म विद्या और संस्कृति का एक महान् केन्द्र हो गया। इस वंश की बड़ी शाखा का सम्राट् प्रवरसेन द्वितीय भी अनेक प्राकृत् 'गाथाओं' का जिनका समावेश गाथासप्तशती' में हुआ है तथा 'सेतुबन्ध' नामक प्रसिद्ध काव्य का जो 'रावणवहो' के नाम से भी विख्यात है और जिसकी रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है एक प्रतिष्ठित लेखक था। विद्वान् आलोचकों ने सेतुबन्ध काव्य की बड़ी प्रशंसा की है। उसके एक शती बाद (छठवीं शती ई०) अपना ग्रन्थ लिखनेवाले दण्डिन ने अपने 'काव्यादर्श' में उसे सुभाषितावलि के रूप में

---

१ फ्लीट, 'गुप्त इन्स्क्रप्शन्स', पृ० सं०, २५, ४३ पा०, १४१; एलेन, 'कैटलॉग', पृ० ४६; प्रभावती गुप्ता का रिद्धपुर ताम्र-पत्र, ज० ए० सो० ब० (न्यू स०), विंश भाग, पृ० ५८ एवं आगे, मीराशी, प्रवरसेन द्वितीय के पत्तन प्रज्ञप्ति-पत्र, एपि० इण्डि०, त्रित्रिंशति, पृ० ८६।

२ इ० ऐ० द्वादश पृ० २३६ एवं आगे; से० इ०, पृ० ४२१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रत्नों की खानि बतलाया है और बाण (सातवीं शती ई०) अपने 'हर्षचरित' में कहता है कि 'इस सेतु (अर्थात् 'सेतुबन्ध') द्वारा प्रवरसेन की कीर्त्ति समुद्र पार जा पहुँची जिस तरह प्राचीन काल में सेतु द्वारा (राम की) कपिसेना समुद्र पार हुई थी।'[1] अनुमान है कि कालिदास जो चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का समकालीन था तथा उसके बाद भी जीवित रहा प्रवरसेन द्वितीय की राजसभा में कुछ काल तक रहा था जहाँ रहकर उसने उक्त नरेश को उसकी काव्य-रचना में सहायता दी होगी तथा स्वयं अपने ललित गीत-काव्य 'मेघदूत' का निर्माण किया होगा जो वैदर्भी रीति का काव्य माना जाता है।[2]

साहित्य की तरह स्थापत्य, मूर्त्ति-कला और चित्र-कला को भी वाकाटक नरेशों का संरक्षण प्राप्त था। विदर्भ में दो देवस्थान—एक जबलपुर जिले में बहुरियाबन्द के समीप तिगोवा में जिसकी चिपटी छत और आच्छन्न बरामदा द्रष्टव्य हैं तथा दूसरा नचना (नागौद राज्य) में, बहुत सुरक्षित अवस्था में वर्तमान हैं। देवस्थान के बरामदे के स्तंभों और आलम्बनों पर भारतीय एवं पर्सीपॉलिस की मिश्रित शैली में एक वृक्ष को बीच में खड़ाकर उसके सहारे पीठ से पीठ सटाकर अर्द्ध-अधिष्ठित अवस्था में गढ़े गये सिंहध्वज वर्तमान हैं। गर्भ-गृह के प्रवेश-द्वार पर भगवती गङ्गा और भगवती यमुना की प्रतिमाएँ गर्भ-गृह की रक्षा के निमित्त बनी हुई हैं। नचना का मन्दिर व्याघ्रदेव ने बनवाया था जो वाकाटक महाराज पृथ्वीषेण द्वितीय का सामन्त था।[3]

---

१ कीर्त्तिः प्रवरस्य प्रयाता कुमुदोज्वला। सागरस्य परं पारं कपि-सेनेव सेतुना।

२ तुलनार्थ, ए० बु० ना० यू० हिस्टॉरिकल सप्लीमेण्ट, सं० प्रथम, पृ० सं० २६–३१ तथा वही, पृ० ३१ पा०, ७५ [प्रो० मीराशी ने इस धारणा की पुष्टि के लिए अच्छा आधार दिया है कि कालिदास विदर्भ-स्थित प्रवरसेन द्वितीय की राजसभा में रहा होगा और उक्त नरेश को पुस्तक पूरी करने में सहायता दी होगी, वही, पृ० सं० ३१–३२।

३ वही, पृ० सं०, ३३-३४; तुलनार्थ, आ० स० इ० ए० रि०, नवम, पृ० ४३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अजन्ता की कुछ भव्यतम और सर्वश्रेष्ठ गुहाएँ—षोडश और सप्तदश विहार गुहाएँ एवं एकोनविंश चैत्य गुहा, वाकाटककालीन हैं।[१] षोडश गुहा जिसकी रचना हरिषेण के सचिव वराहदेव ने कराई थी एक ६६ फ़ीट लम्बे, ६५ फ़ीट चौड़े तथा १५ फ़ीट ऊँचे सुविशाल कमरे से युक्त है। गुहा की छत धरनियों और तड़कों की अनुकृति में काटी गई है। इसके भीतर गर्भ-गृह में 'धर्मचक्र प्रवर्त्तन मुद्रा' में भगवान् बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। गुहा के समस्त भीतरी भाग में अवसित चित्रों की पंक्तियाँ अब नष्ट हो गई हैं, किन्तु एक दर्शनीय खंड जो मृत्यु-शय्या पर पड़े राजकुमार का अंकन करता है अपनी करुणा, भावमयी संज्ञा, शिल्प-सौंदर्य और रंग के लिए सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ ग्रिफ़िथ्स (Mr. Griffiths) द्वारा अत्यन्त प्रशंसित हुआ है।[२] सप्तदश गुहा में भी जो एक विहार गुहा है एक बुद्ध प्रतिमा वर्तमान है, यों यह गुहा आकार-प्रकार में भी पूर्ववर्त्ती गुहा के समान है। एकोनविंश चैत्य गुहा की गणना अजन्ता की तीन अन्य चैत्य गुहाओं के साथ की जाती है, यह सारी गुहा सुन्दर शिल्पों से अलंकृत है जिनमें बुद्ध की खड़ी और उपवेष्टित मूर्त्तियाँ हैं। फर्गुसन ने इसे भारत में पाये जानेवाले बौद्ध कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में से एक माना है। इन दोनों गुहाओं का निर्माण हरिषेण के एक सामन्त ने करवाया था।[३]

---

१ 'केव टेम्पुल्स ऑव इण्डिया', फर्गुसन (Fergusson) और बर्गेस (Burgess) कृत, पृ० ३०३ एवं आगे।

२ वही, पृ० ३०७।

३ यूबु० ना० ०, हिस्टॉरिकल सप्लीमेंट, सं० प्रथम, पृ० सं० ३५-३७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बारहवाँ अध्याय

गुप्त साम्राज्य के पतन से हर्षवर्द्धन के उत्थान तक का राजनीतिक इतिहास

ईसा की छठवीं शताब्दि अर्थात् गुप्त साम्राज्य के पतन से सातवीं शताब्दि के आरम्भ के लगभग थानेश्वर के हर्षवर्द्धन के उत्थान तक का काल एक अन्य विकेन्द्रीकरण का काल है जबकि भारत अनेक छोटे-छोटे स्वाधीन राज्यों में बँटा हुआ था जिनमें हूणों द्वारा संस्थापित राज्य भी था जो विदेशी आक्रान्ता थे। इस अध्याय में हम इन राज्यों के इतिहास का गुप्तों की शक्ति के अवशेष-सहित जो मगध और पूर्वी-मालवा के अनुवर्त्ती गुप्तों के अधिकार में बच रहा था अलग खंडों में वर्णन करेंगे।

(प्रथम खण्ड)

हूणों का आक्रमण

गुप्तों की साम्राज्यवादी शक्ति को सबसे मर्मान्तिक आघात पहुँचानेवाली घटनाओं में हूणों का आक्रमण एक था। वे एक खूँख्वार खानाबदोश जाति के थे जो मूलतः चीन के पड़ोसी थे। अपने मूल आवास से निकलकर उन्होंने सारे फारस तथा अफगानिस्तान को रौंद डाला; जिस देश से होकर वे निकले वहाँ भीषण अग्निकाण्ड और कत्ल-ए-आम का दृश्य उपस्थित कर दिया। इनके जत्थे का एक दूसरा भाग योरप जा पहुँचा जहाँ अपने नृशंस कांडों के द्वारा वह भी इन्हीं के समान अप्रतिष्ठा का भागी बना। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है उन्होंने भारत पर प्रथम बार कुमारगुप्त के शासन के प्रायः अन्तिम भाग में आक्रमण किया था जिसका यदि कुछ फल न हुआ तो उसका श्रेय युवराज स्कन्दगुप्त को है [पूर्वो०]। इस अस्थायी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
अवरोध से सदा के लिए भयभीत न होकर वे पाँचवीं शती ई० के अन्त के निकट पुनः काफी अधिक संख्या में आ धमके। इस बार उनका नायक तोरमाण था। हूणों ने पहले उत्तरापथ में जिसमें गन्धार और कश्मीर के प्रदेश सम्मिलित थे अपने को सुरक्षित कर गुप्तों के पश्चिमी प्रदेशों पर आक्रमण कर दिये; कितने ही स्त्री-पुरुष मारे गये, कितने लहलहाते खेत और घर उजाड़ दिये गये और उसके साथ-साथ गुप्त साम्राज्य के कितने स्मारक और वैभव तथा संस्कृति के चिन्ह धूलि में मिला दिये गये। तोरमाण का नाम 'राजतरंगिणी' में आया है, इसके अतिरिक्त अभिलेखों और मुद्राओं से भी जाना जाता है। उत्तरापथ में किये जानेवाले हूणों के अधिकार के सम्बन्ध में 'हर्षचरित' में संकेत हुआ है। तोरमाण का एरण-प्रस्तर-वराह अभिलेख [कॉ० इ० इ०, तृ०, पृ० १५६ एवं आगे] मध्य भारत पर उसका आधिपत्य सिद्ध करता है। गुप्त साम्राज्य के इस भाग पर तोरमाण ने गुप्त संवत् १६५=४८४ ई० के बाद ही किसी समय विजय पाई होगी जो बुधगुप्त के एरण प्रस्तर स्तम्भ लेख की तिथि है और जो मध्य भारत पर जिसमें मालवा का प्रदेश सम्मिलित था अपने सामन्त-महाराज मातृविष्णु के द्वारा जिसका छोटा भाई धन्यविष्णु था शासन करता था [कॉ० इ० इ०, तृ०, पृ० ८९]। तोरमाण के एरण अभिलेख से जो उसके शासन के प्रथम वर्ष में अंकित हुआ है ज्ञात होता है कि मातृविष्णु का छोटा भाई धन्यविष्णु जो अभिलेख के अंकित होने से पहले निधन को प्राप्त हो चुका था हूण नरेश का एक सामन्त था। भानुगुप्त के समय का एक अन्य एरण प्रस्तर स्तम्भ लेख [कॉ० इ० इ०, तृ० पृ० ९२ एव आगे] एक युद्ध का उल्लेख करता है जिसमें उसका सेनापति गोपराज भीषण संग्राम के बीच युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ और उसकी स्त्री ने अपने पति की चिता रोपकर प्राण-त्याग किया।[१] अभिलेख गु० सं० १९१ (५१० ई०) का है। यह असंभव नहीं प्रतीत होता कि जिस युद्ध का संकेत यहाँ पाया जाता है वह मध्य भारत में हुए गुप्तों और हूणों के संघर्ष का निर्णयात्मक रूप रहा होगा जिसमें हूणों

तोरमाण

१ 'सती' का यह एक प्राचीन आभिलेखिक संकेत मिलता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने गुप्तों को उनके मध्य भारतीय अधिकार-क्षेत्रों से जिनमें मालवा का प्रदेश भी था, वञ्चित कर दिया।

मिहिरकुल

तोरमाण का पुत्र तथा उत्तराधिकारी मिहिरकुल था जिसे अनुश्रुतियों में विनाश की मूर्ति एवं नृशंस कर्म करके आनन्दित होनेवाला पिशाच चित्रित किया गया है। युवान्च्वाङ् कहता है कि मो-हि-कि-लो (मिहिरकुल) ने बौद्धों पर बड़ा अत्याचार किया। उसने उनके स्तूपों और संघारामों को लूट-कर उनमें आग लगा दिया। वही यात्री आगे चलकर बतलाता है कि जब उसने मगध के स्वामी बालादित्य पर आक्रमण किया तो उसे मुँह की खानी पड़ी; बालादित्य ने उसे बन्दी बनाकर बाद में छोड़ दिया। इस पराजय के बाद मिहिरकुल ने कश्मीर में जाकर आश्रय लिया जहाँ उसने कश्मीर-नरेश के आतिथ्य का अनुचित लाभ उठाकर एक षड्यन्त्र द्वारा जो बाद में सफल हुआ अपने आश्रयदाता का राज्य हड़प लिया। परन्तु अपने विश्वासघात का बहुत समय तक वह फलोपभोग न कर सका, क्योंकि उसके परसत्त्वापहरण के एक वर्ष के भीतर मृत्यु उसे उठा ले गई। यह बालादित्य कौन है इसका निश्चय करना बड़ा कठिन है। यह हम दिखा चुके हैं [पूर्वो०] कि वह नरसिंहगुप्त बालादित्य नहीं हो सकता, बल्कि बालादित्य नामधारी मगध में राज्य करनेवाला कोई दूसरा ही व्यक्ति है। नरसिंहगुप्त बालादित्य ने गु० सं० १५४=४७३ ई० के पहले राज्य किया था जो उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त की उसके सारनाथ अभिलेख [आ० स० इ०, ए० रि० १९१४-१५, पृ० १२४] में अंकित तिथि है, जब कि तोरमाण के पुत्र एवं उत्तराधिकारी मिहिरकुल का मध्यदेश पर आक्रमण जिसमें वह बालादित्य से परास्त हुआ ४८४ ई० के पूर्व किसी दशा में हुआ संभव नहीं है जब कि गुप्त नरेशों का स्वत्व उनके सम्पूर्ण मध्य भारतीय अधिकार-क्षेत्रों पर स्थापित था और मिहिर-कुल का पिता तोरमाण भी अभी जीवित ही था और यदि मेरा सुझाव [पूर्वो०] मान्य हो कि मध्य भारत के ५१० ई० के सुप्रसिद्ध युद्ध में भानुगुप्त के सेना-नायक गोपराज को उपहत करनेवाला शत्रु [फ्लीट, सं० २० भानुगुप्त केगु

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
समय का एरण अभिलेख][1] हूणों का नायक तोरमाण था जिसने अपने शासन के प्रथम वर्ष में मध्य भारत पर अपना आधिपत्य सिद्ध करनेवाला एक अभिलेख एरण में अंकित कराया था तो स्वीकार करना होगा कि तोरमाण ५११ ई० (५१०+१ ई०) में जीवित था। अतएव युवान् च्वाङ् का बालादित्य जिसने मिहिरकुल को हराया था निश्चय मगध का एक अनुवर्त्ती गुप्त शासक था जिसने कुमारगुप्त द्वितीय (लग० ४७३ ई०) के पूर्ववर्त्ती नरसिंहगुप्त बालादित्य के बहुत काल बाद राज्य किया। बालादित्य नाम अथवा उपाधि मध्यदेश के कई शासकों ने धारण किया था जिसके आभिलेखिक प्रमाण हैं। मगध के एक अनुवर्त्ती गुप्त शासक जीवितगुप्त द्वितीय के देव-बरणार्क अभिलेख [फ्लीट, सं० ४६] की २–६ पंक्तियों में एक बालादित्य का नाम मिलता है। काशी के अधिपति प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख [फ्लीट, सं० ७९] में उसके राजवंश के दो शासक बालादित्य के रूप में अभिहित हुए हैं। राखालदास बनर्जी ['प्री-हिस्टॉरिक, एन्श्येण्ट ऐण्ड हिन्दू इण्डिया, पृ० १९४] का यह अनुमान ठीक जान पड़ता है कि इन्हीं बालादित्यों में से एक का उल्लेख युवान् च्वाङ् ने मिहिरकुल के विजेता के रूप में किया है।

फिर भी यदि मिहिरकुल-बालादित्य कथानक में पुष्टिजनक आभिलेखिक प्रमाण के अभाव में अनिश्चय के लिए स्थान बना रहे तो वैसा कोई अनिश्चय मालवा के सामन्त यशोधर्मन् द्वारा मिहिरकुल के युद्ध में बुरी तरह पराजित होने के सम्बन्ध में तो नहीं ही है जिसकी कीर्त्ति-श्री उसके मन्दसोर अभिलेख [फ्लीट, सं० ३३] में वर्णित है जिसमें अन्य बातों के साथ इसका निर्देश पाया जाता है कि हूण नरेश मिहिरकुल उसका आधिपत्य मानता था। मिहिरकुल-यशोधर्मन् कथानक प्रशस्ति के छठवें श्लोक में उसकी विशिष्ट शैली में अनुगीत है। वह श्लोक यह है—

मिहिरकुल की यशोधर्मन् के हाथ पराजय

'स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति-कृपणतां प्रापितं नोत्तमाङ्गं
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति, हिमगिरिर्दुर्ग-शब्दाभिमानम्।

१ कॉ० इ० इ० तृतीय, पृ० ९२ एवं आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति-भुजबलावर्ज्जन क्लिष्ट-मूर्द्धा,
चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुल-नृपेणार्च्चितं पादयुग्मं ॥'

अर्थात्—वह (यशोधर्मन्) जिसके युगल-चरण मिहिरकुल जैसे प्रताप-शाली हूण नृपति के चूड़ा-पुष्पों के उपहार से सम्पूजित थे, जिसने इसके पूर्व भगवान् स्थाणु के अतिरिक्त किसी के आगे शीश नहीं झुकाया था तथा जिसकी भुजाओं से रक्षित होने के कारण हिमालय को दुर्गम होने का मिथ्याभिमान था और इस प्रकार उसके बाहुबल द्वारा प्रणति-अभिवादन के समय जिसका पहली बार अवनत होनेवाला मस्तक पीड़ित हो रहा था।

उक्त श्लोक से प्रकट है कि हूण मिहिरकुल एक अत्यन्त शक्तिशाली नरेश था जो शिव (स्थाणु) का भक्त था, जिसकी राजधानी हिमालय प्रदेश में अथवा उसके सन्निकट कहीं थी, किन्तु जिसे यशोधर्मन् के आगे झुकना पड़ा। कल्हण ने मिहिरकुल को कश्मीर का नरेश लिखा है। बौद्ध परम्परा में उसकी राजधानी पञ्जाब के अन्तर्गत शाकल अथवा स्यालकोट मानी गई है। उसका साम्राज्य कश्मीर से लेकर मालवा तक फैला हुआ जान पड़ता है जहाँ से संभवतः यशोधर्मन् ने उसे निकाल बाहर किया।

जिस अभिलेख में इस घटना का वर्णन हुआ है उसमें कोई तिथि नहीं दी गई है, किन्तु हूण नरेश की पराजय वि० सं० ५८६ = ५३२ ई० के बाद ही रखनी चाहिए जो तिथि एक मन्दसोर अभिलेख [फ्लीट, सं० ३५] में मिलती है जिसमें यशोधर्मन् की प्रशंसा पाई जाती है, यद्यपि मिहिरकुल का उल्लेख उसमें नहीं है। क्योंकि यशोधर्मन द्वारा हूण-पराजय का उल्लेख करनेवाला अभिलेख [फ्लीट, सं० ३३] उसी गोविन्द नामक व्यक्ति द्वारा उत्कीर्ण हुआ है जिसने तिथि-युक्त अभिलेख [फ्लीट, सं० ३५] उत्कीर्ण किया था, अतः इसकी काफी संभावना है कि वह घटना इस तिथि के कुछ ही वर्ष इधर-उधर हुई होगी। डा० विन्सेण्ट स्मिथ का यह अनुमान है कि यशोधर्मन् और बालादित्य ने मिलकर मिहिरकुल के साथ युद्ध किया था सन्देह से रहित नहीं है। संभावना दो पृथक् लड़ाइयों के लड़े जाने की है—एक बालादित्य द्वारा मगध की रक्षा के लिए तथा दूसरी यशोधर्मन् द्वारा हूण सत्ताधिकार से मध्य भारत को स्वतंत्र करने के लिए।

यशोधर्मन्-मिहिरकुल युद्ध का काल

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यशोधर्मन किस प्रकार शक्ति सम्पादित कर राजनीतिक क्षेत्र में सहसा इतने आगे बढ़ गया इस पर रहस्य का आवरण पड़ा हुआ है। उसकी उत्पत्ति के विषय में हम कुछ नहीं जानते। अभिलेख में वह मालवा का यशोधर्मन् 'जनेन्द्र' कहा गया है। उसकी राजधानी मन्दसोर (पश्चिमी मालवा) थी जहाँ उसके अभिलेख मिलते हैं। मन्दसोर के अभिलेख जिनमें उसकी प्रशस्ति वर्तमान है [फ्लीट, सं० ३३ और ३५] उसकी विजयों की प्रशंसा करते हैं। इन्हीं प्रशंसाओं में उसकी हूण नृपति मिहिरकुल पर विजय पाने की प्रशंसा भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस काल के राजनीतिक इतिहास का विवेचन हम यहाँ कर रहे हैं उसमें उसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रशस्तिकार का कथन है कि उसने सारे भारत का दिग्विजय किया था जिसमें उत्तर में हिमालय से लेकर महेन्द्र (पूर्वी घाट) तक दक्षिण के तथा पूर्व में लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लेकर अरब सागर तक पश्चिम (पश्चिमादा पयोधेः) के समस्त प्रदेश सम्मिलित थे और ऐसे-ऐसे देश थे जिन पर गुप्तों और हूणों का भी अधिकार स्थापित न हुआ था। किन्तु इससे यह मान लेने का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है कि यशोधर्मन् ने वास्तव में वह सम्पूर्ण देश जीत ही डाला था जिसका उल्लेख अभिलेख में हुआ है। वह एक सामान्य प्रशस्ति है जिसकी हरएक बात सर्वथा ऐतिहासिक नहीं हो सकती और न उसे इस रूप में ग्रहण ही किया जा सकता है। इन श्लोकों में एक ऐसे 'दिग्विजय' का उल्लेख हुआ है जिसके विषय में सम्राट् का दावा है कि उसने किया था और जो 'चक्रवर्त्तिक्षेत्र' की परम्परागत सीमाओं का ही निर्धारण करता है। फिर भी इन तथ्यों के विषय में कि उसने मिहिरकुल को हराकर मध्य भारत को स्वाधीन किया था और संभवतः पूर्व में गुप्तों के राज्य पर भी आक्रमण किया था कोई सन्देह नहीं है।

(द्वितीय खण्ड)

वलभी के मैत्रकों का राज्य

गुप्त साम्राज्य के ध्वन्स पर उठ खड़ी होनेवाली शक्तियों में प्रायः सबसे पुरानी वलभी के मैत्रकों की एक शक्ति थी। उनके नायक 'सेनापति' भटार्क ने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सौराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित किया जिसकी वलभी राजधानी बनाई गई। वलभी को भावनगर के समीप वल नामक स्थान निश्चित किया गया है। वलभी नरेशों के राजवंश का प्रवर्त्तक भटार्क और उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी धरसेन प्रथम अपने को 'सेनापति' कहते थे। अगले पाँच नरेश द्रोणसिंह, ध्रुवसेन प्रथम, धरपट्ट, गुहसेन तथा धरसेन द्वितीय 'महाराज' की संज्ञा से अभिहित हुए हैं। इससे पता चलता है कि वे या तो गुप्तों का आदर करने के लिए नाम मात्र की उनकी अधीनता स्वीकार करते थे अथवा वे किसी अन्य शक्ति के संभवतः हूणों के आधिपत्य में अस्थायी रूप से रहे। धरसेन द्वितीय का मालिया (जूनागढ़ राज्य, काठियावाड़) ताम्र-पत्र अभिलेख उसके पूर्ववर्ती नरेशों का नाम प्रस्तुत करता है जिनमें इस राजवंश के संस्थापक का भी नाम है। अभिलेख गु० सं० २५२=५७१ ई० में अंकित हुआ है। वलभी के नरेशों का सबसे पुराना तिथियुक्त लेख भमोद्र-महता (काठियावाड़) ताम्र पत्र है जिसमें १८३वाँ वर्ष (५०२ ई०) अंकित है और जो उक्त राजवंश के तृतीय नरेश द्रोणसिंह द्वारा सञ्चालित हुआ था [एपि० इण्डि०, षोडश, पृ० १८ एवं आगे]। इस प्रकार उनके राज्य अधिगत करने का समय पाँचवीं शती ई० का प्रायः समाप्ति काल है और छठवीं तथा सातवीं शताब्दि में तो वे पश्चिमी भारत में सर्वशक्तिमान ही बन गये! वलभी के प्रतापी नरेशों में शीलादित्य की गणना की जाती है जिसने पश्चिमी मालवा (मो-ला-पो) पर अधिकार स्थापित किया था[1] युवान् च्वाङ् के वलभी आगमन के समय उसका भतीजा ध्रुवसेन द्वितीय राज्य का स्वामी था। यात्री ने राजा का नाम तु-लो-पो-त (ध्रुवभट्ट) लिखा है और उसे शीलादित्य का भतीजा बतलाया है जो मो ला पो का शासक रह चुका था और कान्यकुब्ज अधीश्वर शीलादित्य (हर्ष) का जामाता था। वह प्रकृति का उद्धत एवं तुच्छ विचारोंवाला मनुष्य था, किन्तु साथ ही एक कट्टर बौद्ध था [वाटर्स, पृ०२४६]। यह स्पष्ट है कि अपनी विजय और राज्य-विस्तार के निमित्त

१ यह शीलादित्य प्रथम था जिसका एक दूसरा नाम धर्मादित्य भी था। इसके लिए देखिए, शीलादित्य सप्तम का अलिन (खैरा जिला, गुजरात) ताम्र-पत्र अभिलेख [फ्लीट, सं० ३९, पृ० १८१]।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
युद्ध करते समय हर्ष ने वलभी पर भी अवश्य आक्रमण किया होगा [दे० आगे] जबकि वहाँ का राजा ध्रुवसेन (ध्रुवभट्ट) भड़ौंच के दद्द का आश्रय प्राप्त करने के लिए देश छोड़कर भाग गया और उसकी सहायता से ही अन्त में अपने राज्य पर पुनः अधिकार कर सका। निश्चय ही उसके और हर्षवर्द्धन के बीच एक सन्धि हुई जिसने अपने इस राजनीतिक सम्बन्ध को वलभी नरेश को अपना जामाता बनाकर अत्यन्त दृढ़ कर दिया। यात्री सूचित करता है कि हर्ष के प्रयाग सम्मेलन में उपस्थित होनेवाले नरेशों में ध्रुवभट्ट भी था जो वहाँ सम्राट् के अनेक मित्र-नरेशों में एक मित्र नरेश के रूप में उपस्थित हुआ था।

ध्रुवसेन द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी धरसेन चतुर्थ था। खेड़ा (खैरा) शासन [इ० ऐ०, १८८६, पृ० सं० ३३५-४०] से सूचित होता है कि उसने एक चक्रवर्त्ती नरेश की समस्त उपाधियाँ 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर' तथा 'चक्रवर्त्तिन्' धारण कर रखी थीं तथा गुर्जर देश पर अधिकार स्थापित किया था। यह शासन भरुकच्छ (भड़ौंच)-स्थित उसके विजयस्कन्धावार से गु० सं० ३३० (६४६ ई०) में सञ्चालित किया गया था जिससे उस स्थान पर उसके आधिपत्य का पता चलता है। इसके गु० सं० ४४७ (७६६ ई०) तक वलभी राजवंश के इतिहास का पता नहीं है जो तिथि शीलादित्य सप्तम के अलिन ताम्र-पत्र में मिलती है जो अपने अभिलेख में शीलादित्य नामधारी अपने कई पूर्वजों का उल्लेख करता है। उनके नामों के अतिरिक्त अन्य किसी स्रोत से और कुछ पता नहीं पर अभिलेख से इतना तो स्पष्ट ही है कि वलभी का राजवंश ८वीं शती ई० के अन्त तक अपनी राजनीतिक स्वाधीनता पूर्णतया बनाये रह सका और जब तक सिंध से अरब आक्रान्ताओं ने आकर उसे बिल्कुल नष्ट नहीं कर दिया उसकी स्वाधीनता अपहृत न होने पाई।

वलभी अपने संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास के होते हुए भी न केवल विद्या
और संस्कृति की एक महान् पीठ के रूप में विख्यात
व्यापार और संस्कृति रही है, बल्कि वह वाणिज्य और व्यापार का भी
केन्द्र थी। उसके अन्तर्गत भरुकच्छ (भड़ौंच)
जिस पर वलभी नरेश का ८वीं शती में अधिकार हो गया था अपनी व्यापारिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मण्डी के कारण प्रसिद्ध था जो देशी और विदेशी दोनों प्रकार के वाणिज्य के लिए एक अच्छा केन्द्र समझा जाता था। राजधानी वलभी स्वतः काठियावाड़ में अपनी कल्याणी स्थिति के कारण 'अन्तर-राष्ट्रीय वाणिज्य का एक बन्दरगाह बन गई थी जहाँ पर अनेक व्यापारिक मण्डियाँ प्रतिक्षण तरह-तरह की व्यापार-वस्तुओं से पटी रहती थीं।'[१] सातवीं और आठवीं शताब्दियों में यह महानता अपनी पराकाष्ठा पर थी। यद्यपि अधिकांश वलभी नरेश शैव थे, इसका कहीं लेख नहीं मिलता कि उन्होंने बौद्धों पर अत्याचार किया। इसके विपरीत युवान् च्वाङ् के यात्रा विवरण से जो सातवीं शती ई० के प्रारम्भ में वलभी पहुँचा था यही प्रमाणित होता के है कि वलभी का राजा बौद्ध धर्मावलम्बी था। इ-त्सिंग को जो युवान् च्वाङ् के थोड़े ही दिनों बाद वलभी आया वह विद्या के एक महान् केन्द्र के रूप में दिखाई दी। वस्तुतः विश्व विद्यालयीय शिक्षा के क्षेत्र में वलभी पश्चिमी भारत में एक वैसा ही केन्द्र विद्या का एक महान् केन्द्र थी तथा उसका प्रायः वही मान था जैसा पूर्वी भारत में नालन्द की प्रतिष्ठा होती थी। ७वीं शती ई० के मध्य वलभी विश्वविद्यालय में गुणमति और स्थिरमति दो प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य थे [स्थिरमति का ताम्र-पत्र शासन, इ० ऐ०, षष्ठ, पृ० ११]। किन्तु नालन्द की तरह वलभी केवल बौद्ध-शिक्षण का ही केन्द्र नहीं थी। 'कथासरित्सागर' (द्वात्रिंश तरंग) में हम इसका उल्लेख पाते हैं कि सुदूर अन्तर्वेदी तक से ब्राह्मण कुमार उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वलभी पहुँचा करते थे। वलभी के स्नातक ऊँचे राजकीय पदों पर नियुक्त किये जाते थे यह इ-त्सिंग का कथन है (पृ० १७७)। इससे ज्ञात होता है कि धार्मिक तथा लौकिक दोनों तरह के विभिन्न विषय वहाँ पढ़ाये जाते थे। विश्वविद्यालय में काफी बौद्धिक स्वतंत्रता थी और वह अपनी सहिष्णुता के लिए विख्यात था यह तो यात्री के कथन से ही स्पष्ट है। उसका कहना है कि वलभी में भारत के हर प्रान्त के विद्वान् आकर इकट्ठे होते थे जो दो-तीन वर्ष के पहले जाने का नाम न लेते थे और तरह तरह के 'संभावित सिद्धान्तों' पर वाद-

---

१ अ० स० अल्तेकर, एजुकेशन इन एन्श्येण्ट इण्डिया', पृ० १२४।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विवाद करते रह जाते थे। विश्वविद्यालय को वलभी के समृद्धिशाली नगर के सेठियों तथा विद्या के महान् संरक्षक मैत्रक नरेशों से प्रर्याप्त सहायता मिलती थी।[१]

(तृतीय खण्ड)

मगध और मालवा के अनुवर्ती गुप्त नरेश

गुप्त साम्राज्य जैसा कि हम देख चुके हैं छठवीं शती ई० के मध्य में टूट गया। परन्तु गुप्त नरेश उत्तर-पूर्वी भारत तथा मालवा में जिसे उन्होंने हूणों के संहार के उपरान्त पुनः अधिकृत किया होगा राज्य करते रहे। चक्रवर्ती गुप्त सम्राटों के साथ उनका क्या सम्बन्ध था इसका पता नहीं। ऐसा अनुमान होता है कि वे पुरगुप्त की शाखा के थे। उत्तर-पूर्व में उनका क्षेत्र मगध तथा उसके पड़ोस तक सीमित था। इसीलिए वे मगध के गुप्त शासक कहलाते हैं। पिछले चक्रवर्ती गुप्त सम्राटों से विभिन्नता दिखलाने के लिए उन्हें अनुवर्ती गुप्त शासक भी कहते हैं। मगध के ग्यारह अनुवर्ती गुप्त शासकों के नाम पाये गये हैं जिन्होंने कुल मिलाकर २०० वर्षों के लगभग शासन किया। उनकी वंशावली दो अभिलेखों पर आधारित है जिनमें से पहला आदित्यसेन का अफसड़ (गया) अभिलेख[२] पहले आठ शासकों के नाम तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का निर्देश करता है और दूसरा जीवितगुप्त द्वितीय का देव-बरणार्क (शाहाबाद जिला) अभिलेख[३]। शेष तीन नाम प्रस्तुत करता है। देवगुप्त नामक एक गुप्त नरेश का उल्लेख हर्ष के बाँसखेड़ा और मधुबन अभिलेखों में आता है।

इस शाखा का प्रवर्त्तक कृष्णगुप्त था। हम उसके अथवा उसके पुत्र हर्षगुप्त एवं जीवितगुप्त प्रथम के विषय में बहुत थोड़ा जानते हैं। चौथ शासक कुमारगुप्त एक प्रतापी नरेश था। उस समय बिहार तथा युक्त प्रान्त में एक नई शक्ति का उदय हो रहा था जिसके उपद्रवों से मगध के गुप्त

१ वही, पृ० १२५।
२ फ्लीट, सं० ४२।
३ वही, सं० ४६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नरेश बराबर तबाह रहने लगे। यह शक्ति मौखरियों की थी [दे० आ०]। कुमारगुप्त ने मौखरि नरेश ईशानवर्मन् को पराजित किया। इससे गुप्तों का राज्य प्रयाग तक स्थापित हो गया जहाँ कुमारगुप्त की अन्त्येष्टि-क्रिया की गई [फ्लीट, सं० ४२]। पर इसके बाद ही उसका पुत्र दामोदरगुप्त ईशानवर्मन् के पुत्र सर्ववर्मन द्वारा मार डाला गया[१] और मगध कुछ काल के लिए मौखरियों के शासन में चला गया। दामोदरगुप्त का पुत्र तथा उत्तराधिकारी महासेनगुप्त था। वह संभवतः मालवा का नरेश था जिसके पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त हर्ष के साथी के रूप में भेजे गये थे जैसाकि 'हर्षचरित' में उल्लेख आया है। यदि यह निर्धारण ठीक हो जो बहुत संभव प्रतीत होता है तो यह स्पष्ट है कि महासेनगुप्त मालवा चला आया होगा जिस राज्य का वह उस समय शासन करता रहा होगा जिस समय थानेश्वर में प्रभाकरवर्द्धन के पिता आदित्यवर्द्धन का आधिपत्य था हर्षवर्द्धन के मधुवन शासन एवं सोनपत ताम्र-मुद्राभिलेख[२] में प्रभाकरवर्द्धन की माता का नाम महासेनगुप्ता मिला है। अफसड़ अभिलेख में भी ऐसा आता है कि महासेनगुप्त के पुत्र माधवगुप्त की 'श्रीमान् हर्षदेव के सम्पर्क में आने की बड़ी अभिलाषा थी।' इससे यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है कि महासेनगुप्त थानेश्वर के वर्द्धन नरेशों के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए लालायित था जिसके निमित्त उसने पहले तो आदित्यवर्द्धन को अपनी बहिन ब्याही और फिर अपने दो छोटे कुमारों को थानेश्वर भेज कर कुमार हर्ष के साथ कर दिया। सम्बन्ध कितना सफल रहा यह इससे सिद्ध है कि महासेनगुप्त न केवल मौखरियों से अपना छिना हुआ प्रदेश जीत सका, बल्कि जैसा अफसड़ अभिलेख में वर्णन आता है उसने 'कामरूप नरेश प्रतापी सुस्थितवर्मन् पर एक बड़ी विजय पाई जिसकी प्रशंसा के गीत आज भी लौहित्य

---

१ पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ['देवदत्त रामकृष्ण कमेमोरेशन वाल्यूम', पृ० १८१। एवं आगे] इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उक्त सन्दर्भ से दामोदरगुप्त की मृत्यु का बोध नहीं होता, बल्कि उसके केवल मूर्च्छित होने का भान होता है।

२ फ्लीट, सं० ४२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(ब्रह्मपुत्र) के किनारे गाये जाते हैं।' महासेनगुप्त का शासन मगध के अनुवर्त्ती गुप्त नरेशों के तिथिक्रम का एक सुनिश्चित आधार है, क्योंकि आदित्यवर्द्धन और प्रभाकर वर्द्धन—हर्ष के क्रमशः पितामह एवं पिता, के साथ उसकी समकालीनता इतनी स्पष्ट है कि उसमें संशय के लिए स्थान नहीं है।

हर्ष के साम्राज्य में मगध भी सम्मिलित था जिसके राजसिंहासन पर उसने अपने मित्र एवं सहायक नरेश माधवगुप्त को जो महासेनगुप्त का पुत्र था प्रतिष्ठित किया था। पर मालवा के एक अन्य गुप्त शासक देवगुप्त का नाम मधुबन अभिलेख में आता है जिसकी स्थिति हमें महासेनगुप्त और माधवगुप्त के बीच कहीं स्वीकार करनी पड़ेगी। 'हर्षचरित' के अनुसार मालवा के दुष्ट नरेश ने गौडाधिप (बंगाल के स्वामी) शशाङ्क से मिलकर कन्नौज के मौखरि नरेश ग्रहवर्मन् को मार डाला और उसकी राज्ञी राज्यश्री को कारागार में डाल दिया; किन्तु राज्यश्री के भाई स्थाण्वीश्वराधिपति राज्यवर्धन ने उस गुप्त नरेश को सहज ही हराकर भगा दिया। बाण ने उसका नाम नहीं दिया है। किन्तु मधुबन शासन-पत्र ने इसका पता दे दिया है कि देवगुप्त नामक एक गुप्त नरेश को राज्यवर्धन् ने हराया था। अतः हम देवगुप्त को ग्रहवर्मन् का शत्रु तथा बाद में राज्यवर्धन द्वारा पराजित नरेश मान सकते हैं। ऐसा अनुमान है कि देवगुप्त शायद महासेनगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था और उसने अपने पिता की मृत्यु होने पर मालवा का राजसिंहासन प्राप्त किया जब कि उसके दोनों छोटे भाई कुमारगुप्त और माधवगुप्त थानेश्वर की राजसभा में विद्यमान थे। मालवा का अधीश्वर होकर उसने अपने पुराने शत्रु कन्नौज के मौखरियों के विरुद्ध अपने कुल की क्रमागत नीति को बरतना आरंभ किया! पर राज्यवर्धन द्वारा जो उसके द्वारा हत मौखरि नरेश का एक निकट सम्बन्धी था उसकी पराजय मालवा विजय का कारण बनी जैसा कि बाण के वर्णन में आता है। मालवा के गुप्त नरेशों की शाखा की इस प्रकार देवगुप्त के साथ इतिश्री हो गई जिसे हम देवगुप्त प्रथम कहेंगे जो एक बाद के देवगुप्त से भिन्न शासक था। यह ध्यान देने की बात है कि अफसड़ अभिलेख वंशावली में देवगुप्त का नाम नहीं देता और देव बरणार्क अभिलेख गुप्त नरेशों की शाखा की जो सूची प्रस्तुत करता है वह माधवगुप्त से आरंभ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

होती है जिसे हर्ष ने अपने साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश का शासक बनाया था। माधवगुप्त हर्ष का विश्वासपात्र और सहायक बना रहा। पर हर्ष के निधन तथा उसके साम्राज्य के टूटने के बाद माधवगुप्त के पुत्र एवं उत्तराधिकारी आदित्यसेन ने विस्तृत भू-भाग जीतकर और अपने कुल में सर्वप्रथम 'परम-भट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर चक्रवर्त्ती गुप्त सम्राटों के विलुप्त गौरव का पुनराहार करना आरम्भ किया। आदित्यसेन के शाहपुर प्रस्तर-अभिलेख [फ्लीट, सं० ४३] में उसकी विजयों का जिसमें अङ्ग भी सम्मिलित था सविस्तार वर्णन पाया जाता है। इस अभिलेख की तिथि हर्ष सं० ६६ = ६७२ ई०, अनुवर्त्ती गुप्त शासकों के तिथि-क्रम का दूसरा निश्चित आधार है, क्योंकि उसका आदित्यसेन के पिता माधवगुप्त और हर्ष की समकालीनता के साथ पूर्ण सामञ्जस्य मिलता है। आदित्यसेन और उसके उत्तराधिकारी महाराजाधिराज की उपाधि धारण करते रहे। किन्तु वह कोरी उपाधि ही नहीं थी यह वातापी के पश्चिमी चालुक्यों के लेखों से सूचित है जिनमें उनमें से एक के लिए 'सकलोत्तरापथनाथ, जैसे विरुद का प्रयोग किया गया है। देव-बरणार्क अभिलेख[१] में जिन शासकों का नाम आया है वे आदित्यसेन के बाद क्रमानुसार देवगुप्त, उसके पुत्र विष्णुगुप्त तथा उसके भी पुत्र जीवितगुप्त हैं। एक चालुक्य लेख [इ० ऐ०, नवम, पृ० १२६] के अनुसार वतापी के चालुक्य नरेश विनयादित्य ने 'सकलोत्तरापथनाथ' पर एक बड़ी विजय प्राप्त की थी। उत्तरापथ का यह नरेश बहुत संभव है कि आदित्यसेन का पुत्र देवगुप्त था। गुप्त प्रदेशों पर जिनमें आदित्यसेन के समय के मगध, अङ्ग तथा मध्यदेशीय कुछ भागों की गणना होती थी, जो

---

१ देव-बरणार्क अभिलेख का शासन जीवितगुप्त द्वितीय का मूल शासन नहीं है, बल्कि दो मौखरि नरेशों और बालादित्य के जिसके बाद संभवतः उन्होंने शक्ति अधिगत किया शासन की पुष्टि में सञ्चालित हुआ है। यह बालादित्य वही बालादित्य जान पड़ता है जिसके विषय में युवान् च्वाङ् ने लिखा है कि उसने मिहिरकुल को परास्त कर बन्दी कर लिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उनके अभिलेखों के प्राप्ति-स्थान से सूचित है, आठवीं शती ई० के मध्य में बङ्गाल के गौड नरेशों ने पूर्ण रूप से अधिकार कर लिया।[1]

मगध और मालवा के अनुवर्त्ती गुप्त नरेशों की वंशावली

[अफसड़, देव-बरणार्क और मधुबन के अभिलेखों और हर्षचरित के सन्दर्भों के आधार पर।]

- कृष्णगुप्त
  - हर्षगुप्त
    - जीवितगुप्त द्वितीय
      - कुमारगुप्त
        - दामोदरगुप्त
          - महासेनगुप्त
            - देवगुप्त प्रथम (?)
            - कुमारगुप्त
            - माधवगुप्त
              - आदित्यसेन
                - देवगुप्त द्वितीय
                  - विष्णुगुप्त
                    - जीवितगुप्त द्वितीय
          - महासेनगुप्ता = आदित्यवर्मन (थानेश्वराधिप)
  - हर्षगुप्ता = आदित्यवर्मन् (मौखरि)

---

१ 'गौड-वहो', वाक्पतिराज-कृत; एवं तुलनार्थ, रायचौधुरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री', तृ० सं०, पृ० ४१२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(चतुर्थ खण्ड)

मौखरियों का राज्य

प्रस्तुत काल में जिसका यहाँ विवेचन किया जा रहा है मौखरि नामक एक राजवंश का उत्तर भारत की राजनीति में एक विशिष्ट स्थान था। उनकी उत्पत्ति के विषय में कुछ निश्चित नहीं है, किन्तु उनकी प्राचीनता मौर्य-कालीन ब्राह्मी अक्षरों में अंकित हुई एक मिट्टी की मुहर से सिद्ध है। जिस पर 'मोखलीन' अर्थात् मोखलि अथवा मौखरि लिखा हुआ है। प्रारंभिक मौखरि नरेशों के अभिलेखों के प्राप्त स्थान से उनकी प्रारंभिक शक्ति का पता चलता है। आरंभ में उनका प्रदेश दक्षिण बिहार तक ही सीमित था। बराबर तथा नागार्जुनी (गया) पहाड़ियों के गुहाभिलेखों [फ्लीट, सं० ४८, ४९ और ५०] में तीन मौखरि नरेशों का हम एक साथ उल्लेख पाते हैं। वे क्रमागत उत्तराधिकार एवं सम्बन्धानुसार यज्ञवर्मन्, उसके पुत्र शार्दूल तथा अनन्तवर्मन हैं। अभिलेख में उनमें से कोई राजा या महाराज की संज्ञाओं से अभिहित नहीं हुआ है, बल्कि केवल 'सामन्त' अथवा 'सामन्तचूड़ामणि' कहा गया है। इससे हमें यह पता चलता है कि मौखरि शासकों की यह शाखा सम्भवतः मगध के अनुवर्त्ती गुप्त नरेशों की एक सामन्त-शाखा थी।

मौखरि शासकों की एक नई शाखा सर्ववर्मन् के असीरगढ़ की ताँबे की मुहर के अभिलेख [फ़्लीट, सं० ४७] में पाई गई है। यह अभिलेख केवल वंश सूची ही प्रस्तुत करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि उसमें कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त भी दिये हुए हैं जिनसे वह महत्त्वपूर्ण हुआ है।

हरिवर्मन् का उल्लेख इस शाखा के प्रथम नरेश के रूप में हुआ है। उसके लिए 'महाराज' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे सूचित होता है कि वह शायद एक स्वतन्त्र शासक था। 'प्रशस्ति की विशिष्ट शैली में यह मिलता है कि वह ऐसा प्रतापी था कि 'उसकी ख्याति चतुः समुद्रान्त फैली हुई थी और उसने अपने बाहु-वीर्य एवं अनुकम्पा से अन्य नरेशों को अपने अधीन किया था।'

हरिवर्मन्

उसके बाद उसका पुत्र महाराज आदित्यवर्मन् राजसिंहासन पर अधिष्ठित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ जिसने मगध के महाराज कृष्णगुप्त की पुत्री एवं हर्षगुप्त की बहन हर्षगुप्ता के साथ विवाह किया। मगध के अनुवर्ती गुप्त नरेशों के अभिलेखों तथा 'हर्षचरित' से हमें इसका पता चलता है कि गुप्तों और मौखरियों में किस प्रकार क्रमागत लड़ाई झगड़े लगे रहा करते थे। ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि कभी-कभी ये झगड़े दोनों कुलों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा समाप्त होते थे।

ईश्वरवर्मन्

आदित्यवर्मन् का पुत्र एवं उत्तराधिकारी ईश्वरवर्मन् था। उसने भी महाराज की संज्ञा धारण की थी। जौनपुर प्रस्तर अभिलेख [फ्लीट, सं० ५१] उसका बतलाया जाता है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उसने ५५४ ई० के पूर्व राज्य किया होगा जो उसके पुत्र ईशानवर्मन् की सबसे प्रारंभिक तिथि है जो उसके हराहा अभिलेख [एपि० इण्डि०, भाग चतुर्दश] में मिलत है। जौनपुर अभिलेख में तीन प्रसिद्ध घटनाओं का उल्लेख हुआ है—

१. 'धारा नगरी से चलकर राजमार्ग से आया हुआ अग्नि का एक धधकता हुआ अंगारा ईश्वरवर्मन् द्वारा सहज ही बुझा दिया गया!' यह सम्भवतः मालवा के नवोत्थित गण-नायक यशोधर्मन् की पराजय का संकेत है जिसमें हो सकता है कि अपनी राजधानी मन्दसोर से हटाकर धारा में स्थापित कर ली थी। दोनों नगर पास-पास हैं। इस सन्दर्भ से सूचित होता है कि धारा का शासक आक्रान्ता था।

२. आन्ध्राधिपति भय के मारे विन्ध्य पर्वत की कन्दराओं में जा छिपा।' इसका निश्चय यही अर्थ है कि उसने आन्ध्रों को हराया जिन्होंने उत्तर भारत पर आक्रमण करने के लिए विन्ध्य पर्वत को पार कर लिया था।

उसने एक और नरेश को हराया जो हार कर 'रैवतक पहाड़ पर चला आया।' इससे प्रकट होता है कि सौराष्ट्र अथवा काठियवाड़ की ओर से आक्रमण करनेवाले एक अन्य नरेश को भी ईश्वरवर्मन् ने हराया था। सर्ववर्मन् के असीरगढ़ अभिलेख [फ्लीट, सं० ४७] के अनुसार उसकी अग्रमहिषी एवं उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी ईशानवर्मन् की माता उपगुप्ता थी नाम से ऐसा अनुमान होता है कि वह मगध के गुप्त कुल की राजकुमारी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थी, संभवतः उसके समकालीन जीवितगुप्त प्रथम की लड़की या बहिन थी। हराहा अभिलेख से हमें ईश्वरवर्मन् के व्यक्तिगत गुणों के सम्बन्ध में कुछ सूचना मिलती है। वह दयालु और करुणामय था, आचरण का शुद्ध, महत्वाकांक्षी तथा आत्म-निर्भर था, वह सत्य भाषण करनेवाला और उदारता-पूर्वक दान देनेवाला था।

ईश्वरववन् का पुत्र और उत्तराधिकारी ईशानवर्मन् था। महाराजाधिराज की उपाधि धारण करनेवाला वह प्रथम मौखरि नरेश था [फ्लीट, सं० ४७]। पर वह कोरी उपाधि ही नहीं थी यह उसके हराहा [जिला बाराबंकी, युक्त प्रान्त] अभिलेख में वर्णित उसकी कृतियों से स्पष्ट है जिसके अनुसार उसने आन्ध्रों, शूलिको तथा गौड़ों पर विजय पाई थी और अपने वंश को शीघ्र ही अनुवर्त्ती गुप्तों की प्रतिद्वन्दी में एक सबल शक्ति के रूप में परिणत कर दिया। इस प्रकार कुमारगुप्त के साथ उसका लोहा लेना अनिवार्य था। मौखरियों और अनुवर्त्ती गुप्तों के बीच यह स्पर्धा कई पीढ़ियों तक आगे भी चली, किन्तु अन्त में ग्रहवर्मन् के समय जो हर्षबर्द्धन का बहनोई था मौखरियों का गुप्तों के द्वारा विनाश किया गया [दे० आगे, पृ०]। मौखरि शक्ति का पूर्ण अभ्युदय ईशानवर्मन् के राजत्व-काल में हुआ था।

ईशानवर्मन्

शूलिकों पर उसकी विजय मौखरियों के राजकुल के इतिहास में एक स्मरणीय घटना थी। शूलिकों से अभिप्राय संभवतः चोलों से है। एक तामील ऐतिहासिक ग्रन्थ 'कलिङ्गोत्तर पुरम्' [इ० ऐ०, एकोनविंश, पृ० ३३२-३६] में आता है कि वे (चोल) शस्त्र के लिए शूलियों का प्रयोग करते हैं। अभिलेखों में चोल नगर कोल्लिपक्काइ के प्रायः शूलियों से घिरे हुए होने का वर्णन मिलता है [सा० इ० इ०, प्रथम और तृतीय भाग] ऐसा हो सकता है कि हराहा 'प्रशस्ति' के उत्तर-भारतीय कवि को दक्षिण भारतीय नाम चोल न जँचा हो और उसने उसके लिए संस्कृत नाम शूलिक का प्रयोग किया। यहाँ तक कि एक दक्षिण भारतीय अभिलेख [एपि० इण्डि०, पृ० १०५] में भी चोलों को 'चोलिक' कहा गया है। चोलिक से शूलिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
हो जाना असम्भव नहीं है। चोलों पर इस विजय[१] तथा आन्ध्रों और गौड़ों पर भी विजय पा लेने से जिन्हें 'उसने उनकी उचित राज्य-सीमा के भीतर अवस्थित रखा' वह निस्सन्देह महाराजाधिराज की उपाधि धारण करने का अधिकारी हो गया जिसने उसे उसके पूर्ववर्ती नरेशों से विशेषता प्रदान की।[२] मौखरि वंश की यह नवाधि-गत राजनीतिक प्रभुता उसकी मुद्राओं में भी लक्षित होती है। ईशानवर्मन् तथा उसके दो उत्तराधिकारियों सर्ववर्मन् और अवन्तिवर्मन् की मुद्राएँ पाई गई हैं। श्री रॉबर्ट बर्न, सी० एस० आई०, आई० सी० एस० महोदय ने इन मुद्राओं की एक खोज के विषय में ज० रा० ए० सो०, १९०६, पृ० ८४८ पर एक विवरण प्रकाशित किया है। मुद्राओं के अतिरिक्त मौखरियों ने राजमुद्राएँ भी सञ्चालित की थीं जिनमें से दो नालन्द में उसकी मुद्राओं के साथ पाई गई थीं। उनमें से एक पर मौखरि वंशावली देनेवाले उसके मूल अभिलेख का एक अंश वर्तमान है जिसमें वंश-संस्थापक हरिवर्मन् तथा उसकी स्त्री जयस्वामिनी के नाम पढ़े जा सकते हैं। कुछ अन्य

---

१ एक अति प्राचीन तामिल ग्रन्थ 'शिलप्पदिकारम्' [पंचम, द्वितीय ८९–११०] से जो हरिवर्मन् से सम्बन्धित एक घटना का वृत्तान्त देता है ईशानवर्मन द्वारा चोलों या शूलिकों पर पाई गई विजय के सम्बन्ध में उठनेवाली कुछ शकाओं के समाधान में सहायता मिलती है। उक्त ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है कि करिकाल नामक एक चोल नरेश ने दक्षिण में पड़ोसी राज्यों को जीत लेने के बाद आर्यावर्त्त पर चढ़ाई कर दी और मगध के अधिपति ने उसे भेंट दिया।

मगध का उक्त नरेश शायद हरिवर्मन मौखरि था जो उस समय उत्तर भारत में एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का शासक समझा जाता था। इससे ज्ञात होता है कि मौखरियों और चोलों के बीच एक क्रमागत स्पर्धा चली आ रही थी और ईशानवर्मन् ने जो मौखरि नरेशों में सबसे शक्तिशाली हुआ अपने कुल के पराजय का प्रतिशोध ले लिया।

२ तुलनार्थ, हराहा अभिलेख, एपि० इण्डि०, चतुर्दश, पृ० ११० एवं आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजमुद्राओं पर 'वर्णाश्रमधर्म ज्ञानोपेत एवं रञ्जित प्रकृति महाराजाधिराज ईशानवर्मन्' यह लेख मिलता है। राजमुद्राओं के सिरे पर एक सुगठित बैल का प्रतीक बना रहता है जो बाईं ओर चलने की मुद्रा में अपने दोनों पार्श्वों में एक-एक सेवक द्वारा घिरा हुआ अंकित किया गया है [आ० स० इ०, रिपोर्ट, ईस्टर्न सरकिल, १६१७-१८, पृ० ४४]।

सर्ववर्मन्

उसका पुत्र और उत्तराधिकारी सर्ववर्मन् था। अफसड़ अभिलेख के अनुसार उसने कुमारगुप्त के हाथों हुई अपने पिता की पराजय का कुमारगुप्त के पुत्र दामोदरगुप्त को पराजित कर तथा उसे मारकर प्रतिशोध लिया।

अवन्तिवर्मन्

जीवितगुप्त द्वितीय का देव-बरणार्क अभिलेख इसका संकेत करता है कि सर्ववमन और उसके उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मन का शासन आरा तक माना जाता था जहाँ वह अभिलेख मिला था। फिर यहां एक ऐसा अभिलेख है जो मौखरि नरेश अवन्तिवर्मन् का नाम देता है। अभिलेख इस आशय का है कि जीवितगुप्त ने एक मन्दिर के दान की पुष्टि की जिसकी पहले बालादित्य तत्पश्चात् सर्ववर्मन् और अवन्ति वर्मन् मौखरियों ने पुष्टि की थी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अवन्तिवर्मन् सर्ववर्मन् का उत्तराधिकरी था। फिर भी यह कहना कठिन है कि अवन्तिवर्मन् का सर्ववर्मन के साथ क्या सम्बन्ध था उसका उल्लेख 'हर्षचरित' में भी मौखरि नरेश के रूप में हुआ है जिसके पुत्र ग्रहवर्मन् के साथ राज्यश्री का विवाह हुआ था। अभिलेख में वह महाराजाधिराज एवं परमेश्वर कहा गया है जो इसका सूचक है कि मौखरि शक्ति और प्रभाव अभी अक्षुण्ण बने हुए थे।

ग्रहवर्मन्

सम्राट् की कोटि का अन्तिम स्वाधीन मौखरि शासक ग्रहवर्मन् हुआ है जो अवन्तिवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था जैसा कि 'हर्षचरित' में लिखा हुआ है जो उसके इतिहास का एकमात्र आधार है। उसकी राजधानी कन्नौज थी और वह थानेश्वर के प्रभाकरवर्द्धन का जामाता था जिसकी लड़की राज्यश्री उसे ब्याही थी। प्रभाकरवर्द्धन के अस्तगत थानेश्वर के वर्द्धन नरेशों ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
थी। अतः इन दो कुलों का वैवाहिक सम्बन्ध मौखरियों की बढ़ी चढ़ी शक्ति का द्योतक है। पूर्वी-मालवा के एक गुप्त नरेश, संभवतः देवगुप्त [पूर्वो०, पृ०] ने गौडाधिय शशाङ्क से मिलकर कन्नौज पर चढ़ाई कर दी, ग्रहवर्मन् को मार डाला और मौखरि शक्ति का अन्त कर दिया (लग० ६०६ ई०)।

ग्रहवर्मन् के विषय में कहा जा चुका है कि वह सम्राट् की कोटि का अन्तिम महान् मौखरि शासक हुआ है। संभवतः इस कुल के कुछ सदस्य छोटे-छोटे राज्यों पर पहले हर्ष के सामन्त के रूप में जिसने मौखरि प्रदेशों को अपने में मिला लिया तत्पश्चात् स्वाधीन अथवा अर्द्ध-स्वाधीन शासकों के रूप में अशान्ति के दिनों में जो हर्ष के मरते ही फैल गई शासन करतेरहे। युवान्-च्वाङ् ने पूर्णवर्मन् का उल्लेख किया है। कनिंघम ने यह दिखलाने के लिए अपनी युक्ति उपस्थित की है कि वह एक मौखरि नरेश हो सकता है।[1] यदि यह निर्धारण ठीक हो तो वह निश्चय हर्ष का एक सामन्त रहा होगा। एक अन्य मौखरि नरेश भोगवर्मन् का नाम नेपाल के सम्राटों की लिच्छवि शाखा के जयदेव द्वितीय के एक अभिलेख में मिलता है। यह अभिलेख हर्ष संवत् १५३ = ७५९ ई० में अंकित हुआ है और बतलाता है कि भोगवर्मन् मगध के आदित्यसेन का जामाता था। वह अवश्य ही काफी प्रसिद्ध व्यक्ति रहा होगा तभी तो आदित्यसेन ने उसे अपना जामाता बनाया था। उनकी कृतियों या मौखरि सम्राटों के साथ उनका सम्बन्ध बतलानेवाला कोई अन्य लेख कहीं उपलब्ध नहीं है।

अनुवर्त्ती मौखरि नरेश

मौखरि वंशावली

मौखरि शासकों की जिनके नाम साहित्य तथा अभिलेखों से जाने जाते हैं दो शाखाएँ हैं। पहली शाखा (क) का प्रवर्त्तक यज्ञवर्मन् था जिसका उल्लेख बराबर पहाड़ी के गुहाभिलेखों में हुआ है। दूसरी शाखा (ख)

---

१ आ० स० इ० एनुअल रिपोर्ट, पञ्चदश, पृ० १६६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

असीरगढ़ के ताम्र-मुद्राभिलेखों और 'हर्षचरित' के आधार पर मानी जा सकती है।

(क)

यज्ञवर्मन्
|
शार्दूल वर्मन्
|
अनन्तवर्मन्

(ख)

हरिवर्मन् = (वि०) देवीजयस्वामिनी
|
आदित्यवर्मन् = (वि०) हर्षगुप्ता
|
ईश्वरवर्मन् = (वि०) उपगुप्ता
|
ईशानवमन् = (वि०)
|
सर्ववर्मन्
|
अवन्तिवर्मन्
|
ग्रहवर्मन = (वि०) राज्यश्री वर्द्धन

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तेरहवाँ अध्याय

हर्षवर्द्धन

(६०६–६४७ ई०)

साधन : साहित्यिक

१ बाणकृत 'हर्षचरित'

२. चीनी यात्री युवान् च्वाङ् का यात्रा-विवरण [वाटर्स और बील द्वारा सम्पादित]

आभिलेखिक

३. हर्ष का सोनपत ताम्र-राजमुद्राभिलेख [फ्लीट, सं० ५२]

४. हर्ष का बाँसखेड़ा-प्रशस्ति-पत्र [एपि० इण्डि०, चतुर्थ, पृ० सं० २०८-११]

५. हर्ष का मधुबन ताम्र-पत्र [वही, प्रथम, पृ० सं० ६७-७५]

६ नालन्द से प्राप्त राजमुद्राएँ [एपि० इण्डि०, एक-विंशति, अप्रैल, १९३१, पृ० सं० ७४-७६]

७. पुलकेशिन द्वितीय का ऐहो० अभिलेख [एपि० इण्डि०, षष्ठ, पृ० सं० १—१२]

गौण

८. डा० राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा लिखित हर्ष

९. डा० रमाशङ्कर त्रिपाठी द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आव कन्नौज'

१०. पाइरीज (Pires) : 'दि मौखरीज', पृ० सं० १-१२ ।

हर्षवर्द्धन के उत्थान के साथ भारत पिछले अध्याय में वर्णित अशान्ति

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और उपद्रव के वातावरण से उन्मुक्त हुआ। छठी शती ई० भारतवर्ष के इतिहास में अन्धकारतम युगों में से एक मानी जाती है जब कि देश के कई स्वतन्त्र छोटे राज्यों में बँट जाने तथा एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के भीतर उन सबके सुगठित रूप से व्यवस्थित रह सकने के अभाव के परिणाम-स्वरूप हूणों को आक्रमण करने का अवसर मिल गया जिन्होंने जैसा कि हम देख चुके हैं देश को रौंद डाला और गुप्त सभ्यता के चिह्नों को नष्ट किया। हर्षवर्द्धन के सुदृढ़ हाथों ने न केवल विघटन की इस प्रगति को रोका, बल्कि उनके द्वारा एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना तथा उसके शासन के भीतर अवस्थित प्रजा को एक उदात्त शासन की सुविधाएँ एवं संस्कृति को राजाश्रय प्राप्त हुआ।

प्रारंभिक जीवन

हर्षवर्द्धन थानेश्वर के राजकुल का एक राजकुमार था। उसका पिता प्रभाकरवर्द्धन तथा ज्येष्ठ भाई राज्यवर्द्धन था। उसकी बहिन राज्यश्री कन्नौज के महाराज ग्रहवर्मन को व्याही थी। इस प्रकार कन्नौज के नरेश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर प्रभाकरवर्द्धन ने मालवों, उत्तर-पश्चिमी पंजाब के हूणों और राजपूताना के गुर्जरों के विरुद्ध कई लड़ाइयाँ लड़कर जीती थीं। ६०४ ई० में जब प्रभाकरवर्द्धन ने राज्यवर्द्धन के नेतृत्व में हूणों को खदेड़ने के लिए एक सैनिक दल भेजा था उस समय तरुण हर्षवर्द्धन भी उसके साथ रण की अग्नि में दीक्षा लेने के लिए गया था। युद्ध-भूमि में दोनों भाइयों ने यह दुःसंवाद सुना कि उनके पिता का सहसा बीमार पड़ जाने के कारण देहावसान होगया। राज्यवर्द्धन् हूणों को तो हरा ही चुका था। वह शीघ्र राजधानी को वापस लौटा और उसका राज्याभिषेक किया गया। पर नवाधिष्ठित सम्राट् को अनेक कठिनाइयों ने आ घेरा। अभी वह राजसिंहासन पर बैठा ही था कि उसके पास यह शोक-संवाद आ पहुँचा कि मालवा के नरेश ने बंगाल के शशाङ्क से मिलकर मौखरी राजधानी कन्नौज पर चढ़ाई कर दी थी जिसमें उसने उसके बहनोई ग्रहवर्मन् को मार डाला और उसकी बहन राज्यश्री को बन्दी बना लिया। यह सुनते ही अपने बहिन के प्रति किये गये अत्याचार का प्रतिशोध चुकाने के लिए राज्यवर्द्धन ने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१०,००० अश्वारोहियों की एक सेना के साथ कूच कर दिया। वहाँ पहुँचने पर उसने शत्रु-सेना की रक्षा के निमित्त सबसे आगे खड़े किये गये एक प्रहरी-दल का सामना किया जिसका नायक मालवा का नरेश था और उसने उसे परास्त किया। पर कन्नौज पर उसका अधिकार न हो सका और न वह अपनी बहन को ही छुड़ा पाया। इसके कुछ ही बाद वह स्वयं शशाङ्क द्वारा मारा गया। हाँ, राज्यश्री अवश्य किसी प्रकार अपने बन्दीगृह से निकलकर विन्ध्यगिरि के जंगलों में जा छिपी।

इस प्रकार हर्षवर्द्धन का प्रारंभिक जीवन लड़ाइयों और पारिवारिक आपदाओं में बीता। उनका प्रभाव उसके ऊपर कुछ न कुछ बराबर ही बना रहा। अध्ययनशील और धार्मिक प्रवृत्ति का होने के कारण हर्षवर्द्धन ने बड़ी झिझक के बाद अपने ज्येष्ठ भाई के अनपेक्षित निधन द्वारा रिक्त हुए सम्राट् पद को स्वीकार किया। पर एक बार जब वह सिंहासन पर जा बैठा तो उस तरुण सम्राट् ने जिसकी अवस्था अभी सोलह वर्ष के ही लगभग थी अपने कुल की विलुप्त राजलक्ष्मी को सम्प्रतिष्ठित करने और समस्त उत्तर-भारत को अपने शासन के अन्तर्गत लाने की ओर ध्यान केन्द्रित किया। उसने ६०६ ई० में अपने राज्यारोहण की स्मृति में एक नया संवत् चलाया जो हर्ष-संवत् के नाम से विख्यात हुआ।

राज्यारोहण ६०६ ई०

अपने राज्यारोहण के कुछ ही दिन बाद उसने अपनी विधवा बहिन की विन्ध्यगिरि के जङ्गल से रक्षा की जहाँ वह आवास बनाकर रहने लगी थी। इसके अनन्तर वह दिग्विजय करता हुआ अपने भाई की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा। इस दिशा में उसने अपनी विधवा बहिन के राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया और अपनी राजधानी कन्नौज उठा ले आया। उसने कामरूप के अधीश्वर भास्करवर्मन् के द्वारा भेजे गये मैत्री-सम्बन्ध के प्रस्ताव को सहर्ष अङ्गीकार कर लिया जो गौडाधिप शशाङ्क के सीमा-विस्तार की नीति के फल-स्वरूप संभावित आक्रमण से बचने के लिए अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चाहता था। यह मैत्री-सम्बन्ध कुछ अधीनता सूचक सम्बन्ध था जो इस बात से प्रकट है कि कामरूप का

उसके युद्ध और विजय

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शासक हर्ष की कन्नौज की सभा में २०,००० हाथी लेकर उपस्थित था। हर्ष ने एक सचल एवं भयावह सेना संगठित की जिसमें ५,००० हाथी, २०,००० घोड़े तथा ५०.००० पदाती थे और जिसे वह निरन्तर साढ़े पाँच वर्ष तक युद्ध में संनियुक्त रखा। उस अवधि के भीतर अर्थात् ६१२ ई० तक उसने समस्त उत्तर-भारत पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जिसमें पंजाब, बंगाल का कुछ भाग तथा उड़ीसा ही बच रहे। इसमें सन्देह नहीं कि बंगाल शशाङ्क के शासन में ६१२ ई० के बहुत बाद तक बना रहा जैसा कि गञ्जाम-प्लेट से यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि उड़ीसा शशाङ्क के राज्य में कम से कम ६१६ ई० तक तो रहा ही। इसके बाद वलभी (पश्चिमी मालवा) का नरेश ध्रुवसेन द्वितीय बुरी तरह पराजित हुआ और आत्रस्त होकर उसने सन्धि की याचना की जो इन शर्तों पर स्वीकृत हुआ कि वह हर्ष की पुत्री के साथ विवाह करे तथा उसके साम्राज्य में उसके अधीन रहकर एक सामन्त नरेश के रूप में शासन करे। इस प्रकार वलभी, कच्छ तथा सुरथ (सूरत) के सामन्त-राज्य भी हर्ष के शासन में आये। अपने युद्धों और विजयों के द्वारा वह एक साम्राज्य के निर्माण में समर्थ हुआ।

उसके साम्राज्य में हिमालय से नर्मदा तक की सम्पूर्ण गंगा की तरेटी अवस्थित थी जिसमें मालवा और गुजरात भी सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त सुदूर पूर्व में आसाम के दूरवर्ती नरेश तथा सुदूर पश्चिम में वलभी के नरेश उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे।

उसका साम्राज्य-विस्तार

हर्ष के चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित थे। उसने चीन के सम्राट् के पास ६४१ ई० में अपना एक ब्राह्मण राजदूत भेजा था। ६४३ ई० में वह राजदूत एक चीनी-मिशन के साथ हर्ष के दूत भेजने का उत्तर लेकर लौटा और ६४५ ई० तक भारत में रहा जब कि वह पुनः चीन चला गया। अगले वर्ष चीन के सम्राट् ने एक नया मिशन वैङ्-ह्यून-त्से के संरक्षण में भेजा जो पूर्व मिशन के साथ आ चुका था।

चीन के साथ उसके कूटनीतिक सम्बन्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हर्ष का पुलकेशिन के साथ युद्ध

हर्ष के दिग्विजय के जीवन में उसका अवरोध केवल एक व्यक्ति कर सका जो दक्खिन का चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय था। युवान् च्वाङ् का कथन है [वाटर्स, द्वितीय, २३६] कि 'महान् नरेश शीलादित्य इस समय पूर्व और पश्चिम पर आक्रमण कर रहा था। और दूर के तथा समीपवर्त्ती देश उसके अधीन होते जा रहे थे, किन्तु मो-हा-ल-च (महाराष्ट्र) ने महान् नरेश पुलकेशिन द्वितीय के अधिनायकत्व में उसके अधीन होना अस्वीकार कर दिया।' पुलकेशिन ने अनेक प्रदेश अधिकृत कर दक्षिण का मुख्याधिपत्य प्राप्त कर लिया था; उसके ये विजय हमें उत्तर में हर्ष की विजयों का स्मरण कराते हैं। 'युवान् च्वाङ् की 'जीवनी' में कहा गया है कि राजा शीलादित्य ने अपनी सेनाओं के साथ पुलकेशिन से लड़ने के लिए अभियान किया था, किन्तु वह उसे जीतने में असमर्थ रहा [बील, पृ० १४७]। चीनी यात्री का यह वृत्तान्त पुलकेशिन द्वितीय के श० सं० ५५६-६३४ ई० के ऐहोल अभिलेख से पुष्ट होता है। अपनी विशेष शैली में कवि रविकीर्त्ति इस युद्ध की घटना का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में इस प्रकार करता है—'हर्ष का जिसके पद-पद्म अनेक अमोघ शक्तिवान् सामन्तों की मुकुट-मणियों की किरणों से जटित थे हर्ष (आनन्द) पुलकेशिन द्वारा भय-विगलित होकर युद्ध में पतित उसके विशाल हाथियों की पंक्तियों की वीभत्सता के कारण नष्ट हो गया' [इ० ऐ०, अष्टम] उसी अभिलेख के एक अन्य श्लोक से पता चलता है कि यह युद्ध रेवा (नर्मदा) के तट पर हुआ था। पुलकेशिन द्वारा हर्ष की यह पराजय उक्त वंश के कई अन्य अभिलेखों में पुष्ट की गई है जिनमें पुलकेशिन का उल्लेख बराबर प्रतापी श्री हर्ष को पराजित करने के रूप में हुआ है जो सारे उत्तरापथ का स्वामी था और जिसके परिणाम-स्वरूप उसे 'परमेश्वर' की दूसरी उपाधि ही प्राप्त हो गई।[१]

नेपाल और कश्मीर

नेपाल और कश्मीर के दोनों सीमावर्त्ती राज्य संभवतः हर्ष के साम्राज्य के

---

१ 'समर-संसक्त सकलोत्तरा-पथेश्वर श्री हर्षवर्द्धन-पराजयोपलब्ध-परमेश्वर-परानामधेयः।'

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बाहर थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि हर्ष ने नेपाल भी विजय किया था जो इस धारणा पर अवलम्बित है कि उसका संवत् वहाँ प्रचलित था [भगवानलाल इन्द्रजी तथा व्यूलर, इ० ऐ०, चतुर्दश, पृ० ४२०]। डा० राधाकुमुद मुकर्जी [हर्ष, पृ० सं० ३०, ३९ तथा ४०] का यह मत जान पड़ता है कि 'शैल-तुषार भुवो' से अभिप्राय नेपाल अथवा कश्मीर से ही है। उक्त उद्धरण के आधार पर कश्मीर को हर्ष का अधीन-राज्य स्वीकार करने का उनका पक्षपात कश्मीर-सम्बन्धी युवान-च्वाङ् के विवरणों के उतने संकेतों से भी सिद्ध है जो विवरण वाटर्स प्रथम, २५६ एवं उसकी 'जीवनी' में दिये हुए हैं। डा० मुकर्जी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि—'जीवनी में एक आख्यायिका दी हुई है...जिससे पता चलता है कि कश्मीर ने एक प्रकार हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली थी : यह आख्यायिका हर्ष द्वारा कश्मीर-नरेश को बुद्ध भगवान् की एक धातु प्रदान करने के लिए विवश करने के सम्बन्ध में है। बाण 'शैल-तुषार भुवो' का निर्देश करता है जो दुर्गम था[1] और जिसे स्वयं हर्ष ने अधिगत किया था—इन्हीं कथनों से कश्मीर की भी ध्वनि निकलती है' [हर्ष, पृ० ४०]। उन्होंने यह तो पहले ही कह दिया है कि [वही, पृ० ३०] इस प्रदेश का अर्थ 'नेपाल किया जा सकता है।'

डा० सिलवाँ लेवी (Dr. Sylvian Levi) भगवानलाल इन्द्रजी और व्यूलर के मत को इस आधार पर नहीं मानते कि 'नेपाल उस समय तिब्बत का एक अधीन-राज्य था जिसने हर्ष की मृत्यु के बाद नेपाल को चीनी राजदूत वैङ्—स्थून-त्से के सैनिक अभियान का हर्ष के राज्यापहर्त्ता के विरुद्ध समर्थन करने में सहायता की थी।'[2] फिर एक देश द्वारा हर्ष-संवत् का व्यवहार उसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि नेपाल हर्ष का एक अधीन-राज्य था। नेपाल हर्ष के साम्राज्य का उत्तर-पूर्व में एक निकट पड़ोसी था। हमें उन अभिलेखों के प्राप्ति-स्थान का पता नहीं है जिनमें संवत् का व्यवहार हुआ है। वे नेपाल प्रदेश के उन भागों से पाये गये जान पड़ते हैं जो हर्ष के साम्राज्य की सीमा पर पड़ते थे। यह संभव है कि नेपाल के नरेश ने उन राजकीय अभिलेखों के लिए हर्ष-

---

१ हर्ष-चरित (कॉवेल और टॉमस द्वारा सम्पादित, पृ० सं० १०-१)।

२ हर्ष, पृ० ३१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संवत् का व्यवहार अभिलेखों के उन स्थानों की स्थानीय विशेषताओं को लक्ष्य कर ही जहाँ वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा वहाँ के लोगों द्वारा व्यापक रूप से समझा जाता था किया होगा। यह डा० सिलवाँ लेवी के पूर्व-उद्धृत तर्कों के अनुसार ही है। डा० मुकर्जी हर्ष-चरित के उक्त अंश 'अत्र परमेश्वरेण तुषार-शैलभुवो दुर्गायाः गृहीतः करः'[१] की जिस प्रकार व्याख्या करते हैं उससे नेपाल या कश्मीर के हर्ष के अधीन राज्यों में परिगणित होने का बोध होता है, अधिक संभावना कश्मीर की है जैसा कि हर्ष तथा कश्मीर-नरेश के विषय की आख्यायिका के सम्बन्ध में चीनी प्रमाणों के उनके द्वारा सामने रखे जाने से विदित होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि नेपाल में हर्ष का आधिपत्य सिलवाँ लेवी तथा अन्य शोधकों द्वारा अमान्य ठहराया गया है। चीनी यात्री युवान् च्वाङ् ने कश्मीर को सदैव एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्मरण किया है। 'राजतरंगिणी' में भी इस देश का इसी रूप में वर्णन हुआ है। 'जीवनी' में व्यक्त आख्यायिका जो ऊपर दी गई है कश्मीर-नरेश के अधीनता सूचक सम्बन्ध के विषय में कुछ प्रमाणित नहीं करती। कम से कम वह यह तो नहीं ही सिद्ध करती कि कश्मीर एक स्वाधीन और राजतन्त्रात्मक राज्य नहीं था। तब प्रश्न होता है कि 'हर्ष-चरित' में उल्लिखित वह 'दुर्गम तुषार-मण्डित शैलों का प्रदेश' कौन-सा है? इसमें सन्देह नहीं कि हर्ष के साम्राज्य में वर्त्तमान सारा युक्तप्रान्त अपने उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी जिलों सहित जिनमें शाहजहाँपुर, पीलीभीत, रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, सहारनपुर, देहरादून एवं हरद्वार हैं सम्मिलित था। उसका बाँसखेड़ा अभिलेख शाहजहाँपुर से प्राप्त हुआ था। यह असंभव नहीं है कि इन भागों के कुछ पार्श्ववर्त्ती पर्वतीय प्रदेश-गढ़वाल और कुमाऊँ के जिले, जिनकी चोटियाँ वर्ष के अधिकांश भाग में बर्फ से ढकी रहती हैं, और जो निस्सन्देह उसके साम्राज्य में अवस्थित थे, कवि के उक्त कथन के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुए होंगे।

हर्ष तथा शशाङ्क

गौडाधिप शशाङ्क हर्ष का एक महान् समकालिक नरेश था। यह हम

---

१ 'यहाँ सम्राट् ने तुषार-मण्डित शैलों के एक दुर्गम-प्रदेश से भेंट लिया।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देख चुके हैं कि शशाङ्क देवगुप्त का जो पूर्वी-मालवा का शासक था एक मित्र था जिस समय देवगुप्त ने कन्नौज के ग्रहवर्मन् पर आक्रमण कर उसकी शक्ति को नष्ट कर डाला। हर्ष-चरित जो उपर्युक्त कथन का हमारा एकमात्र साधन है आगे सूचित करता है कि जब थानेश्वर के अधिपति एवं ग्रहवर्मन् के सम्बन्धी ने ग्रहवर्मन् की मृत्यु का प्रतिशोध मालवा-नरेश को पराजित कर चुका लिया उस समय शशाङ्क ने वञ्चनामय प्रलोभनों द्वारा उसे अपने अधिष्ठान में बुलाकर उसे वहीं मार डाला। बाण इसके बाद हमें शशाङ्क तथा हर्ष के बीच होनेवाले एक महान् युद्ध की सूचना देता है जब कि वह कहता है कि हर्ष का 'दिग्विजय' बड़े समारोह के साथ गौड नरेश के विरुद्ध लड़ने के लिए आरम्भ हुआ जिसकी उसने 'गौडाधम' एवं 'गौड नीच सर्प' आदि शब्दों द्वारा भर्त्सना की। पर वास्तविक युद्ध के सम्बन्ध में बाण सर्वथा मौन है। न तो चीनी साधन द्वारा ही दोनों शासकों के बीच हुए वास्तविक युद्ध की हम कोई निश्चत सूचना पाते हैं। युवान च्वाङ् जो कुछ कहता है वह शशाङ्क द्वारा बौद्ध-धर्म पर किये जानेवाले अत्याचार के सम्बन्ध में। वह कहता है कि कर्ण-सुवर्ण का नरेश शशाङ्क बौद्ध-धर्म पर अत्याचार ढानेवाला था, उसने कुशीनगर तथा वाराणसी के बीच बौद्ध-विहार भग्न किये, बुद्ध के चरण-चिह्नों को दर्शानेवाले पाटलिपुत्र के पत्थर उसने गंगा में बहवा दिये, गया के बोधि-वृक्ष को कटवा डाला, उसके मूल को जल के धरातल तक विनष्ट करवा डाला और जो शेष रहा उसे चुनवा दिया तथा बौद्ध मन्दिर को वहाँ की बुद्ध-प्रतिमा को हटाकर शिव की प्रतिमा स्थापित कर विकृत करने का उपाय किया [वाटर्स, द्वितीय]। ६३७ ई० के लगभग जब युवान-च्वाङ् ने बोधि-वृक्ष का दर्शन किया उस समय शशाङ्क हाल ही में मरा था।

परन्तु अनुमान तो यह है जैसा कि श्री० राखालदास बनर्जी ['बंगाल का इतिहास', बँगला में] का सुझाव है कि कामरूप के दूरस्थ नरेश का हर्ष के पास मैत्री का प्रस्ताव भेजना [पूर्वो,] कामरूप नरेश और गौडाधिप शशाङ्क की शत्रुता का फल था। इस प्रस्ताव का हर्ष ने बड़े उल्लास के साथ स्वागत किया क्योंकि शशाङ्क के विरुद्ध उसके मन में वैसा ही क्षोभ भरा हुआ था और फिर यह तो उसके 'दिग्विजय' की योजना के अनुरूप ही था। परिणाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसा कि बनर्जी महोदय का अनुमान है शशाङ्क की पराजय तथा कन्नौज और बंगाल का उसके हाथों से निकल जाना था, बंगाल पर हर्ष ने अधिकार कर लिया था और अन्त में हर्ष के निधन पर वह भास्करवर्मन् के हाथों में चला गया।

शायद कर्णसुवर्ण के छिन जाने के पश्चात् शशांक वहाँ से चला गया। परन्तु पूर्वी समुद्र-तट के कुछ भाग पर उसका अधिकार सन् ६१९ ई० प० तक बना रहा जैसा कि गञ्जाम के पत्र-लेख [Ep. Ind. VI, 143] से स्पष्ट है जिसमें उसके एक सामन्त ने जो कि पूर्वी तट पर शासन कर रहा था उसे महाराजाधिराज कहा है। युवान-च्वाङ् ने कोंगद (गञ्जाम) पर हर्ष के एक सफल अभियान का उल्लेख किया है और यह प्रदेश, जैसा कि उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है, शशांक के अधीन था। हर्ष का यह अभियान शशांक की मृत्यु के पश्चात् सन् ६४३ ई० में हुआ। बाण ने 'शशांक-मण्डल' का जिसमें शशांक पूर्ण रूपेण शोभायमान था उल्लेख करके शशांक के प्रभा-क्षेत्र का निर्देश किया है। शशांक के चरमोत्कर्ष के दिनों में इस क्षेत्र में सम्पूर्ण बंगाल, तथा बिहार और उड़ीसा के कुछ भाग सम्मिलित रहे होंगे। इस प्रकार पूर्व में भास्करवर्मन् के देश कामरूप और पश्चिम में ग्रहवर्मन् की राजधानी कन्नौज की स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा हो गया था। इसका परिणाम क्या हुआ, यह हम देख चुके हैं।

सम्भवतः शशांक ने एक सामन्त की स्थिति से बढ़कर उन्नति की। एक लेख में [फ्लीट न० पुर] में उसे "महासामन्त शशांकदेव" कहा गया है। परन्तु सन् ६०५-६ तक पूर्व में उसका राजनैतिक प्रभुत्व बहुत बढ़ चुका था और वह कर्णसुवर्ण [बंगाल, बिहार और उड़ीसा का कुछ भाग] का स्वामी बन चुका था। इस प्रकार उसका प्रभाव-क्षेत्र —जिसका बाण ने शशांक-मंडल कहकर निर्देश किया है—बहुत विस्तृत था। शशांक एक कट्टर हिन्दू और शिवजी का उपासक था जैसा कि उसकी स्वर्ण-मुद्राओं से स्पष्ट है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसने बौद्धों के प्रति वह असहिष्णुता की नीति जिसका चीनी यात्री ने निर्देश किया है—क्यों अपनायी। उसने अपने सोने के सिक्के श्रीशशांक नाम से चलाये। इन सिक्कों के मुख-तल पर

नन्दी बैल पर झुके हुए शिवजी और उनके पीछे चन्द्रमा का मण्डल तथा "शशांक" यह लेख है। पृष्ठतल पर कमल पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। [Allen, Gupta, Conis, p. 983]

हर्ष का शासन

हर्ष का शासन जन-हित की भावना और सम्राट् के अपने व्यक्तित्व पर निर्भर था। सरकारी नौकरों की सेवाओं पर पूर्णरूपेण अवलम्बित रहने की अपेक्षा वह स्वयं शासन की देख-भाल करते थे। वह हमेशा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में अनुसंयान पर रहा करते थे, शासन की बारीक बातों पर ध्यान देते थे, और दुष्टों तथा सज्जनों को यथोचित दंड या पुरस्कार दिया करते थे। युवान-च्वांग के विवरण से मालूम होता है कि अनुसंयान-काल में वह पड़ाव पर पेड़ की टहनियों और नल के बने हुए डेरों में रहा करते थे।

उनके दौरे सरकारी जुलूसों की तरह धूम-धाम से होते थे। कई सौ ढोल बजानेवाले उनके साथ रहा करते थे जो हर एक कदम पर सोने के ढोलों को ध्वनित किया करते थे।

शासन-व्यवस्था के निमित्त सम्पूर्ण साम्राज्य 'भुक्तियों' (प्रान्तों), 'विषयों' (जिलों) तथा 'ग्रामों' में विभक्त था। हर्ष के मधुबन अभिलेख में अहिच्छत्र भुक्ति के अन्तर्गत कुण्डधानी विषय में सोम कुण्डका ग्राम का उल्लेख आता है। गुप्त अभिलेखों में हम देख आये हैं कि गुप्त सम्राटों के राजप्रतिनिधि एवं प्रान्तीय शासक उपरिक महाराज, कुमारामात्य आदि कहलाते थे। प्रतीत होता है कि हर्ष ने नामों की वही प्रणाली कुछ साधारण परिवर्त्तन अथवा ठीक उसी रूप में स्वीकार की थी। मधुबन प्रज्ञप्ति-पत्र में कुछ पदाधिकारियों के नाम मिलते हैं, यथा—महासामन्त, महाराज, कुमारामात्य, उपरिक एवं विषयपति। महासामन्त अथवा महाराज निश्चय स्थानीय रूढ़िक्रमानुगत सामन्त होते थे जो सम्राट् का आधिपत्य मानते हुए अपने राज्यों का शासन करते थे। विषयपति इस प्रकार वे सामान्य प्रान्तीय शासक या उपरिक की कोटि के थे। विषयपति विषय का प्रधान कर्मचारी होता था जिसके कार्यालय (जैसा कि हमने बसाढ़ की राजमुहरों में देखा है) 'अधिष्ठान' (कार्यालय एवं न्यायालय) कहलाते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। ग्राम-शासन की इकाई होता था जिसका प्रधान ग्रामिक कहलाता था। ग्राम-शासन का एक अन्य महत्वपूर्ण पदाधिकारी बिलकुल वही मिलता है जैसा कि हम गुप्तों के कर्मचारि-तंत्रात्मक प्रणाली में पाते हैं। भूमि-सम्बन्धी एवं अन्य लेखों का रक्षक दामोदरपुर के अभिलेखों का पुस्तपाल 'हर्ष-चरित' (पृ० ४७) में 'पुस्तकृत' हो गया है। गुप्तकालीन 'लेखक' हर्ष-चरित में करणिक (क्लर्क) कहे गये हैं। इन पदाधिकारियों के अतिरिक्त जिनके कार्य सुनिश्चित थे पदाधिकारियों का एक वर्ग वह था जिसके सदस्य 'सर्वाध्यक्ष'[१] कहलाते थे और जो शायद हर्ष-चरित (पृ० २५४) में उल्लिखित 'अध्यक्ष' ही थे।

कार्यालयों के लेख

कार्यालयों के लेख रक्षित करने की व्यवस्था हर्ष के शासन का एक मुख्य विधान था। समस्त सार्वजनिक घटनाओं के कार्यालयों में लेख रखे जाते थे; जिनमें अच्छी, बुरी दुर्भाग्य-सूचक अथवा सौभाग्यसूचक बातें अंकित होती थीं और उनके लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे।

राजकीय आय के साधन

राज्य को विविध साधनों से आय होती थी। राज्य की भूमि पर जो उपज का षष्ठांश राजस्व लिया जाता था वह प्रमुख साधन था। सम्राट् के दर्शन का जिन्हें अवसर मिलता उनसे प्राप्त भेंट-उपहार आदि आय के दूसरे साधन थे। व्यापारिक माल पर चुंगी अन्य साधन थी। मधुबन अभिलेख से हमें विदित होता है कि विक्रय की वस्तुओं पर एक कर लगता था। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापारियों को घाटों और नदियों के बाँधों पर तथा राजमार्गों पर कई स्थान पर अतिरिक्त चुंगी देनी पड़ती थी। परन्तु राजकर सामान्य ही था। राजकर्मचारियों को वेतन के बदले भूमि प्रदत्त थी। प्रजा से बेगार अत्यन्त साधारण ली जाती थी।

अपराध कानून

अपराध कानून गुप्तकाल की अपेक्षा अधिक कठोर थे। सड़कें उस समय से कम सुरक्षित थीं जब कि फाहियान ने भारत-यात्रा की थी। दण्ड स्वरू

फ्लीट, कॉ० इ० इ०, तृ०, पृ० ५५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अङ्ग-विच्छेद की प्रणाली जो गुप्तों द्वारा त्याज्य हो चुकी थी अब प्रचलित हो गई। दण्ड सुनाने के समय शपथ भी ग्रहण कराया जाता था।

दान और पुण्य-शालाएँ

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के लिए दान की उदार व्यवस्था थी। अशोक की तरह उसने असंख्य पुण्यशालाएँ यात्रियों, निर्धनों और रोगियों के हित के लिए बनवाई थीं। नगरों तथा गाँवों दोनों स्थानों में विश्राम-गृह बने हुए थे जिनमें भोजन, जलपान तथा योग्य चिकित्सकों के निरीक्षण में औषधि का प्रबन्ध उन लोगों के लिए था जो वहाँ आकर अस्वस्थ हो जाते थे। अपने समानधर्मा अशोक की ही तरह उसने भी हिन्दुओं और बौद्धों दोनों के हित के लिए अनेक धार्मिक संस्थाओं को दान दे रखा था। प्रयाग में पञ्चवार्षिक सम्मेलन के अवसर पर उसके दान-वितरण अद्वितीय ढंग के होते थे जिस समय वह अपना सर्वस्व दान कर डालता था। इस प्रकार उसने दान के निमित्त अपनी सञ्चित पूँजी छः बार प्रयाग में आकर बाँटी। उसके छोटे-मोटे दानों का तो कहना ही क्या है।

रक्षा का प्रबन्ध

हर्षवर्द्धन के पास एक सुविशाल सेना थी जो युद्ध के लिए बराबर तैयार रहती थी। उसमें ५,००० हाथी, २०,००० अश्वारोही तथा ५०,००० पदाति थे। युवान-च्वांग के परिभ्रमण के समय अश्वारोहियों की संख्या १००,००० तक तथा हस्ति-बल की ६०,००० तक जा पहुँची थी। ऊँटों का भी एक दल था। इसके अतिरिक्त सामन्त एवं मित्र राजाओं द्वारा भी सैनिक दल प्राप्त होते थे। उदाहरण-स्वरूप कामरूप (आसाम) का कुमार २००० हाथियों के साथ हर्ष से मिला था। बाण के अनुसार हर्ष को बहुत-से हाथी सामन्त नरेशों से भेंट-स्वरूप मिले थे।[१] घोड़े पश्चिमी प्रदेशों से—जैसे सिंध वर्तमान अफगानिस्तान और पारस से आते थे। राजकीय सेना के लिए नियुक्त सैनिक कर्मचारियों के अतिरिक्त सैन्यागारों के निरीक्षक होते थे। राजकीय अस्तबलों में घसियारों, साईसों और उनके ऊपर देख-भाल रखनेवाले

१ 'हर्ष-चरित', पृ० ६६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्मचारियों का एक बड़ा राजोपजीवी समूह था[1]। युवान्-च्वांग का कथन है कि सेना में भर्ती जनता में भर्ती होनेवाले सैनिकों के वेतन और सुविधाओं की घोषणा कर दी जाती थी। राजा के अङ्ग-रक्षकों में वही भर्ती होते थे जिन योद्धाओं की वीरता की परीक्षा हो चुकी रहती थी। उनकी गणना एक प्रकार के रूढ़िक्रमानुगत सैनिक अभिजात वर्ग में की जाती थी।[2] सीमान्तों की रक्षा का विशेष प्रबन्ध था और नगर चतुर्दिक दीवारों से घिरे होते थे।[3]

शिक्षा एवं साहित्य

हर्ष ने शिक्षा की ओर उचित ध्यान दिया था। साक्षरता के प्रचार एवं ऊँची शिक्षा के लिए राज्य की ओर से प्रचुर सम्पत्ति और सुविधाएँ प्राप्त थीं। उसने विहारों और विद्या के बड़े केन्द्रों में सम्पत्ति लगा रखी थी जहाँ अनेक बौद्ध-भिक्षु तथा ब्राह्मण शिक्षा पाते थे। उसकी राजसभा में अनेक साहित्यसेवी थे जिनमें बाणभट्ट सर्वोपरि था और जिन सबको राजाश्रय प्राप्त था। हर्ष स्वयं एक उच्च कोटि का साहित्यकार तथा एक कुशल सुलेखक (Calligraphist) था। उसके रचित ग्रन्थों में तीन संस्कृत अभिनय 'नागानन्द' 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' आज भी वर्त्तमान रहकर उस नृपति-लेखक की साहित्यिक योग्यता का परिचय देते हैं। राजकवि बाण ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हर्ष-चरित' लिखा जो एक ऐतिहासिक आख्यायिका है जिसमें हर्ष के कृत्यों का गुणानुवाद के रूप में वृत्तान्त दिया हुआ है। स्थल-विशेष में आश्रयदाता नरेश के गुणों की असंभावित अतिशयोक्तियों एवं अनुचित प्रशंसाओं के होते हुए भी यह ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के एक उच्च स्तर का द्योतक है जिसका प्रणयन किसी वस्तुतः योग्य-लेखक द्वारा संभव था और जो इतिहास का एक अमूल्य समकालीन साहित्यिक साधन है।

हर्ष का धर्म

यह कहना कठिन है कि हर्ष वस्तुतः कौन धर्म मानता था, यद्यपि इतना

१ वाटर्स, दि०, पृ० ३४३; बील, प्र०, पृ० २३०।
२ वही, प्र०, पृ० १७१।
३ बील, प्र०, पृ० ८७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट है कि उसकी प्रवृत्ति बौद्ध-धर्म की ओर थी और वह उक्त धर्म का पक्षपाती था। अपने व्यक्तिगत व्यवहारों में वह बौद्धों के जीवन दर्शन का आचरण करता था और अशोक की तरह प्राणियों के जीव-वध के विरुद्ध उसने बौद्ध सिद्धान्तानुसार कठोर राजाज्ञा निकाल दी थी। जैसा कि निर्देश किया जा चुका है मानवता के कल्याण के लिए उसके उदार सेवाकार्य अशोक की प्रणाली के आधार पर प्रचलित थे। उसका पिता प्रभाकरवर्द्धन सूर्योपासक था, किन्तु हर्ष ने अपनी सारी निष्ठा तीन देवताओं—सूर्य, शिव और बुद्ध में बाँट दी थी और उन तीनों की सेवा के निमित्त अमूल्य देवस्थान स्थापित किये थे। उसके समय में बौद्धधर्म, जैनधर्म तथा ब्राह्मण हिन्दू-धर्म साथ-साथ फलते- फूलते रहे और विविध धर्मों के अनुयायी परस्पर शान्ति-व्यवहार स्थापित रखकर जीवन-यापन करते थे। ऐसा संभव है कि सम्राट् अपनी समस्त प्रजा में लोकप्रिय बनने और लोकोपासना के प्रधान देवों की अभ्यर्थना कर दैवी सहायता प्राप्त करने का इच्छुक था। विशेष रूप से निर्मित किया गया था जिसमें प्रतिमा के लिए एक स्थल निर्दिष्ट कर लिया गया था। उस विहार में १०० फीट ऊँचा एक प्रासाद भी बनाया गया था जिसमें बुद्ध की एक स्वर्ण-प्रतिमा सम्राट् की ऊँचाई की स्थापित की गई थी। एक अन्य स्वर्ण-प्रतिमा जो ३ फीट ऊँची थी नित्य सवारी में निकाली जाती थी जिसमें हर्ष नायक रहता था और बीस नरेश एवं ३०० हाथी उसका अनुगमन करते थे। हर्ष जैसे-जैसे चलता जाता था अपने चारों ओर मोती, स्वर्ण-फूल तथा अन्य बहुमूल्य रत्न 'त्रिरत्न' के श्रद्धा-उपलक्ष्य में बिखेरता जाता था। इसके उपरान्त प्रतिमा को वेदी पर वह अपने हाथों से पखारता था, अपने कन्धों पर वहन कर उसे पश्चिमी प्रासाद में ले जाता और वहाँ उस पर सहस्रों रत्न-खचित रेशमी वस्त्र चढ़ाता। ये उत्सव पचहत्तर दिवस तक लगातार होते रहे[1]।

प्रयाग परिषद् हर पाँचवें वर्ष हर्ष द्वारा बुलाई जाती थी। कन्नौज की

प्रयाग परिषद

परिषद् के बाद ६४३ ई० में जो परिषद् बुलाई गई थी और जिसमें युवान्-च्वाङ् भी आमन्त्रित किया गया था अपने ढंग की छठी परिषद् थी। पिछली

१ स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री,' च० सं०, पृ० ३६४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिषद् की तरह इसमें भी समस्त सामन्त नरेश एकत्र हुए थे। इसके अतिरिक्त पाँच लाख का समुदाय जिसमें दरिद्र, अनाथ और निराश्रित, निमंत्रित ब्राह्मण तथा साधु सम्मिलित थे उत्सव में उपस्थित था जो हर्षोद्रेक के साथ पचहत्तर दिवस तक चलता रहा। धार्मिक उत्सव सहिष्णुता-पूर्वक मनाये जाते थे जैसी कि उस युग की मर्यादा थी। उपासना की तीन प्रचलित पद्धतियों के पालन के निमित्त तीन विशेष दिन नियत कर दिये गये थे। पहले दिन सर्वोपरि पूजा बुद्ध की प्रतिमा की हुई, फिर सूर्य और शिव की प्रतिमाएँ क्रमशः दूसरे एवं तीसरे दिन सम्पूजित हुईं। उपासना के प्रत्येक दिन तथा उसके बाद कई दिन तक प्रचुर मात्रा में दान दिया जाता था। सम्राट् के दान का उपभोग केवल यही तथ्य हर्ष के धर्म की स्पष्ट उदारता के मूल में निहित जान पड़ता है। युवान-च्वाङ्ग के साक्ष्य के आधार पर हम जानते हैं कि प्रयाग के सम्मेलन में हर्ष ने प्रथम दिवस बुद्ध की प्रतिमा का पूजन किया, दूसरे दिन सूर्य की प्रतिमा का और तीसरे दिन शिव की प्रतिमा का। परन्तु यह मानने के लिए प्रमाण है कि हर्ष के अवसान काल में बौद्ध-धर्म को राजकीय अनुग्रह का श्रेयांश प्राप्त था। पवित्र गंगा के किनारे असंख्य विहार और स्तूप बने हुए थे। बौद्ध-धर्म की ओर उसकी प्रवृत्तियों को और अधिक झुकाने में अवश्य ही युवान्-च्वाङ्ग की भेंट का प्रभाव था जब कि वह बंगाल में स्कन्धावार में पड़ा हुआ था।

कन्नौज परिषद्

युवान-च्वाङ्ग के अपनी राजधानी में आगमन के समय हर्ष ने जो परिषद् बुलाई थी तथा प्रयाग में होनेवाले उसके पञ्चवार्षिक सम्मेलन सम्राट् की बौद्ध-धर्म में आस्था एवं ऊपर बतलाये गये अन्य दोनों धर्मों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं। इन दोनों परिषदों का युवान्-च्वाङ्ग ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन इस प्रकार किया है: हर्ष ने अपने महान् अतिथि का बंगाल में अपने स्कन्धावार में स्वागत किया। उसके स्वागत में उसने कन्नौज में एक महती परिषद् बुलानेका निश्चय किया। शास्ता की वाणी को अधिक से अधिक जनता में प्रचारित करने के लिए उसने बंगाल से लेकर ठीक अपनी राजधानी कन्नौज तक बड़े समारोह-पूर्वक एक धर्म-यात्रा की सवारी निकाली।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

युवान-च्वाङ्ग को लेकर सम्राट् सवारी के आगे-आगे गंगा के दक्षिणी किनारों से आगे बढ़ा। उनके पीछे अठारह सामन्त नरेशों और हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षुओं एवं अन्य जन का अपार समुदाय भी उमड़ चला। उसका मित्र कामरूप-नरेश भी नदी के दूसरे किनारे से काफी जन-समूह के साथ, यद्यपि उसके पीछे कम चलनेवाले थे, सम्राट् का साथ दिया। प्रतिदिन केवल छः मील के ही लगभग चलकर यात्रा की गति नितान्त धीमी रखकर सम्राट् नब्बे दिनों में जाकर कहीं कन्नौज पहुँचा। कामरूप नरेश जो पहले राजधानी पहुँच गया था तथा वलभी-पति ने सम्राट् का पश्चिमी राजद्वार पर मिलकर स्वागत किया।

राजधानी में गंगा के तट पर एक भव्य विहार भिक्षु, ब्राह्मण, साधु, निर्धन और निराश्रित सभी करते थे जिससे अन्त में जाकर वह अपने पाँच वर्षों के सञ्चित दानार्थ द्रव्य को इस प्रकार लुटाकर कंगाल हो जाता था कि उसे अपनी बहिन राज्यश्री से धारण करने के लिए एक साधारण वस्त्र की याचना करनी पड़ती थी और उसे अपना सारा कोष धर्मार्थ दे डालने में परमानन्द की अनुभूति होती थी।

युवान-च्वाङ्ग ने प्रयाग में हर्षदेव से विदाई लेकर स्वदेश को प्रस्थान किया। यह अन्तिम पञ्चवार्षिक सम्मेलन था जिसमें हर्ष ने भाग लिया, क्योंकि प्रयाग-परिषद् के चार वर्ष बाद ६४७ ई० के आरंभ में उसकी मृत्यु हो गई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चौदहवाँ अध्याय

उत्तर भारत की राजनीतिक दशा—हर्ष के निधन से मुसलमानों के आक्रमण तक

हर्ष का निधन होते ही साम्राज्य का टूटना आरम्भ हो गया जिसे हर्ष ने इतने परिश्रम से खड़ा किया था। हर्ष के पश्चात् उसका अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं था जिससे राज्य पर उसके मंत्री अर्जुन ने स्वत्व स्थापित कर लिया। एक चीनी पुस्तक में ऐसा वर्णन मिलता है कि चीनी मिशन (Chinese Mission) का अध्यक्ष वैङ्ग-ह्यू न-त्से जो हर्ष के निधन के कुछ ही काल पश्चात् भारत आया लुटेरों का लक्ष्य बना, पीटा गया, उसका माल लुट गया और उसके कुछ अनुचर मार डाले गये। वैङ्ग-ह्यू न-त्से अपना प्राण लेकर नेपाल भागा। तिब्बती नरेश स्त्राङ्ग त्सन-गम्पो ने जो एक चीनी राजकुमारी ब्याह लाया था उसे सैनिक दिये जिनकी सहायता से उसने तिरहुत पर अधिकार कर लिया, कई लड़ाइयों में अर्जुन को पराजय दी और उसे बन्दी बनाकर चीन ले गया। साम्राज्य की दशा इसी तरह बिगड़ती रही और हर्ष के निधन के कुछ ही समय बाद बहुत-से स्वाधीन राज्य बन गये। इस समय से लेकर मुसलमानों के आक्रमण तक की डाँवाँडोल परिस्थिति में साम्राज्य की एकता स्थापित न रह सकी, भारत के साम्राज्यकामी इतिहास ने अनेक प्रमुख राज्यों के वंशों के इतिहासों को स्थान दिया।

हर्ष के निधन का परिणाम

तीन सीमान्त राज्य

हमारा ध्यान सर्वप्रथम तीन सीमान्त राज्यों—कामरूप (आसाम) नेपाल तथा कश्मीर, की ओर आकर्षित होता है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भारत के एक कोने में स्थित और प्राकृतिक दुर्भेद्य दीवारों से सुरक्षित कामरूप का प्राचीन राज्य मौर्यों के शासन से भी मुक्त अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित रख सका था। चौथी शती ई० में उसने गुप्त सम्राटों का आधिपत्य स्वीकार किया और उन्हें राजस्व दिया, किन्तु आन्तरिक शासन में अपना स्वायत्त बनाये रखा। सातवीं शती ई० में कामरूप का राजा भास्करवर्मन् था। शशाङ्क की नवोदित शक्ति से सहम कर भास्करवर्मन् ने हर्षवर्द्धन के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित की जिसे वह जानता था कि शशाङ्क का वह शत्रु था। शशाङ्क की मृत्यु के बाद भास्करवर्मन् एक समकक्ष मित्र-नरेश की अपेक्षा एक सामन्त नरेश ही अधिक प्रतीत होने लगा। यह इससे प्रमाणित होता है कि जब भास्करवर्मन् ने अपने यहाँ ठहरे हुए चीनी यात्री को हर्ष के पास भेजना अस्वीकार कर दिया था तब हर्ष ने उसे दण्डित करने का भय दिखाया था जिसके आगे भास्करवर्मन् ने सिर झुका दिया और तत्पश्चात् हर्ष के अन्य सामन्त नरेशों की तरह कन्नौज और प्रयाग की परिषदों में जा उपस्थित हुआ। हर्ष के निधन के उपरान्त भास्करवर्मन् ने अपनी स्वाधीनता स्थापित कर ली, यद्यपि उसकी यह स्वाधीनता चिरस्थायी नहीं रही। शीलस्तम्भ नामक एक बर्बर ने उस पर आक्रमण कर दिया और कामरूप म्लेच्छ शासन के अन्तर्गत प्रायः तीन सौ वर्ष के लिए चला गया।

कामरूप

नेपाल अशोक के साम्राज्य में आ चुका था। परन्तु कुषाणों के समय में वह स्वाधीन रहा। समुद्रगुप्त ने उस पर पुनः आधिपत्य स्थापित किया। सातवीं शती में वह तिब्बत के प्रभाव में आया और हर्ष के निधन के उपरान्त पचास वर्षों के लिए पूर्णतया तिब्बती शासन के अन्तर्गत चला गया। ७०३ ई० में नेपालियों ने तिब्बत के शासक को पराजित कर मार डाला और स्वाधीनता प्राप्त कर ली।

नेपाल

पर्वतीय चोटियों से घिरी हुई कश्मीर की दून साधारणतया मौर्य और कुषाण युगों को छोड़कर राजनीतिक दृष्टि से भारत से पृथक् रही है। अशोक ने उस पर अधिकार स्थापित किया और उसके शासन-काल में बौद्ध-धर्म का उस प्रदेश में प्रचार हुआ। कनिष्क ने भी इस दून पर राज्य किया जो

कश्मीर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके साम्राज्य का एक भाग था और बौद्धों की अपनी महान् संगीति वहाँ कुण्डलवन विहार में बुलाई। छठी शती ई० के प्रथम चरण में नृशंस हूण सरदार ने नरसिंहगुप्त बालादित्य और यशोधर्मन् द्वारा परास्त होकर कश्मीर में आकर आश्रय ग्रहण किया। कश्मीर-नरेश ने उसका हार्दिक स्वागत किया और उसके उपभोग के लिए एक छोटा-सा प्रदेश दे दिया। परन्तु विश्वासघाती ने शीघ्र ही अपने आश्रयदाता को मार डाला और राज्य पर अधिकार कर लिया। पर अपने अनुचित लाभ का वह दीर्घ काल तक उपभोग न कर सका, क्योंकि अपने विश्वासघात की घटना के वर्ष भर बाद ही उसका देहान्त हो गया। सातवीं शती में कश्मीर में एक शक्ति-संपन्न हिन्दू राज्यकुल स्थापित हुआ। इस राज्यकुल का संस्थापक दुर्लभवर्द्धन था। उसी के शासन-काल में चीनी यात्री युवान् च्वाङ ने कश्मीर-यात्रा की थी। उसके पुत्र एवं उत्तधिराकारी प्रतापादित्य ने प्रतापपुर नामक नगर बसाया था। उक्त कुल का सबसे बड़ा राजा ललितादित्य मुक्तापीड था जो ६२४ ई० के लगभग राजसिंहासन पर बैठा। उसने पंजाब, कन्नौज तथा दर्दिस्तान और काबुल पर विजय प्राप्त किया। सूर्यदेव का सुन्दर मार्तण्ड मन्दिर उसके राज्यकाल में बना। उसकी मृत्यु के अनन्तर (लगभग ७६० ई०) कश्मीर ने अपने वैदेशिक अधिकार-क्षेत्र खो दिये और अन्धकारमय हो गया। आठवीं शती के अवसान काल में जयापीड ने अपने कुल की विगत लक्ष्मी को पुनः प्रसन्न करने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। बारहवीं शती में उसके नरेश जयसिंह (११२७-११५५ ई०) ने उसकी खोई हुई मर्यादा का अंशोद्धार किया। वह कश्मीर के सुप्रसिद्ध इतिहास-कार एवं कवि कल्हण का आश्रयदाता था। चौदहवीं शती में वह एक मुसलमान साहसिक शाह अमीर के शासन में चला गया जिसने १३४० के लगभग कश्मीर विजय किया और एक नया वंश चलाया जो १५८६ तक जिस समय अकबर ने उसे जीता स्वाधीन रहा।

इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना युद्धप्रिय राजपूत जाति का उदय एवं उत्तर भारत में कई राजपूत राज्यों की स्थापना है।

राजपूतों का उदय

प्रथम तथा अन्तिम गुप्त वंश के प्रभुत्व के पहले और उत्तर-काल में बहुत-सी विदेशी जातियों ने जैसे शक, पह्लव तथा हूण भारत में प्रवेश किया, वे देश में बस गईं और यहाँ की पहले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से बसी हुई जनता में अपने हिन्दू पड़ोसियों के आचार-विचार एवं धर्म अपना कर घुल-मिल गईं। हिन्दू-धर्म में दीक्षित इन विदेशियों की एक नई जाति बन गई जिसमें मध्य एशिया में बसनेवाली परिश्रमी जातियों के युद्धप्रियता आदि गुणों के साथ हिन्दू-धर्म और परम्पराओं के प्रति उनकी निष्ठा तथा अभिमान की भावनाएँ जुड़ गईं। इन नये कुलों के प्रधान सरदार अपना उद्भव पुरातन हिन्दू देवताओं—सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि आदि से बतलाते थे। हिन्दू पुरोहितों ने उनमें हिन्दू-धर्म के कट्टर संरक्षक पा लिये। और क्योंकि शासन और युद्ध उनके मुख्य उद्यम थे हिन्दू पुरोहितों ने उन्हें 'क्षत्रियों' के रूप में ग्रहण किया। ये सरदार तथा उनके अनुयायी अपने को 'राजपूत' (राजपुत्र अथवा राजकुमार) कहते थे। इस प्रकार नये क्षत्रिय और राजपूत समानार्थक समझे जाने लगे और उत्तर के मैदानों के जिस भाग में मूलतः वे आकर बसे उसका नाम राजपूताना पड़ गया।

इन राजपूत कुलों में से एक गुर्जरों का था जो आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में पूर्वी राजपूताना एवं मालवा पर शासन करता था। राजकुल प्रतिहार शाखा का था अतः वह इतिहास में गुर्जर-प्रतिहार के नाम से विख्यात है। अरबों ने जिन्होंने ७१२ ई० में सिंध पर अधिकार कर लिया था ७२५ ई० के लगभग एक अजेय सेना भेजी जिसने कच्छ, काठियावाड़, उत्तरी-गुजरात एवं दक्षिणी-राजपूताना को रौंद कर पश्चिमी मालवा के राजद्वारों को खटखटाया। प्रतिहार राजा नागभट्ट ने उन्हें गहरी पराजय दी और इस प्रकार उत्तर भारत को प्रथम मुसलमान आक्रमणकारियों से बचाया। अन्य बातों की अपेक्षा यही प्रधान कारण जान पड़ता है कि जिससे भारत के प्रथम मुसलमान आक्रमणकारी अरब मरुभूमि तक ही सीमित रहे और भारत के हृदय में उन्होंने प्रवेश नहीं किया। प्रायः एक शती के अनन्तर उसके उत्तराधिकारी ने गङ्गा के मैदान पर आक्रमण किया और कन्नौज को अधिकृत कर लिया। तब इस परिवर्द्धित राज्य की राजधानी उज्जैन से स्थानान्तरित कर कन्नौज लाई गई। कन्नौज पर उनका अधिकार दो शताब्दियों तक रहा जब कि १०१८-१९ में सुलतान

कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार नरेश

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महमूद गजनवी ने नगर पर अपना अधिकार स्थापित किया। नागभट्ट का पौत्र मिहिरभोज इस वंश का एक प्रतापी नरेश था। उसने एक दीर्घ काल तक (लग० ८४०-९० ई०) एक विस्तृत राज्य का शासन किया जो प्राय: एक साम्राज्य के बराबर था जिसमें सतलज के इस पार या पंजाब का इलाका, राजपूताना का अधिकांश भाग, वर्तमान उत्तर प्रदेश का अधिक भाग एवं ग्वालियर का प्रदेश सम्मिलित था। विष्णु का उपासक होने के कारण मिहिरभोज ने विष्णु के एक अवतार के आधार पर अपनी उपाधि 'आदिवराह' धारण की। उक्त उपाधि से अंकित चाँदी के सिक्के उत्तर भारत के विभिन्न भागों में बहुतायत से मिले हैं। उनकी प्रचुरता और प्राप्ति-स्थान भोज शासन की दीर्घकालीनता एवं विस्तृत परिधि प्रमाणित करते हैं। मिहिरभोज की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र महेन्द्रपाल ने दो दशाब्दियों के लगभग राज्य किया और उसकी मर्यादा कम न होने दी। उसके राजत्व काल में प्राकृत का महाकवि राजशेखर जो 'कर्पूरमञ्जरी' का रचयिता था उसी की राज-सभा में रहता था। उसके बाद पहले उसके ज्येष्ठ पुत्र भोज द्वितीय को जो शीघ्र मर गया और फिर उसके कनिष्ठ पुत्र महिपाल को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। उसके शासन-काल से कन्नौज के प्रतिहार राज्य की श्री में कमी हो गई। ९१६ ई० में राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। महिपाल ने अपने संकट में जेजाकभुक्ति के चन्देल नरेश की सहायता माँगी और उसे पाकर कन्नौज को वापस कर लिया। अगले प्रतिष्ठित नरेश देवपाल (लग० ९४०-५५ ई०) के हाथ से कालञ्जर का किला निकलकर चन्देल नरेश यशोवर्मन् के हाथ में चला गया और उसे परम प्रतिष्ठित विष्णु की प्रतिमा भी जो उसके कुलदेवता की प्रतिमा थी उसे समर्पित कर देनी पड़ी। उसके उत्तराधिकारी विजयपाल (लग० ९५५-९० ई०) के राजत्व काल में ग्वालियर स्वाधीन हो गया। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी राज्यपाल ने हिन्दू नरेशों के संघ की सदस्यता ग्रहण की जो सबुक्तिगीन के विरोध में बनाया गया था और ९९१ ई० में तथा अन्तिम रूप से १००८ ई० में कुर्रम की दून के समीप उनके पराजित होने में उसे भी हार की लज्जा वहन करनी पड़ी। १०१९ के आरम्भ में सबुक्तिगीन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी प्रसिद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महमूद गजनवी का कन्नौज पर आक्रमण हुआ जो बड़ी सरलता से उसके हाथ में चला गया। राज्यपाल ने जिसने बड़ी कायरता दिखाई कन्नौज को विजेता के हाथों में छोड़कर गङ्गा के उस पार जा बसा। इतिहास को उसके केवल दो उत्तराधिकारियों का पता है—त्रिलोचनपाल तथा यशपाल जो कन्नौज राज्य के एक नितान्त खण्डित भाग पर शासन करते रहे। त्रिलोचनपाल का नाम झूँसी-प्रशस्ति-पत्र-अभिलेख के सञ्चालक के रूप में आता है जिसने इस गाँव को एक ब्राह्मण को दे दिया था तथा यशपाल का नाम कड़ा अभिलेख में कौशाम्बी के निकट पभोसा ग्राम उस स्थान के एक निवासी को दान करने के सम्बन्ध में दाता के रूप में व्यवहृत हुआ है।[१]

कन्नौज का गहड़वार वंश

ग्यारहवीं शती के समाप्त होते होते कन्नौज गहड़वार अथवा राठौर वंश के शासन में चला गया जिसका संस्थापक चन्द्रदेव था। उसके पौत्र गोविन्दचन्द्र (१११४-६०) ने काफी अंश में कन्नौज के प्राचीन गौरव की पुनरुत्थापना की जैसा कि उसके अनेक भूमि सम्बन्धी दानों एवं काफी दूर तक प्रचलित मुद्राओं से सिद्ध होता है। इस वंश का पाँचवाँ एवं अन्तिम नरेश जयचन्द्र (११६०-९३) था जो उत्तर भारत के प्रचलित हिन्दी लोक-गीतों तथा गाथाओं में जयचन्द के नाम से ही अधिक विख्यात है। अपने मौसेरे भाई अजमेर के योद्धा पृथ्वीराज के साथ उसकी प्रबल शत्रुता ने जिसके आलम्बन से दोनों पक्षों में अन्य नरेशों को भी सहायक के रूप में उलझना पड़ा सुप्रसिद्ध मुहम्मद गोरी को हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का एक अवसर दे दिया जिसकी ताक में वह बहुत दिनों से था। उसका पहला आक्रमण बिलकुल व्यर्थ सिद्ध हुआ, क्योंकि उसे आमंत्रित करनेवाला पृथ्वीराज द्वारा थानेश्वर के निकट तिरौरी या तराइन के मैदान में बुरी तरह परास्त हुआ (११९१ ई०)। दो वर्ष बाद मुहम्मद गोरी का फिर आक्रमण हुआ और उसी लड़ाई के मैदान में पृथ्वीराज की पराजय हुई (११९३

---

१ इन दोनों अभिलेखों पर लेखक की पुस्तक 'ऐन अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशाम्बी' (पृ० सं० ९५-९९) में पर्याप्त ध्यान दिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ई०)। मुसलमानों की इस विजय के अनन्तर अजमेर तथा दिल्ली पर उनका अधिकार स्थापित हो गया और इस प्रकार भारत में मुसलमानों की उत्तरोत्तर विजय की नींव पड़ी। इन दोनों लड़ाइयों में किसी में भी जयचन्द ने अपनी सबल सहायता नहीं दी, बल्कि पृथ्वीराज के साथ वैयक्तिक ईर्षा-बुद्धि से मूर्खता-पूर्ण तटस्थता ग्रहण की। दिल्ली से मुहम्मद गोरी ने जयचन्द के विरुद्ध अभियान किया और इटावा के समीप यमुना के किनारे उसे परास्त किया। जयचन्द को उसकी मूर्खता और देश-द्रोह का उसकी पराजय और मृत्यु के रूप में प्रतिकार मिल गया, क्योंकि वह युद्ध में मारा गया। इस विजय के बाद मुसलमानों ने कन्नौज और बनारस पर अधिकार कर उन्हें लूटा। इन घटनाओं के बाद हिन्दू राजाओं के अन्तर्गत कन्नौज के स्वाधीन राज्य की गाथा समाप्त होती है जैसा कि हमने देखा, कन्नौज नगर का हर्ष के साम्राज्य की राजधानी के रूप में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था और फिर मध्यवर्त्ती शताब्दियों में वह उत्तर भारत की महान् राजनीतिक हलचल का केन्द्र रहा जब कि वहाँ गुर्जर-प्रतिहार-वंश तथा गहड़वार वंश की प्रभुता थी।

बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश

बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाकभुक्ति था। वह कन्नौज के प्रतिहार साम्राज्य में सम्मिलित था। नवीं शती ई० में चन्देल नरेश यशोवर्मन् ने वहाँ एक स्वाधीन राज्य स्थापित किया और कालिञ्जर जीत लिया जो उसके राज्य का प्रमुख गढ़ बन गया। महोबा राजधानी बनाई गई। राज्य के संस्थापक के अतिरिक्त उक्त वंश के सबसे प्रतापी नरेश धंगा और कीर्त्तिवर्मन् हुए। धंगा ने महमूद गजनवी के विरुद्ध स्थापित उत्तरी राष्ट्र संघ में सहायता ग्रहण की और कीर्त्तिवर्मन् ने चेदि के शक्तिशाली शासक कर्ण को उत्क्षिप्त किया। कीर्त्तिवर्मन् विद्वानों का आदर करता था। 'प्रबोधचन्द्रोदय' शीर्षक एक मनोरंजक नाटक उसी समय लिखा गया जिसका अभिनय राज-सभा में हुआ। उसकी स्मृति महोबा के निकट बनवाये गये एक रमणीक सागर जिसे 'कीरथ सागर' कहते हैं द्वारा भी सुरक्षित है। अन्तिम चन्देल राजा जिसने स्वतन्त्रता का उपभोग किया परमाल था जिसने पहले ११८२ में पृथ्वी राज चौहान और तत्पश्चात् १२०३ ई० में कुतबुद्दीन के आगे शीश झुकाया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चन्देल नरेश महान् निर्माता थे। महोबा के निकटवर्त्ती सुन्दर सागर के अतिरिक्त जिसका निर्माण कीर्त्तिवर्मन् द्वारा हुआ बतलाया जाता है उनके बनवाये हुए अनेक भव्य मन्दिर आज भी खजुराहो में वर्तमान हैं।

कलचुरिय चेदि राज्य

चेदियों का कलचुरिय राजवंश नर्मदा के दक्षिणी एवं गोदावरी के उत्तरी प्रदेश में प्रतिष्ठित था। जबलपुर के निकट त्रिपुरी[1] उनकी राजधानी थी। चन्देलों की तरह वे भी पहले प्रतिहारों के अधीन थे और १०वीं शती के मध्य में उन्होंने स्वाधीनता पाई। इस स्वाधीन राज्य का स्थापक लक्ष्मणराज था जिसे एक विजेता और प्रसिद्ध योद्धा कहा गया है। ग्यारहवीं शती के मध्य के लगभग चेदि नरेश कर्ण को चन्देल महाराज कीर्त्तिवर्मन् से परास्त होना पड़ा। तेरहवीं शती के आरम्भ होने पर चेदियों का राज्य कुछ स्वतन्त्र राजवंशों के उत्थान के कारण जिनमें वारंगल के गणपति, देवगिरि के यादव और नर्मदा के तट पर अपने प्रदेश का नाम स्ववंश-परिचायक बघेलखण्ड रखनेवाले बघेल राजपूत मुख्य थे, छिन्न-भिन्न हो गया।

मालवा का परमार वंश

कन्नौज के प्रतिहार साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर एक अन्य राजपूत राज्य जो मालवा के परमारों का था उठ खड़ा हुआ। इस वंश का संस्थापक उपेन्द्र नामक एक नरेश था (लग० ८२० ई०)। मालवा के परमारों का विद्यानुराग प्रसिद्ध है। सातवाँ राजा मुञ्ज (९७४–९५ ई०) कवियों का महान् आश्रयदाता था और स्वयं भी एक ख्यातिवान् कवि था। दो प्रसिद्ध लेखक धनञ्जय और धनिक उसकी राज-सभा में थे। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध नरेश भोज हुआ है जो धारा के राजा भोज के नाम से विख्यात है जो उस समय मालवा की राजधानी थी। उसने बयालीस वर्ष राज्य किया (१०१८–६० ई०)। मुञ्ज की तरह वह भी एक परम विद्यानुरागी था। उसने स्वयं नक्षत्र-विद्या, वास्तु-कला, काव्य-कला तथा अन्य विषयों पर पाण्डित्यपूर्ण पुस्तकें

---

१. १९३९ ई० त्रिपुरी को जो अब एक गाँव-मात्र है अखिल भारतीय कांग्रेस के ५४वें वार्षिक अधिवेशन का समारोह-स्थल होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिखी हैं। उसने भोजपुर ताल नामक एक सुन्दर ताल बनवाया था जो भोपाल के दक्षिण-पूर्व में स्थित है और जिसका क्षेत्रफल २५० वर्ग मील है। ताल के किनारों की भूमि अब अत्यन्त उपजाऊ बन गई है और उन्हें काटती हुई भारतीय मध्यदेशीय रेल चली जाती है। उसने एक प्रसिद्ध संस्कृत विद्यालय स्थापित किया था जिस स्थान पर आज धार में एक मस्जिद खड़ी हुई है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि राजा भोज इतिहास तथा आख्यायिकाओं में समान रूप से एक प्रबुद्ध शासक के रूप में व्यक्त हुआ है। यह योग्य नरेश गुजरात और चेदि के नरेशों के सामूहिक आक्रमण का लक्ष्य बना। वह अनुमानतः इस वंश का अन्तिम स्वाधीन शासक था जिसकी एक विशुद्ध स्थानीय शक्ति के रूप में १३वीं शती के आरम्भ तक बनी रही जब कि शक्ति तोमर वंश में और तदनन्तर चौहानों के हाथ में चली गई।

अजमेर और दिल्ली के चौहान नरेश

राजपूतों का चौहान वंश संभर और अजमेर के राज्यों पर शासन करता था। ९वीं शती ई० के मध्य में चौहान नरेश विग्रहराय ने जो वीसलदेव के नाम से भी प्रसिद्ध है तोमर नरेश से दिल्ली को जीता। वह एक प्रसिद्ध लेखक और साहित्यानुरागी था। उसके बाद उसका भतीजा विख्यात पृथ्वीराज चौहान राज्याधिकारी हुआ जिसने भारतीय इतिहास में मुसलमान आक्रमण के समय बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। पृथ्वीराज या राय पिथौरा जो गीतों और वीरगाथाओं में प्रसिद्ध है अपनी विजयों के लिए अपने राजकवि चन्द्र बरदाई द्वारा उसके महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' में अमर कर दिया गया है। उसमें तथा कन्नौज के राजा जयचन्द के बीच जो उसका घोर एवं किसी दशा में समझौते के लिए प्रस्तुत न होनेवाला शत्रु सिद्ध हुआ महान् प्रतिद्वन्द्विता थी। ऐसी कहानी है कि जयचन्द की गुणवती राजकुमारी संयुक्ता के हृदय में पृथ्वीराज के लिए अनुराग उत्पन्न हो गया था जो उसके वीर चरितों के सुनते रहने का फल था। राजा जयचन्द ने अपनी कुमारी का एक 'स्वयंवर' रचा जिसमें सभी नरेश आमंत्रित किये गये थे, केवल पृथ्वीराज को बुलावा नहीं भेजा गया था—उसे अपमानित करने के उद्देश्य से द्वारपाल के स्थान में उसकी एक प्रतिमा बनवाकर खड़ी कर दी गई थी। पिता ने उसके प्रेमी को जिस प्रकार अपमानित करना चाहा था उसे संयुक्ता ने प्रतिमा के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गले में जयमाल डाल कर न होने दिया। रात में पृथ्वीराज ने जो छद्मवेष से नगर में उपस्थित था हर प्रकार के विरोधों का सामना कर उसका हरण किया। ११८२ ई० में उसने महोबा पर अधिकार किया जो चन्देल राजा परमाल की राजधानी थी। इस प्रकार संभर, अजमेर, दिल्ली और बुन्देलखण्ड पर शासन करता हुआ वह उत्तर-भारत में सबसे बड़ा नरेश समझा जाता था। परन्तु पृथ्वीराज की सर्वाधिक ख्याति मुहम्मद गोरी के मुसलमान आक्रमण की लहर को वीरतापूर्वक सामना करने के कारण है।

यह साहसिक व्यक्ति जिसने भारत में मुसलमानी शासन की नींव डाली गोर का सरदार था जो हेरात के पूर्व एक पहाड़ी इलाका है। आरम्भ में यह इलाका गजनी राज्य के आधिपत्य-क्षेत्र में था। सुलतान महमूद गजनवी का शिहाबुद्दीन गोरी के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व भारत पर आक्रमण हो चुका था जिसने कम से कम सत्रह आक्रमण किये (१००१–२४ ई०), भारत के नगरों को लूटा जिनमें कन्नौज, बनारस और सोमनाथ सम्मिलित थे, किन्तु वह एक आक्रान्ता और लुटेरा मात्र था। उसने अपनी राजधानी गजनी बसाई थी जिसे उसने भारत से लूटकर ले गये माल से अलंकृत किया था। भारत में उसका स्थायी प्रभाव केवल पंजाब में रह गया था। बारहवीं शती ई० के मध्य के लगभग गोर और गजनी के घरानों में युद्ध छिड़ गया। गोर के सुलतान अलाउद्दीन ने गजनी के वैभव-सम्पन्न नगर को ध्वस्त कर दिया और उसके ध्वंसावशेषों को अग्नि की ज्वालाओं को समर्पित कर दिया। गजनी के सुलतानों को अपने भारतीय प्रभाव-क्षेत्र में आकर शरण मिली जिसे महमूद गजनवी ने दो सौ वर्ष पूर्व स्थापित किया था। परन्तु गोरी सुलतानों ने गजनी के शासकों का पीछा भारत में किया। शिहाबुद्दीन गोरी ने जो अपने भाई गयासुद्दीन गोरी के साथ शासन करता था खुसरू मलिक से पंजाब छीन लिया जो गजनी के घराने का अन्तिम सुलतान था। पंजाब-विजय से गोरी सुलतानों का राज्य पृथ्वीराज के साम्राज्य के सीमान्त से आ मिला जो उस समय उत्तर-भारत का सबसे महान् नरेश था।

उत्तर-भारत के दो सबसे अधिक शक्तिशाली नरेशों—पृथ्वीराज तथा जयचन्द, के पारस्परिक विद्वेष से लाभ उठाकर शिहाबुद्दीन गोरी ने जो एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सेनाध्यक्ष की दृष्टि से कुछ काल से पंजाब से स्थिति का अवलोकन कर रहा था ११९१ में अपना प्रथम आक्रमण किया।

तराइन का प्रथम युद्ध : ११९०–९१ ई०

भारत के स्वातंत्र्य की रक्षा का प्रश्न पृथ्वीराज के ऊपर आया जिसने अपनी प्रकृत वीरता-वश उसे अपने हाथों में लिया। उसने हिन्दू नरेशों का एक संघ बनाया जिससे जयचन्द अलग रहा। दोनों सेनाओं का थानेश्वर और कर्नाल के बीच तराइन या तिरौरी के मैदान में सामना हुआ। गोरी द्वारा राजपूत सेना के मध्य में किया गया प्रबल आक्रमण व्यर्थ कर दिया गया और पृथ्वीराज के नेतृत्व में सेना की एक बढ़ती हुई लहर ने आक्रमणकारी सेना को चारों ओर से पूर्णतया घेर लिया। शिहाबुद्दीन गोरी बड़ी कठिनाई के साथ किसी प्रकार अपना प्राण लेकर भागा। पृथ्वीराज पूर्ण विजयी हुआ।

दो वर्ष बाद पराजय न स्वीकार करने वाला शिहाबुद्दीन फिर आक्रमण के लिए लौट आया। पृथ्वीराज और उसके सहायकों ने फिर पहले की तरह उसी युद्ध-क्षेत्र में उसका सामना किया।

तराइन का द्वितीय-युद्ध : ११९३ ई० तथा पृथ्वीराज की मृत्यु

इस बार उसकी सेना का पूरा विध्वन्स हुआ। वह अन्त तक युद्ध-भूमि में डटकर शत्रु का सामना करता रहा पर पकड़ा गया। आक्रान्ता ने अपने इस प्रतापी बन्दी-नृपति को सबके सामने तलवार के घाट उतारा। पृथ्वीराज की मृत्यु के साथ हिन्दू-गौरव का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया। तराइन की विजय के उपरान्त अजमेर तथा दिल्ली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। जयचन्द उस प्रलय से त्राण न पा सका जिसमें पृथ्वीराज और उसके सहायक समाप्त हो गये। अपने विश्वासघात का फल वह आक्रमणकारियों की बढ़ती हुई सेना का इटावा के निकट युद्ध-भूमि में ११९४ में लक्ष्य बनकर पा गया। तदनन्तर मुहम्मद गोरी ने कन्नौज और बनारस को अधिकृत किया और उन्हें लूटा। भारत में इस प्रकार मुसलमानी शासन की नींव अच्छी तरह जमा दी गई और उस शासन का विस्तार शीघ्र ही बिहार तथा बंगाल तक हो गया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हर्ष के साम्राज्य का पूर्वी भाग जिसमें बिहार और बंगाल सम्मिलित थे छोटे-छोटे कई राज्यों में बँट गया—यह दशा आठवीं शती ई० तक बनी रही जब कि एक शक्तिशाली सामन्त गोपाल ने उन सब को संयुक्त कर एक सुगठित साम्राज्य बना दिया। वह एक धार्मिक बौद्ध था और उसने उदन्तपुर में एक विशाल विहार की स्थापना की।[1] उसके द्वारा स्थापित किया हुआ वंश पाल-वंश के नाम से प्रसिद्ध है। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी धर्मपाल (लग० ७८०-८१५ ई०) ने दीर्घ काल तक यश-सहित शासन किया। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार उसका शासन बंगाल की खाड़ी से लेकर दिल्ली तथा जालंधर तक उत्तर में और विन्ध्यश्रेणी की घाटियों तक दक्षिण में व्याप्त था।[2] यह इससे पुष्ट है कि उसने पञ्चाल के राजा इन्द्रायुध को राजसिंहासन से हटाकर उसके स्थान पर चक्रायुध को राजा बनाया था। अपने पूर्ववर्ती के समान वह एक परम बौद्ध था और उसने विक्रमशिला का सुप्रसिद्ध विहार बनवाया था जो नालन्द के ढंग का महान् बौद्ध विश्व-विद्यालय बन गया। उसका ८१५ ई० के लगभग निधन हो गया और उसके बाद उसका पुत्र देवपाल (८१५-८५० ई०) राजसिंहासन पर बैठा जो पाल-वंश के सबसे प्रतापी नरेशों में एक था और जिसने दीर्घ काल तक शासन किया। देवपाल के भतीजे और सेनानायक जयपाल ने आसाम और कलिंग विजय किया। उसने अपने द्रविड़ और गुर्जर प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति भी तोड़ी। सुमात्रा के नरेशों के साथ उसका दौत्य सम्बन्ध (Diplomatic Relation) था जिन्होंने नालन्द में एक भव्य विहार बनवाने की देवपाल से अनुमति प्राप्त की थी। अपने पूर्ववर्ती की तरह देवपाल एक उत्साही बौद्ध था जो अबौद्धों के साथ युद्ध करना अपना धर्म समझता था। बौद्ध कवि वज्रदत्त उसकी राज-सभा में रहता था और उसने 'लोकेश्वर शतक' नामक सुप्रसिद्ध काव्य की रचना की थी जिसमें लोकेश्वर का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है और लोकेश्वर अथवा अवलोकितेश्वर के प्रेम और क्षमा आदि गुणों की स्तुति।

बिहार और बंगाल का पाल-वंश

१—बिहार शरीफ का वर्त्तमान नगर।

२—स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री', चतुर्थ सं०, पृ० ४१३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस वंश का नवाँ नरेश महिपाल था जो राजेन्द्र चोल को परास्त करने के कारण प्रसिद्ध है जब चोल नरेश ने बंगाल पर आक्रमण किया था। वह अन्तिम महान् पाल-नरेश था। उसके साथ पाल शासन की श्री समाप्त हो गई। उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के शासन-काल में इस वंश की कुछ महत्ता न रही। १२वीं शती ई० के आरम्भ में सेनों ने उन्हें बंगाल से निकाल बाहर किया और अगली शताब्दि के आरम्भ में मुसलमान आक्रमणकारियों ने उनसे बिहार छीन लिया।

पाल शासन कई बातों के लिए प्रसिद्ध था। पाल शासन के अन्तर्गत न केवल बंगाल की गणना सबसे बढ़ी-चढ़ी शक्तियों में की जाने लगी, अपितु वह बौद्धिक और कला-सम्बन्धी क्षेत्रों में उत्कृष्ट हो गया। प्रसिद्ध चित्रकार, शिल्पी एवं कांस्य की प्रतिमा गढ़नेवाले धीमान और वितपाल पाल साम्राज्य में ही राजाश्रय पाकर अपनी कला के निर्माण में संलग्न रहे। जैसा कि हम पहले देख आये हैं पाल नरेशों द्वारा विक्रमशिला और उद्दन्तपुर में दो प्रसिद्ध विहार एवं शिक्षा के केन्द्र स्थापित किये गये थे। नेपाल और तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए बौद्ध भिक्षु भेजे गये। इसके साथ ही यहाँ यह बतला देना भी ठीक होगा कि बौद्ध-धर्म में वज्रयान और तान्त्रिक अभिचार आदि के रूप में प्रविष्ट बुराइयों ने इस काल में बौद्धों को निश्चय पतित कर दिया था।

बंगाल का सेन वंश

बंगाल में सेन वंश का संस्थापक विजयसेन (लग० १११६-५८ ई०) था जिसने बंगाल का काफी भाग पालों से छीना था और अपने को स्वतंत्र घोषित किया था। उसने दूसरी शक्तियों के साथ लड़कर यश प्राप्त किया और दीर्घ काल तक एक नये आधार पर शासन किया। 'कुलीन प्रथा' का प्रवर्त्तक वही था जिसके अनुसार ब्राह्मणों और कायस्थों को उसने ऊँची और नीची श्रेणियों में वर्गीकृत किया। उदाहरण-स्वरूप, मुखर्जी, बनर्जी और चटर्जी ब्राह्मणों में तथा घोष, बोस और मित्र बंगाल के कायस्थों में कुलीन समझे जाते हैं और अपने सजातियों में शेष की अपेक्षा बड़े माने जाते हैं। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी बल्लालसेन था (लग० ११५८-११६९)। बल्लालसेन के अनन्तर उसका पुत्र लक्ष्मणसेन (लग० ११७०-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१२०० ई०) राजा हुआ जिसे मुहम्मद-बेन बख्तियार ने राजसिंहासन से उतार दिया। मुहम्मद को कुतुबुद्दीन ने विहार और बंगाल विजय करने के लिए भेजा था।

सेन नरेश कट्टर हिन्दू एवं बौद्ध धर्म के प्रबल विरोधी थे। बल्लालसेन को स्वयं तान्त्रिक उपासना प्रिय थी। इन नरेशों ने संस्कृत साहित्य को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया। बल्लालसेन तो स्वयं एक लेखक था और बंगाल के दो प्रसिद्ध कवि धोयिक जिसने कालिदास के 'मेघदूत' की अनुकृति में 'पवनदूत' की रचना की तथा जयदेव, 'गीतगोविन्द' के लेखक, लक्ष्मणसेन की राजसभा में थे।

राजपूतकालीन सामाजिक अवस्था और संस्कृति

राजपूत यद्यपि मूलतः विदेशियों की सन्तान हैं, वे अपने को इस देश के कुलीनतम शासक वर्ग का समझते थे। वे अपने को भारतीय देवों और वीर पुरुषों की सन्तान बतलाते थे और शीघ्र ही एक स्वाभिमानी वीर अभिजात वर्ग के बन गये, जो अपने अधिकारों के लिए प्राणों की परवाह न करते थे। इसके साथ ही अपने स्वाभिमान के उपयुक्त उन्होंने अपने में वीरत्व की भावना भरी। राजपूतों को युद्ध विशेष प्रिय था, किन्तु पराजित शत्रु यदि प्राण-रक्षा की याचना करता तो वह उसे क्षमा कर देता था। 'शरणागत की रक्षा करना वह अपना धर्म समझता था[1]।' राजपूत अपने नारी-समाज का यथेष्ट आदर करते थे और उनकी तथा उनके सतीत्व की रक्षा प्राण पण से करते थे। विदेशी आक्रमणकारियों को रोकने में वे अद्भुत वीरता का परिचय देते थे, किन्तु यदि वे अपने से श्रेष्ठ सैन्यबल के आगे एक बार झुक जाते और अपने अधिपति की स्वामिभक्ति की शपथ ग्रहण कर लेते तो कितना भी उत्तेजित करने पर वे अपनी स्वामिभक्ति का उस क्षण तक निर्वाह करते थे जब तक कि उनका अधिपति स्वयं प्रतिज्ञा भंग नहीं कर देता था अथवा अपना अधिकार नहीं खो बैठता था। पुरुषों के समान ही राजपूत रमणियों में

एक स्वाभिमानी अभिजात वर्ग

१ रालिन्सन, 'इण्डिया', पृ० २०१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नारीत्व के उदात्त आदर्श—पतिपरायणता, स्वजन-स्नेह, चरित्र-बल, सचाई और देश-प्रेम, कूट-कूट कर भरे हुए थे। अपने सतीत्त्व की रक्षा के निमित्त उनके हँसते हुए अग्नि-ज्वालाओं में प्रवेश करके जो 'जौहर' कहलाता था अथवा मृतक पति के साथ चिता रोपकर 'सती' हो जाने के असंख्य दृष्टान्त उपलब्ध हैं।

राजपूतों में अपने कुल तथा कुल के नायक के प्रति अटूट श्रद्धा थी। अपने कुल की मर्यादा और अपने नायक को मृत्यु अथवा आघात से बचाने के निमित्त युद्ध-भूमि में यदि प्राण भी त्यागना पड़े तो उसे अपनी व्यक्तिगत जीत मानकर सहर्ष स्वीकार करना पड़ता था। एक राजपूत स्वभावतः स्वाभिमानी और शीघ्र उत्तेजित हो उठनेवाला होता था जो युद्ध और प्रतिशोध के लिए बात की बात में प्रस्तुत हो जाता। राजपूतों का इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है जो कुलों के बीच पारस्परिक विद्वेष के परिणाम-स्वरूप भीषण रक्तकाण्ड उपस्थित कर देती थीं और जिनका कारण कभी-कभी तो बहुत तुच्छ होता था। 'एक बार एक भयानक लड़ाई इसी बात पर हो गई कि किसी राजा ने आखेट करते समय अपने पड़ोसी के सीमा-प्रदेश पर आ गिरे किसी पक्षी को उठा लिया था [वही]'। इस बात में राजपूत की तुलना स्काटलैंड के पर्वतीयों से की जा सकती है। उसकी अतिशय एवं एकान्त कुल-भक्ति ने जो उसके स्वामी के व्यक्ति तथा राज्य तक ही सीमित थी उसे सम्पूर्ण देश के विशाल देश-प्रेम की ओर से सर्वथा उदासीन और तटस्थ बना दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब विदेशी सेनाओं ने भारत पर आक्रमण किया तो इन्होंने उनसे प्रायः अलग-अलग मोर्चा लिया—विभिन्न कुलों को अपनी अपनी पड़ी थी, जो देश के लिए बहुत बुरा हुआ। जिन थोड़े अवसरों पर उन्होंने विदेशी आक्रान्ताओं का मिलकर सामना किया जिनका इतिहास में वर्णन आता है उनकी एकता भारत की सम्पूर्ण अखण्डता को दृष्टि में रखने का फल न थी, बल्कि वह इस कारण थी कि वे अपने एक भाई नरेश को संकट से मुक्त करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि यदि वे अपने पारस्परिक विद्वेष और ईर्षा को त्याग कर अपने देश के शत्रु का मिलकर सामना करते और अपना संगठन एक प्रकार के प्रभावशाली

कुलाभिमान

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तथा चिरकालिक संघ के रूप में करते तो भारत का इतिहास ही कुछ और होता।

राजपूत अपने नारी-समाज के प्रति प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि रखते थे। राजपूत रमणी को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी और वह प्राचीन क्षत्रिय व्यवस्था के अनुसार 'स्वयंवर' के अधिकार का उपभोग करती थी। विवाह की स्वयंवर-प्रथा जिसका राजपूताना के इतिहास में स्थान स्थान पर वर्णन मिलता है केवल धनी और राजकीय वर्गों तक ही सीमित नहीं थी। साधारण लोगों में भी यह व्यवस्था थी कि लड़की अपने योग्य वर चुन लेती थी अथवा उसके पिता द्वारा स्थिर किये हुए विवाह के सम्बन्ध में उसकी अनुमति ले ली जाती थी। प्रायः वह अपना विवाह पूर्णवयस्का होने पर ही करती थी। उद्भट मुस्लिम विद्वान् अल्बेरूनी के समकालिक लेखों के अनुसार जो महमूद गजनवी के साथ भारत आया था और जिसने इस देश का एक वृत्तान्त लिखा ['अल्बेरूनीज इण्डिया'; अँगरेजी अनुवाद, सचाउ (Sachau) कृत]। 'स्त्रियाँ सभी शिक्षित थीं और वे सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय भाग लेती थीं। लड़कियाँ पढ़-लिख सकती थीं और संस्कृत से भी भिज्ञ थीं। वे वाद्य, नृत्य और चित्रकला सीखती थीं। राजपूत रमणी नारीत्व के उदात्त आदर्शों से प्रेरित थी। वह पतिपरायण तथा स्वजन-सम्बन्धियों के साथ मृदु व्यवहार करनेवाली होती थी। उसका आचरण शुद्ध और हृदय देशाभिमान से ओत-प्रोत होता था।' अपने सतीत्व की रक्षा के निमित्त उसके हँसते हुए अग्नि की ज्वालाओं में प्रवेश करने (जौहर) के अथवा मृतक पति के साथ उसके प्रति भक्ति और उसके वीरगति प्राप्त करने पर प्रशंसा से आह्लादित चिता रोपकर 'सती' हो जाने के असंख्य दृष्टान्त राजपूत इतिहास में मिलते हैं। जौहर एक प्रकार की सामूहिक आत्महत्या थी जिसे राजपूत रमणियाँ विदेशी विजेता के हाथों अपना सतीत्व लुटने के भय से जो मृत्यु से भी दुःखदायी था सतीत्व की रक्षा के निमित्त करती थीं। यह उस समय होता था जब कि मुसलमान देश पर आक्रमण कर देते थे। घिरे हुए नगर की रमणियाँ प्रायः इस व्रत का पालन उस अवस्था में करती थीं जब कि जय की समस्त आशा जाती

नारी-समाज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहती थी। इसके विपरीत 'सती' होना आत्मघात का एक व्यक्तिगत ढंग था जिसे युद्ध में वीरगति पानेवाले योद्धा की विधवा अपने स्वामी के नाम पर करती थी जिसकी वह प्रशंसा और पूजा किया करती थी। इस प्रकार की एक घटना का जो चित्तौड़ की प्रथम चढ़ाई से सम्बन्ध रखती है, टॉड (Col. Todd.) ने इस प्रकार अपनी मर्मस्पर्शी शैली में वर्णन किया है : कोई विधवा उस लड़के को सम्बोधित कर जिसने उसके पति को युद्ध-भूमि में गिरते हुए देखा था बार-बार उससे पूछती है—

"लड़के, मुझे बता तो सही, यद्यपि मैं स्वयं उससे मिलने जा रही हूँ कि मेरे पति ने किस प्रकार वीर-गति प्राप्त की?"

"युद्ध-भूमि में जैसे कोई कटाई के निमित्त गया हो! उसके पीछे-पीछे मैं जैसे कटाई के बाद उसकी तलवार सँभालता चलता था। वीरता की शैया पर उसने नर-मुण्डों का एक कालीन बिछा दिया और एक म्लेच्छ को अपनी तकिया, इस प्रकार वह अपने शत्रुओं से मुक्त होकर सुख की नींद सो रहा है।"

"फिर भी एक बार और, लड़के! मैं सुनना चाहती हूँ कि मेरे पति ने किस प्रकार वीर-गति प्राप्त की?"

"अरी माँ, उसकी वीरता का वर्णन करने का सामर्थ्य किसमें है। उसने एक भी शत्रु जीता नहीं छोड़ा, जो उसकी वीरता से आतंकित हो अथवा उसे प्रशंसात्मक शब्दों में स्मरण तो करे।"

लड़के से उस वीराङ्गना ने अत्यन्त परितोष के साथ विदाई ली और यह कहते हुए कि 'मेरे विलम्ब से स्वामी अप्रसन्न होंगे' धधकती हुई अग्नि में कूद पड़ी जहाँ लपटों ने उसे समेट लिया। [टॉड-कृत 'एनल्स ऐन्ड ऐंटिक्विटीज', १९१४, प्रथम सं०, २४६]।[१]

---

१ 'सती' का सबसे प्राचीन ५१० ई० का आभिलेखिक प्रमाण गोपराज की विधवा का है, जो भानुगुप्त का एक सामन्त नरेश था और हूण नरेश मिहिरकुल के विरुद्ध युद्ध करता हुआ वीर-गति को प्राप्त हुआ था [का० इ० इ०, तृतीय, पृ० ९२ एवं आगे]। राजपूत रमणियों ने इस आदर्श का अनुगमन किया। आगे चलकर यह प्रथा बहुत कुछ निरर्थक एवं नृशंसतापूर्ण रीति-मात्र रह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजपूत नरेश कला और साहित्य के महान् संरक्षक थे। कई राजाओं की राजसभा में नाटक की विशेष उन्नति हुई जिनमें से कुछ तो स्वयं ख्यातिप्राप्त लेखक थे। राजा मुञ्ज को अच्छी काव्य-प्रतिभा प्राप्त थी। यशस्वी परमार शासक धारा का राजा भोज कई पुस्तकों का विख्यात प्रणेता था जो विभिन्न विषयक थीं, यथा, चिकित्सा-विज्ञान, नक्षत्र-विद्या, व्याकरण, धर्म, वास्तुकला, छन्द-शास्त्र, कोष-विज्ञान, विविध कलायें आदि। उसकी कृतियों में इनका उल्लेख किया जा सकता है—'आयुर्वेद-सर्वस्व', 'राजमृगाङ्क', व्यवहार-समुच्चय', 'शब्दानुशासन', 'युक्तिकल्पतरु', इत्यादि। बाद के लेखकों में सबसे प्रसिद्ध राजशेखर है जो कन्नौज के महेन्द्रपाल (लग० ६०० ई०) की राजसभा में था। उसका लिखा हुआ अभिनय 'कर्पूरमञ्जरी' सम्पूर्ण प्राकृत में है। इस काल की एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना प्रख्यात 'गीतगोविन्द' है जिसका रचयिता जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१२०० ई०) का राजकवि था। इस काव्य में जो आधा अभिनय, आधा गीत (Lyric) है कृष्ण और गोपियों का और विशेषतः कृष्ण तथा कृष्ण की प्रेयसी राधा का प्रेम वर्णित हुआ है। इसी समय श्रीनगर में कश्मीर के नरेशों की राजसभा में साहित्य की एक शाखा पल्लवित हुई। कल्हण ने अपना प्रसिद्ध छन्दबद्ध इतिवृत्त 'राजतरंगिणी' लिखा और सोमदेव ने अपना प्रसिद्ध 'कथासरित्सागर' अथवा कथाओं का समुद्र लिख डाला। इस काल में एक बात यह विशेष ध्यान देने की है कि इसी समय जन-भाषाओं का उदय हुआ। अब हम राजपूत चारणों को अपने आश्रयदाताओं तथा उनके पूर्वजों के सम्बन्ध में हिन्दी में - जनता की प्रभावशालिनी भाषा में, वीर-गाथाएँ गा-गाकर सुनाते हुए पाते हैं। इन चारणों में सबसे प्रसिद्ध चन्द बरदाई हुआ है। वह अपने सुप्रसिद्ध

(साहित्य)

गई, जिसने अनेक स्त्रियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध चिता में जलकर अपने जीवन का अमानुषिक ढंग से अन्त करने के लिए विवश किया। ऐसा बंगाल में बहुत हुआ। इससे ठीक ही इस प्रथा का लार्ड बेंटिङ्क (Lord Bentinck) के समय में पूर्ण उन्मूलन कर दिया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रन्थ 'पृथ्वीराज-रासो' में अपने आश्रयदाता नरेश पृथ्वीराज की विजयों का उल्लास-पूर्वक वर्णन करता है।

राजपूत बड़े निर्माण-प्रेमी थे। उनके सिंचाई के कार्य; नहाने के घाट और कुण्ड तथा दुर्ग आदि उनकी इञ्जीनियरिंग और वास्तु-कला-सम्बन्धी कुशलता के परिचायक हैं। चित्तौड़, रणथम्भौर, माण्डू और ग्वालियर के भव्य और दृढ़ दुर्ग उनकी वास्तु-कला-सम्बन्धी, कुशलता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। दूसरे श्रेष्ठ उदाहरण ग्वालियर-स्थित मानसिंह का राजमहल, उदयपुर का हवामहल तथा जयपुर के भवन हैं, जो एक गुलाबी नगर है और वैसा ही प्रतीत होता है जैसा कि वह बसाये जाने के समय रहा होगा। उन नगरों और महलों में कई सुन्दर और कृत्रिम झीलों के किनारे अवस्थित हैं किन्तु जोधपुर का किला मध्यकालीन योरप के किलों के सदृश एक ऊँची और दुर्भेय पहाड़ी पर बना हुआ है जो अपनी ऊँची मीनारों और दीवारों से नगर को ढके रहता है। यहाँ तक कि बाबर ने जो वैसे भारतीय नरेशों का एक तीव्र आलोचक था इन भवनों को जिनके गुम्बज सोने का पानी देकर ताम्र-पत्रों से मण्डित किये गये थे' अत्यन्त सुन्दर कहकर सराहा है।[१]

कला

मध्यकालीन हिन्दू-मन्दिर जो उत्तरी अथवा 'इण्डो-आर्य' शैली के उदाहरण हैं और जिनका विभेद उनके दक्षिणी अथवा द्रविड़ प्रतिरूपों से स्पष्ट है अपने ऊँचे एवं बीच में चन्द्राकार कटे हुए अथवा ऊपर उठे हुए त्रिशूल के लिए प्रसिद्ध हैं। त्रिशूल के ऊपर एक बड़ा-सा गद्दी के आकार का पत्थर का टुकड़ा जड़ा रहता है जिसे 'आमलक' कहते हैं। उस पर 'कलश' रखा रहता है जो घर के आकार का होता है और शिखा सूचित करता है। इस शैली के मन्दिरों का जिनका निर्माण उक्त काल में हुआ एक उदाहरण भुवनेश्वर का सुन्दर 'लिंगराज' का मन्दिर है। उसकी चोटी १८० फुट ऊँची चली गई है जिसके सामने आस-पास के गृह बहुत ही तुच्छ लगते हैं। उदाहरण-योग्य मन्दिरों का एक दूसरा समूह बुन्देलखण्ड में खजुराहो में पाया जाता है। इनमें सर्वोच्च शिखा बहुत-सी छोटी शिखाओं से जुड़ी हुई है तथा पार्श्व अनेक सुन्दर

१—वही, पृ० २१६।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिमाओं से अलंकृत हैं। वास्तु-कला की एक विशेष अलंकृत (Ornate) एवं फूल-पत्तियोंवाली (Floral) शैली गुजरात में अन्हिलवाड़ के सोलङ्की नरेशों की छत्र-छाया में चली जिसका उदाहरण उस काल में बने जय-स्तम्भ में मिलता है। मध्यकालीन हिन्दू वास्तु-कला की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति दक्षिणी राजपूताना में माउण्ट आबू पर बने जैन मन्दिरों में हुई है। इस ढंग का सबसे सुन्दर मन्दिर तेजपाल का है जिसके पूर्णतया श्वेत संगमर्मर के गर्भगृह उत्कृष्ट और सूक्ष्म कारीगरी के उदाहरण हैं। इसके विषय में अत्यन्त मुग्ध होकर फर्ग्युसन (Fergusson) कहता है—'हिन्दू शिल्पी ने जिस धीरजपूर्ण छेनी के सहारे श्वेत संगमर्मर को तराश कर रूपसी आकृतियों में ढाला है, वे बिलकुल रेशम में कढ़ी हुई जान पड़ती हैं।' तेजपाल के मन्दिर के बाहर निकले हुए बीच के गुम्बज की आकृति के विषय में वह और भी प्रशंसा-विभोर होकर कहता है—'उसकी आकृति ठीक एक अर्द्धमुकुलित पद्म जैसी है जिसके कोष इतने सूक्ष्म, इतने पारदर्शी और ऐसे नितान्त कोमल तन्तुओं से बने हुए हैं कि उस पर प्रशंसा से आँखें गड़ जाती हैं, [वही, पृ० २१८]।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पन्द्रहवाँ अध्याय

दक्षिण के राजवंश

दक्षिणापथ जिसे आजकल दक्खिन कहते हैं दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप का सबसे उत्तरी भाग है। वह विन्ध्यगिरि और तुङ्गभद्रा नदी के बीच का प्रदेश है। नदी के दक्षिण से वास्तविक दक्षिण का जिसके अन्तर्गत चेर, चोल, तथा पाण्ड्य के प्राचीन राज्य आते हैं, विस्तार प्रारंभ होता है। इस देश में आर्यों के आगमन के बहुत बाद तक दक्षिण में प्रवेश करने का उसका उत्तरी कपाट जो यही दक्षिणापथ था उनके लिए बन्द था। उनका मार्ग अवरुद्ध करने में या तो विन्ध्याचल, नर्मदा और महाकान्तार की दुर्भेद्य प्राचीरें कारण थीं अथवा उत्तर भारत के उपजाऊ मैदान उनके खाने-पीने और चरागाहों के लिए इतने पर्याप्त थे कि उन्हें दक्षिण में अपना आर्थिक प्रसार करने की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती थी।

दक्षिणापथ

अतः इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास सर्वथा अन्धकारमय है; केवल ब्राह्मण ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में कुछ यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं, जिनका इस भाग का अथवा यहाँ के निवासियों के विषय का ज्ञान कुछ न कुछ किंवदन्तियों को आधार लेकर है। ऐतरेय ब्राह्मण (सप्तम, १८) में दक्षिणापथ के आन्ध्रों, पौण्ड्रों, शबरों, पुलिंदों तथा मूतिबों जो वैदिक ऋषि विश्वामित्र के पुत्रों के वंशज थे द्वारा बसे होने का वर्णन मिलता है। महाकाव्यों में यह प्रदेश घने जङ्गलों से आच्छन्न कहा गया है जिनमें राक्षस और आदिवासी—राक्षस एवं दस्यु, निवास करते थे और कैकेयी ने निर्वासित राम को अपने बनवास काल

प्राचीन उल्लेख

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ANCIENT DAKSHINĀPATHA

MAP 4

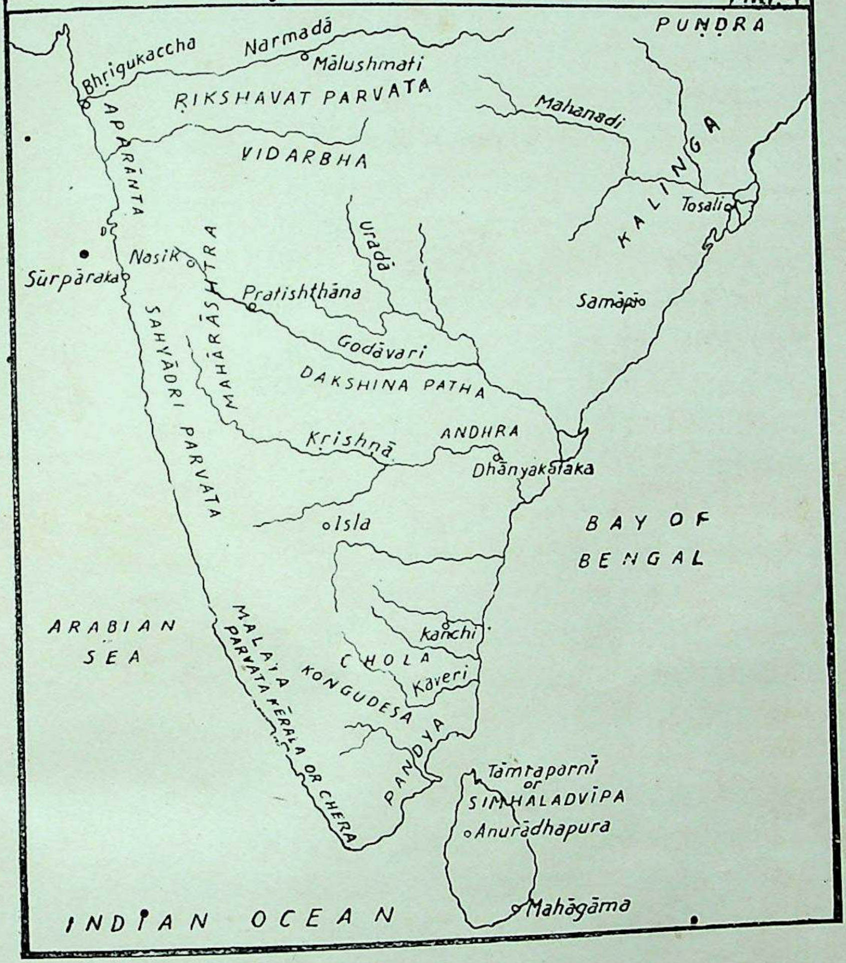

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में रहने के लिए दण्डकारण्य (महाराष्ट्र) जो राक्षसों से आकीर्ण था, इसलिए चुन दिया था कि वह जीवित वापस न आ सकें। पञ्चवटी जहाँ दण्डकारण्य में राम ने अपनी पर्णकुटी बनाई थी, आधुनिक नासिक की पुण्य नगरी निश्चत की गई है, जहाँ से गोदावरी नदी निकलती है। रामायण में वर्णित दक्षिणापथ में राम का कथानक संभवतः एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिये हुए है जो उस प्रदेश में आर्यों के राजनीतिक विस्तार का सूचक है। महाकाव्य की एक और पुरानी परम्परा के अनुसार महर्षि अगस्त्य पहले ऋषि थे जिन्होंने विन्ध्यगिरि के पारवर्त्ती प्रदेश में आर्य-धर्म और संस्कृति का प्रकाश फैलाया और एक उपनिवेश बसाया। यदि इस परम्परा में कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो यह सांस्कृतिक प्रवेश निश्चय राजनीतिक प्रभुता के स्थापित होने से पहले हुआ होगा और उसका काल लगभग आठवीं शताब्दी का अन्त अथवा सातवीं शती ई० पू० का प्रारम्भ माना जा सकता है। आरंभ में दक्षिणापथ में आर्य-सस्कृति का प्रसार उसकी उत्तरी एवं पूर्वी सीमाओं के निकट एक सीमित क्षेत्र तक परिसीमित था। पाणिनि (लग० ७०० ५०० ई० पू०) ने दक्षिणापथ का उल्लेख किया है जिसकी भौगोलिक सीमा कलिङ्ग के आगे नहीं जाती। आपस्तम्ब (लग० ५०० ई० पू०) जिसकी गणना सूत्र-साहित्य के सर्वोत्कृष्ट प्रणेताओं में की जाती है दक्षिणापथ में उत्पन्न हुआ बतलाया जाता है। उसके समय तक आर्यों का प्रवेश काफी दूर तक हो गया रहा होगा और उनकी संख्या भी इतनी अधिक हो गई होगी कि उन्हें गृह के सस्कारों के निमित्त 'गृह्यसूत्र' के विधान तथा सामाजिक व्यवहार के लिए 'धर्मसूत्र' की जिसकी उन्हीं में से किसी ने रचना की होगी आवश्यकता आ पड़ी होगी। कात्यायन (लग० ४०० ई० पू०) ने जिसने पाणिनि के व्याकरण पर 'वार्त्तिक' की रचना की है, दक्षिणापथ का ऐसा उल्लेख किया है कि उसमें माहिष्मत तथा नासिक्य के साथ ही चोल और पाण्ड्य भी आ जाते हैं। 'अर्थशास्त्र' के रचयिता कौटिल्य (लग० ४०० ई० पू०) को सुदूर दक्षिण का भी परिचय था, जैसा कि उसने अपने ग्रन्थ में पाण्ड्य देश में पाये जानेवाले एक तरह के मोती का उल्लेख किया है। आर्यों के निरन्तुर दक्षिण में बढ़ते रहने तथा इस कारण उनमें और उस प्रदेश के द्रविड़ों में होनेवाले संघर्ष से जिसका परिज्ञान रामायण में वर्णित राम के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वनवास और युद्धों के कथानक से होता है, दोनों जातियों की सभ्यताओं पर जहाँ तहाँ प्रकाश भी पड़ता है। यह ठीक है कि महाकाव्य में दक्षिण के अनार्यों को राक्षस और दस्यु के रूप में चित्रित किया गया है, जैसा कि वेद में उत्तर के अनार्यों का वर्णन पाया जाता है, तथापि इसके कुछ युक्ति-संगत आधार हैं कि द्रविड़ों ने विजेता आर्यों से किसी दशा में हीन सभ्यता का विकास नहीं किया था, बल्कि कुछ बातों में तो वे उनसे बढ़-चढ़कर थे। उदाहरण-स्वरूप द्रविड़ भवन और दुर्ग बनाकर रहते थे जिन्हें अधिकृत करने के पहले आर्यों को घेरा डालकर पड़ा रहना पड़ता था। वे प्रायः पक्के मकानों में रहते थे जब कि आर्य रहने के लिए मिट्टी और बाँस के झोपड़े डालते थे। आर्य आक्रान्ता द्रविड़ों को सरलतापूर्वक नहीं पराजित कर सके। कभी-कभी उन्हें बालि और रावण जैसे शक्तिशाली द्रविड़ शासकों को परास्त करने के लिए अनुचित साधनों का सहारा लेना पड़ता था--शत्रु की सेना को टुकड़ियों में विरोध उत्पन्न करा देना आर्यों की एक सामान्य सेना-सम्बन्धी कूटनीतिक योजना थी। यहाँ तक कि विजयी आर्य महापुरुष राम ने मरते हुए रावण से युद्ध-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करनी चाही थी।

मौर्यों के समय में जाकर कहीं हमें एक उत्तरी शासक द्वारा दक्षिण विजय किये जाने का निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है। परन्तु मौर्य साम्राज्य में भी सुदूर दक्षिण के देश नहीं सम्मिलित थे। अशोक के अभिलेखों से उसके साम्राज्य की सीमा का मैसूर तक पता चलता है। उसके त्रयोदश शिलालेख में पाण्ड्य और चोल को निश्चयपूर्वक उनके साम्राज्य के दक्षिण अन्तों के बाहर स्वाधीन राष्ट्र कहा गया है; परन्तु भोज, पितिनिक, आन्ध्र तथा पालिद उसके साम्राज्य के भीतर अवस्थित थे। पितिनिकों का उल्लेख रिष्टिकों अथवा राष्ट्रिकों के साथ भी पञ्चम शिलालेख में हुआ है। भोज बरार के रहनेवाले थे। पितिनिकों का आवास पैठन जिले में था। आन्ध्रों की उत्पत्ति और आवास के सम्बन्ध में ऊपर विवेचन हो चुका है। पालिद अथवा पुलिन्द संभवतः जंगली जाति के थे। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने दक्षिणापथ में भिक्षु रक्खित के साथ एक धर्म-प्रचार-मंडल भेजा था जो उत्तरी कनारा प्रदेश में बनवासी तक पहुँचा था। उसके विषय में बत-

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लाया जाता है कि उसने ६०,००० बौद्ध बनाये। अशोक के धर्म महामात्रों में से एक की नियुक्ति उनके बीच काम करने के लिए हुई थी (शि० ले० पञ्चम तथ त्रयोदश)।

मौर्य साम्राज्य के ह्रास के अनन्तर दक्षिण ३०० ई० तक लगभग ३०० वर्ष आन्ध्र-सातवाहनों के शासन में रहा। वाकाटक जिन्होंने मध्य भारत में अपनी शक्ति स्थापित की, दक्षिण के एक बड़े प्रदेश पर लगभग ६०० ई० तक शासन करते रहे जब कि दक्षिण में चालुक्यों का प्राधान्य हुआ।

बातापी (बादामी) का चालुक्य राजवंश

५५० ई० के लगभग दक्षिण में महान् चालुक्य राजवंश का अभ्युदय हुआ। उनकी उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। डा० विन्सेन्ट स्मिथ का कथन है कि चालुक्यों अथवा सोलङ्कियों की उत्पत्ति विदेशियों से है जो मध्य एशिया से आनेवाले गुर्जर आक्रमणकारियों के दल के एक भाग थे।[१] मराठों में अब भी चालुक्य अथवा सोलङ्की कुल के नाम होते हैं।[२] भारतीय परम्पराओं में उनके वंश की पुरातनता अयोध्या नगरी तक जाती है और वे क्षत्रिय जाति के माने जाते हैं जिनकी उत्पत्ति हारीति से हुई है। युवान्-च्वाङ्ग के वृत्तान्तों (वाटर्स, द्वि०, पृ० २३६) में पुलकेशिन द्वितीय, क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहा गया है।

श० सं० ५५६-६३४ ई० के ऐहोल-मेगुटी अभिलेख में पश्चिमी चालुक्य नरेशों की एक वंशावली दी हुई है जो पुलकेशिन द्वितीय पर समाप्त होती है।

बादामी के प्रारम्भिक चालुक्य नरेश

वंशावली में सर्वप्रथम महाराज जयसिंह का उल्लेख हुआ है। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी रणराज था। उनके नामों के अतिरिक्त और हमें कुछ नहीं ज्ञात है। तीसरा नरेश रणराज का पुत्र तथा उत्तराधिकारी पुलकेशिन प्रथम था। उसने बातापी (वर्त्तमान बादामी, बीजापुर

१—स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री', चतुर्थ सं०, पृ० ४४०।

२—रालिन्सन, 'इंडिया', पृ० १६०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिले में स्थित) को अपनी राजधानी बनाया। श० सं० ४६५[१]-५४३ ई० के हाल में मिले एक अभिलेख के अनुसार पुलकेशिन प्रथम ने 'वल्लभेश्वर' की उपाधि धारण की थी और एक 'अश्वमेध' किया था। उसका उत्तराधिकारी कीर्त्तिवर्मन था। उसने उत्तरी कोंकण के मौर्यों और बनवासी के कदम्बों को हराकर अपने वंश की शक्ति को काफी बढ़ा ली। उसके विषय में यह मिलता है कि उसने उत्तर में बिहार तथा बंगाल और दक्षिण में चोल एवं पांड्य देशों में भी प्रवेश किया था। कीर्त्तिवर्मन का छठवीं शती ई० के अन्त में देहान्त हो गया। उसके बाद मङ्गलेश सम्राट् हुआ जिसने प्रत्यक्ष ही अपने भतीजे पुलकेशिन का जो कीर्त्तिवर्मन का पुत्र था स्वत्व अपहरण कर लिया।

मंगलेश को पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र के बीच के देश तथा कलचूरियों को जीतने का श्रेय दिया जाता है। बादामि का वैष्णव गुहा-मन्दिर जो कि कला का एक उत्कृष्ट नमूना माना जाता है, उसी के समय में बना था। उसके राज्य-काल के अन्तिम वर्ष एक गृह-युद्ध की छाया में व्यतीत हुए। अन्ततोगत्वा उसके भतीजे पुलकेशिन द्वितीय ने अपने चाचा और उसके पुत्रों को पराजित करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

पुलकेशिन् द्वितीय

जैसा कि उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है, जीवन के प्रारंभिक वर्षों में पुलकेशिन् को कतिपय आपत्तियों का सामना करना पड़ा, परन्तु अन्त में उसने उन सब पर विजय पाई। अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में वह सिंहासन का सच्चा अधिकारी था, परन्तु उसके चाचा मंगलेश ने सिंहासन को अवैध रूप से हथिया लिया और अपने पश्चात् अपने ही पुत्रों के हाथ में राजसत्ता रखने का प्रयत्न किया। परन्तु पुलकेशिन एक उत्साही और जागरूक नवयुवक था। इतनी विपरीत परिस्थिति में भी उसने एक गृह-युद्ध प्रारम्भ कर दिया और आखिरकार वह सिंहासन को अपने चाचा तथा उसके पुत्रों के हाथ से छुड़ाने में सफल हुआ। वह अपने पिता के सिंहासन पर पुलकेशिन द्वितीय सत्याश्रय के नाम से बैठा और जैसे-जैसे वह युद्धों में विजय प्राप्त करता गया, वैसे-वैसे उसने और भी उपाधियाँ धारण कीं।

---

१ 'दि लीडर', जून, १६, १६४१।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वंशावली [ऐहोडे-मेगुती शकाब्द ५५६ के लेख के अनुसार]

जयसिंह
|
रणराज
|
पुलकेशिन प्रथम
|
कीर्तिवर्मन् — मंगलेश
|
पुलकेशिन द्वितीय सत्याश्रय

पुलकेशिन के हैदराबाद-ताम्रपत्र-लेख से ज्ञात होता है, कि वह सन ६०९ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। यह दान-पत्र पुलकेशिन के राज्याभिषेक के "तृतीय वर्ष में जब कि शक संवत् के ५३४ वर्ष व्यतीत हो चुके थे" लिखा गया था।

चाचा-भतीजे के गृहयुद्ध के अवसर का लाभ उठाकर कुछ विजित प्रदेशों ने विद्रोह कर दिया था। पुलकेशिन ने इन सब में शान्ति स्थापित की।

युद्ध और विजय

हैदराबाद दान-पत्र के अनुसार उसने कई सौ युद्धों में दूसरे नरशों को पराजित कर "परमेश्वर" नाम धारण किया था। ऐहोडे का सन् ६३४ ई० का अभिलेख उसके युद्धों और विजयों का विशद् वर्णन है। इसके अनुसार उसने लाट और मालव और गुर्जर लोगों को 'दण्ड' से अपने अधीन किया था। इसी लेख में उसके हर्षवर्धन के साथ युद्ध का भी उल्लेख है। "उसने हर्ष का, जिसके चरण-कमल कतिपय समृद्ध और अनन्त विभववाले सामन्तों के मुकुटों के मणि-मयूख से भासमान रहते थे, परन्तु जो युद्ध में गिरती हुई गज-पंक्तियों के कारण वीभत्स हो उठा था, हर्ष भय से विगलित कर दिया।" स्वभावतः ही इस विजय से पुलकेशिन की प्रतिष्ठा और शक्ति बहुत बढ़ गई। महाकोशल और कलिंग के राजा उसके आने पर भयातुर हो गये और उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली। सन् ६३४ ई० तक वह दक्षिण में सबसे शक्तिशाली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शासक हो चुका था जैसा कि उत्तर में हर्ष था। इस अभिलेख के अनुसार पुलकेशिन त्रि-महाराष्ट्र का स्वामी था जिनमें ९९ सहस्र गाँव थे।

पल्लवों से युद्ध

दक्षिण में पुलकेशिन के प्रतिद्वन्द्वी पल्लव लोग थे। उसने पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन को युद्ध में पराजित किया और पल्लव राजधानी काञ्चीपुर (काञ्जीवरम्) पर भी घेरा डाला। उसकी विकासोन्मुखी शक्ति से डरकर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों ने भी तुरन्त उससे सन्धि-सम्बन्ध स्थापित कर लिये।

फारस से सम्बन्ध

अरब लेखक तबारी के कथनानुसार [JRAS, No. XI, 1879, Pp. 165-66] पुलकेशिन ने फारस के साथ भी राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। उसने अपने समकालीन फारसी राजा खुसरू द्वितीय के पास उपहारों के साथ एक दूत-मंडल भेजा। खुसरू द्वितीय ने भारतीय राजदूत का स्वागत किया और स्वयं एक दूत पुलकेशिन के राज-दरबार में भेजा। कुछ विद्वानों का मत है कि यह घटना अजन्ता के एक चित्र में प्रदर्शित है।[१]

युवान-च्वांग की महाराष्ट्र-यात्रा

युवान-च्वांग सन् ६४०-४१ ई० में महाराष्ट्र (मो-ह-ल-च आया, जब कि पुलकेशिन् द्वितीय सिंहासन पर था। चीनी यात्री ने देश देश के शासन और आर्थिक अवस्था तथा यहाँ के लोगों की "जो कि स्वाभिमानी और युद्ध-प्रिय थे. जो कि अन्याय का बदला लिया करते थे और अनुग्रह के लिए कृतज्ञ रहते थे" बड़ी प्रशंसा की है। राजा के विषय में उसने लिखा है कि वह जाति का क्षत्रिय था और वीर लोगों का नायक होने के कारण पड़ोसियों के लिए भय का कारण था। परन्तु उसके शासन की उदार प्रवृत्ति के कारण, उसके विस्तृत राज्य के कतिपय सामन्त सभी स्वामिभक्त थे।[२]

---

१ परन्तु स्टेन कनो को इसमें सन्देह है [IA, Feb., 1908, P. 24]

२ बील, Buddhist Records of the western world, II, P. 225 ; Watters, II, P. 239.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युवान-च्वांग की महाराष्ट्र-यात्रा के एक साल के अन्दर, जब कि वह अपनी शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर था, उसे एक बड़े दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। पल्लव लोगों ने जो कि चालुक्यों के हाथ पराजित हो चुके थे फिर से अपने सुयोग्य राजा नरसिंहवर्मन् की अध्यक्षता में अपनी शक्ति बढ़ा ली। नरसिंह ने पुलकेशिन् के देश पर आक्रमण किया। पुलकेशिन् युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया और उसकी राजधानी बातापी को शत्रुओं ने खूब लूटा।

परन्तु चालुक्य सत्ता पूर्णरूपेण नष्ट न होकर केवल १३ वर्ष तक स्थगित अवस्था में रही। उसके पश्चात् पुलकेशिन् के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने सिंहासन को पुनः हस्तगत कर पल्लवों को पराजित किया। यहाँ तक कि स्वयं काञ्ची पर उसका अधिकार हो गया। उसने सन् ६५४ से ६८० तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी विनयादित्य [लगभग ६६०-६६६ ई० हुआ। एक अभिलेख [Ind. Ant. IX P. 129] के अनुसार विनयादित्य ने एक "सकलोत्तरापथनाथ" को पराजित कर सार्वभौम पद प्राप्त किया। उत्तर में उसका समकालीन राजा आदित्यसेन था जिसने परमभट्टारक महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसके वंशजों ने भी इस उपाधि को धारण किया। यदि उपर्युक्त अभिलेख के "सकलोत्तरापथनाथ" से आदित्यसेन का ही तात्पर्य है तो निःसन्देह उसे "सकलोत्तरापथनाथ" कहना अत्युक्ति है। विनयादित्य के पश्चात् उसके पुत्र विजयादित्य [लगभग ६६६-७३३ ई०] तथा विजयादित्य के पश्चात् उसके पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय [७५३-७४३] ने राज्य किया। विक्रमादित्य ने पल्लवों के साथ अपने वंशागत विद्वेष को जारी रखा और पल्लवराज नन्दिवर्मन को परास्त कर उसकी राजधानी काञ्ची पर अधिकार कर लिया। उसने चोल और पांड्य राजाओं से भी युद्ध किये। उसके राज्यकाल में अरबों ने, जिन्होंने सन् ७१२ ई० में सिंध पर अधिकार कर लिया था, दक्षिण पर भी आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने उनका सामना किया और उन्हें पराजित किया। उसका यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसके कारण दक्षिण अरबों के हाथ में जाने से बच गया। परन्तु चालुक्य-राजवंश का यह अन्तिम उल्लेखनीय कार्य था; क्योंकि विक्रमादित्य द्वितीय के प्रिय-तनय कीर्तिवर्मन् द्वितीय के राज्यकाल में सन् ७४१ ई० में राष्ट्रकूटों ने चालुक्य-सत्ता का उन्मूलन कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बादामि के चालुक्य-शासक कट्टर हिन्दू थे परन्तु जैनों और बौद्धों के प्रति भी वे सहिष्णु थे। उनके समय में कई लोग पूर्ण-स्वतन्त्रता से जैन सिद्धान्तों को मानते थे। ऐहोडे का प्रशस्तिकार रविकीर्ति जैन था और स्वयं पुलकेशिन् द्वितीय की संरक्षता में था। विजयादित्य ने एक जैन-मन्दिर के निर्वाह के लिए पंडित उदयदेव को एक ग्राम दान किया था [Ind. Ant. VII, P. 112] विक्रमादित्य द्वितीय ने एक जैन-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया और जयपंडित नामक एक दूसरे जैन विद्वान् को कुछ भूमि दान की। बौद्ध-धर्म गिरती हालत में था, परन्तु युवान-च्वाँग के यात्रा-काल में चालुक्य राज्य में कई मठ और स्तूप विद्यमान थे जिससे चालुक्यों की धार्मिक सहिष्णुता का पता चलता है। चीनी यात्री के कथनानुसार इस देश में १०० से अधिक बौद्ध मठ और ५,००० बौद्ध भिक्षु थे। राजधानी में तथा उसके आसपास "पाँच अशोक स्तूप थे और पत्थर और ईंट के भी दूसरे असंख्य स्तूप थे।"

धार्मिक सहिष्णुता

जैन और हिन्दू-धर्म बौद्ध-धर्म को क्रमशः दबाते चले जा रहे थे। याज्ञिक क्रियाओं और लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा था और इस विषय पर कई ग्रंथ भी इस काल में लिखे गये। अकेले पुलकेशिन् प्रथम ने कई बड़े यज्ञ किये यथा अश्वमेध, वाजपेय इत्यादि। हिन्दू धर्म के पौराणिक रूप की भी लोकप्रियता बढ़ती गई। सब जगह विष्णु, शिव तथा अन्य पौराणिक देवताओं के मन्दिर बने। यद्यपि ये मन्दिर आज भग्नावस्था में हैं परन्तु फिर भी वे चालुक्य कला के बड़े ही भव्य स्मारक हैं।

हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान

चालुक्य कला और स्थापत्य

जैनों और बौद्धों के अनुकरण में हिन्दू देवताओं के लिए भी गुहा-मन्दिरों का निर्माण चालुक्य कला की एक सफलता है। इस कोटि के सर्वप्रथम उदाहरणों में से एक बादामि का विष्णुमन्दिर है जिसे छठीं शताब्दी के अन्त के लगभग मंगलेश ने खुदवाया था। अजन्ता और एलौरी दोनों चालुक्य-राज्य में स्थित थे। अजना विहार नं० १ एक खण्डित चित्र में पुलकेशिन द्वितीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
के राज्यकाल की एक घटना—फारसी दूत-मंडल का स्वागत—चित्रित है। इन चित्र-भूषित प्रकोष्टों के अलावा अजन्ता में बहुत से चैत्य-गृह भी हैं जिनकी तिथि दूसरी शताब्दी ई० पू० से लेकर ७वीं शताब्दी ई० पू० तक है। संभवतः इनमें से कुछ अन्तिमवाले चालुक्य-काल में बने थे।

मेगुती का शैव और ऐहोडे का विष्णु-मन्दिर

बिना चूने [Mortar] के सुन्दरता से जुड़े हुए पत्थरों की बनी इमारतों की दृष्टि से भी चालुक्य-काल एक गौरवचित काल है। मेगुती का सुन्दर शिव-मन्दिर, जिसमें प्रस्तर-निर्माण-कला चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई दिखाई पड़ती है सन् ६३४ में बनाया गया था। इसी मन्दिर में रविकीर्ति-कृत पुलकेशिन् की प्रशस्ति है। ऐहोडे का विष्णु-मन्दिर उन मन्दिरों में से एक है जो अभी तक अच्छी हालत में हैं। इसमें विक्रमादित्य द्वितीय का एक लेख है [Ind. Ant. VIII, P. 286] यह एक चट्टान पर बौद्ध चैत्य-गृहों के अनुकरण से पत्थर का बना हुआ है। यह मन्दिर अपनी बहुत ही सुन्दर वास्तुकला के कारण अत्यन्त भव्य है। इसके दोनों ऊँचे उड़ते हुए "देवों" का चित्रण और कल्पना सराहनीय हैं। चैत्य-गृह एक स्तम्भ-युक्त मण्डप में है और उसके चारों तरफ एक प्रदक्षिणापथ है।

बादामि और ऐहोडे के समीप ही पत्तदकल में विरूपाक्ष का प्रसिद्ध मन्दिर है। इसमें चालुक्य राजा विक्रमादित्य का एक लेख है जिसने सन् ७३३ से ७४७ ई० तक शासन किया था। इसका नकशा निम्न है: अन्तराल अर्थात् पुजारियों के प्रकोष्ट के सामने एक स्तंभवाला मण्डप अर्थात् लोगों के जमा होने का स्थान है, जो कि लगभग ५० फुट की भुजावाला वर्ग है। इसकी छत एक ही पत्थर के (Monolithic) सोलह स्तम्भों पर टिकी है जिनके कोष्ट-शीर्षक (Bracket Capital) तक्षित (Swlptural) हैं। वेष्टक-भित्तियों (Enclosing walls) में चार-चार खिड़कियाँ हैं। हैवेल के कथनानुसार इस मन्दिर में "यूरोपी की क्लेसिक शैली (Classic design) की शालीनता और गोथिक-कला (Gothic art) की उष्ण (Fervid) कल्पना का सामञ्जस्य है।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रकूट

वह नई शक्ति जिसने दक्षिण में चालुक्य सत्ता का नाश किया, राष्ट्रकूटों की थी। प्रारम्भ में वे बादामि के चालुक्यों के अधीन थे। सन् ७५७ ई० के लगभग दन्तिदुर्ग नामक एक शक्तिशाली राष्ट्रकूट सामन्त ने चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन द्वितीय को परास्त किया और इस प्रकार दक्षिण में राष्ट्रकूट आधिपत्य की नींव डाली। उसके बाद उसका चाचा कृष्णराज प्रथम राजा हुआ जिसके राज्य-काल में ऐलौरा का सुप्रसिद्ध कैलाश-मन्दिर बना था। कृष्णराज का पुत्र गोविन्दराज द्वितीय भी एक शक्तिशाली शासक था और उसने दक्षिणी राजपूताना के गुर्जर राजा वत्सराज को पराजित किया। ध्रुवराज के पुत्र और उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय ने मैसूर के पश्चिमी गांग शासक की शक्ति का नाश किया और काञ्ची के राजा दन्तिवर्मन को भी हराया। उसकी शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई थी कि बंगाल के राजा धर्मपाल ने तथा चक्रायुध ने जिसकी धर्मपाल सहायता कर रहा था, भुइमाल के गुर्जर राजा नागभट्ट के विरुद्ध, जो कि कन्नौज के सिंहासन को प्राप्त करने में चक्रायुध के प्रतिद्वंद्वी इन्द्रायुध का पक्ष ले रहा था, उसने सहायता की प्रार्थना की। गोविन्द तृतीय ने गुर्जर राजा नागभट्ट तृतीय को परास्त कर उसे अपने रेगिस्तानी देश में वापस जाने को विवश किया और इस प्रकार अपने पिता की विजय को दुहराया, गोविन्द तृतीय के पश्चात् सन् ८१४ ई० प० में उसका पुत्र अमोघवर्ष राजा हुआ। अमोघवर्ष इस राजवंश का सबसे प्रतापशाली राजा है। उसने मान्यखेत नाम से एक नई राजधानी की स्थापना की जो आज भी निजाम के राज्य में माल्खेद नाम से वर्तमान है। उसने सन् ८१४ से ८७७ तक ६३ वर्ष राज्य किया। वह विद्वानों का संरक्षक था। उसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया और दिगम्बर-सम्प्रदाय की खूब सहायता की। उसके पुत्र कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल में राष्ट्रकूट शक्ति स्पष्टतः क्षीण होने लगी थी। उसे वेंगी के चालुक्यों तथा गुर्जरों ने जिन्होंने कुछ वर्ष पूर्व कन्नौज को जीतकर उसे अपनी राजधानी बना लिया था, पराजित किया। उसकी मृत्यु लगभग ६१४ ई० प० को हुई। उसका उत्तराधिकारी उसका पौत्र इन्द्र तृतीय हुआ जिसने इस वंश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की राजलक्ष्मी को पुनरुज्जीवित किया। उसने गुर्जर साम्राज्य के दक्षिणतम प्रान्त मालवा पर आक्रमण किया और उज्जैन को भी ध्वस्त किया। तत्पश्चात् उसने गुर्जरों की राजधानी कन्नौज पर आक्रमण कर उसे विध्वंस किया और गुर्जर राजा महिपाल प्रथम को गद्दी से उतार दिया। वह राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम प्रभावशाली राजा था। उसके दुर्बल उत्तराधिकारी सन् ९७३ ई० प० तक राज्य करते रहे जबकि अन्तिम राष्ट्रकूट राजा कक्क द्वितीय को तैलप ने अधिकार-च्युत कर दिया। तैलप उस राजवंश का संस्थापक था जो इतिहास में पिछले उत्तर-कालीन चालुक्यों के नाम से प्रसिद्ध है।

उत्तर-कालीन चालुक्य

उत्तर-कालीन चालुक्य राजवंश का संस्थापक तैलप अथवा तैल था। इस वंश की राजधानी कल्याणी नामक नगरी थी जो कि आजकल निजाम के राज्य में स्थित है। इसी कारण यह वंश कल्याणी के पश्चिमी चालुक्यों के नाम से भी प्रसिद्ध है। तैलप एक शक्तिशाली राजा था। उसने अपने पड़ोसी राजाओं—गुजरात के चालुक्य, मालवा के परमार चेदि के कलचूर और दक्षिण के चोड —के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किये। परमार राजा मुंज उसके साथ युद्ध में मारा गया। तैलप ने चवालीस वर्ष राज्य किया और उसके पश्चात् उसका पुत्र सत्याश्रय सिंहासन पर बैठा जिसके बाबत हमारा ज्ञान नगण्य है। उसके पौत्र जयसिंह द्वितीय ने जैन-धर्म का परित्याग कर शैव-धर्म को अपनाया। उसने परमार राजा भोज प्रथम से सफलतापूर्वक युद्ध किया; परन्तु गुसंगी की लड़ाई में वह महान् चालुक्य नरेश राजेन्द्र चोड प्रथम के हाथों पराजित हुआ। उसके पश्चात् सन् १०४१ ई० प० में उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम राजा हुआ। सोमेश्वर ने कल्याणी की स्थापना की और इसके बाद यह नगर इस राजवंश की राजधानी बन गया। सोमेश्वर के राज्यकाल में चोड नरेश राजा कुशारिवर्मन ने दक्षिण के प्लोटो पर चढ़ाई की और कोप्पय की लड़ाई में सोमेश्वर को पराजित किया। सोमेश्वर का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय हुआ; परन्तु उसको उसके अनुज विक्रमादित्य ने केवल चार वर्ष राज करने के पश्चात् सन् १०७६ ई० प० में पदच्युत कर दिया।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विक्रमादित्य इस वंश का सबसे प्रतापशाली शासक है। उसने अपने कुल की प्रतिष्ठा का पुनरुद्धार किया और वह कई हारे हुए प्रान्तों को भी वापस लौटा लाया। उसने मैसूर के होयसल राजा विष्णुवर्धन को युद्ध में पराजित किया और जब राजेन्द्र चोड द्वितीय ने दक्षिण पर चढ़ाई की तो उसे भी परास्त किया। उसने एक नये सम्वत् की स्थापना की जिसे चालुक्य विक्रम सम्वत् कहते हैं। प्रसिद्ध कवि बिल्हण और मिताक्षरा के रचयिता विज्ञानेश्वर उसी की सभा में रहते थे। वह इस राज्य वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसके पश्चात् उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के राज्यकाल में चालुक्य शक्ति क्षीण पड़ने लगी; सामन्त लोग एक-एक कर स्वतन्त्र होने लगे। इस वंश का अन्तिम शासक सोमेश्वर था जिसके राज्यकाल में देवगिरि के यादवों ने (सन् ११९० ई०) चालुक्य सत्ता का उन्मूलन कर दिया।

उत्तरकालीन चालुक्यों के मन्दिर

पूर्वकालीन और उत्तरकालीन चालुक्य मन्दिरों के मध्यवर्ती समय के कोई भी ऐसे उदाहरण नहीं प्राप्त हैं जो उनका सम्बन्ध निर्देश कर सकें। इसका कारण यह है कि सन ९७३ ई० तक अस्थायी रूप से राजसत्ता चालुक्यों के हाथ में न रहकर राष्ट्रकूटों के हाथ में रही। तैलप द्वारा पुनः प्रतिष्ठापन के पश्चात् जो मन्दिर इस राजवंश के काल में बने, वे पूर्वकालीन मन्दिरों से शैली और उपकरण में बहुत भिन्न हैं। मोटे रेशे के बलुवे पत्थर के स्थान पर बारीक रेशेवाले काले पत्थर का प्रयोग होने लगा जिसे Chloritic sebist कहते हैं। इसकी सतह मोटे रेशेवाले की अपेक्षा अधिक सुन्दरता से तैयार की जा सकती है और इसकी ही वजह से वह सुन्दर बारीक नक्काशी संभव हो सकी जो कि उत्तरकालीन चालुक्य-कला की विशेषता है। साथ ही साथ स्तम्भों के वृत्ताकार तनों की पॉलिश भी बहुत अच्छी है। धारवाड़ जिले के लक्कुण्डि नामक स्थान का काशीविश्वेश्वर का मन्दिर इस काल का एक अलंकृत मन्दिर है। इससे भी अधिक अलंकृत तक्षण छः मील की दूरी पर इत्तगि-नामक स्थान में महादेव के मन्दिर में पाया जाता है। यह मन्दिर काशीविश्वेश्वर से काफी बड़ा है। इसमें एक बड़ा, स्तम्भयुक्त सभामण्डप है जो

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

काशीविश्वेश्वर में नहीं पाया जाता। इसमें शकाब्द १०३४ [सन १११२ ई०] का एक अभिलेख भी है। इस चाल के और भी कई मन्दिर चालुक्य-राज्य के अन्दर कई स्थानों पर मिलते हैं। मुश्किल से कोई ऐसा गाँव होगा जिसमें कोई प्राचीन अवशेष न हो; क्योंकि उत्तरकालीन और पूर्वकालीन दोनों वंशों के चालुक्य-शासकों को मन्दिर बनवाने का शौक था। इनमें से महत्त्वपूर्ण अवशेष गदग, कुरुवत्ति, हवेरी, हंगल, बांकीपुर तथा दूसरे स्थानों में हैं। गदग में सरस्वती के छोटे-से मन्दिर में कुछ बहुत ही अलंकृत स्तम्भ हैं। इनकी सतह पर जो बारीक काम है उसकी तुलना और कहीं नहीं है। कुरुवत्ति के एक मन्दिर में मूर्ति-कोष्ट [figure-brackets] बहुत ही सुन्दर बने हैं। पश्चिमी भारत का कोई भी भाग लेखयुक्त फलकों तथा स्मारक-प्रस्तरों से उतना भरा नहीं है जितना कि कनारा के जिले अर्थात् चालुक्यों का देश।[१]

द्वारसमुद्र के होयसल

दक्षिण-पूर्व में चोडों और उत्तर-पश्चिम में पश्चिमी चालुक्यों के बीच जिस नई शक्ति का उदय हुआ और जिसने पश्चिमी चालुक्यों के पतन काल में उन्हें बहुत क्षति पहुँचाई, वह द्वारसमुद्र के होयसल थे। होयसल लोग अपने को चन्द्रवंशी कहते थे। इस वंश की प्रभुता का संस्थापक विष्णुवर्धन था जिसने युद्ध में चोडों तथा गोवा के कदम्ब शासक और चालुक्य नरेश विक्रमादित्य चतुर्थ को परास्त किया। अंत में उसने तलकड के युद्ध में गुरजरों के ऊपर भारी विजय प्राप्त की। दक्षिण के पठार से उतरकर उसने कोइम्बटूर पर अधिकार जमा लिया। सन् ११६१ ई० में उसने मलाबार देश के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया और दक्षिणी कनारा के तुलवों पर विजय प्राप्त की। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र जयसिंह प्रथम हुआ। उसने अपने पिता द्वारा प्राप्त भूखंड पर शांतिपूर्वक शासन किया। विष्णुवर्धन ने राजधानी को बेलपुर (आधुनिक बेलूर) से हटा कर द्वारसमुद्र (बेलूर से १० मील उत्तर-पूर्व में आधुनिक हलेबिद) को राजधानी बनाया। बारहवीं शताब्दी के

1. The Architectural Antiquitic of western India by Henry Consens [१९२६]

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्त के लगभग नरसिंह प्रथम का पुत्र वीर बल्लाल द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने देवगिरि के यादवों को परास्त कर होयसल राज्य का विस्तार बहुत बढ़ा दिया। उसकी मृत्यु सन १२११ ई० में हुई। उसके पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह द्वितीय गद्दी पर बैठा। नरसिंह द्वितीय के शासन-काल में कोई उल्लेख-नीय घटना नहीं हुई।

नरसिंह द्वितीय के पुत्र और उत्तराधिकारी सोमेश्वर ने लगभग चौबीस वर्ष राज्य किया। सोमेश्वर के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह तृतीय सन १२५४ से १२८६ तक सिंहासन पर रहा। इन दोनों राजाओं का मदूरा के पाण्डयों से बहुत काल तक संघर्ष चलता रहा। नरसिंह का पुत्र और उत्तराधिकारी वीर बल्लाल तृतीय (१३१०—१३३६) इस वंश का अंतिम शासक हुआ। उसके राज्य काल में मलिक काफूर ने द्वारसमुद्र पर अधिकार कर खूब लूट-पाट मचाई। अतः बल्लाल ने राजधानी को बेलूर हटा लिया और वहाँ वह अलाउद्दीन खिलजी के करद शासक के रूप में सन् १३३६ ई० तक शासन करता रहा।

होयसल कला

स्थापत्य, तक्षण तथा अलंकरण-कला इत्यादि को होयसल नरेशों से बड़ा प्रोत्साहन मिला। श्रवण-बेलगोल, बेलूर तथा हलेबिद् के सुन्दर मन्दिर, जो आज भी वर्तमान हैं, प्रशंसा के भाजन हैं। मैसूर राज्य से प्राप्त विजयनगर के कुछ सुन्दर वस्तु-कार्य (Sculpture) की प्रेरणा होयसल-शैली से ही मिली थी। मैसूर में अर्सिकेरे का सुन्दर ईश्वर-मन्दिर होयसल-शैली का उत्कृष्ट नमूना है। विशेषतया मण्डप की वर्तुलाकार प्रस्तर की छत, गर्भगृह का सुन्दर प्रवेश-द्वार, 'नवरंग' स्तंभ जिनके चारों मुखों पर विष्णु, भैरव और दुर्गा की मूर्तियाँ खुदी हैं, तथा सुन्दर कामवाली छतें दर्शनीय हैं। हलेबिद् का गाँव होयसलों की राजधानी द्वारसमुद्र के स्थान पर है। यहाँ होयसल-कला का पैन्थियन (Pantheon) है। हलेबिद् का सबसे बड़ा मन्दिर होयसलेश्वर वास्तु-कला का एक पूरा संग्रहालय है। इसके निर्माण में भूरे से साबुन के पत्थर (Gre-yish soap-stone) का प्रयोग किया गया है, जिस पर छेनी आसानी से चलती है। अतः इस पर बारीक और सुन्दर तक्षण का काम हो सकता है;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परन्तु खुला रहने से वह पत्थर सख्त पड़ जाता है। इस मन्दिर में दो गर्भगृह हैं जिनमें क्रमशः होयसलेश्वर और सन्तालेश्वर के लिङ्ग हैं। "यद्यपि होयसलेश्वर की वास्तु-कला आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर है, परन्तु वह दृष्टि को अटकानेवाली (Obstrusive) नहीं है। हर एक मूर्ति एक कला की वस्तु है, परन्तु वास्तु-कला का प्रयोग स्पष्टतः ही इमारत का निर्माण-शैली (Architectural design) को सजाने के लिए गौण-तत्व के रूप में किया गया है।

देवगिरि के यादव

यादव लोग प्रारम्भ में बेलगांव जिले में पश्चिमी चालुक्यों के सामन्तों के रूप में शासन करते थे। परन्तु चालुक्यों के पतन के पश्चात् वे पश्चिमी भारत में सबसे बड़ी शक्ति हो गये। ये लोग महाराष्ट्रीय थे और महाराष्ट्र प्रदेश के मध्य में रहते थे। इस वंश की स्वतन्त्र राजसत्ता का संस्थापक भिल्लम पञ्चम था जिसका काल बारहवीं शताब्दी के अन्त के लगभग माना जाता है। उसने देवगिरि की नींव डाली और वहीं सन् ११८७ ई० में अपना राज्याभिषेक किया। होयसलों के साथ संघर्ष में उसने कई युद्ध किये, जिनमें कुछ में विजयश्री उसके हाथ रही और कुछ में वह पराजित हुआ। इस वंश का सबसे शक्तिशाली शासक सिंहन हुआ जिसने होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय को परास्त करके कृष्णा नदी के दक्षिण में यादवों की सार्वभौमता स्थापित की। उत्तर में सिंहन ने तेलगू प्रदेश के अन्ध्र राजा वीर कोक्कल और मालवा के अर्जुनवर्मन को भी युद्ध में हराया। उसने गुजरात पर भी कई बार चढ़ाई की। उसका पुत्र रामचन्द्र नर्मदा तक बढ़ आया। सन् १२४६ में, जब सिंहन की मृत्यु हुई, उस समय उसके राज्य में समस्त पश्चिमी दक्खिन (Western Deccan) तथा बिलकुल दक्षिण के हिस्से को छोड़कर मध्य दक्खिन (Central Deccan) सम्मिलित थे। इस वंश का अन्तिम स्वतन्त्र शासक रामचन्द्र था जिस पर सन् ११६४ में अलाउद्दीन खिलजी ने कड़ा से अचानक आक्रमण कर दिया। रामचन्द्र ने देवगिरि के किले का दरवाजा बन्द कर दिया परन्तु अलाउद्दीन घेरा डालकर बैठ गया। रामचन्द्र का पुत्र शङ्कर इस समय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक दूसरी तरफ युद्ध कर रहा था। जब वह अपने पिता को मुक्त करने के लिए देवगिरि की तरफ बढ़ा तो अलाउद्दीन ने उसे परास्त कर दिया। इस पर रामचन्द्र ने अलाउद्दीन को आत्म-समर्पण कर दिया।

यादव शासकों, विशेषतः सिंहन द्वारा कला और साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। सिंहन के रहसिनियुक्त (Private secretary) सोदल ने संगीत-शास्त्र पर "संगीत-रत्नाकर" नामक एक अत्युत्तम ग्रंथ लिखा और स्वयं सिंहन ने इस ग्रंथ की एक टीका लिखी। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद भास्कराचार्य का पौत्र ज्योतिषी चंगदेव सिंहन की राजसभा में रहता था। सिंहन के पौत्र कृष्ण के राज्य-काल में सूक्ति-मुक्तावली तथा वेदान्त-कल्पतरु नामक दो महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथ लिखे गये। प्रसिद्ध विद्वान् हेमाद्रि रामचन्द्र का प्रधान मन्त्री था। उसने हिन्दू-कानून पर चतुर्वर्ग चिन्तामणि नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है। मन्दिर स्थापत्य में एक नई शैली का उत्पादक हेमाद्रि तथा मुग्धबोध नामक प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रंथ का लेखक बोपदेव यादव-काल में ही हुए। यादव नरेशों ने कई मन्दिर भी बनवाये।

कदम्ब

अन्ध्र-वंश के पतन को पश्चात् उसके विस्तृत राज्य में कई स्थानीय राजवंशों ने स्वतन्त्र होकर तब तक राज्य किया जब तक कि चालुक्यों ने उन्हें जीत नहीं लिया। कदम्ब-वंश भी ऐसा ही एक स्थानीय राजवंश था। उनका मूल स्थान पश्चिमी घाट के दक्षिणी भाग तथा समुद्र के बीच के प्रदेश में था, जिसे आज कनारा कहते हैं। प्रारंभ में वे काञ्ची के पल्लवों के सामन्त थे। तालगुंड (शिगोम ज़िला, मैसूर राज्य) के अभिलेख (Ep. Ind. VIII p. 31 ff.) में अलंकृत शैली में मयूरशर्मन के अपने पल्लव अधिराज के विरुद्ध विद्रोह का उल्लेख है। "कदम्ब-कुल में मयूरशर्मन नामक एक द्विजोत्तम हुआ, जो सद्विद्या, साधर्म इत्यादि से भूषित था। अपने गुरु वीरशर्मन के साथ वह पल्लव-नगरी काञ्ची गया और अध्ययन की आकांक्षा से उसने तर्कुक के रूप में घटिका में नाम लिखाया। तब एक समय एक पल्लव अश्वारोही से झगड़ा हो जाने पर वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने सोचा:

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शोक है कि कलियुग में ब्राह्मण लोग क्षत्रियों की अपेक्षा इतने निर्बल हैं। क्योंकि यदि किसी ने सम्यक् रूप से गुरुकुल की आराधना की हो, और यत्नपूर्वक अपनी वेद-शाखा का अध्ययन किया हो, और इतने पर भी ब्रह्म-सिद्धि यदि नृपों के अधीन हो तो इससे बड़े दुःख की बात क्या हो सकती है?" अतः जो हाथ कुश, समिद्ध, स्त्रुग्, आज्य इत्यादि के ग्रहण में दक्ष था, उससे उसने वसुन्धरा को जीतने की इच्छा से दीप्तिमान् अस्त्र धारण किया। सहसा ही पल्लरेव नरेन्द्रों के अन्तपालों को युद्ध में पराजित कर उसने श्रीपर्वत के द्वार तक प्रसरित दुर्गम अटवी पर अधिकार कर लिया। जब ससैन्य पल्लवराज उससे युद्ध करने आये तो जब वे विषम प्रदेश में प्रयाण कर रहे थे या रात के लिए डेरा डाले हुए थे तो आक्रमण के लिए उपयुक्त स्थान देखकर उसने [मयूरशर्मन ने] श्येन की तरह उनके सेना सागर पर आक्रमण किया। पल्लवेन्द्र ने उसकी शक्ति, प्रताप और कुल को देखकर सोचा इसको हानि पहुँचाना उचित नहीं है और इसलिए मित्र के रूप में उसे ग्रहण किया। तब पल्लवों के संश्रय में रहकर उसने उन्हें युद्धों में अपने विक्रम से प्रसन्न किया और स्वयं पल्लवों के हाथ से पट्ट-बंध का आदर प्राप्त किया। पश्चिमी समुद्र और प्रेहरा नदी के बीच की भूमि भी अनन्य-संचरण-समय (स्थित-रूप से इस शर्त पर कि कोई दूसरा इसमें प्रवेश नहीं करने पायेगा) उसे प्राप्त हुई।'

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कदम्ब, राजवंश का संस्थापक एक ब्राह्मण था जिसने अपने लोगों की स्वतन्त्रा के लिए क्षत्रिय पल्लवों से युद्ध किया जो कि उसके ब्रह्म-सिद्धि के आदर्श की कसौटी पर खरे नहीं उतरते थे। कदम्बों की राजधानी बनवासी भी प्राचीन नगरी थी। यह उस जंगल में स्थित थी जिससे धारवाड़ का जिला ढका हुआ था। बहुसंख्यक लेखों, मन्दिरों और दूसरे अवशेषों से ज्ञात होता है कि कदम्ब राज्य सुशासित और समृद्ध था। कदम्बों का स्वतंत्र राजसत्ता के रूप में उदय चौथी शताब्दी के मध्य में हुआ। काकुत्स्थवर्मन तक मयूरशर्मन के पश्चात् जितने राजा हुए, उनके नाम-मात्र ही ज्ञात हैं; परन्तु काकुत्स्थ ने युद्ध और विजयों से कदम्ब-शक्ति का काफी विस्तार किया। उसने पल्लवों और गंगों से सफलतापूर्वक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
युद्ध किये। पूर्व कालीन कदम्बों में वह अन्तिम महत्वपूर्ण शासक था। छठीं शताब्दी के मध्य में वातापि के चालुक्यों की उदीयमान शक्ति के कदम्ब लोग शिकार हो गये; परन्तु उनका वंश समूल नष्ट नहीं हुआ। दसवीं शताब्दी के अन्त के लगभग राष्ट्रकूटों के पतन के पश्चात् कदम्बों की शक्ति का पुनरोदय हुआ। इस समय उनके मुख्य केन्द्र हंगल [धारवाड़ जिला] और गोत्रा थे।

गङ्ग

एक दूसरा राजवंश जिसका कुछ शताब्दियों तक दक्खिन के इतिहास में महत्वपूर्ण भाग रहा, गंग राजवंश था। इसके राज्य में आधुनिक मैसूर का अधिकांश भाग सम्मिलित था। गंग वंश और उसकी शाखाओं ने चौथी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक समृद्धिपूर्वक राज्य किया। इस वंश के प्रथम और द्वितीय शासक, जिनके नाम ससनकोट के पत्र से प्राप्त होते हैं, कङ्कणवर्मन् और महादेववर्मन् थे। हरिवर्मन् ने मैसूर जिले में कावेरी के किनारे तलकाड में नई राजधानी बसाई। दुर्विनीत इस वंश का एक प्रसिद्ध राजा है। उसकी महत्ता युद्ध और विद्वत्ता—दोनों में प्रगट हुई। उसने पल्लवों से सफलतापूर्वक युद्ध किया और वह मूलतः पैशाची में लिखी गई बृहत्कथा के संस्कृत रूपकार के रूप में प्रसिद्ध है। कई दूसरे ग्रंथ भी उसके लिखे बताये जाते हैं। इस वंश का एक और महत्वपूर्ण शासक श्रीपुरुष [लगभग ७२६-७६ ई०] हुआ जिसने पल्लवों तथा उदीयमान राष्ट्रकूटों से सफलतापूर्वक युद्ध किया। नवीं शताब्दी के प्रारंभ में राष्ट्रकूटों ने गङ्ग-शक्ति को बहुत कम कर दिया और अन्त में दसवीं शताब्दी के अन्त के लगभग चोडों ने उनकी राजधानी तलकाड पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार गङ्ग-शक्ति का अन्त होगया।

गङ्ग राजा जैन धर्म के संरक्षक थे। श्रवण-वेलगोल की जैन सन्त गोमतेश्वर की भीमकाय मूर्ति गङ्ग शासक राजा मल्ल चतुर्थ के एक मन्त्री ने सन् ६८४ ई० में बनवायी थी।

———

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोलहवाँ अध्याय

पल्लव और दक्षिण के तामिल राज्य

दक्षिण भारत या द्रविड़ देश मोटे रूप से आधुनिक मद्रास प्रेसीडेन्सी को कहा जाता था और इसमें भारतीय प्रायद्वीप का वह भाग सम्मिलित था जो कृष्णा और तुंगभद्रा नदियां दक्षिण में पड़ता है। तामिल सबसे पुरानी और सबसे प्रमुख द्रविड़ भाषा है। दूसरी भाषाएँ तेलगू, कन्नड और मलयालम् हैं। मलयालम् तामिल से ही बाद को बनी। "द्रविड़ और तामिल एक ही शब्द के दो रूप हैं।" पहले द्राविड़ भारत तीन राज्यों में विभक्त था—सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, जिसमें आधुनिक मदुरा और तिन्नेवल्ली के जिले शामिल थे, चेर अथवा केरल, जो मलाबार के तट पर बसे थे और जिनके राज्य में आधुनिक त्रावणकोर और कोचीन के राज्य सम्मिलित थे तथा चोल जो कि पांड्यों के उत्तर में पेन्नार नदी तक तथा पूर्वी समुद्र तट पर रहा करते थे। इसी कारण यह प्रदेश चोल मण्डल अथवा कोरो-मण्डल कहलाता है। उत्तरी भारत के आर्य लोग दक्षिण में अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित न कर सके। उनका सांस्कृतिक प्रभाव भी द्राविड़ देश के केवल छोर को ही छू सका। ये तीनों तामिल राज्य अशोक के साम्राज्य के भी बाहर थे, यद्यपि उसने वहाँ अपना एक बौद्ध धर्मोप-देशक-दल भेजा था। फलस्वरूप द्रविड़ लोगों ने अपनी संस्कृति और भाषा का विकास उत्तर के आर्यों से लगभग अप्रभावित रहकर ही किया। यह बात द्रविड़ों के स्थापत्य, उनके साहित्य और उनकी विशिष्ट सभ्यता से स्पष्ट है। परन्तु दक्षिण के उपर्युक्त तामिल राज्यों के इतिहास से पहले पल्लवों के महत्वपूर्ण राजवंश के इतिहास का वर्णन आवश्यक है जिसकी शक्ति का उदय चौथी शताब्दी के प्रारंभ के लगभग द्रविड़ देश में हुआ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पल्लव

इस राजवंश की व्युत्पत्ति के विषय में जिसका दक्षिण भारत के इतिहास में प्राय: ६०० वर्षों तक प्रमुख भाग रहा, हमारा ज्ञान बहुत ही अपूर्ण है। उनका उदय पूर्वी तट पर पेन्नार और पेलर नदियों के बीच के देश में जिसमें कि चोड-देश के उत्तरी भाग का काफी हिस्सा सम्मिलित था, सन् ३२५ ई० के लगभग हुआ [देखिए मानचित्र नं० ३] पल्लव लोग बाहर से आये मालूम पड़ते हैं और उनका राज्य मूल तामिल राज्यों में सम्मिलित नहीं था। वैयाकरण कात्यायन [ई० पू० की चौथी शताब्दी] पाण्ड्यों और चोडों का उल्लेख करता है। मेगस्थनीज को भी पांड्यों का ज्ञान था। अशोक ने, चोड, पांड्य और केरल का उल्लेख किया है। परन्तु उपर्युक्त स्थानों में कहीं भी पल्लवों का उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वानों का मत था कि पल्लव लोग उत्तर पश्चिमी भारत के पह्लवों या पार्थियनों की ही एक शाखा हैं। फादर हेरस ने[१] हाल में ही इस मत को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा की है यद्यपि अधिकांश विद्वानों ने उसका यह कहकर परित्याग कर दिया है कि इसमें सिवा नामों के ऊपरी ध्वनि-साम्य के और कोई तर्क नहीं है। पल्लवों के दक्षिण भारत में जाने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। एक दूसरे मत के अनुसार पल्लव-वंश एक स्थानीय राजवंश था जिसने कि अन्ध्र-कुल के पतन के पश्चात् प्रभुता प्राप्त की। उनके प्रमुखों ने कुरुम्ब, मोरब, कल्ल तथा दूसरे सामन्तों को एकत्र करके उन्हें एक सुदृढ़ शक्ति के रूप में परिणत कर दिया[२]। तीसरा मत श्री एम० सी० रसनायगम् का है (Ind Ant. L II, pp. 72-82) जिसके अनुसार पल्लव-वंश (लंका के तट के निकट एक द्वीप) की उत्पत्ति एक राजकुमारी के विवाह के फलस्वरूप हुई। इनका एक पुत्र पैदा हुआ जिसे पिता ने टोंडमण्डलम् का शासक बना दिया। पुत्र ने जिस वंश की स्थापना की उसका नाम उसकी

व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद

---

१. Journal of the University of Bombay, Jan. 1936.
२. Rawlinson, India, p 194

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

माता के घर के नाम पर पड़ा। डा० कृष्णास्वामी अय्यंगर के कथन से भी पल्लवों के नाग-सम्बन्ध की कुछ पुष्टि होती है। वे कहते हैं (J I H, Vol. II, pt. I, pp. 20-66) कि पल्लवों का तोण्डियर नाम से संगम साहित्य में उल्लेख हुआ है तथा वे उन नाग सामन्तों के वंशज थे जो सातवाहन राजाओं के अधीन थे। परन्तु डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार (J. B. O. R. S., March-June, 1923, pp. 160-180 पल्लव-वंश उत्तर के वाकाटक राजवंश की ही एक शाखा थे और शस्त्रधारी पेशे के होने के कारण उन्होंने अपने लिए दक्षिण में एक राज्य बना लिया था। परन्तु हम देख चुके हैं कि तालगुण्ड के अभिलेख के अनुसार पल्लव लोग क्षत्रिय थे। युवान-च्वांग सन् ६४० ई० के लगभग काञ्ची आया। वह कहता है कि उनकी (पल्लवों की) भाषा और लिपि में उत्तरी भारत की भाषा और लिपि से बहुत कम फर्क है। यदि इस कथन को सत्य मान लिया जाय तो पल्लवों की उत्तरी व्युत्पत्ति का यह एक सबल प्रमाण है। इस सम्बन्ध में भी ध्यान रखना चाहिए कि तीन प्रारंभिक ताम्र-पत्रों के सिवा जो कि प्राकृत में हैं, इनके अभिलेख सब संस्कृत में हैं।

चाहे उनकी व्युत्पत्ति कुछ भी हो, हमें मालूम है कि सन् ३५० ई० के लगभग पल्लव लोग चोड देश में पूर्वी समुद्र तट पर अपनी सत्ता स्थापित कर चुके थे और काञ्ची की प्रसिद्ध नगरी पर उनका अधिकार हो चुका था। मदुरा की तरह काञ्ची भी दक्षिणी भारत में विद्या का एक प्रमुख केन्द्र थी।

सबसे प्रथम पल्लव शासक, जिसके विषय में हमें कुछ ऐतिहासिक ज्ञान है. काञ्ची का विष्णुगोप था, जिसे समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण की रणयात्रा में परास्त किया था। वेंगी का हस्तिवर्मन् भी जो विष्णुगोप का समकालीन था, सम्भवतः पल्लव वंश का ही था। एक दूसरे पल्लव राजा का नाम सिंहवर्मन् था जो सन् ४३६ ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा। वह बौद्ध था (ASR, Mysore 1908-9 p. 31.)। इस तिथि का

प्रारम्भिक पल्लव शासक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पता हमें एक जैन-ग्रंथ के कालोफन से चलता है जिसके अनुसार काञ्ची के राजा सिंहवर्मन् का बाईसवीं वर्ष शकाब्द ३८० में पड़ता है।

सिंहविष्णु से प्रारम्भ होनेवाले पल्लव राजाओं की वंशावली सुनिश्चित है। सिंहविष्णु सन् ५७५ ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा। उसने लंका के तथा तीनों तामिल राज्यों के शासकों को परास्त करने का श्रेय लिया है। उसका पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन् प्रथम [लगभग ६०६ से ६२५ ई० तक] कई बार पुलकेशिन् द्वितीय के हाथों परास्त हुआ। पुलकेशिन् ने पल्लवों से वेंगी के प्रदेश को छीनकर अपने भाई विष्णुवर्धन को उसका शासक नियुक्त किया। सम्भवतः वेंगी के हाथ से निकल जाने के पश्चात् पल्लवों ने दक्षिण की ओर बढ़ना शुरू किया जिसका फल त्रिचनापल्ली की विजय हुई।

महान् पल्लव शासक

महेन्द्र प्रारम्भ में जैन था परन्तु बाद को प्रसिद्ध तामिल संत तिरुज्ञन सम्बन्दर ने उसे शैव-धर्म में दीक्षित किया। वह इमारतें बनवाने का बड़ा शौकीन था और उसने त्रिचनापली, चिंगलेपुत तथा उत्तरी और दक्षिणी आरकट के जिलों में चट्टानों में कई मन्दिर खुदवाये। अभिलेखों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उसने ब्रह्मा, ईश्वर और विष्णु के मन्दिर भी बनवाये। महेन्द्रवाडी [उत्तरी आरकट] के नगर के निकट उसने वह प्रसिद्ध जलबन्ध भी बनवाया था जो उसके नाम से महेन्द्रसर कहलाता था। विष्णु का एक गुहा-मन्दिर जो कि सम्भवतः उसी ने बनवाया था, इस तालाब के किनारे अभी तक वर्तमान है [(Ep. Ind. IV, pp. 152—53)

महेन्द्रवर्मन् प्रथम का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम [लगभग ६२५ से ६४५ ई० तक] हुआ। उसने भी चालुक्यों के साथ अपना वंशगत संघर्ष जारी रक्खा। उसने अपने पिता की हार का बदला चालुक्यों को हराकर तथा उनकी राजधानी वातापि पर अधिकार करके लिया [६४२ ई०]। इस युद्ध में सम्भवतः पुलकेशिन् द्वितीय मारा गया। चालुक्य शक्ति तेरह वर्षों तक स्थगित रही—और इस बीच में पल्लव लोग दक्षिण में सार्वभौम रहे। उसकी वातापि-विजय की प्रामाणिकता वातापि के एक अभिलेख से सिद्ध होती है

चालुक्यों से संघर्ष

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जिसमें नरसिंह प्रथम ने महामल्ल की उपाधि धारण की है। (Ind. Ant. IX, p. 100)

उसके राज्यकाल में युवान-च्वांग काञ्ची आया और काफी समय तक वहाँ ठहरा, उसके अनुसार जिस देश की राजधानी काञ्ची थी, वह द्रविड़ देश था और उसकी परिधि एक हजार मील थी। वहाँ की भूमि उर्वर थी और पैदावार पर्याप्त थी। राजधानी पाँच या छः मील की परिधिवाली एक बड़ी नगरी थी जिसमें एक सौ बौद्ध विहार और दस हजार भिक्षु थे। जैन मन्दिरों की संख्या लगभग चालीस थी। काञ्ची हिन्दुओं की सात पवित्र नगरियों में मानी जाती हैं और प्रसिद्ध धर्म शास्त्रज्ञ धर्मपाल की, जो कि शीलभद्र से पहले नालन्दा के कुलपति थे, जन्मभूमि थी (Beal,. Budhist records of the Westrn World, II.,pp; 228—29) नरसिंहवर्मन् महामल्ल ने काञ्ची के नजदीक मद्रास से बत्तीस मील की दूरी पर समुद्र के किनारे एक अत्यन्त सुन्दर नगर बसाया जिसका नाम उसने अपने ही नाम पर महामल्लपुरम् [महाबलिपुरम्] रक्खा। यह नगर कई एक प्रस्तरीय मन्दिरों के कारण दर्शनीय है जिनमें से कि धर्मराज रथ तथा, सम्भवतः कई और भी नरसिंहवर्मन् ने बनवाये थे।

युवान-च्वांग की यात्रा

उसका पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन् द्वितीय हुआ जिसके समय का कोई उल्लेखनीय ऐतिहासिक तथ्य प्राप्य नहीं है। महेन्द्रवर्मन् का उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मन् हुआ। इसके समय में चालुक्यों के साथ का पुराना संघर्ष फिर से उभड़ आया। एक चालुक्य लेख के अनुसार (Ep. Ind. X, p.p. 100—6) विक्रमादित्य प्रथम चालुक्य ने ६५५ ई० के लगभग पल्लव नरेश परमेश्वरवर्मन् को हराकर और काञ्ची पर अधिकार करके अपने वंश की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की। परन्तु पल्लव लेखों में उसकी यह विजय स्वीकार नहीं की गई है। परमेश्वरवर्मन् शिव का उपासक था और उसने शिवजी के कई मन्दिर बनवाये।

सातवीं शताब्दी के अन्त के लगभग परमेश्वरवर्मन् का उत्तराधिकारी नरसिंहवर्मन द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने राजसिंह की उपाधि धारण की।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके समय में शांति और समृद्धि का राज्य रहा। उसने काञ्ची का प्रसिद्ध कैलाशनाथ मन्दिर बनवाया। वह विद्वानों का संरक्षक भी था।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय राजसिंह का उत्तराधिकारी परमेश्वर द्वितीय हुआ जिसके विषय में हम कुछ नहीं जानते। उसके पश्चात् आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग नन्दिवर्मन् सिंहासन पर बैठा। वह एक सगोत्र (Collateral) राजशाखा का था, और सिंहविष्णु के भाई भूमिवर्मन् का वंशज था। उसके समय में पल्लव चालुक्य संघर्ष फिर से उभड़ आया। विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य ने उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया परन्तु नन्दिवर्मन् ने राजधानी को पुनः प्राप्त कर लिया। उसने पांडवों और राष्ट्रकूटों से भी युद्ध किये। साठ वर्ष राज्य करने के पश्चात् उसकी मृत्यु हुई। वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था और उसने विष्णु के कई मन्दिर बनवाये। नन्दिवर्मन् के पश्चात् कई और राजा हुए जिनमें से अन्तिम अपराजितवर्मन् था [लगभग ८७६ से ६५ ई० तक] उसने अपने वंशगत शत्रु पांड्यों के विरुद्ध गंगशासक पृथिवीपति प्रथम से संधि की और पांड्य-राज वरगुण द्वितीय को श्रीपुरम्बीयम् नामक स्थान पर बुरी तरह परास्त किया, परन्तु दूसरे वंशगत शत्रु चोडों से उसका युद्ध चलता रहा। अन्ततः वह चोडों द्वारा पराजित हुआ और नवीं शताब्दी के अन्त के लगभग पल्लव वंश का भी अन्त हो गया।

अपने वंश के दूसरे प्रसिद्ध शासकों की तरह ही अपराजितवर्मन् को भी इमारतें बनवाने का चाव था और निर्माण कला में उसने एक नई पद्धति का समावेश किया।

पल्लव राज्य काल में साहित्य-सृजन पर्याप्त मात्रा में हुआ। पल्लव लोग साहित्य के, विशेषतया संस्कृत के संरक्षक थे। कुछ प्रारम्भिक अभिलेखों को छोड़कर उनके सभी लेख संस्कृत में हैं। काञ्ची दक्षिण में संस्कृत विद्या का केन्द्र था। पल्लव राज्य के विभिन्न भागों में रहनेवाले ब्राह्मणों को भी संस्कृत से प्रेम था। कालिदास तथा भैरवि की कविताओं तथा वराहमिहिर के ग्रंथों से लोग पूर्णतया परिचित थे। परमेश्वरवर्मन् प्रथम का कुर्रम ताम्र-पत्रवाला दान काञ्ची के नजदीक कुर्रम गाँव के एक मंडप में

साहित्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महाभारत का पाठ करने के लिए दिया गया था। कुर्रम में एक सौ आठ ऐसे कुटुम्ब थे जो वेदाध्ययन किया करते थे। त्रिरुवल्लुवर का तामिल कुड़ल एक लोकप्रिय ग्रंथ था।

पल्लवों की गुहाएँ, निर्मित मन्दिर (Structural temples) तथा दूसरे स्थापत्य के अवशेष हिंदू कला में एक नये अध्याय की सृष्टि करते हैं।

पल्लव-कला पल्लव-निर्माण कला में विभिन्न शैलियों का विकास बड़े क्रम से हुआ है। (१) इनमें से सबसे प्रथम शैली को महेन्द्र पद्धति (Mahendra style लगभग ६००-६२५ ई०) कहते हैं। महेन्द्रवर्मन् का मन्दगपट्ट (दक्षिण आर्काट) के गुहा मन्दिर का लेख तथा काञ्ची में एकाम्बरनाथस्वामी के मन्दिर का स्तंभ-लेख जिसमें महेन्द्र की विरुदावली दी गई है, इस बात के साक्षी हैं कि महेन्द्र ने गुहा-शैली का समावेश, संभवतः कृष्णा जिले से किया। यहाँ सित्तनवासाल, पुडुकोट्टइ राज्य, से हाल में प्राप्त कुछ जैन चित्रों का भी उल्लेख करना चाहिए जिन्हें महेन्द्रवर्मन् प्रथम के समय का बतलाया जाता है। (२) दूसरी शैली मामल्ल शैली है (लगभग ६२५-६३४ ई० तक) गुहा-मन्दिरों पर किये गये काम का अधिकांश भाग, "गंगावतरण" तथा मामल्लपुरम् के "पाँच रथ" शायद सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में बनाये गये थे। गुहा-मन्दिरों में त्रिमूर्ति, वराह, दुर्गा और पञ्च-पाण्डव विशेषतया उल्लेखनीय है। वराह तथा पञ्च-पाण्डव के बराण्डे में अष्टमुखी (Octogonal) पतले स्तंभ हैं जो बैठे हुए सिंह पर टिके हैं। महेन्द्र के पश्चात् यह सिंह स्तंभ पल्लव इमारतों की विशेषता के रूप में प्रगट होता है। वराह गुहा में एक सुप्रसिद्ध उत्कीर्ण चित्रावली है जिसमें वराह-अवतार, सूर्य, दुर्गा, गजलक्ष्मी इत्यादि हैं तथा दो राजमूर्तियों के युगल (groups) भी हैं जो सिंहविष्णु और महेन्द्रवर्मन् तथा उनकी रानियों के चित्र हैं।

मामल्लपुरम् के पञ्च-रथ सब एकप्रस्तरी (Monoliths) हैं और समुद्रतट के चट्टान-नुमा कड़े पत्थर को काटकर बनाये गये हैं। इन सबका निर्माण सातवीं शताब्दी के प्रारभ में हुआ था। यद्यपि रूप में ये भिन्न हैं तथापि इन सबकी शैली एक ही है। ये सब शैव मन्दिर मालूम होते हैं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और इनके नाम पाँचों पाँडवों के नामों पर पड़े हैं। सहदेव, धर्मराज और भीम नामक रथों के विशिष्ट प्रकार के पिरामिड की तरह छतें (Pyramidal roofs) हैं जिनमें तीन स्पष्ट मञ्जिलें तथा चैत्य-गवाक्षों की तरह ताखे (Niches) हैं। अर्जुनरथ द्रविड मन्दिर के सबसे साधारण रूप को दिखलाता है। द्रौपदी-रथ एक छोटा-सा वर्गाकार मन्दिर है जिसकी वर्गाकार छत आधुनिक ईंट के मन्दिरों की छत की तरह ही वक्ररेखाविशिष्ट (Curvelinear) है। (३) तीसरी पद्धति को राजसिंह-शैली कहते हैं। काञ्ची के निर्मित मन्दिर और महाबलीपुरम् का तट-मन्दिर (Shore temple) आठवीं शताब्दी के प्रारंभ के हैं। इन्हें राजसिंह ने बनवाया था। इनमें से सबसे प्रसिद्ध काञ्ची का कैलाशनाथ मन्दिर है। पिरामिड के रूप के शिखरवाला गर्भगृह तथा सपाट छतवाला मण्डपम् 'रथों' से मिलते-जुलते प्रकोष्ठों से घिरे हैं, परन्तु इसमें पल्लव शैली और सुस्पष्ट, विकसित और अलंकृत है। सिंहों पर टिके हुए बहुसंख्यक स्तंभ यहाँ उल्लेखनीय हैं। दूसरे राजसिंह शैली के मन्दिरों में जिनका काल ७००-७२० ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है, महाबलीपुरम् का तट मन्दिर हो सकता है। (४) चौथी तथा अन्तिम शैली अपराजि शैली कहलाती है (९०० ई०)। इस काल में पल्लव शैली का एक नया विकास इस बात में देखते हैं कि वह चोडशैली के निकट आने लगती है। लिंग बेलनाकार हैं और स्तंभ का मस्तकावरण और प्रमुखता प्राप्त करने लगता है। पाण्डुचे के निकट बहूर का एक मन्दिर इस शैली का नमूना है।

चोड साम्राज्य

तामिल प्रदेश कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक फैला है। इसके तीन प्रमुख राज्य चोड, चेर और पांड्य थे। इन प्राचीन राज्यों का उल्लेख मेगस्थनीज और अशोक ने भी किया है। परन्तु उनका प्रारम्भिक इतिहास अभी तक अन्धकार में है, जैसा कि हम देख चुके हैं। वे पहले अन्ध्रों और फिर पल्लवों की अधीनता में रह चुके थे। परन्तु नवीं शताब्दी के अन्त में चोड लोगों ने पल्लवों को बुरी तरह पराजित कर अपनी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजनैतिक महत्ता की नींव डाली और पल्लवों की दक्षिणी-भारत में साम्राज्य-स्थापना की आशा का ही अन्त हो गया। चोडों ने तञ्जोर पर आक्रमण कर उसे अपनी राजधानी बनाया।

चोडों का उल्लेख पाणिनि ने नहीं किया है परन्तु कात्यायन उनसे परिचित था। अशोक ने उनका एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उल्लेख किया है [१३वाँ शिलालेख]। पेरिप्लस [लगभग १०० ई०] तथा टौलमी की भूगोल [लगभग २०० ई०] से हमें चोडों के बन्दरगाहों तथा स्थल-पत्तनों के विषय में कुछ बातें ज्ञात होती हैं। इनके राज्य में मद्रास, कुछ अन्य जिले तथा मैसूर-राज्य का बृहत्तर भाग सम्मिलित थे।

दक्षिण में चोड प्रभुत्व की असली नींव डालनेवाला परान्तक प्रथम था जिसने सन् ९०७ से ९४६ तक राज्य किया। उसने मदुरा के पांड्य राजा राजसिंह को पराजित किया और लङ्का पर भी आक्रमण किया। परान्तक के पुत्र और उत्तराधिकारी राजादित्य को राष्ट्रकूटों के बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। तक्कोल की लड़ाई में वह राष्ट्रकूटों के हाथ पराजित हुआ और मारा गया। इस वंश का सबसे बड़ा शासक राजराज प्रथम [९८५-१०८२] हुआ जिसने अपनी कतिपय विजयों द्वारा चोड साम्राज्य की नींव डाली। राज्याभिषेक के बारह वर्ष के अन्दर वह वेंगी के पूर्वी चालुक्यों, मदुरा के पांड्यों, मैसूर के गंगों तथा मलाबार तट के सामन्तों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर चुका था। उसने उत्तर में कलिंग और दक्षिण में लंका को भी जीता। उसने एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण किया और उसकी सहायता से अपने विस्तृत साम्राज्य के तट से लगे जल-खण्ड पर एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित किया और पूर्वी द्वीप समूह के विरुद्ध भी सैनिक कार्य्यवाही प्रारम्भ की। उसने तंजौर में शिव का राजराजेश्वर नामक मन्दिर बनवाया जिसकी दीवारों पर उसकी विजयों के वर्णन उत्कीर्ण हैं। उसने न्यायोचित रूप से भूमि-कर निर्धारित करने के लिए एक पैमाइश भी की।

उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र राजेन्द्र चोड प्रथम हुआ [लगभग १०१२ से १०४२ ई० तक]। उसने अपने पिता के साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
और उसका विस्तार भी बढ़ाया। उसने चालुक्यों की शक्ति को भंग किया, मध्य भारत में गोंडवाना के राजा को परास्त किया, बर्मा तट के द्वीपों तथा मलाया प्रायद्वीप पर अधिकार किया और पूर्वी द्वीपसमूह की विजय को पूरा किया जिसको उसके पिता ने प्रारम्भ किया था। उसकी सेना उड़ीसा और बंगाल पर आक्रमण कर गंगा के दक्षिणी तट तक बढ़ गई। निःसन्देह वह भारतवर्ष के प्रमुख तट विजेताओं में है और गंगा प्रान्त की विजय के उपलक्ष में उसने जो गंगइकोंड की उपाधि धारण की वह उचित ही थी। उसकी नौसेना ने लक्षद्वीप (Laccadives), मालद्वीप (Maladives) तथा बंगाल की खाड़ी में निकोबार द्वीप को भी जीत लिया।

राजेन्द्र के पुत्र और उत्तराधिकारी राजाधिराज [१०४२-१०५२] को साम्राज्य में कई बार विद्रोहों का सामना करना पड़ा। परन्तु उसने चेर, पांड्य और लंका के शक्तिशाली विद्रोही शासकों को पराजित कर शान्ति कायम रक्खी, तत्पश्चात् उसने चालुक्य राज्य पर आक्रमण किया। कोप्पम के स्थान पर उसका चालुक्य नरेश सोमेश्वर से घोर युद्ध हुआ जिसमें राजाधिराज मारा गया, परन्तु उसके अनुज राजेन्द्रदेव ने [१०५२-१०६३] युद्ध भूमि में ही अपना राज्याभिषेक किया तथा शत्रु को परास्त कर सन् १०६३ तक साम्राज्य पर शासन किया। अगले राजा वीर राजेन्द्र वीर केशरी [१०६३-१०७०] ने भी कृष्णा तुंगभद्रा के दोआब के शीर्ष विन्दु के नजदीक कुदल संगमम् के स्थान पर चालुक्यों को पराजित किया। उसने कनारा प्रदेश को भी चोड साम्राज्य में मिलाया। उसकी मृत्यु सन् १०७० ई० में हुई। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अधिराजेन्द्र की अलोकप्रियता के कारण हत्या हुई और चोड साम्राज्य कुलोत्तुङ्ग नामक पूर्वी चालुक्य राजा के हाथ में चला गया जो कि राजेन्द्र चोड प्रथम का भानजा था। कुलोतुङ्ग ने विद्रोही पांड्य शासकों और मलावार के सामन्तों को पराजित किया। वह एक अच्छा शासक भी था और उसने अपने साम्राज्य में भूमिकर का पूर्णरूपेण पुनः प्रबन्ध किया। उसका शासनकाल सन् १०९० से सन् ११६८ ई० तक है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके निकम्मे उत्तराधिकारियों के राज्यकाल में चोड शक्ति क्षीण पड़ने लगी। उसके उत्तराधिकारियों में से किसी ने भी कोई उल्लेखनीय कार्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नहीं किया। मैसूर के होयसलों तथा दक्षिण के पांड्यों ने चोडों को अपने राज्य से बाहर खदेड़ दिया तथा कई सामन्तों ने भी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। चोंड वंश का अन्तिम शासक राजेन्द्र चोड तृतीय हुआ जिसने सन् १२६७ ई० तक स्वतन्त्र रूप से शासन किया। उसके पश्चात् किसी दूसरे चोड शासक का पता नहीं चलता।

चोड शासन-प्रणाली

चोड शासन प्रणाली अत्यन्त विकसित और सुचालित थी। सारा साम्राज्य छः प्रान्तों में विभक्त था जिन्हें 'मण्डलम्' कहते थे। हर प्रान्त या मंडल कई 'कोट्टम्' में बँटा होता था (आधुनिक ब्रिटिश प्रान्त की तरह)। कोट्टम् में कई जिले होते थे जिन्हें नाडु कहते थे और नाडु में बहुत से ग्राम-संघ सम्मिलित होते थे जिन्हें कुर्रम या तर्कुरम् कहते थे और जो शासन की इकाई थे।

राजा

राजा शासन का प्रधान होता था। वह शासन की बारीक बातों पर भी ध्यान दिया करता था। उसकी आज्ञाओं को उसके सेक्रेटरी लोग लिखकर प्रान्तीय शासकों के पास भेज दिया करते थे।

प्रान्तीय शासक

प्रत्येक मंडल का एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था; क्योंकि मंडल पुराने राज्यों के ही बने थे। इसलिए उसका शासक या तो उस पुराने राज्यों के राजवंश का ही कोई व्यक्ति होता था जिसे अधिकारच्युत कर दिया गया था या तो राजा का ही कोई सगा सम्बन्धी होता था। वह राजा से आज्ञा ग्रहण करता था और उसे अपनी कार्यवाही से परिचित करवाता था। शासन के सुचारु संचालन के लिए उसके नीचे कई सरकारी कर्मचारी होते थे। सब कागज-पत्र ठीक तरह से रखे जाते थे।

सरकार की आमदनी का सबसे बड़ा जरिया भूमि कर था जो कि साधारणतः पैदावार का $\frac{1}{6}$ होता था। इसके अलावा और भी कुछ छोटे-छोटे कर थे जैसे व्यापार या धन्धों के कर, नमक का कर, पानी का कर, जुर्माने और चुंगी इत्यादि। ग्राम-संघों में उनके कर्मचारी कर-संग्रह करते थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हर कुर्रम या ग्राम संघ का अपना स्थानीय कोष होता था, जहाँ आय का बचत भाग जमा रखा जाता था। कर रुपये या अन्न के रूप में दिया जाता था। आवश्यकता होने पर कर माफ भी कर दिया जाता था या उसमें कमी कर दी जाती थी। इस समय की मुद्रा सोने की थी जिसे 'कासु' कहते थे और जिसकी तौल ⅙ औंस हुआ करती थी।

भूमि कर आमदनी का मुख्य जरिया था अतः उसका निर्धारण बड़ी सावधानी से किया जाता था। समय-समय पर भूमि की अच्छी तरह से पैमाइश की जाती थी। ऐसी दो पैमाइशों का हमें ज्ञान है। इनमें से एक राजराज के समय में हुई थी और दूसरी कुलोत्तुङ्ग के समय में सन् १०८६ ई० में।

पैमाइशें

चोड शासक सार्वजनिक हित के कार्यों पर बहुत धन व्यय करते थे। सड़क, पुल और घाट ठीक हालत में रखे जाते थे। सिंचाई का भी बहुत अच्छा प्रबन्ध था। नदियों के पानी को दूसरी ओर पलटने के लिए उन पर बाँध बाँधे जाते थे। सिंचाई के लिए कृत्रिम जलाशयों, तालाबों और कुँओं का भी उपयोग किया जाता था।

सार्वजनिक कार्य

चोड राजाओं को एक बड़े साम्राज्य और उसके विस्तृत समुद्र-तट की रक्षा करनी पड़ती थी। अतः वे एक बड़ी स्थल-सेना और एक नौसेना भी रखते थे। सेना का विभाजन निम्न प्रकार था—(१) अनुर्धारी (२) जंगलों में काम करनेवाले सैनिक (३) छँटे हुए घुड़सवार (४) हस्ति-दल।

स्थल और नौ-सेना

स्वायत्त शासन

गाँवों में स्वायत्त शासन का विकास चोड शासन-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता है। कुर्रम् स्वयं अपना प्रबन्ध करनेवाली इकाइयाँ थीं। शासन का समस्त अधिकार संघ की महासभा के हाथ में था जिसका चुनाव लोग करते थे। महासभा शासन-संचालन के लिए आठ छोटी सभाओं में विभक्त थी: (१) उद्यानों की देख-रेख करनेवाली उपसभा, (२) सिंचाई के

महासभा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जलाशयों की देख रेख करनेवाली उपसभा, (३) खेतों की देख-रेख करनेवाली उपसभा, (४) गाँवों के कामों को देखनेवाली उपसभा, (५) हिसाब रखनेवाली उपसभा, (६) अध्ययन की देख-रेख करनेवाली उपसभा, ७) भूमि का प्रबन्ध करनेवाली उपसभा और (८) सड़कों की देख-रेख करनेवाली उपसभा। महासभा इन उपसभाओं के द्वारा शासन पर पूरा नियंत्रण रखती थी। समस्त कर संग्रह महासभा के नाम से होता था। महासभा जहाँ आवश्यक समझा जाता था, खर्च करती थी और बचत को ग्राम संघ के कोष में जमा करती थी। सब बेनाप जमीन महासभा की ही मानी जाती थी। सरकारी अफसर या राज-वंश के व्यक्ति भी यदि मन्दिरों को भूमि दान करना चाहते थे, तो उन्हें भी महासभा की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी खेती करवाने, छोटी बड़ी चकबन्दी, सिंचाई तथा सड़कों के प्रबन्ध और अनाज को खेतों से खलिहानों तक तथा खलिहानों से बाजारों तक पहुँचाने का प्रबन्ध भी वही करती थी। यह सभी काम उपर्युक्त उपसभाओं के द्वारा होता था और इनके लिए शासन-केन्द्र से अनुमति प्राप्त नहीं करनी पड़ती थी। महासभा अमन रखने के लिए और फौजदारी के मुकदमों का निर्णय करने के लिए भी उत्तरदायी थी; परन्तु मृत्यु की सजा में उच्चतर अधिकारियों से अपील की जा सकती थी। राजा ही अपील की सबसे बड़ी अदालत था। राज्य के अधिकारी शासन की देख-रेख तथा हिसाब की जाँच करते थे। ग्रामों का स्वायत्त-शासन-पूर्ण होने के कारण केन्द्रीय सरकार एक बड़े उत्तर-दायित्व के बोझ से मुक्त रहती थी और उसे जनता की सहायता प्राप्त रहती थी। शासन की यह ग्राम-इकाइयाँ कुर्रम् कहलाती थीं और इनमें ग्रामों की एक नियत संख्या सम्मिलित रहती थी। कई बड़े नगर भी अपना प्रबन्ध स्वयं करते थे। लेखों में ऐसे नगरों को तुर-कुर्रम् कहते थे। एक ऐसा तुर-कुर्रम् उत्तर मेरूर था जहाँ से प्रायः दो सौ लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे ग्राम-शासन पर प्रकाश पड़ता है। हरएक कुर्रम् या तुर-कुर्रम् कई भागों (wards) में विभक्त था। उदाहरणतः उत्तरमेरूर तीस भागों में विभक्त था।[१]

---

१. S. I. I. Vol. II.

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सामुद्रिक व्यापार और नौसेना के काम

प्राचीन तामिल साहित्य[१] तथा ग्रीक और रोमन लेखकों से ज्ञात होता है कि ईसा सम्वत् की प्रथम दो शताब्दियों में कारोमण्डल और चोड समुद्रतट के पूर्व और पश्चिम दोनों के साथ अच्छे व्यापार-सम्बन्ध थे। चोड जहाजी बेड़े समुद्र को पार करके बर्मा, हिन्द महासागर के द्वीपों तथा पूर्वी द्वीपसमूह से व्यापार किया करते थे। काबेरी पदम् का प्रसिद्ध बन्दरगाह व्यापार का प्रमुख केन्द्र था।

चोड सम्राटों ने एक बहुत शक्तिशाली नौसेना तय्यार की थी। हम देख चुके हैं कि इस नौसेना की सहायता से राजराज प्रथम और राजेन्द्र चोड प्रथम ने समुद्र पार के देशों में भी काफी विजय प्राप्त की थी। राजराज ने कन्दलूर के स्थान पर चेरों के जहाजी बेड़े को नष्ट कर उन्हें अपने अधीन किया। उसने इस द्वीप पर भी आक्रमण किया और उत्तरी भाग को जीत कर मुम्मडिचोड मण्डलम् के नाम से उसे चोड साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया। माल द्वीप और लक्षद्वीप की विजय से भी सिद्ध है कि चोड नौसेना अत्यन्त बलवती थी। राजेन्द्र प्रथम ने १०१७ ई० के लगभग समस्त लंका द्वीप पर अधिकार कर लिया और अपने पिता द्वारा जीते हुए देशों में अपनी प्रभुता बनाये रक्खी।

स्थापत्य और कला

शासन-कार्य की तरह ही निर्माण-कार्य्य में भी चोड राजाओं को बड़ी महत्ता प्राप्त है। उनका सभी निर्माण-कार्य्य बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है। इस दिशा में सबसे अधिक प्रशंसनीय काम उनकी विशाल सिंचाई की योजनाएँ हैं। राजेन्द्र चोड प्रथम ने अपनी नई राजधानी गंगईकोण्ड चोडपुरम् के नजदीक कृत्रिम झील पर जो बाँध बनाया था, वह सोलह मील लम्बा था और उसमें पत्थर की निकास नालियाँ और निष्कासन-द्वार थे। काबेरी तथा अन्य नदियों

१. 'Cf. Tamils Eighteen Hundred years ago [1904] by V. Kanakasabhai'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर भी बहुत बड़े पत्थरों के बाँध बनाये गये। चोड नगरों की योजना और निर्माण भी बड़े कायदे के होते थे। नगर का केन्द्र मन्दिर होता था। चोड राजा शैव थे। सन् १०११ के लगभग राजराज ने तंजौर में शिव का एक भव्य मन्दिर बनवाया। उसके पुत्र राजेन्द्र प्रथम ने गंगईकोण्ड चोडपुरम् नामक एक नई राजधानी बसाई और वहाँ एक मन्दिर बनवाया। तंजौर के बड़े मन्दिर में तेरह मंजिलों वाला पिरामिड-नुमा शिखर एक सौ नब्बे फीट ऊँचा है। उसके चारों तरफ एक पचीस फीट ऊँचा पत्थर है जिसका वजन लगभग अस्सी टन है। इसका इस स्थान पर रखना इंजीनियरिंग का चमत्कार है। यह मन्दिर दो बड़े आँगनों के अन्दर है जिनमें से बड़ा पाँच सौ फीट लम्बा और ढाई सौ फीट चौड़ा है। इसी नगर में सुब्रह्मण्य मन्दिर है जो यद्यपि इतना बड़ा नहीं है परन्तु इससे अधिक सुन्दर है। उसका शिखर बहुत अलंकृत है और उसकी बहिर रेखा उतनी तीव्र नहीं है। गंगईकोण्ड चोडपुरम् में राजेन्द्र प्रथम ने जो मन्दिर बनवाया वह चोड स्थापत्य का एक दर्शनीय नमूना है। उसकी ऊँचाई, ठोस वज्र-प्रस्तर का लिंगम् तथा पत्थर में सुन्दर तक्षण सहज ही दृष्टि को आकर्षित करनेवाले हैं।

पांड्य राज्य

पांड्य लोग भी द्रविड जाति के थे और उस प्रदेश में रहते थे जिसमें आजकल मदुरा और तिलेवली के जिले तथा त्रावणकोर का कुछ भाग सम्मिलित है। तामिल राज्य में पांड्य सबसे प्राचीन है। उसका उल्लेख मेगस्थनीज तथा अशोक के लेखों [कलिंग-लेख] में मिलता है; परन्तु उसका प्रारम्भिक इतिहास अभी ज्ञात नहीं है। प्रारम्भिक पांड्य राजाओं ने ताँबे के सिक्के चलाये थे जिन पर मछली का चित्र अङ्कित रहता था। स्ट्रैबो ने अपने ग्रंथ History of the Romans में लिखा है कि राजा पण्डियन (Pandion) ने सन् २० ई० पू० में एक दूत-मण्डल सीज़र के पास भेजा था। परन्तु पहला पांड्य राजा जिसके काल के विषय में निश्चयात्मकता के साथ कुछ कहा जा सकता है, नेदुम-चेलियन् है जो कि दूसरी शताब्दी ई० प० के लगभग हुआ। युवान-च्वाँग के समय में पांड्य लोग काञ्ची के पल्लवों के अधीन थे और उनके प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रायः लोप हो चुका था। नवीं शताब्दी के अन्त

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में लगभग उन्होंने चोडों के सहयोग से पल्लवों को परास्त कर स्वतन्त्रता प्राप्त की, परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में उन्हें चोडों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। तेरहवीं शताब्दी में चोडों के पतन के पश्चात् पांड्य लोग फिर स्वतन्त्र हो गये और कुछ समय तक दक्षिण में प्रमुखतम शक्ति के रूप में विद्यमान रहे। स्वतन्त्र पाड्य शासकों में सबसे प्रसिद्ध सुन्दर पांड्य प्रथम है जो सन् १२१६ ई० प० में सिंहासन पर बैठा और जिसने चोड राजधानियों तञ्जौर और उदयपुर पर अधिकार कर लिया। उसके अभिलेख चोड-प्रदेश अर्थात् तञ्जौर और त्रिचनापल्ली में पाये जाते हैं। सुन्दर पांड्य की मृत्यु सन् १२३८ ई० प० में हुई और उसके पश्चात् उसका पुत्र सुन्दर पांड्य द्वितीय राजा हुआ। उसे होयसलों की बढ़ती हुई शक्ति का सामना करना पड़ा जिन्होंने पश्चिमी घाट की तलहटी में बढ़कर उस पर अधिकार कर लिया। पांड्यों के हाथ में केवल पश्चिमी समुद्र-तट रह गया। अन्ततोगत्वा पांड्य राजा द्वारसमुद्र के होयसलों के सामन्त मात्र रह गये और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब होयसल लोग मुसलमानों द्वारा परास्त हुए, पांड्य-प्रदेश में भी मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया। छोटे छोटे पांड्य राजा पहले मुसलमानों के सामन्त तथा बाद को सोलहवीं शताब्दी में विजयनगर राज्य के सामन्तों के रूप में मदुरा में शासन करते रहे।

महावंश तथा काञ्ची के निकट अरुपखम् के एक लेख में (Madras, G.O, Publications Nos. 922, 923, dated 1919, pp. 4-14) एक बड़े युद्ध का उल्लेख है जो पांड्यों और लङ्का की सेना के बीच हुआ था जिसने पांड्य-प्रदेश पर आक्रमण कर दिया था। यह सिंहाली आक्रमण वीर और सुन्दर नामक दो दावेदारों में सिंहासन के लिए झगड़ा हो जाने के कारण हुआ था।

चेर राज्य

चेर का प्राचीन नाम केरल है। यह भी एक तामिल राज्य था और इसमें आधुनिक त्रावणकोर, कोचीन और मलाबार का कुछ भाग सम्मिलित था। इसका भी अशोक के लेखों में उल्लेख मिलता है। ईसा संवत् के प्रारम्भ में चेरों का राजा पेरुनार था जो चोड राजा के साथ युद्ध में मारा गया। उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
बाद उसका पुत्र इलान-जैत्-सेमि राजा हुआ। चेर राजा अदाम् द्वितीय का विवाह चोड राजा करिकाल की पुत्री से हुआ था। उसका पुत्र सेनगुत्तवम् बड़ा शक्तिशाली था। उसने चोडों को दो बार परास्त किया और चेरों को दक्षिण की सबसे बड़ी शक्ति बना दिया। उसका उत्तराधिकारी सेय् पांड्य राजा द्वारा पराजित हुआ और चौथी शताब्दी में पल्लवों के उत्कर्ष तक पांड्य लोग ही दक्षिण में प्रमुख रहे। दसवीं शताब्दी में राजराज के समय पांड्य लोग चोडों के अधीन हो गये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्रहवाँ अध्याय

दक्षिण भारतीय संस्कृति पर एक विहंगम दृष्टि

१

दक्षिण भारत के इतिहास पर एक सरसरी नजर डालने से कुछ ऐसी रोचक बातें ज्ञात होती हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। उत्तर के तीनों प्रमुख धर्मों—हिन्दू, जैन और बौद्ध—का दक्षिण भारत में प्रचार हुआ। जैन-धर्म का प्रचार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हुआ और बौद्ध धर्म को अशोक ने फैलाया। परन्तु सातवीं शताब्दी तक हिंदू-धर्म इन दोनों धर्मों को दबाकर सबसे शक्तिशाली हो चुका था। भक्ति-मार्ग हिन्दुस्तान के धार्मिक जीवन को दक्षिण भारत की देन है। पल्लव और चोड शासकों ने समस्त प्रायद्वीप में शिव और विष्णु के मन्दिर बनवाये। वैष्णव भक्ति-मार्ग के प्रतिपादक नाथमुनि और रामानुज तथा शैव लिंगायत शाखा के संस्थापक वास्तव में समस्त भारत में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

उत्तर-भारत में मनुस्मृति की तरह ही दक्षिण भारत में पाँचवीं या चौथी शताब्दी ई० पू० में आपस्तम्ब के नाम से एक स्मृति बनी। इसकी रचना आंध्र प्रदेश में हुई और उसमें आर्यों का प्रभाव स्पष्ट है। परन्तु दक्षिण भारत के अपने साहित्य-तामिल साहित्य में जिस पर कि आर्यों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, सबसे प्राचीन ग्रंथ जो हमें ज्ञात है 'कुरल' नामक नीति-ग्रंथ [Ethical classics] है। उसका रचयिता तिरु-वल्लुवार दूसरी शताब्दी ई० पू० के लगभग माइलपुर [Mylapore] में पैदा हुआ था। उसने साहित्यिक सौष्ठव का मापदण्ड स्थापित किया और गोदावरी के दक्षिण प्रदेश में उसकी रचना अत्यन्त लोकप्रिय हुई। तामिल के दोनों महाकाव्यों—सिलप्पदिकारम् और मणिमेखलम्—की रचना भी इसी काल के लगभग हुई। पल्लव और

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चोड़ शासकों की संरक्षकता में चित्रकला और वास्तुकला की बहुत उन्नति हुई। पूर्वकाल तथा मध्यकाल में बने हुए असंख्य मन्दिरों और इमारतों से केवल इस बात का ही पता नहीं चलता कि दक्षिण भारतीय शासकों को निर्माण-कला से प्रेम था, अपितु उनमें वह अभिनव-निर्माण शैली भी परिलक्षित होती है जिसने पल्लव-चोड स्कूल को जन्म दिया और जिसने दक्षिण भारत के सभी मन्दिरों की रचना को प्रभावित किया है। द्रविड़ मन्दिरों की मुख्य विशेषता गर्भ-गृह के ऊपर का भारी विमान अर्थात् शिखर है। बादवाले द्रविड़ मंन्दिरों में यह विमान गोपुरों अर्थात् द्वारों के सम्मुख छोटा पड़ जाता है। इन गोपुरों पर चूने और बारीक रेत का बना अत्यन्त सुन्दर अलङ्करण [stucco ornamentation] हैं और ये आसपास के समतल प्रदेश में मीलों तक दिखाई पड़ते हैं। साधारणत: मन्दिरों के अपने बड़े-बड़े अहाते होते हैं और मध्य में एक जलाशय होता है जो धार्मिक स्नानों के लिए प्रयुक्त होता है। यह चारों ओर एक स्तंभावली जल तक पहुँचती हुई सीढ़ियों से घिरा रहता है।

यदि भारतीय कला, स्थापत्य, इतिहास या सामाजिक संस्थाओं में आर्यों के आने से पहले की कोई भारतीय चीज है तो वह दक्षिण में ही मिलती है। स्वर्गीय श्री सुन्दरम् पिल्लई ने ठीक ही कहा है—"उत्तरी भारत के संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर हिंदू सभ्यता के आधारभूत तत्त्वों का पता लगाने का प्रयत्न करना इस समस्या को सबसे कठिन और उलझे हुए बिंदु से सुलझाने की चेष्टा करना है। विन्ध्याचल में दक्षिण का प्रायद्वीप आज भी असली भारत है। यहाँ आज भी अधिकांश लोगों में आर्यों के आगमन से पहले की शारीरिक रूपरेखाएँ, भाषाएँ और सामाजिक संस्थाएँ प्रचलित हैं। यद्यपि यहाँ भी आर्यों का प्रभाव इतना व्याप्त हो चुका है कि मूल भारतीय तत्त्वों को आर्य-तत्त्वों से पृथक् करने का काम आसान नहीं है; परन्तु इस कार्य में सफलता की यदि गुञ्जाइश है तो दक्षिण भारत में ही है और जैसे-जैसे हम दक्षिण की तरफ बढ़ते जाते हैं, यह गुञ्जाइश और अधिक होती जाती है।"

तामिल राष्ट्र सामुद्रिक व्यापार करनेवाले थे, अतः इन राज्यों में सर्व-प्रथम उन्होने ही एक नौसेना तैयार की तथा सामुद्रिक व्यापार प्रारंभ किया। भारतीय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नाविक अरब, बैबिलोन, लंका और पूर्वी-द्वीप-समूह के द्वीपों से व्यापार करते थे। चोडों की शक्तिशालिनी नौसेना ने बर्मा-तट, मलाया प्रायद्वीप, मलावार के तट के द्वीप, नीकोबार द्वीप तथा पूर्वी द्वीपसमूह के द्वीपों को जीतकर बृहत्तर भारत की नींव डाली। दक्षिण के कुछ जिलों में हाल में ही रोमन सिक्कों के कई ढेर प्राप्त हुए हैं जिनसे स्पष्ट है कि ईसा की पहली दूसरी शताब्दियों में रोमन साम्राज्य और तामिल राष्ट्रों में अच्छे व्यापार-सम्बन्ध थे।

ग्रामीण स्वशासन के रूप में स्वायत्त-शासन का विकास दक्षिण भारतीय शासन की दूसरी विशेषता है। इसका कुछ विवरण हम चोड-शासनतंत्र के अध्याय में दे चुके हैं। यह विशेषता सभी तामिल राज्यों के शासनतंत्र में पाई जाती थी।

२

दक्षिण भारत उत्तर भारत से प्राचीनतर है

यह बात साधारणतया प्रमाणित मानी जाती है कि दक्षिण भारत में मनुष्य ने प्रस्तर-युग से सीधे लौह-युग में प्रवेश किया जबकि उत्तरी भारत में पाषाण-काल के पश्चात् ताम्र-काल और ताम्र-काल के पश्चात् लोह-काल आये। भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार भी दक्षिणी भारत उत्तर भारत से पुराना है, अतः दक्षिण भारत में मनुष्य और सभ्यता का अस्तित्व भी उत्तर भारत से पुराना होगा। जब उत्तर के आर्यों ने पहले पहल कृष्णा नदी के दक्षिण के प्रदेश में प्रवेश किया तो उन्हें वहाँ पहले से ही एक विकसित सभ्यता स्थापित मिली।

"द्रविड' एक भाषाबोधक शब्द है और इससे एक भाषा वर्ग का द्योतन होता है। परन्तु साधारण प्रयोग में यह एक जातीय-वर्ग (ethnic group) के लिए भी आता है। दक्षिण में दो वर्गों के मनुष्य थे—एक सभ्य और दूसरे उनसे कम सभ्य। दूसरे वर्ग के लोग अब भी भारत की कई पिछड़ी हुई जातियों में पाये जाते हैं। जब आखिरकार आर्यों ने दक्षिण में प्रवेश किया तो द्रविड संस्कृति के कई तत्त्व आर्य संस्कृति में मिल गये और इस प्रकार भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ। दक्षिण में प्रारम्भ से ही समाज दो भागों में बँटा था—बहुसंख्यक कृषि-श्रमिक और जमीन के मालिक। इस दूसरे वर्ग से ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजवंशों की उत्पत्ति हुई। कृषि-श्रमिकों के भी कई वर्ग थे, जैसे विभिन्न पेशों वाले नाग लोग, मछुवे, शिकारी इत्यादि। यही भारत में आजकल पाई जाने वाली वर्ण व्यवस्था का आदि रूप है जो कि आर्यों के वर्णाश्रम-धर्म से भिन्न है। किसान लोग मजबूत होते थे और सैनिक कार्य के उपयुक्त होते थे। युद्ध में वीरगति प्राप्त सैनिकों के स्मारक दक्षिण म साधारण चीज हैं।

तामिल लोग साहसी नाविक और दक्ष कृषक थे। प्रागैतिहासिक काल में भी वे शंख और मुक्ता निकालने का काम करते थे। रामायण में मदुरा को सोने और रत्नों से जटित कहा गया है। अर्थशास्त्र [लगभग ४००-३०० ई० पू०] में पांड्य कावटक नामक एक मुक्ता का उल्लेख है जो सुदूर दक्षिण में पाई जाती थी। खेती चतुरता से होती थी और सिंचाई का अच्छा प्रबन्ध था। गाँवों के साधारण धन्धे मिट्टी के बर्तन बनाना, कपड़े बुनना तथा धातु का काम करना थे। दक्षिणी भारत में कई ऐसी चीजें मिलती थीं जिनकी पश्चिमी जगत् को बहुत आवश्यकता पड़ती थी-जैसे गरम मसाले और रत्न इत्यादि। रॉलिन्सन के मतानुसार येमेन और लाल-सागर के प्रदेशों से यह व्यापार बहुत प्राचीन काल में प्रारभ हो चुका था। बाइबिल में लिखा है कि "टाइर का राजा हिरम् अपने तारिश के जहाजों [ships of Tarish] को Ezion Geber [स्वेज की खाड़ी की दक्षिणी भुजा के तट पर अकाबा] से हर तीसरे साल Ophir [संभवतः बम्बई के तट पर सोपारा] हाथी दाँत, मोर, लंगूर तथा अपने मित्र सौलोमन के मन्दिर के लिए बादाम के पेड़ और रत्न लाने के लिए भेजता था[1]।"

वाणिज्य और उद्योग

रॉलिन्सन ने लिखा है कि इन वस्तुओं के लिए जो हिब्रू शब्द प्रयुक्त होते हैं, वे स्पष्टतः ही भारत से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ हाथी दाँत के लिए हिब्रू शब्द shen habbin है जो कि संस्कृत इमदन्त से बना है। इसी प्रकार हिब्रू में लंगूर और मोर के लिए koph तथा Tuki im शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये क्रमशः संस्कृत कपि और तामिल तोकेई के रूप हैं [वही]।

1—Rawlinson, India, p. 178.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यापार की अन्य वस्तुएँ मिर्च. चावल, मूँग और कछुवा इत्यादि थीं जो दक्षिण भारत में पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होती थीं। Periplus Maris Erythraei [लगभग ८१ ई०-प०] से भी दक्षिण भारत और पश्चिमी जगत् के बीच के व्यापार पर प्रकाश पड़ता है। मदुरा से प्राप्त बहुसंख्यक रोमन सिक्कों से स्पष्ट है कि पांड्य देश और रोम के बीच अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। स्ट्रैबी [लगभग सन् २५ ई० पू०] बतलाता है कि सम्राट् अगस्टस के राज्याभिषेक के अवसर पर एक पांड्य राजा ने उसे बधाई देने के लिए एक शिष्ट-मण्डल भेजा था। यह शिष्ट-मण्डल Barygaza [भंडोंच] से जहाज में बैठा और फारस की खाड़ी से आगे स्थलमार्ग से होकर गया। अपने साथ यह कई प्रकार के हिन्दुस्तानी जानवर, चिड़ियाँ और साँप उपहार के रूप में ले गया था। Sarmanochegas [श्रमणाचार्य] नामक एक जैन या बौद्ध भिक्षु इस शिष्ट-मण्डल के साथ गया था। सिकन्दर महान् के समय में प्रसिद्ध साधु Kalanos की तरह ही उसने भी एथेन्स में अपने को अग्निसात् कर दिया[१]।

अशोक के समय से हमारा दक्षिण के राजनैतिक विभागों का ज्ञान निश्चित रूप धारण कर लेता है। १३ वें शिलालेख में अपने साम्राज्य का तीन हिस्सों में उल्लेख किया है—उत्तरी भारत, दक्षिण के अधीन राज्य तथा सुदूर दक्षिण के स्वतन्त्र राज्य। ये स्वतन्त्र राज्य चोड, पांड्य, केरलपुत्र [चेर ?] तथा सत्यपुत्र [अभी तक अनिश्चित] थे। वह यह भी कहता है कि ये राज्य उसके पड़ोसी थे। यहाँ 'धम्म' का प्रचार उसने यहाँ के शासकों की सहायता से किया होगा जिनका दर्जा उसने पश्चिम के पाँच यवन शासकों के बराबर रखा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण में बौद्ध-धर्म का प्रचार शान्तिमयरूप से हुआ। आर्य संस्कृति के उपासक ब्राह्मण, बौद्ध और जैनों ने यहाँ आकर छोटे-छोटे उपनिवेश बसाये। तामिल समाज पर उनका जो कुछ भी प्रभाव पड़ा वह शासनाधिकार की जबरदस्ती के कारण नहीं, वरन् तामिल द्वारा उनके आदर्श का अनुकरण करने के कारण है।

१—वही, पृ० १८०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भक्ति का अर्थ किसी एक इष्टदेव से लगन लगाना होता है, जिसकी अनुकम्पा से भक्त को मुक्ति मिलने की आशा होती है। इसी भावना ने प्राचीन ब्राह्मणों को आधुनिक हिन्दुओं और प्राचीन हीनयानी बौद्धों को महायानी बौद्धों में बदल दिया है। [हीनयान का आधारभूत सिद्धान्त केवल अपने ही लिए अपने पराक्रम से निर्वाण प्राप्त करना है ; परन्तु महायान का सिद्धान्त मनुष्यमात्र की सेवा, दूसरों के लिए मोक्ष प्राप्ति का यत्न तथा एक इष्टदेव में दृढ भक्ति है।] भक्ति-आन्दोलन, जिसका प्रारम्भ शिव तथा विष्णु की उपासना से हुआ, आर्यों के आगमन से पहले का एक दक्षिणी मार्ग है जिसका धीरे-धीरे उत्तर में भी प्रचार हो गया। दक्षिण में आर्य संस्कृति के पदार्पण के बहुत पहले ही उसका दक्षिण में प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु उसका चरमोत्कर्ष संगम-साहित्य के पल्लव युग में दिखाई पड़ता है। शैवों का भक्ति-साहित्य यथा 'तेवरम्' वैष्णवों का 'तिरुवाचकम्' तथा आडवारों का प्रबन्धसी साहित्य इसी काल के हैं। भक्ति-मार्ग के धार्मिक साहित्य में आगम [शास्त्रीय साहित्य] के उस विकास के दर्शन होते हैं जो मन्दिरों की उपासना का मूल है तथा जो स्वयं भक्ति-मार्ग से प्रादुर्भूत हुआ है। समस्त वैष्णव और शैव आगम-साहित्य जिसकी संख्या १२० से अधिक है, मन्दिर की उपासना की ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रचा गया। अलक्ष्य देवता की किसी ऐसे मूर्त रूप में कल्पना करनी पड़ी जिसमें वह आगम-साहित्य के नियमों के अनुसार पूजा जा सके। इस प्रकार इसमें आर्य और द्रविड दोनों तत्त्वों का समन्वय है।

शासकों में धार्मिक असहिष्णुता का अभाव

जिस समय शैव और वैष्णव-सम्प्रदायों तथा मन्दिरों में आगम-नियमों के अनुसार उपासना के रूप में भक्ति-मार्ग का विकास हो रहा था, ऐसी ही प्रवृत्तियाँ जैन और बौद्ध धर्मों में भी परिलक्षित हो रही थीं। इस काल में शास्त्रार्थ के बहुत प्रमाण मिलते हैं। परन्तु राज्य और राजा भिन्न माने जाते थे और राजा का व्यक्तिगत धर्म ही राज्य का धर्म नहीं बन जाता था। इस तरह धार्मिक असहिष्णुता का एक प्रमुख कारण दूर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गया था। हर सम्प्रदाय को अपने ही तरीके से धर्माचन की स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

यही उदारता सार्वजनिक जीवन में भी व्याप्त थी। राजा लोगों ने भी शासन में यही उदारनीति अपनाई थी जिसके कारण उन स्थानीय शासन संस्थाओं का विकास हुआ जिन्होंने अन्ततः सामाजिक और सार्वजनिक जीवन को नियमित करनेवाले स्वायत्त शासन-तंत्र को जन्म दिया। हम देख चुके हैं कि चोड-साम्राज्य के काल में, जिसमें दक्षिण भारतीय प्रायद्वीप का मैदानी भाग सम्मिलित था, सामाजिक और शासन-सम्बन्धी कार्यों के लिए स्वतंत्र स्थानीय संस्थाओं के अस्तित्व के काफी प्रमाण हैं।

उदारता

भक्ति-मार्ग, आगम-साहित्य तथा मन्दिरों में उपासना के कारण स्वभावतः ही दक्षिण भारत में स्थापत्य का विकास हुआ। कला और धर्म साथ साथ चलते हैं। दक्षिण भारत के विष्णु और शिव के भव्य और प्रशस्त मन्दिर इसके उदाहरण हैं। वे उन भक्तों की भक्ति के स्मारक हैं जिन्होंने उसके निर्माण में धन और श्रम का व्यय किया है। राजाओं को उनके निर्माण में जनता का पूरा सहयोग प्राप्त था। वस्तुतः दक्षिण भारतीय मन्दिर स्वयं ही एक संस्था से हैं। जिन स्थानों में वे स्थित हैं वहाँ के सार्वजनिक और धार्मिक जीवन के वे केन्द्र हैं। लोग वहाँ उपासना के लिए, राजनीति और सामाजिक समस्याओं पर बहस करने के लिए तथा सामाजिक आदान-प्रदान के लिए जमा होते हैं। मन्दिर के मण्डप में ही वे अपने सार्वजनिक सभाएँ, धार्मिक कीर्तन तथा कथा-नाटक इत्यादि करते हैं।

दक्षिण भारतीय मन्दिर : एक संस्था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रमणिका

(अ)

अभिधम्म पिटक १०, ६९, ७० टि०
अरस्तू १४
अतँजरज़ेस १५
अरिस्टॉबुलस १६
अन्तियोक प्रथम १७
अल्बरूनी १७
अर्ली हिस्ट्री आफ कौशाम्बी ४२ टि०, ९१ टि०, ९२ टि०, ११२ टि०, ११३ टि०, १६८ टि०, २८०
अनार्य ५०
अजातशत्रु ५५, ५८, ८७, ८८, ९५,-६,-७, २२९
अशोक ६३, २१५, २३३, २३७, ३१४
अवन्ति ९२, २६६
अंगराज ९३
अग्रसेन १००
अवेस्टनॉइ (अम्वष्ठ) १०५, १३१
अम्वट्ठ सुत्त १०७, १०८ टि०
अस्सलाइन सुत्त १०८ टि०
अन्तेवासिक १११
अखामनी ११६
अर्भेक ११९
अश्वक १२१
अस्सकेनाइ १२१
अष्टको (ग्रीक, अष्टकेनाइ) १२२
अर्जुनायन १२७, ३०१
अभिसार १२८
अद्रैस्टाय १२८
अगलस्सियन (स० 7 अग्रश्रेणी) १३०
अग्रश्रेणी १३०
अन्तियोक प्रथम १३४, १५२, १९५
अन्तियोक तृतीय २४५
अन्तियोक चतुर्थ २४८
अमित्रघात १४५
अशोक ६३, १५२, १७३, १९३, २१५, २३३, २३७, ३१४
अर्थशास्त्र १५१ टि०, १७०, १७१, १८२, १८८, १९२, १९३, ४२३, ४६१
"अन्तो" १५६
अग्निमित्र १९९, २०२
अयोध्या अभिलेख २०३
अन्तलिकित २०८, २५३
अजन्ता २१०, ४३०
अजन्ता गुहा ३५९
अश्वमेध २२५,
अयितिलू २२८
अराखोसिया २४६
अपोलोडोटस २४८
अय प्रथम २५२, २५८
अयलिष २५८
अस्पवर्मन २५८
अर्त्त बेनस २५६
अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया २५९, २६०, २७६ टि०, २९२ टि०, ३२४ टि०, ३९९, ४१३ टि०, ४२५ टि०
अन्धाऊ अभिलेख २६५
अश्वघोष २७५, २८२
अल्तेकर (डा० ए० एस०) २८७ टि०, ३०६, ३०८ टि०, ३४७ टि०, ३७३ टि०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अच्युत नाग २९५, २९८
अच्युत ३००
अहिच्छत्र २९५, ३०० ३१७
अवमुक्त २९६
अनन्तदेवी ३३०
अमरकोष ३४२
अमरसिंह ३४२
अफसड़ अभिलेख ३७४
अनन्त वर्मन ३७९
असीरगढ़ अभिलेख ३७९, ३८०
अवन्ति वर्मन ३८३
अमोघ वर्ष ४३२
अधिराजेन्द्र ४५०
अरुपखम ४५६
अदाम द्वितीय ४५७
अगस्टस ४६२

(आ)

ऑनेसिक्रिटस १६, १२३
आर्य ५०
आचारंगसुत्त ५४, ५७ टि०
आजीविक ५५
ऑक्सिड्रेकाइ (क्षुद्रक) १०५
आभू दरिया १३४
आर्यमञ्जु श्री मूल कल्प १४५
आर० ए० एस० आई० २९० टि०
आयंगर ३२२
आर्यभट्ट ३४०
आर्मकार्दब ३४०
आर्थर वेरीडेल कीथ ३४१ टि०
आयरलैण्ड २२९
आल्डर मैन २२९
आर्यावर्त्त का प्रथम युद्ध २९५, २९८
आदित्य सेन ३७४, ३८४
आदित्य वर्मन ३७९, ३८०
आ० स० इ० एनुअल रिपोर्ट ३८४ टि०
आदि वराह ४०६
आपस्तम्ब ४१८
आभीर ३०१

(इ)

इण्डाइ १४
इण्डिका १५, १५१ टि०
इत्सिंग १७, ७८
इण्डोवैक्ट्रियन १९
इम्पीरियल गजेटियर भाग १– २७
इन्द्र ३८, ३९
इलाहाबाद स्तम्भ लेख ६१, २९३, ३२० टि०
इण्डियन एण्टिक्वेरी ८७ टि०, १९६ टि०, २०४ टि०, ४२९
इवुदिम १३९, २००, २०१, २४५, २४६
इवुकृत २००, २४८
इन्द्राग्निदत्त २२७
इँगलैण्ड २२९
इण्डो-बैक्ट्रियन २३०
इण्डो-सीथियन २३०, २४४
इण्डो-पार्थियन २४४
इवदीमिया २४६
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटरली २७५
इलियट तथा डासन ३०६ टि०
इ० हि० क्वा० ३३६ टि०
इ० ए० द्वादश ३६२
इलान-जेत-सेमि ४५७

(ई)

ईशान वर्मन ३७५, ३८०, ३८१
ईश्वर वर्मन ३८०

(उ)

उदायिन ५८, ९१
उज्जैन ६१, २५९
उषवदात २६२, २६३, २६४
उ-स्से-किया-लो २८४
उदयगिरि गुहाभिलेख २९४ टि०, ३१०, ३१७ टि०, ३२४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उदन्तपुर ४१३
उपगुप्त ३८५
उपाली ५५, ६९, ९७
उपराजा १०६
उत्तरकुरु १५७
उपेन्द्र

(ए)

एज एण्ड आथेन्टिसिटी आव कौटिल्य अर्थशास्त्र १२ टि०
एरैटास्थनीज १७
एन्शेण्ट हिस्ट्री आव दी नीयर ईस्ट २७
एरियन ११८, १२४ टि०, १२७, १२८ टि०, १३८ टि०
एरियाना २५६
एण्टिगोनस १४३
एपियन १४४
एपिग्राफिया इण्डिका १८७ टि०, २०६, २५१ टि०, ३८१
एपि० इण्डि० द्वितीय २८४ टि०
एपि० इण्डि० चतुर्थ २६१ टि०
एपि० इण्डि० सप्तम २६३
एपि० इण्डि० अष्टम २६२, २६३, ३०६
एपि० इण्डि० नवम २६१
एपि० इण्डि० एकादश २८४
एपि० इण्डि० पञ्चादश ३२२
एपि० इण्डि० षोडश २६८
एरथ सागर २३२
एल्डर सारगेनीज २३२
एथनी २५२
एक्टा ओरिएण्टालिया २६१ टि०, २७५ टि०
एपि० इण्डि० एकविंश २८४
एलेन २३३, २८९, २९० टि०, ३१० टि०, ३१५, ३२६, ३३३ टि०
एलेन, गुप्ता क्वाइन्स ३९५
एन्श्यैण्ट हिस्ट्री आफ दी डेकन २९६ टि०
एरण्डोल २९८
एनुअल रिपोर्ट आव दी आर्कयोलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया ३१६ टि०, ३१७ टि०
एरण प्रस्तर अभिलेख ३३६, ३६६
ए० बु० ना० यू०, हिस्टोरीकल सप्लीमेंट ३४६ टि०, ३४७ टि०, ३४८ टि०, ३४९ टि०, ३५४ टि०, ३५६ टि०, ३५७ टि०, ३६३ टि०

(ऐ)

ऐहोल अभिलेख ३८६, ३९०
एस० आई० आई० ४५३ टि०
एलोरा ४३०
एहोडे का विष्णु मन्दिर ४३१
एम० सी० रसनायगम ४४२
ऐतरेय ब्राह्मण ४२१, ४२२
ऐण्टिआलकिडस २२७
ऐण्टीमेकस २४८
ऐगथाक्लीज २४९
ऐगथाक्लिया २५१
ऐपिरस १५९
एक ब्राह्मण २२०
एन० दास गुप्ता ३०८ टि०
एस० के० आयंगर १४८ टि०, ३०३
एस० ए० आई० पी० १८९ टि०
एस० एं० आई० वी० १९१ टि०

(ओ)

ओल्डेनबर्ग १०९ टि०
ओस्सडिवाय १३१
ओदाक २०८
औरंगजेब ८०

(क)

कौटिल्य १२, ४२३
कात्यायन १२, ४२३, ४४२, ४४९
कल्हण १३, ४०४
क्टेसियस १४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कैस्पेपाइरास १४
कैम्ब्रिज हिस्ट्री १४ टि०, ४२, ४३, १११ टि०, ११७ टि०, १४० टि०, १४४ टि०, १९४, २५३ टि०
कैस्पियन सागर १७, १३४
कोसम १८, ९२
कसया १८
कौशाम्बी १८, ४२
कन्नौज १८
काकवर्ग २६, ९९
कुरुक्षेत्र ४२
क्रोनोलोजी आफ दी एन्शेण्ट इण्डिया ४६ टि०
काल्विन ५३
कल्पसूत्र ५५
कश्मीर की चतुर्थ संगीति ७०
कथावत्थु ७० टि०
कौशाम्बी अभिलेख ७० टि०
कनिष्क ७४, १३५, २६५, २७४, २७९, २८०, २८२
कनिष्क द्वितीय २८४
कनिष्क का धर्म २७७
कुशीनगर ८२, ९६
कोशल ८६
कुण्डग्राम ८९
कनिंघम ९८, ३०४
कालाशोक ९९
कर्टियस १००, १०१, १०५ टि०, १२६ टि०, १३० टि०
कलिंग १०१, १५४, २३३
कावेल ११२ टि०, ११३ टि०
काहायण ११५
करयाण्डा का स्काइलाक्ष ११७
क्यूनी फार्म अभिलेख ११९
कथवाय १२९
क्जथ्राय १३१
कन्दहार १४३
काबुल १४३
केरलपुत्र १५९, ४६२
कृष्णा २१५, २१८
कालसी १६६
कुणाल १९४, १९७
कलिंग का शि० लेख १९५ टि०
क्वाइन्स आफ एन्श्येंट इण्डिया २०८
कालिदास २०९, २४६, ३६३
कृष्णा नदी २१५
कुबेर २२६
कौत्सी २२९
कौशिका २२९
कुमारी पर्वत २३६
कुजूल कैफिसेज २५४, २७२
कार्ली का गुहाभिलेख २६३
कच्छ २६६
कैफिसेज प्रथम २७३, २७४
कैफिसेज द्वितीय २७३, २७४
कार्पस २७५ टि०
कुण्डलवन विहार २७८, ४०४
काण्ट २८२
कान्तिपुरी २८६
कुमारदेवी २९०
काच २९२
कौट्टूर २९६
केरल २९६
काशीनाथ दीक्षित २९९
कामरूप ३००, ४०१, ४०२, ४०३
कर्त्तपुर ३००
का० इ० इ० ३०१ टि०, ३०८, ३०९, ३१९ टि०, ३२० टि०, ३२१, ३२७ टि०, ३३६, ३६६, ३६८ टि०
काक ३०२
काव्यमीमांसा ३०६

CC-0: Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुमारगुप्त ३०७, ३०९, ३२६, ३७४, ३७५
करमदण्डा अभिलेख ३२८
कार्त्तिकेय ३२९
कुमारगुप्त द्वितीय ३३३, ३३४
काकनाथ बोट ३४०
कादम्बरी ३४२
कीलहार्न ३४७, ३६० टि०
केव टेम्पुल्स आफ इंण्डिया ३६४ टि०
कथा सरित्सागर ३७३
कर्ण सुर्वण ३९४
कन्नोज परिषद् ४००
कश्मीर ४०३
कर्पूरमंजरी ४०६, ४१९
कुर्रम ४०६
कलचुरिय चेदिराज्य ४०९
कुतबुद्दीन ४०८
कीर्त्तिवर्मन ४०८, ४०९, ४२८
कैलाशमन्दिर ४३२
कृष्णराज ४३२
काशी विश्वेश्वर का मन्दिर ४३४
कदम्ब ४३८
काकुत्थ वर्मन ४३९
कृष्णस्वामी आयंगर ४४३
कोप्पम ४५०
कुलोत्तुंग ४५०, ४५२
कोट्टम ४५१
कारोमण्डल ४५४
कुरल ४५८

(ख)

खारवेल ५८, १०१, २३४, २३७, २३८, २४१, २४३
खारवेल का शिलालेख १४३
खरपरिक ३०२
खजुराहो ४०९
खुसरू द्वितीय ४२८

(ग)

गौतम बुद्ध ११, ५३
गैड २३
गिरिव्रज ९९
गीगर ९९, १५६
ग्लौचुकायन १२७
ग्लौग निकाय १२७, १२८
गिरनार का अभिलेख १४५, ३३२
गोदावरी २१५, २२१
गौतमीपुत्र २२०, २२१, २२८, २२९, २६३, २६४, ३४६, ३५१
गुजरात २२०
गोरथगिरि २३५
गार्गी संहिता २४६, २४७
गुदफर्न २५७, २७१
गोविन्दगुप्त २८९, ३०७, ३१७
गणपतिनाग २९८
गुणैधर ताम्रपत्र ३३६
ग्वालियर आर्कयोलोजीकल सर्वे रिपोर्ट ३५४
ग्रहवर्मन ३७६, ३८३, ३८७
गौड-बहो ३७८
गंजाम प्लेट ३८९
गंजाम पत्र ३९४
गुर्जर-प्रतिहार ४०५
गोविन्दचन्द्र ४०७
गयासुद्दीन ४११
गीतगोविन्द ४१५, ४१९
गोथिककला ४३१
गोविन्दराज द्वितीय ४३२
गंगवंश ४४०
गंगई कोण्ड ४५५

(घ)

घटोत्कच गुप्त २८९, २९०, ३२७, ३३०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(च)

चन्द्रगुप्त मौर्य १२, १६, १३७, १४८, १४९, १७३, २३३, २४१, २४६, ४५८
चन्द्रगुप्त प्रथम २९०, ३५३
चन्द्रगुप्त द्वितीय १७, २८६, २८७, २९३, ३०५, ३०८
चित्तसम्भूत जातक १०७
चुल्लवग्ग १०८
चोल १५९
चोड़ ४५१, ४६२
चम्मक ताम्रपत्र २९३ टि०, ३२१
चन्द्रवर्मन २९८, २९९
चन्द्र ३२३
चक्रायुध ४१३
चोड-साम्राज्य ४४८
चेर-राज्य ४५६
चर्मण्यवती २००, २०२

(छ)

छेलना ५४, ९४
छेटक ५४

(ज)

जर्मनी २
जैनकल्प सूत्र ११, ५८
जरजेस १५, ११८, २५६ .
जायसवाल (के० पी०) १९, ९७, २०८, २३७, २३८, २८६, २८७ टि०, २८८, ३०८, ३४७
जैकाबी ३०, ९३, १००
जमालि ६०
जातक ९५ टि०
जे० ए० एस० बी० १०६ टि० २०५, ३२६ टि०
जेट्ठक ११९
जे० आर० ए० एस० बी० न्यूमिसमेटिक सप्लीमेंट ११५
जिड्रोसिया ११६
जरयुस्म धर्म ११९
जस्टिन १३७, १३९ टि०
जे० आर० ए० एस० १४२ टि०, २७४, २७५, २९० टि०, ४२८
जौगड़ा १६६
जूनागढ़ अभिलेख १७५, २६७ ३२६, ३३२
जर्नल आव दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी २०८ टि०
जुन्नर गुहाभिलेख २६२
जोगलथम्बी २६४
जीवदामन २६९
जयदामन २७०
जायसवाल (इम्पीरियल हिस्ट्री आफ इण्डिया) २९९ टि०
जर्नल एशियाटिका ३०५
जे० बी० ओ० आर० एस० ३०८ टि०, ४४३
जीवितगुप्त ३६८, ३७७
जौनपुर प्रस्तर अभिलेख ३८०
जयदेव द्वितीय ३८४
जयसिंह ४०४
जैजाक भुक्ति ४०६
जयचन्द ४०७, ४१०
जयदेव राजकवि ४१९
जयसिंह द्वितीय ४३३

(ट)

टालमी १६, १५२, ४४९
टैसिटस ३४
टामस १७६, १९५
टार्न १९९ टि०, २५१
टाड ४१८

(ड)

डाइमेकस १६, १५२
डायोनिसियस १६ १२२, १५२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डयूसन ४५
डिवोडोरस १०१
डी० सी० सरकार ११७ टि०
डायोजिनीज १२३
डायोडोरस १३३ टि०
डेमेट्रियस २००, २०१
डुब्रील २३७, २६४, २९६, २९७
३४५ टि०, ३६१
डाइनस्टीस आफ दी कलिऐज ३४५ टि०

(त)

तिब्बत ३
तहकीक-ए-हिन्द १७
तैत्तिरीय ४३
तीर्थंकर ५६
तत्त्वसंग्रह ७८
तक्षशिला १२३, २७३
तारानाथ १४५, २४४, २५१
तख्त-ए-बाही २५७, २७१
तुम्बुरु ३०३
ताम्रलिप्ति ३१३
तीरभुक्ति ३२१
तोरमाण ३३६, ३६६, ३६७
तराइन का प्रथम युद्ध ४१२
तराइन का द्वितीय युद्ध ४१२
तुंगभद्रा नदी ४२२
तैलप या तैल ४३३
तालगुण्ड ४४३
तिरु-वल्लुवार ४५८
तनसुलिया २३५
तथागत ३३३
तत्परिगृहीत ३०८
तोसली १५३, १५५, १६६, १७४,
१९५

(थ)

थेरीगाथा ११०
थर्माचल्ली घाट १२०
थामस (एफ० डब्लू) १४० २७१
थाना
थानेश्वर

(द)

दिव्यावदान १३, २५०, २५१ टि०
दारा १४
देवदत्त ६४
दीघनिकाय ८५ टि०, ८७ टि०, ८८
टि०, ९४ टि०
दीपवंश ९४ टि०, ११४
दारायवुश ११७
दियोदोर १३३
दिय २०८
देवभूति २०९
दिवोदोत २४५
दिमेत्र २४५, २४६, २५७
दीनीक २६३
दक्षमित्रा २६३
दामदजश्री २६९
देवीचन्द्रगुप्तम् २९३, ३०५, ३१०
देवराज २९३
देवगुप्त २९३
देवराष्ट्र २९८
देवपुत्र ३०२
दैव पुत्रशाहशाहानुशाहि ३०२
दामोदरपुर ताम्रपत्र ३१८, ३३५
दीनेशचन्द्र सरकार ३२३
दण्डेकर ३२३
दत्तभट्ट ३२७
दिवाकर सेन ३५३
दामोदर सेन ३५३
देववर्णाक अभिलेख ३६८, ३७४,
३७६, ३७७ टि०
दामोदर गुप्त ३७५
देवगुप्त ३८४, ३९३
दुर्लभवर्द्धन ४०४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दर्दिस्तान ४०४
दक्षिणापथ २३२
दक्षिणापथेश्वर २२२, २२३
दर्शक ९७, १०४
दत्तदेवी ३०८, ३३८
द्वारसमुद्र ४३५

(ध)

धम्म-चक्क -पवत्तन सुत्त ५७ टि०, ६५
धननन्द १०२
धम्मपद कमेण्टरी ११४ टि०
धर्मयात्रायें १५४
धर्ममहामात्र १६२, १७७
धर्मदेव २२७ २२७
ध्रुवस्वामिनी २८९, ३२१
ध्रुव देवी ३०५, ३२१
ध्रुवसेन प्रथम ३७१, ३७२
धरपट्ट
धरसेन ३७२
ध्रुवभट्ट ३७२
धर्मसूत्र ४२३
धम्मपद की अट्ठ कथा ९२
धर्म या धर्म्म १३६, १५३, १६२, १६३
धर्म्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा ३६४
धम्मपिटक ६९
धम्म विजय १५५
धम्मपद ११४

(न)

नागानन्द १३, ३९८
नियार्कस १६, १२८
नालन्द १८, ५९
निग्रन्थ ५५
नन्दराज ५८
नागार्जुन ७२, २७९, २८३
नन्दिवर्द्धन ९७, २४१, ३५५
नवनन्द देहरा १०१
निगम ११
नक्श-ए-रुस्तम ११७
नीसियन १२२
नीसा १२२
न्हुसा १२७
निकेनौर १२८
निग्लीव स्तम्भ लेख १६०
नासिक २२०, २२७
"नाग-पूजा" २२७
नन्दराज २४१
नहपान २६१, २६२, २६४
नासिक गुहाभिलेख २६२
नागसेन २८७, २९५, २९८, २९९
न्यू हिस्ट्री आव इण्डियन पीपुल २८७ टि०
नागदत्त २९८
नाट्यदर्पण ३०५
नरेन्द्रचन्द्र ३२१
नालन्दा की मुहर ३२२
नरसिंह गुप्त बालादित्य ३३३, ३६८
नालन्दा-प्रस्तर अभिलेख ३३४
नलिन भट्टशालि ३३४
नरेन्द्र सेन ३५३, ३५४, ३५५
न्यू इण्डियन एण्टेक्वेरी ३५८ टि०
नरसिंहगुप्त ३६७
नागार्जुन गुहाभिलेख ३७९
नालन्द मुद्रा ३८६
नागभट्ट ४०५
नन्दिवर्मन ४२९, ४४६
नरसिंहवर्द्धन ४४४, ४४५, ४४६
नानाघाट २२५
निमिज्ञातक ८५ टि०
नाग २८५, २८६, २८७
नानाघाट अभिलेख २२९

(प)

पाणिनि १२, १२९, १३७, २४६ टि० २६६, ४२३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पतञ्जलि १३, १९९, २११, २४६, २४७
प्रियदर्शिका १३, ३९८
पारसीक १४
पैक्टाईस १४
पालिब्रोथ्रा १६
पैट्राक्लीज १७
पाटलिपुत्र १८, ५९, १७८, २९२
प्राणनाथ (डा०) २३
परुष्णी ३३
पोलिटिकल हिस्ट्री आव एन्श्येन्ट इण्डिया ४२, ४३
पञ्चविंश ब्राह्मण ४३
पार्जिटर (ऐंश्येन्ट इण्डियन हिस्ट्रोरिकल ट्रेडिशन्स) ४६, ३४८
पाटलिपुत्र की प्रथम जैन संगीति ५९
पाटलिपुत्र की तृतीय संगीति ६९
प्रत्येक बुद्धयान ७१
प्रसेनजीत ८६, ९६
पञ्जोट (प्रद्योत) ९१
पद्मावती ९७, २८६, २९५
परिशिष्ट पर्वन १००
पारसीकों की चढ़ाई ११६
प्लिनी ११६, २१५
पर्सीपालिस ३६३
पर्सीपालिस अभिलेख ११७
पोरस १२१, १२४
पुष्कलावती १२३
पाइथा गोरस १२४, १८३
प्लूटार्क १२६, १३७, १४७, १४७ टि०, २५१, २५१ टि०
पिम्प्रम १२९
पिथान १३३, १३९
पेट्रांक्लीज १३४
पेरोपैनिसस १३९
परिन्दको १५७
पाण्य १५९, ४४१, ४६२
पञ्चाल १७२, २४७
प्लेटो १८३
पालिवियस १९५
पुष्यमित्रशुंग १९९, २००, २०५, २०६, २०९, २११, २३७, २३८, २४०, २४१, २४६, २४७, २५०
पुलमावी
पभोसा २०८
पुलिन्दक २०८
पूना २२०
पार्थिया २४४
पल्हव २७१, ४०४, ४४१, ४४२
पञ्चाण्ड २७३, २७५
पुरुषपुर २७६
पृथ्वीसेन २९६, ३२८, ३५२
पुरुगुप्त ३०७, ३३२, ३३३
प्रभावती गुप्ता ३११, ३५३
पूना ताम्रपत्र अभिलेख ३११ टि०
पुण्डवर्द्धन भुक्ति ३१७
प्रवरसेन द्वितीय ३२१, ३५८, ३६३, ३४९, ३५१, ३५३
पेट्राक्लीज युग ३३९
प्रिन्सेप ३४७
प्रोसीडिंग्स आव दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस ३५०
पृथ्वीषेण द्वितीय ३५५
प्रभाकरवर्द्धन ३८३, ३८७, ३९१
पूर्णवर्मन ३८४
पाइरीज ३८६
पुलकेशिन ३९०, ४२५, ४२६, ४२८, ४२९, ४३०, ४४४
पृथ्वीराज ४०८, ४११
प्रबोध चन्द्रोदय ४०८
परमारवंश ४०९
पृथ्वीराजरासो ४१०, ४२०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
पालवंश ४१३
पालिद ४२४
पैन्थियन ४३६
पार्थियन २५६, ४४२
परमेश्वर वर्मन ४४५, ४४६
पेरीप्लस ४४९
पेरुनार ४५६
पेरीप्लस-मेरिस-इरीथ्री ४६२
पैण्टेलियान २४८
पतिक २५८, २६०
पी० सी० सेन गुप्त २९२
परम भट्टारक ३७२
पिष्टपुर या पिठापुरम् २९६
पूना ताम्रपत्र अभिलेख ३११ टि०

(फ)

फ्रान्स २
फाहियान १७, ७३, ३१२, ३१५, ३१६
फ्लीट २७४, २९६, ३२२, ३२९, ३३३ टि०, ३३४ टि०, ३६२ टि०, ३६७, ३६८, ३६९, ३९६ टि०
फिलिप १२२, १२८
फर्ग्युसन ३६४ टि०, ४२१

(ब)

बर्मा ३
ब्यूलर ९, १५७, २०९, ३४७, ३५३ टि०, ३९१
बाण १३, ३४२, ३६३
बेवान १५
बिम्बिसार ५४, ५८, ९३
बसुबन्धु ७२
बुद्धिस्ट इण्डिया ८६ टि०, ९६ टि०, ११०टि०, ११३ टि०
बौद्धसंघ की द्वितीय महान् संगीति
महापरिनिर्वाण १०३
बूसेफला १२७
बैक्ट्रिया १३४, २४५
बिन्दुओं का लेख १४२
बिन्दुसार १५१
बराबर पहाड़ी के अभिलेख १६५ टि०, ३७९
बार्नेट (L. D.) १९९ टि०
बर्हुत-स्तूप २०४
बरार २२०
बृहस्पतिमित्र २३६, २३७, २३८
बरुआ २४२
ब्रिटिशम्यूजियम कैटलाग २५८ टि०, २६० टि०
बालादित्य ३३३, ३६७, ३६८
बौद्धसंगीति २७८
ब्लौच २८९, ३१६ टि०, ३१९ टि०
बलवर्मन ३००
बसाढ़ की मुहरें ३०७ टि०
बिलसद प्रस्तर अभिलेख ३०९, ३१९ टि०, ३२६
बसाक (R. G.) ३२२, ३३४
बुधगुप्त ३३५, ३३६, ३६६
बर्गेस ३६४
बील ३८६, ३९०, ३९८, ४२८ टि०, ४४५
बाँसखेड़ा ३८६
बीरथसागर ४०८
बल्लालसेन ४१४, ४१५
बल्लाल द्वितीय ४३६
बल्लाल तृतीय ४३६
ब्रगेन्जा ४६२
बहसितमित २३७
बालाहिसार १५६
बलश्री २२१, २२५
बरकमारीस ३०६
बासिम ताम्रपत्र ३५२
बृहद्रथ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बुद्ध ६२, ६३ टि०, ६६, ६८, ६९, ७०
बुद्धघोष १२
बुद्धचरित ८५
(भ)
भरहुत-स्तूप ११
भद्रबाहु ५८, १४६
भण्डारकर (डी० आर०) १००, १५४ टि०, १६३, २१५, २७४, २९३, ३०८ टि०, ३४१ टि०
भरुकच्छ ११४, ३७२
भाबूशिलालेख १६४ टि०
भण्डारकर (आर० जी०) २०३ टि०, २२२, २२६, २२७, ३४१ टि०
भव २२७
भूतपाल २२७
भडोंच २३२
भर्तृदामन विश्वसेन २६९
भीतरी के प्रस्तर अभिलेख ३२८, ३३० टि०, ३३१
भट्टशालि ३३४
भानगुप्त ३३७, ३६६, ३६७
भवदत्तवर्मन ३५५
भट्टकि ३७१
भमोद्र महता ३७१
भोगवर्मन ३८४
भास्करवर्मन ३८८, ३९४, ४०३
भगवान लाल इन्द्र जी ३९१
भद्दशाल १४१
भाण्डागारिक २२८
भारवी (भैरावि) ४४६
भाष ९७
भवनाग २८६
भवनाग भारशिव २८६
भीलसा १५७
भोज ४०९, ४१०
भूमक २६२
भुवनेश्वर १६६
(म)
महाभारत ३, ८, १२९ टि०
मनुस्मृति ९, १७१, २०९, २१०, २११, ४५८
मत्स्यपुराण १०
महावस्तु १०, १३
मिलिन्द पन्हो (मिलिन्द प्रश्न) १२, १४१, २०६, २४९
मिनैण्डर १२, २०६, २४९
महाभाष्य १३, २४६
मालविकाग्निमित्र १३, २४६, ३४१, १९९, २००, २०२, २०६, २५०
महावंश १३, ११४, १३७ टि०
मुद्राराक्षस १३, १३७, १४०, ३०५, ३०६, ३४२
मैगस्थनीज १६, १७, १८०, १८२, १९२, २१५
मोहनजोदड़ो १८, २०
मथुरा १८, ६१, २५९
मेसोपोटामिया २०, २४५
मोण्टगोमरी २०
मार्शल २०, २४ टि०, २७४, २१८, २५८, २८० टि०, २८१ टि०
मैक्समूलर ३०
मज्झिमदेश ४१, ६७, ८१
मैत्रायिनी संहिता ४३
महावीर ५३
मक्खलिपुत्र गोसाल ५९
मगध ५४, ५५, ५८, ९३, १००, २११
मालवा ६२, २२०
मायादेवी ६२
महाभिनिष्करण ६५
महापरिनिर्वाण ६५
मोग्गालिपुत्र त्तिस्स ६९, १६३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महायान ७०
मञ्जु श्री मूल कल्प ७९
मज्झिम निकाय ८५ टि०
मल्ल ८९
महानन्द ९७
महाबोधिवंश १००
महापद्मनन्द १०१, २४१
मैकक्रैण्डिल १०१ टि०, १३३ टि०, २४८
मल्लवाइ १०५
महापरिनिर्वाण सुत्तन्त १०६, ११४ टि०
मातंगजातक १०७
मार्डोनिमस १२०
मस्सग १२२
मैसीडोनियन १२८
मालवगण १३१
मूषिक १३२
मौसिकेनास १३२
मानसेहरा शिलालेख १५६, १६६
मन्त्रिपरिषदध्यक्ष १७५
मध्यमिका १९९, २४७
मिलिन्द २०२, २४८
माधवसेन २०२
मिनैण्डर (मिलिन्द) २०६, २४९
मजूमदार (एन० जी०) २०६
मनु २०९, २१०
मदरास २१२
महादेव २२७
मालावार २३२
मौर्यकाल २३७
मेउस २५७, २५९
महाराष्ट्र २५९
मिल्टन २८२
मतिल २९८, २९९
मेघवर्ण ३०३
मणीन्द्रचन्द्र नन्दी लेक्चर्स ३०४
मिराशी (वी० वी०) ३०८, ३४७, ३४८, ३५१ टि०, ३५२ टि०, ३५४, ३५६ टि०, ३५७ टि०
मथुरा अभिलेख ३०९
मेहरोली-स्तम्भलेख ३२१, ३२२
मन्दसोर ३२७
महेन्द्रादित्य ३२८
मिहिरकुल ३३३, ३३४, ३३७, ३६७, ३६८, ३६९
मैकडानैल ३४१ टि०
मन्दासोर अभिलेख ३५४, ३६० टि०, ३६८, ३६९
मालव दान पत्र ३५४
मेघदूत ३६३, ४१५
मैत्रक ३७०
मो-ला-पो ३७१
माधवगुप्त ३७५, ३७६
महासेन गुप्त ३७६
मधुबन ताम्रपत्र ३८६, ३९६
मो-हा-ल-च- ३९०, ४२८
मुकर्जी (राधा कुमुद) ३९१, ३९२
महमूद गजनवी ४०६, ४०७
मिहिरभोज ४०६
मुहम्मद गोरी ४०७
महोबा ४०८
मुञ्ज ४१९
महेन्द्रपाल ४१९
मैगुती का शैव-मन्दिर ४३१
मुग्धबोध ४३८
मयुरशर्मन ४३८, ४३९
महेन्द्रवर्मन ४४४, ४४५, ४४७
महाभल्लपुरम ४४५
मामल्लपुरम ४४८
मालद्वीप ४५०
मण्डलम् ४५१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुम्मडिचोड़ ४५४
मणिमेखलम् ४५८
महाकान्तार २९५
महाकोसल ८६, ९३
मैत्रक ३७०
मैत्रेयी ४६
मानकुँवर अभिलेख ३२९
मञ्चपुरी गुहा २४२
मास्कों १८
मिथिला ५५

(य)

योरप २
याज्ञवल्क्य स्मृति ९
युवानच्वांग १७, ७३, ७८, १०२, १८३, ३१३, ३३३, ३३७, ३८४, ३९०, ३९३, ३९८, ३९९, ४००, ४२८, ४२९
यूसीवियस १२०
यौधेयो १२७, ३०१
येरागुड़ी १६६
यज्ञसेन २०२
यवन इनवेजन्स २४८ टि०
यज्ञवर्मन ३८४
यू० ची २७२
यशोधर्मन ३६० टि०, ३६८, ३६९, ४०४
यज्ञवर्मन ३७९
यज्ञश्री २२३
यजुर्वेद संहिता ४१
यशमतिक २६४
यशोदामन प्रथम २७०
यशोवर्मन ३३४
यवन २४६
युगपुराण २४६

(र)

रूस २
रामायण ३, ८
राजतरंगिणी १३, १५८ टि०, २८४, ३६६, ३९२, ४१९
रत्नावली १३, ३९८
रैप्सन १९, ६२ टि०, २०७, २२२ २५०, २५२, २५७ टि०, २६१, २६२, २६४, २६९, २७१, २७५, ३१० टि०
राखलदास बनर्जी २४ टि०, ३०४, ३०८, ३६८
रमेशचन्द्र दत्त ४० टि०
राजन्य ४१
रत्निन ४३
राजगृह ५५
राजगृह की प्रथम संगीति ६९
रिजडेविड़ ८६, ९५, ९६, ११०
राय चौधुरी ९४ टि०, ९८ टि०, ११६ टि०, १२७ टि०, १३१ टि०, १३४ टि०, १४९ टि०, १५५ टि०, २०३ टि०, २१३, २१४ टि०, २१८, २६२, २६४ टि०, २६९, २७५, २८४ टि०, ३०२, ३१८ टि० ३२३, ३३७ टि०
रौलिन्सन (इण्डिया) १२०, ४१५ टि०, ४२५ टि० ४४२ टि०, ४६१ टि०
राधाकुमुद मुकर्जी १३८ टि०, ३८६
रुद्रदामन १४५
राजावलि कथा १४६
राइस १४९, १५५, १६७
रामकृष्ण गोपालभ भंडारकर २१३
रुम्मिनदेई स्तम्भलेख १६०
रुद्रदामन १७५, २६५, २६७, २७५,
रामप्रसाद २३९
रञ्जुवल २५२, २६०
राजुल २६०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रुद्रसिंह २६९, २७०, ३१०
रुद्रसेन २६९, २९८, ३५१, ३५२
रुद्रसेन द्वितीय २८६, ३११, ३५३
रामगुप्त २९३, ३०५
रुद्रदेव २९८
राजशेखर ३०६
रघुवंश ३४१
ऋतुसंहार ३४१
रिद्धपुर ताम्रपत्र ३६२ टि०
राबर्ट बर्न ३८२
रमाशंकर त्रिपाठी ३८६
राजेन्द्र चोल ४१४
रविकीर्त्ति ४३०
राष्ट्रकूट ४३२
राजेन्द्र चोड़ ४३३
राजराज प्रथम ४४९, ४५२, ४५४
राजाधिराज ४५०
राजेन्द्रदेव ४५०
राज्यवर्द्धन ३७६
रामपुरवा-स्तम्भ १६८
रणभाण्डागाराधिकरण ३२०
राष्ट्रकूट ४०६
रिद्धपुर प्लेट ३५५
ऋगवेद ७, ३६ टि० ४०, १३० टि०
ऋषभदान २२७

(ल)

लि़वी ६
ललितविस्तर १०, १३, १०६
लैंगडन २३
लोकमान्य तिलक ३०
लुडविग ३४
लोपा ३६
लूथर ५३
लिच्छवियों ५४, ८७
लेविस राइस ५८ टि०
ला (डा०) ९१
लौरिया आराराज स्तम्भ १६८
लुम्बिनी १८१
ला (एन० एन०) १८५ टि०
लालसागर २३२
ल्यूडर्स लिस्ट २४२, २५३ टि०, २८२
लियाक २५८, २६०
लाइफ By Bed २८४ टि०
लेगी ३१४
लौहित्य ३७०
ललितादित्य मुक्तापीड़ ४०४
लोकेश्वरशतक ४१३
लक्ष्मणसेन ४१४, ४१५, ४१९
लक्षद्वीप ४५०
लोपमुद्रा ३६
लुम्बिनी ६२

(व)

विष्णु ३, २१०
विष्णु स्मृति ९
विष्णुपुराण ९, ३२९, ३४५
वायुपुराण १०
विनयपिटक १०, १०३ टि०, १०९ टि०
विण्टरनित्स १२, ३०, ४५, ४८, ३०८ टि०
विशारवदत्त १३, ३०५
विपाश (व्यास) ३३
विशपति ३३
विशः ३४
विश्ववारा ३६
वरुणदेव ३९
वृहदारण्यक उपनिषद् ४३, ४५
वैशाली ५३, ५४, ५५, ८७, ८८
वर्द्धमान ५४
वलभी की दूसरी जैन संगीति ६०
विक्रमादित्य ६१
वैशाली की द्वितीय संगीति ६९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वृज्जी ६७
वज्रयानियों ७५
विन्सेंट स्मिथ २, १३, १९, ८७
१३७, १६२, २३७, २५८, २७१,
२८९, ३२३, ३४१ टि०, ३६९
वत्स ९०
विडूडभ ९५, ९६
वासुभ खत्तिया ९६
वृहतकथा कोष १४६ टि०
विहार-यात्रा १५४
विदर्भ २०२
वृहद्रथ २०२
बसुमित्र २०८, २४७, २७९, २८३
बसुदेव २०९, २११, २२६, २८३
वासिष्ठीपुत्र २२९
वड्डुख २४१
वीरसेन २४५
वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी २६५
वनान २७८
वंक्षु (Oxus) २७२
वाटर्स २७८ टि०, ३८६, ३९०,
३९३, ३९८,
वज्रसूची २८२
वाल्तेयर २८२
वासिष्क २८३
विष्णगोप २९७
वेंगी २९७
वार्नेट २९७
वाह्लीक ३२३, ३२४
वैन्यगुप्त ३३६, ३३७
विक्रमोर्वशी ३४१
वीरसेन शाव ३४२
वासवदत्ता ३४२
विन्ध्यशक्ति ३४६, ३४८, ३५८, ३६१
वसीभ ताम्रपत्र ३४६, ३४९
वाई० के० देशपाण्डेय ३४९ टि०
वराहदेव ३५९, ३६४
वत्सगुल्म ३५८
विष्णु गुप्त ३७७
वैड-ह्यून-त्से ३८९, ४०२
विजयपाल ४०६
वीमलदेव ४१०
वज्रदन्त ४१३
विजयसेन ४१४
वातापी ४२५
वल्लभेश्वर ४२६
विजयादत्त ४२९
विक्रमादित्य द्वितीय ४३०, ४३१, ४४६
विष्णवर्द्धन ४३४, ४३५
विज्ञानेश्वर ४३४
विल्हण ४३४
वाकाटक ३४५, ३४७, ३४८, ३४९
वनस्पर २७७
वासिष्ठी पुत्र श्री पुलभावी २२१
वसुबन्धु ७२
वसुमित्र ७०

(श)

शिव ३
शाक्यकुमार १०
शुतुद्री (सतलज) ३३
शतपथ ब्राह्मण ४२
शुद्धोदन ६२
शाक्यमुनि ७६
शैशुनाग ९७
शिशुनाग ९८
श्वेतकेतु जातक १०७
शिविजन १३०
शम्भु १३२
शाहबाजगढ़ी १६६
शुंग १९७, १९८, २०९, २३७
शाकल २०१, २०६, २५०, ३२५
षोड्षमहाजनपद ८३

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शिशुक २१२
शित्र २२६
शिवस्कन्दगुप्त २२७
शातकर्णि २४१, २६३
शीफनर २४५
शकस्थान २५६ टि०
शक २५६
शोंडास २६०, २६१
श्पलरिस २७१
श्पलगदम २७१
श्पलहोर २७१
शकमुण्ड ३०२
शंकरार्य ३०५
शाव वीरसेन ३१०
शकुन्तला ३४१
शीलादित्य ३७२
शाहपुर प्रस्तर अभिलेख ३७७
शशांक ३८४, ३८७, ३८८, ३९२, ३९३, ४०३
शिहाबुद्दीन ४११
शिवस्कान्दिल २२७
श्रावस्ती ५५
श्रीभट्टार्क ३२१
श्रीगुप्त २८८
शप्तसतक २३३

(स)

सुत्तपिटक १०
साँचीस्तूप ११
सिकन्दर १३, १५, १२०, १२८, १२९, १३४, २०१, २४४, २५४
स्काइलास १४, १५
स्ट्रेबो १६, १७, ११६, १२३, १३४, २०१
सेल्यूकस निकेतोर १७, १३४ १४३, १४८, २४४
सारनाथ १८
सहेत महेत १८
स्थूलभद्र ५९
सैन्द्राकोट्टस ६३ टि०, १३९
सिद्धार्थ ६४
सिंहल ८२
संयुक्तनिकाय ८६
सुपर्वस तारक्वीनियस ८६
संथागार ८८, ९६, १०५
सुत्तनिपात ९०, ११३, ११४ टि०.
स्वप्नवासवदत्ता ९७
सुमंगलवासिनी ९७ टि०
समण्णफल सुत्त ९७
सिंहली गाथाओं १०३
स्वर्णभूमि ११३
साइरस ११६
सेलेक्ट इन्सक्रिपशन्स ११८ टि०, २६२, ३२५ टि०, ३२७ टि०, ३४८ टि०, ३५२ टि०
सुकरात १२०, १२४
संगल १२९
सौभूति १२९
सोग्डवाय १३२
सम्बास १३२
स्पार्टा १३३
सत्यपुत्र १५९, ४६२
समाहर्त्ता १७५
सन्निधाता १७५
सम्प्रति १९४
स्तूप २१०
सिमुक २१२, २१३, २१४, २१५, २१७, २१८
सिन्धूक २१२
स्मिथ २१३, २२३, २६०, २६६ टि०
सौराष्ट्र २२०
स्कन्दपालित २२७
सिन्धु २३२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सुभागसेन २४४ टि०, २४५, २४६
सेल्यूकस प्रथम २४६
सागल २४६
सिद्धान्त कौमुदी २४६ टि०
स्ट्रेटो २४९, २५२, २५७
सीथियन २५६
स्ट्रेटेगास २५८
सोपारा २६३
सुदर्शन झील २६७, ३३२
सनबर २७२
सोटरमेगस २७४
स्टेनकोनों २७५, ४२८ टि०
सौन्दरानन्द २८२
समुद्रगुप्त २८६, २९०, २९२, ३००, ३०२, ३०५, ३५२
श्रीगुप्त (चे-लि-कि-तो) २८८, २८९
सर्वराजोच्छेत्ता २९३
साँची प्रस्तर अभिलेख २९३ टि०
सिंहली ३०२
सिलवाँ लेवी ३०५, ३९०, ३९२
श्रृंगारप्रकाश ३०६
श्रावस्ती भुक्ति ३१७
सरकार ३२५, ३२८, ३५७ टि०
सेण्टपीटसबर्ग ३२७
स्कन्दगुप्त ३२८, ३२९, ३६५
सारनाथ अभिलेख ३३४, ३६७
सुरश्मचन्द्र ३३६
सर्वसेन ३५७
सा० इ० इ० ३८१
सर्ववर्मन ३८३
सोनपत अभिलेख ३८६
सुरथ ३८९
सुबुक्तगीन ४०६
संयुक्ता ४१०
सचाउ ४१७
सकलोत्तर पथानाम ४२९
सोमेश्वर प्रथम ४३३, ४३६, ४५०
सुक्तिमुक्तावली ४३८
श्रीपुरुष ४४०
सिंहवर्मन ४४३, ४४४
सिंहविष्णु ४४४
सेनगुत्तवम् ४५७
सेय पाण्डय ४५७
सिलप्पदि कारम ४५८
स्ट्रैबी ४६२
श्रमणाचार्य ४६२

(ह)

हिमालय १, ३
हेरोडोटस ६, १४, १५, ११७
हर्षचरित १०, १३, १०० टि०, २०९ टि०, २६९, ३०५, ३१०, ३६६, ३७५, ३७६, ३८३, ३८६, ३९१
हेकेटीयस १४
हर्षवर्द्धन १७, ३६५, ३८७, ३९० ३९१ टि० ३९२, ४०३
हडप्पा १८, २०
हस्तिनापुर ४२
हाथीगुम्फाअभिलेख ५८, १०१, २४१, २९७
हीनयान ७०
हेलनादेवी ९३
हाइडस्पीज १२४
हाइड्रेआटीज १२८
हाइफैसिस १२९
हेमचन्द्र १४५
हैवेल (E. B.) १५१
हिस्ट्री आव एन्शेण्ट इण्डिया २०४ टि०
हेलिओदोर २०८
हिपास्ट्रेटोज २४९
हेलिआक्लीज २५३
हरमेडस २५४
हिपास्ट्रेटस २५८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हेलियोदार २२७, २५३
हुविष्क २८३
हुष्कपुर २८५
हूल्श २९७
हरिषेण २९९, ३०३, ३५९, ३६०
हरप्रसाद शास्त्री ३२३
हिस्ट्री आव दी गुप्ताज ३२४
हस्तिभोज ३५९
हूणों का आक्रमण ३६५
हरिवर्मन ३७९, ३८२, ४४०
हराहा अभिलेख ३८०, ३८२ टि०
हेमाद्रि ४३८
हैदराबाद ताम्रपत्र ४२७
हरप्पा (हडप्पा) १८
हिन्दू पौलिटी १०६ टि०
होयसल ४३५

(क्ष)

क्षमाश्रमण ६०
क्षत्रप २५९
क्षथ्रपावन २५९
क्षुद्रकगण १३१
क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ३७५ टि०

(त्र)

त्रिपिटक १०
त्रिसला ५४
त्रिरत्न ५६
त्रिपरदिसस की दूसरी विभाजन सन्धि ६३ टि०
त्रिअवल्लुवर ४४७
त्रिपरिदसस १३९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh